श्रीमद्भगवद्गीता

([illegible])

द्वितीयोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० फैक्ट्रीलाइन्स

इलाहाबाद—४

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

द्वितीयोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द

सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवल्लीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०
बिहार कालेज आफ इंजिनियरिंग
पटना–५
बिहार

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी–१

भाषान्तरकर्त्री :

कु० चैताली दास तथा कु० भारती बोस
एम. एस. सी. (पटना)

गीतामण्डली कर्तृक सर्वस्वत्व सुरक्षित

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली ५०, शिवकुटी, इलाहाबाद–४
२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३, पुराना किला, लखनऊ
३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर
४—श्रीमती रमा मित्र
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर
५—श्रीमती उमादानी द्वारा श्री डी. आर दानी लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद
६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी. ई. बिहार इंजिनियरिंग कालेज, पटना–५ (बिहार)
७—डा० मदन मोहन, रमा भाई हौस्पिटल, १० कान्वैंट रोड, देहरादून
८—श्री प्राणलाल भाईशंकर आचार्य, कर्णघंटा, गुर्जर छात्र सहायक समिति, वाराणसी
९—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट, प्रभु टाउन, रायबरेली
१०–श्रीमती माधवी कर द्वारा सिविल सर्जन, मिर्जापुर
११–श्री एस. सी. मित्र, १४ वि, तिलक बृज्, आफिसर्स रेलवे कालोनी, न्यु दिल्ली–१

विज्ञप्ति

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डी स्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती द्वारा प्रणीत 'गीतामृतमञ्जूषा' का यह द्वितीय अध्याय प्रकाशित हो रहा है। गीतामृतमञ्जूषा की पठन पद्धति के बारे में पूर्ण निर्देश प्रथम अध्याय की भूमिका में दिया गया है तथापि यह संशय पाठकवर्ग के मन में उपस्थित होना सम्भव है कि भाष्यदीपिका में प्रति श्लोक के प्रत्येक शब्द की व्याख्या और अधिकतर सरल भाषा में क्यों नहीं किया गया! भाष्यदीपिका के पढ़ते समय पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि भाष्यदीपिका में शांकर भाष्य के एक एक शब्द की विस्तृत व्याख्या मधुसूदन सरस्वती, श्रीधर, नीलकण्ठ, शंकरानन्द, आनन्दगिरि तथा अन्यान्य प्रसिद्ध ब्रह्मविद् अद्वैतवादियों की टीकाओं के आधार पर किया गया है। उन सब टीकाएँ बहुत ही गम्भीर तथा विद्वत्तापूर्ण है। इसलिये शास्त्रीय परिभाषा छोड़कर यदि साधारण चलित (ग्राम्य) भाषा में उन सब टीकाओं के तात्पर्य लिखित होते तब उनका गाम्भीर्य रखना कठिन हो जाता। भाषा यथा सम्भव सरल से सरल करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु भाव रहस्यपूर्ण होने के कारण पाठकवर्ग यदि मनन के साथ भाष्यदीपिका तथा टिप्पणियाँ पढ़ें तब गीता के वास्तविक तत्त्व का अपूर्व रस आस्वादन कर सकेंगे। स्वामीजीकृत 'गीतामृतमञ्जूषा' गीता का एक महाकोष है। एक ही ग्रन्थ में विभिन्न दृष्टिकोण से गीता का तत्त्व जानने के लिये इससे अतिरिक्त अभी तक कोई भाषा में एवं कोई देश में इस प्रकार का ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। मुद्रण कार्य में भूल त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है तथापि आशा है कि द्वितीय अध्याय में भूल बहुत ही कम होगा। पाठकगण को जो जो भूल त्रुटियाँ दिखाई पड़े उन्हें कृपया गीतामण्डली को सूचित करने से द्वितीय संस्करण में सुधार कर दिया जायेगा।

जिस महानुभाव दानवीर की निःस्वार्थ सहायता से इस अध्याय का मुद्रणादि कार्य सम्पूर्ण हुआ, उनका नाम निर्देश करने की अनुमति न मिलने के कारण उनका परिचय देने में गीतामण्डली असमर्थ है। अतः श्रीभगवान् से उनके दीर्घ जीवन की प्रार्थना के अतिरिक्त गीतामण्डली के पास आन्तरिक कृतज्ञता व्यक्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

इति

गुरु पूर्णिमा—२०२६
ता० २९-७-६९

श्री निशीथ कुमार तरफदार बि. ई.
सहायक सचिव, गीतामण्डली,
इलाहाबाद।



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीयोऽध्यायः

सांख्ययोगः

[युद्ध में आत्मीयस्वजनों को वध करने से कुल का नाश होगा एवं नरक में जाना होगा इत्यादि अनेक कारणों से युद्ध करना पाप है अतः अहिंसा ही परम धर्म है यह निश्चय कर युद्ध से विमुख होकर शर के साथ धनुष त्याग कर शोक मोह से आच्छन्न होकर अर्जुन रथ में बैठे रहे—यह प्रथम अध्याय में कहा गया है। यह सुनकर धृतराष्ट्र अर्जुन के युद्ध न करने पर अपने पुत्रों का राज्यैश्वर्य अक्षुण्ण रहेगा अर्थात् दुर्योधनादि पुत्रों के राज्य तथा ऐश्वर्य को कोई हानि नहीं होगी, ऐसा सोचकर जब निश्चिन्त हुए तब उनके मन में हर्षवश "उसके बाद क्या हुआ"? इस प्रकार की जिज्ञासा का स्वतः ही उदय हो सकता है ऐसी आशंका कर संजय उनकी वही दुराशा व्यर्थ है यह सूचित करने के लिए कहने लगे।]

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अन्वय—संजयः उवाच—मधुसूदनः तथा कृपया आविष्टम् विषीदन्तम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् तम् इदम् वाक्यम् उवाच।

अनुवाद—संजय ने कहा—उस प्रकार कृपाविष्ट विषण्ण (विषादग्रस्त) एवं अश्रुपूर्णाकुलनेत्र अर्जुन को लक्ष्य कर मधुसूदन यह वाक्य कहने लगे।

दीपिका—संजयः उवाच—संजय बोले [धृतराष्ट्र के मन में 'उसके बाद क्या हुआ' ? यह जानने के लिए उत्कंठा (अत्यन्त आग्रह) हुई है यह समझ कर संजय कहने लगे ।]

मधुसूदन—"मधुसूदन" शब्द द्वारा सम्बोधन करने का तात्पर्य यह है कि (क) भगवान् ने मधु नामक राक्षस को मार डाला था इसलिए भगवान् को 'मधुसूदन' कहा जाता है । वे सदैव दुष्ट का निग्रह करते हैं । अतः दुष्ट का दमन करना अर्जुन का कर्त्तव्य है यह बात ही वे अर्जुन को बतायेंगे—युद्ध-त्याग करने के लिए नहीं कहेंगे । अतः धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्र दुर्योधनादि को बिना युद्ध से राज्य प्राप्ति की आशा वृथा है यह प्रकाश करने के उद्देश्य से ही संजय ने 'मधुसूदन' शब्द का व्यवहार किया । (ख) अर्जुन के चित्त में प्रविष्ट जो कृपा तथा विषाद रूप पिशाच आवेश में आकर स्वधर्म रूप युद्ध से अर्जुन को विमुख कर रहे हैं वह भी भगवान् नष्ट कर देंगे, यह कहने के लिए भी 'मधुसूदन' शब्द का प्रयोग किया गया है । तथा कृपयाविष्टं विषीदन्तम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्—"स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव" अर्थात् स्वजनों का वध कर के किस प्रकार सुखी होऊँगा, इस प्रकार स्वजनों को मृत्यु की आशंका में कृपा के द्वारा (यह लोग मेरे अपने लोग हैं, मेरे लिए ताकि इनको मृत्यु न हो इस प्रकार के कारण जो स्नेह उपस्थित होता है उसका नाम कृपा है उसके द्वारा) आविष्ट या व्याप्त होकर अर्थात् जिस प्रकार पिशाच के आवेश में आने से लोगों को मुक्तिलाभ करना कठिन है उसी प्रकार अर्जुन कृपा के द्वारा आविष्ट होकर उस कारण विषाद या शोक को प्राप्त (विषीदन्तम्) हुआ है एवं उस कृपा या विषाद के लिए उसकी आँखें अश्रु से पूर्ण एवं आकुल हुई हैं अर्थात् आँखों में इस प्रकार पानी भर गया है कि चारों ओर की चीजों को देखने में अर्जुन अक्षम हो गये हैं (अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्) तम्—उस प्रकार के अर्जुन को इदम् वाक्यम्—जो कहा जा रहा है वह युक्तियुक्त वाक्य उवाच—बोलने लगे अर्थात् अर्जुन को विषाद-मग्न देखकर उसके कल्याण के सम्बन्ध में भगवान् उदासीन न रहकर अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए कहने लगे ।

श्रीमद् मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि कृपयाविष्ट शब्द के द्वारा अर्जुन के कर्मत्व एवं कृपा के कर्तृत्व कहने के कारण कृपा का आगन्तुकत्व दूर किया गया; अर्थात् कृपा करना जो अर्जुन का स्वभाव है यह प्रमाणित किया गया फिर "विषीदन्तम्" इस स्थान में विषाद का कर्मत्व एवं अर्जुन का

कर्तृत्व कथित होने के कारण विषाद आगन्तुक है अर्थात् विषाद अर्जुन का स्वभाव नहीं है किन्तु किसी कारणवश उत्पन्न हुआ था, यही सूचित कर रहा है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—द्वितीये शोकसन्तप्तमर्जुनं ब्रह्मविद्यया। प्रतिबोध्य हरिश्चक्रे स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम्॥ [द्वितीय अध्याय में शोकसन्तप्त अर्जुन को ब्रह्मविद्या के द्वारा प्रतिबोधित कर (अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रदान कर) भगवान् हरि ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाये।] 'उसके बाद क्या हुआ'? धृतराष्ट्र से इस प्रकार के प्रश्न की आशंका कर संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं तथा—प्रथम अध्याय में जैसा कहा गया है उस प्रकार से कृपाविष्ट विषादग्रस्त अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्—अश्रु से पूर्ण तथा व्याकुल आँखे हैं जिसकी तं उस अर्जुन से इदं वाक्यम् उवाच—यह वाक्य बोले।

(२) शंकरानन्द—(क) जो सदसद्विवेकसम्पन्न हुए हैं एवं (ख) जिनमें उस विवेक से तीव्र वैराग्य की उत्पत्ति हुई है एवं (ग) मोक्षलाभ की इच्छा कर मोक्ष ही जिनका एकमात्र काम्य है, ऐसे ब्राह्मण के सर्वकर्म त्याग कर सदसद्, विवेक, वैराग्यादि साधन सम्पत्तियों की सिद्धि एवं ब्राह्मणत्व की सिद्धि के लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (चूँकि स्वर्गादि अनित्य है इसलिए साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर ब्रह्मविचार करना कर्त्तव्य है) 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (आत्मा का दर्शन करना है), 'तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (उनको जानने के लिए गुरु के पास जावे) इत्यादि श्रुति में कथित रीति के अनुसार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास जाकर ब्रह्मविचार करना कर्त्तव्य है, ऐसा अर्थ सूचित करने के लिए सदसद्विवेकी परमार्थकांक्षी अर्जुन के "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" ('मैं आपका शिष्य हूँ और मैं आपका शरणागत हूँ, मुझे उपदेश दीजिए') इस प्रकार ईश्वर में अर्जुन की शरणागति एवं (उसके फलस्वरूप) ईश्वररूपी श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन के प्रति आत्मा तथा अनात्मा का ज्ञानोपदेश किस प्रकार से दिया गया था, वह प्रतिपादन करने के लिए द्वितीय अध्याय शुरू किया गया है। इस अध्याय के प्रारंभ में ही 'सोऽहं भगव शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (भगवान् मैं शोक कर रहा हूँ, मेरा शोक से उद्धार कीजिए) इस प्रकार का श्रुतिवचन रहने के कारण संसार के दुःख से शोकसन्तप्त एवं अपने शरणागत मुमुक्षु को अभय वचन के द्वारा अभिमुख कर (उत्साह देकर) गुरु शिष्य को परमार्थतत्त्व का बोध कराते हैं, यह सूचित करने के लिए, एवं शोक करनेवाले अर्जुन को श्रीभगवान् ने विवेकवचन के द्वारा (अनात्म देहादि से चित्-

स्वरूप आत्मा को पृथक् करने का उपाय बतला कर) ज्ञान दिया था, यह कहने के लिये संजय धृतराष्ट्र से बोले तथा—पूर्व अध्याय में जो कहा गया है उसके अनुसार कृपया आविष्टम्—मेरे ये भ्राता, पुत्र प्रभृति युद्ध में निहत होंगे, ऐसा सोचकर मरणशील आत्मीय स्वजनों के प्रति अत्यन्त कृपायुक्त अतः विषीदन्तम्—विषादप्राप्त अतः अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्—अश्रु से पूर्ण होने के कारण व्याकुल हो गये हैं नेत्र जिनके तम्—उस अर्जुन को देखकर मधुसूदनः—(क) मधु नामक राक्षस का जो नाश करते हैं वे मधुसूदन [मधु नामक राक्षस अर्थात् विषय रस अथवा ऐतिहासिक मधुदैत्य] अथवा (ख) सभी देह में मधु की तरह इष्ट होने के कारण मधु शब्द का अर्थ अहंकार है। उस मधुरूप अहंकार का आत्मप्रकाश कर जो नाश करते हैं वे मधुसूदन हैं; अथवा (ग) 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु' यह पृथ्वी सभी भूतों का (प्राणियों का) मधु है इस श्रुति के वचनानुसार स्वरूपानन्द को मधु कहा जाता है। उस स्वरूपानन्द को जो अपने अपरोक्ष साक्षात्कारी के पास 'सूदयति स्फोरयतीति' (स्फुरण करते हैं अर्थात् प्रकाशित करते हैं) वे मधुसूदन (सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा अर्थात् श्रीकृष्ण) हैं। उवाच—वे श्रीकृष्णरूप मधुसूदन निम्नलिखित वाक्यों को बोले—

यहाँ 'कृपयाविष्टम्' उक्ति के द्वारा भगवान् सूचित कर रहे हैं कि मुमुक्षु को कृपा आदि आठ आत्मगुणों से युक्त होना चाहिए। इस [यहाँ कृपा शब्द के द्वारा कृपा आदि अन्य गुणों को भी ग्रहण करना होगा, यह कहा जा रहा है।] 'दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शुचिरनायासो मांगल्यमकार्पण्यमस्पृहा चेत्यष्टावात्मगुणाः' अर्थात् सर्वभूत में दया, क्षान्ति, अनुसूया (दोष देखने की चेष्टा न करना), शुचि (पवित्रता), अनायास (सहज तथा सरलभाव), मांगल्य (सबके मंगल अर्थात् हित के लिये चेष्टा करना), अकार्पण्य एवं अस्पृहा (लोभहीनता)—गौतम के द्वारा कथित इन आठ गुणों से जो युक्त हुए हैं उनको ही यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'भगवन् ! मैं शोक कर रहा हूँ। किस तरह संसारसागर से उत्तीर्ण होऊँगा' ऐसा शोक तथा परिताप जिनमें उत्पन्न होता है उनके ऊपर ही गुरु तथा ईश्वर प्रसन्न होते हैं, यह सूचित करने के लिए 'विषीदन्तम्' तथा 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' इन दो शब्दों का व्यवहार किया गया है। इसके द्वारा सूचित होता है कि गुरु के पास जाने की इच्छा करने वाले मुमुक्षु में इन गुणों को रहना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—इस अध्याय के १० श्लोक तक नारायणी टीका प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में 'प्रथम अध्याय के तात्पर्य' में दी गई है।

(४) कृपयाविष्टम्—कृपा और दया एक वस्तु नहीं है। मोह के कारण 'मेरा मेरा' यह ममता या स्नेह का नाम है कृपा। इसलिए मधुसूदन सरस्वती ने कहा—'ममेते इति व्यामोहनिमित्तः स्नेहविशेषः कृपा'। और यत्नपूर्वक दूसरों के क्लेश हरण करने की जो इच्छा है वही करुणा या दया है—यत्नादपि परक्लेशं हर्त्तुं या हृदि जायते। इच्छाभूमिः—सुरश्रेष्ठ ! सा दया परिकीर्तिता (पद्मपुराण)॥ इसलिए नीलकण्ठ ने इस प्रकार अर्थ किया है 'कृपया स्नेहेन न तु दयया परदुःखप्रहरणेच्छारूपया आविष्टम्' [व्याप्तम् (मधुसूदन), अधिष्ठितम् (आनन्दगिरि)] अर्थात् ममता या स्नेह के द्वारा व्याप्त या अधिष्ठित हुए किन्तु दया के द्वारा नहीं। [अतः शंकरानन्द ने 'कृपा शब्द की जो व्याख्या की है उसका मधुसूदन, आनन्दगिरि तथा नीलकण्ठ प्रभृति टीकाकारों ने समर्थन नहीं किया है।]

[इसके बाद श्रीभगवान् ने अर्जुन से क्या कहा ? संजय उसका वर्णन कर रहे हैं—]

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच—हे अर्जुन ! अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् इदम् कश्मलम् विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम्।

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले,—हे अर्जुन ! शास्त्रार्थवेत्ता आर्यव्यक्ति जो सेवा नहीं करते हैं, स्वर्गप्राप्ति के लिए जो प्रतिकूल है एवं इह लोक में भी अकीर्तिकर है उस मोह अर्थात् युद्धरूप स्वधर्म को पालन करने में कातरता (अनिच्छा) इस भयंकर युद्ध क्षेत्र में तुम्हें किस प्रकार प्राप्त हुई ? अर्थात् तुम्हारे हृदय में (इस प्रकार की बुद्धि को) कैसे आश्रय मिला ?

दीपिका—श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् बोले—पूर्व श्लोक में 'उवाच मधुसूदनः' पद के द्वारा ही भगवान् कह रहे हैं यह निर्देश किया गया है। तथापि 'मधुसूदन' शब्द से भगवान् का अतुलनीय पराक्रम है यही केवलमात्र सूचित हुआ है, केवल पराक्रम ही नहीं किन्तु अर्जुन के हृदय में तत्त्वज्ञान के प्रदीप जलाने के लिए उपयोगी अनन्त ज्ञानशक्ति भी भगवान् में विद्यमान है उसे स्पष्ट रूप से समझाने के लिए संजय 'श्रीभगवान् उवाच' यह बात फिर से बोले। भगवान् पूर्ण हैं। अतः किसी भी वस्तु का

उनको अभाव नहीं है। इसलिए विष्णुपुराण में कहा गया है 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । वैराग्यस्यास्य मोक्षस्य षण्णां भग इतीगना:, (वि० पु० ६।५–७४) अर्थात् भग शब्द का अर्थ है समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यशः, समग्र श्री, समग्र वैराग्य एवं समग्र मोक्ष (अर्थात् मोक्ष का कारण सम्यग् ज्ञान) वे सब जिसमें एक साथ वर्तमान हैं उनको भगवान् कहा जाता है। [इंगना=संज्ञा या नाम ।]

हे अर्जुन !—हे शुद्धबुद्धे ! तुम्हारे जैसे शुद्धबुद्धि को मोह उपस्थित नहीं होना चाहिए। यह बात स्मरण कराने के लिए भगवान् ने 'अर्जुन' कहकर सम्बोधन किया। अनार्यजुष्टम्—'अतत्त्वेभ्यः आरात् (दूरात्) याता बुद्धिर्येषां ते आर्याः' अर्थात् शास्त्रीय तत्त्व जानने के फलस्वरूप अतत्त्व (शास्त्रीय सिद्धान्त के प्रतिकूल भाव) से जिनकी बुद्धि सदा ही दूर रहती है उनको "आर्य" कहा जाता है। जो लोग आर्य नहीं है अर्थात् वेदादि शास्त्र का अनुशासन नहीं मानते हैं इस प्रकार के नास्तिक को 'अनार्य' कहा जाता है। उनके द्वारा जो 'जुष्टम्' अर्थात् सेवित होता है—वह 'अनार्यजुष्टम्' है। शास्त्र में आततायी का वध करने की आज्ञा दी गई है (१।३७ श्लोक की व्याख्या द्रष्टव्य है) किन्तु तुम "पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः" (गीता १।१६) अर्थात् इन सब आततायियों की हत्या करने से हमलोगों को पाप होगा ऐसा कहकर युद्ध से विमुख होकर शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करने में उद्यत हुए हो इसे अनार्यसेवित आचरण कहा जाता है। अथवा आर्य शब्द का अर्थ तत्त्वजिज्ञासु या मुमुक्षु है (मधुसूदन)। जिन मुमुक्षु व्यक्तियों के रागद्वेषादि क्षीण नहीं हुए हैं वे लोग शास्त्रविहित अपने-अपने धर्म का पालन कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर मोक्ष के अधिकारी होते हैं किन्तु जबतक चित्त की मलिनता रहती है तब तक स्वधर्मत्याग कर कभी भी संन्यास का अवलम्बन नहीं करते हैं। अतः युद्ध से तुम्हारी यह पराङ्मुखता (विमुखता) अर्थात् स्वधर्मरूप युद्ध न कर तुम जो भागने की इच्छा प्रकट कर रहे हो वह, कोई आर्य व्यक्ति सेवन नहीं करता है। जो लोग शास्त्रमर्यादा का उल्लङ्घन कर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चलते हैं उन अनार्य व्यक्तियों में ही इस प्रकार की प्रवृत्तियों का उदय होता है। अस्वर्ग्यम्—यह युद्धविमुखता स्वर्ग के कारणीभूत धर्म की विरोधिनी है अर्थात् स्वर्गप्राप्ति का उपाय जो स्वधर्मपालन है उसकी विरोधिनी होने के कारण तुम्हारे लिए युद्ध में विमुखता नरक प्राप्ति का ही हेतु होगी, अकीर्त्तिकरम्—फिर तुम जो कार्य करने में उद्यत हुए हो वह इहलोक में भी तुम्हारा अपयश प्रचार करेगा। इदं

कश्मलम्—इस प्रकार अनार्यसेवित अधर्मकर एवं अकीर्तिकर कश्मल या मोह 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' इत्यमरः अर्थात् मूर्च्छा, कश्मल तथा मोह पर्यायवाचक शब्द हैं। मुँह का शोषण, गात्रकम्प, करणादिकों का शैथिल्य, युद्ध करने में कातरता इत्यादि सभी ही (गीता १।२८–३०) मोह का लक्षण हैं एवं 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' (गीता १।३५) अर्थात् ये सब मेरे स्वजन हैं इन लोगों के मन में मेरे वध की कामना होने पर भी मैं इनको नहीं मारना चाहता हूँ। "न योत्स्ये" (गीता २।९) 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इत्यादि उक्ति स्वधर्म से पराङ्मुखतारूप मोह का ही फल या परिणाम है। इस प्रकार मोह चित्त को विशेष मलिनता से ही उत्पन्न होता है परन्तु तुम तो अर्जुन अर्थात् शुद्धबुद्धि हो, तुम्हारे लिए इस प्रकार का मोह अत्यन्त अशोभनीय प्रतीत हो रहा है—इसे व्यक्त करने के लिए श्रीभगवान् ने अर्जुन को प्रश्न किया—तुम्हें यह मोह विषमे—विषम (वि+सम) में देश तथा काल की विवेचना कर जैसा होना उचित है उससे विपरीत अवस्था को 'विषम' कहा जाता है। यहाँ 'विषम' शब्द का अर्थ संकट काल में अर्थात् शत्रु लोग जब शस्त्रादि के द्वारा तुम लोगों को मारने के लिए उद्यत हुए हैं एवं तुम भी युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो तब इस प्रकार अभयप्रद युद्ध क्षेत्र में त्वाम्—तुम्हें अर्थात् समस्त क्षत्रियों में श्रेष्ठ तुम्हें कुतः–किस कारण से समुपस्थितम्–प्राप्त हुआ अर्थात् आश्रय किया ?

इस प्रकार युद्ध में पराङ्मुखता न तो तुम्हारी मोक्ष की अभिलाषा पूर्ण करने में सहायक होगी और न तो तुम्हारे स्वर्गलाभ का हेतु होगी। अतः किसी कारण से 'यदि मामप्रतीकारम्' (गीता १४।६) अर्थात् यदि सशस्त्र दुर्योधनादि मुझे आत्मरक्षा में उदासीन एवं अस्त्रविहीन देखकर मेरा युद्ध में वध करें तब भी वह मेरे लिये परम कल्याणकर होगा, इत्यादि कहकर युद्ध-भूमि को त्याग कर भिक्षान्न से जीविका निर्वाह करने में उद्यत हुए हो। तुम अर्जुन अर्थात् शुद्धस्वभाव हो—तुम्हारे सदृश विवेकी को ऐसा युक्ति तथा धर्मशास्त्र के विरुद्ध कार्य करना शोभा नहीं देता है, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) शंकरानन्दी तथा श्रीधरी व्याख्या तृतीय श्लोक की टिप्पणी में द्रष्टव्य है।

(२) विषमे—प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में विषाद योग के (प्रथम-अध्याय के) 'विषम' शब्द की व्याख्या द्रष्टव्य है।

[अच्छा, स्वजन बन्धुओं को विपक्ष की सेनाओं में देखकर जब अधीर होकर मैं धनुष नहीं पकड़ सक रहा हूँ (गीता १।२९) तब मैं क्या कर सकता हूँ ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—]

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! क्लैब्यम् मा स्म गमः, एतत् त्वयि न उपपद्यते, (हे) परन्तप क्षुद्रम् हृदयदौर्बल्यम् त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ।

अनुवाद—हे पार्थ ! क्लीबता (अधीरता) को प्राप्त न हो। क्योंकि तुम्हारे लिए यह शोभनीय नहीं है। हे परन्तप ! तुम्हारे हृदय की यह दुर्बलता तुम्हें क्षुद्र प्रमाणित करेगी। अतः इस तुच्छ दुर्बलता का त्याग कर उठो।

दीपिका—हे पार्थ !—तुम्हारी माता ने देवताओं के अनुग्रह से जिन पुत्रों को प्राप्त किया है उनमें प्रत्येक ही वीर्याधिक्य के लिए प्रसिद्ध है। और तुम जब उस माता के पुत्र हो तब तुम क्लीबता के अयोग्य हो अर्थात् तुम्हें क्लीबभाव का आश्रय नहीं लेना चाहिए। यही 'पार्थ' कहकर पुकारने का अभिप्राय है।

क्लैब्यम्—क्लीबता। वीर पुरुषों के लिये जो मानसिक बल का अभाव या कातरता अनुचित है वह अर्थात् ओजः एवं तेजः प्रभृति के अभाव के लिए मन की जो दुर्बलता या अधैर्य दीखता है उसे क्लैब्य कहा जाता है उस क्लीबता को **मा स्म गमः**—प्राप्त नहीं हो। क्योंकि **एतत्**—यह कातरता या मानसिक अधैर्य **त्वयि न उपपद्यते**—(तुमने साक्षात् महेश्वर के साथ भी युद्ध किया है एवं तुम्हारा विपुल विक्रम जगत् में प्रसिद्ध है अतः) तुम में यह क्लीबता शोभा नहीं देती है। अब अर्जुन कह सकते हैं "अच्छा, मैंने तो पहले ही कहा है—न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः" (गीता १।३०)। अर्थात् मैं युद्ध में रत होने में असमर्थ हूँ, मेरा मन मानो विभ्रान्त हो रहा है—अतः मुझसे क्यों कह रहे हो कि यह मुझे शोभा नहीं देता है ? अर्जुन के ऐसे अभिप्राय की आशंका कर श्रीभगवान् कह रहे हैं—**हे परन्तप क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ**—विवेक ही हृदय का बल है—मोहवश जब उस विवेक का अभाव होता है तब हृदय का दौर्बल्य उपस्थित होता है। इसलिए श्रीभगवान् कह रहे हैं "तुम जो हृदय की दुर्बलता अर्थात् मन की विभ्रान्त (विवेकहीन) अवस्था प्रकाश कर रहे हो वह तुम्हारे लिए क्षुद्रत्व का

कारण होगा अर्थात् तुम्हें लोगों की दृष्टि में वह क्षुद्र प्रमाणित करेगी। इस लिए यह दुर्बलता क्षुद्र है। फिर इसे सहज ही में त्याग किया जा सकता है इसलिए भी यह क्षुद्र अर्थात् तुच्छ है। अतः इस क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को परित्याग कर उठो अर्थात् युद्ध के लिए तैयार हो। युद्ध क्षेत्र में यह दुर्बलता त्याग करना तुम्हारे लिए कोई कठिन बात नहीं है क्योंकि तुम परन्तप—हो (पर अर्थात् शत्रु को सदा ही तापित करते हो) मन का अधैर्य तुम्हें स्वधर्म से च्युत कर रहा है इसलिए यह तुम्हारे अन्तर (भीतर) का महा शत्रु है। अतः पहले इस अन्तर के शत्रु को तापित कर अर्थात् पराजित कर युद्ध के लिए दृढ़संकल्प होना तुम्हारा अवश्य कर्तव्य है। यही 'परन्तप' शब्द के द्वारा अर्जुन को सम्बोधित करने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[श्रीभगवान् यह वाक्य बोले] हे अर्जुन! कुतः—किस कारण से त्वां—तुम्हें, विषमे—संकट में (विपद् के समय में) इदं कश्मलम्—यह मोह समुपस्थितम्—प्राप्त हुआ है। चूँकि यह मोह अनार्यजुष्टम्—आर्य व्यक्ति लोग सेवन नहीं करते हैं। [जो लोग आर्यशिक्षा प्राप्त कर चुके हैं वे लोग इस मोह को प्राप्त नहीं करते हैं] फिर अस्वर्ग्यम्—यह सब अधर्मजनक एवं अकीर्तिकरम्—यह सब इस लोक में अयशस्कर (कीर्ति का हानिकारक) है। [अतः] हे पार्थ, हे परन्तप—हे अर्जुन! हे शत्रुतापन! क्लैब्यम्—कातरता मा स्म गमः—प्राप्त नहीं करो। चूँकि त्वयि एतत् न उपपद्यते—तुम्हारे सदृश वीर के लिए यह शोभा नहीं देता है। क्षुद्रम्—तुच्छ, हृदयदौर्बल्यम्—हृदय की दुर्बलता (कातरता) त्यक्त्वा उत्तिष्ठ—त्याग कर युद्ध करने के लिए उठो (उद्योग करो)।

(२) शंकरानन्द—हे अर्जुन—हे शुद्धस्वभाव! विषमे—जब शत्रु शस्त्र के द्वारा तुम्हें मारने के लिए प्रवृत्त हुआ है उस संकट के समय में इदं कश्मलम्—यह कश्मल अर्थात् 'एतान्न हन्तुमिच्छामि (इन्हें मैं मारना नहीं चाहता हूँ), यदि मामप्रतीकारम्' (यदि प्रतीकार न करने से भी ये मुझे मार डाले) इत्यादि वचनों के द्वारा चित्त में जो भ्रम का लक्षण प्रकाशित हो रहा है वह चित्त-भ्रम कुतः—किस कारण से त्वां समुपस्थितम्—तुम्हें प्राप्त हुआ है? कहने का अभिप्राय यह है कि तुम्हारी तरह शुद्ध स्वभावसम्पन्न विवेकशील व्यक्ति को किस कालदोष के कारण अथवा किस कर्म दोष के कारण इस प्रकार के भ्रम की प्राप्ति हुई है? हे पार्थ—हे कुन्तीनन्दन! अनार्य-जुष्टम्—अनार्य अर्थात् आर्यशिक्षावर्जित पुरुष के द्वारा जुष्ट अर्थात् सेवित

अस्वर्ग्यम्—जिसके द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है अथवा जो दुर्गति का (नरक आदि की गति का) कारण होता है वह अस्वर्ग्य एवं अकीर्तिकरम्—इह लोक में भी अकीर्तिकर इदं क्लैब्यम्—यह क्लीबभाव अर्थात् वीर पुरुषों के अयोग्य यह कातरता त्वं मा स्म गमः—तुम न भजो अर्थात् तुम प्राप्त न करो। एतत्—यह अर्थात् इस प्रकार की कायरता त्वयि—राजधर्म में एवं युद्ध में पंडित तुम्हारे लिए न उपपद्यते—उचित नहीं है। तुम्हारे सदृश (वीर, श्रेष्ठ एवं सबके द्वारा प्रशंसनीय पुरुष को ऐसा नहीं करना चाहिए यही कहने का अभिप्राय है) हे परन्तप—हे शत्रुकर्शन क्षुद्रम्—जो क्षुद्रत्व का कारण होता है अर्थात् जो निकृष्टता प्राप्त कराता है ऐसी हृदयदौर्बल्यम्—हृदय की दुर्बलता (अधीरता) को अर्थात् मन की कलुषता को त्यक्त्वा—त्याग कर उत्तिष्ठ—युद्ध के लिए उद्योग करो।

क्लैब्यम्—साधारण लोगों के लिए किसी कार्य को करने में अपने को असमर्थ समझना ही उन लोगों का क्लीवत्व है किन्तु अर्जुन का क्लीवत्व वैसा नहीं है क्योंकि अर्जुन जानते थे कि उनका विनाश करने का सामर्थ्य मुझमें है। अर्जुन का क्लीवत्व है हृदय की दुर्बलता अर्थात् गुरु, स्वजन, बान्धवों के लिए ममता के कारण युद्ध करने में उसकी अनिच्छा।

भगवान् द्वारा तिरस्कारपूर्वक अर्जुन को स्वधर्मरूप युद्ध को त्याग करने का निषेध करने पर भी अर्जुन का चित्त शोकाकुल रहने के कारण भगवान् के उपदेश का तात्पर्य नहीं समझ सका। किन्तु अपने अभिप्राय (अर्थात् मैं शोक मोहादि के कारण स्वधर्म का त्याग कर रहा हूँ वह बात नहीं किन्तु युद्ध में धर्म नहीं है अपितु अधर्म ही है इसलिए युद्ध त्याग कर रहा हूँ यह अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए अर्जुन बोलने लगे।)

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच। हे अरिसूदन! मधुसूदन! अहम् कथम् संख्ये इषुभिः पूजार्हौ भीष्मम् द्रोणम् च प्रतियोत्स्यामि।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—हे अरिसूदन (शत्रुनाशक) मधुसूदन! भीष्म तथा द्रोण दोनों ही पूजनीय हैं उनके साथ बाण के द्वारा मैं किस प्रकार रणक्षेत्र में प्रतियुद्ध करूँगा अर्थात् उन लोगों पर प्रहार करूँगा ?

दीपिका—हे अरिसूदन! हे मधुसूदन! अरिसूदन अर्थात् काम, मोह आदि अन्तर के शत्रु का नाशकारक। मधुसूदन शब्द का अर्थ मधु-नामक दैत्य का नाशकारी अर्थात् बाहर के दुष्टों का सदा दमनकारी है। जिनका आश्रय लेने से अन्दर के काम मोहादि रूप शत्रु से एवं बाहर के मधुदैत्य के सदृश धर्मद्वेषी दुष्ट शत्रु से अनायास ही रक्षा मिल सकती है वे ही अरिसूदन तथा मधुसूदन हैं। अर्जुन का विश्वास है कि जब वे अरिसूदन तथा मधुसूदन श्रीकृष्ण के सखा हैं तब बाहर के तथा भीतर के सब शत्रु स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। अतः युद्ध करने का प्रयोजन क्या है? [श्रीमद् मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यद्यपि दोनों सम्बोधन एक ही अर्थ को सूचित कर रहे हैं तथापि यहाँ पुनरुक्ति में कोई दोष नहीं हुआ है क्योंकि शोक में व्याकुल होने से अर्जुन आगे पीछे की विवेचना नहीं कर सके अर्थात् पहले क्या बोले हैं एवं अब भी वे क्या बोल रहे हैं यह स्थिर करने में असमर्थ होकर दो बार उक्त प्रकार के सम्बोधन किये।]

अहम्—मैं (अर्जुन) संख्ये—युद्ध में इषुभिः—बाणों के द्वारा पूजार्हौ—फूल, चन्दन प्रभृति के द्वारा पूजा के योग्य जो भीष्मं द्रोणं च—भीष्म पितामह एवं गुरु द्रोणाचार्य को कथम्—किस प्रकार से प्रतियोत्स्यामि—प्रतियुद्ध करूँगा अर्थात् विनोद करने के छल में भी वाक्य द्वारा जिनके साथ युद्ध करना अनुचित है उन पूजनीय व्यक्तियों को वध करने के उद्देश्य से मर्म-घाती बाण द्वारा उन लोगों पर किस प्रकार प्रहार करूँगा? किसी भी प्रकार से मैं यह नहीं कर सकता, यही कहने का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन सरस्वती–(क) हे अरिसूदन! हे मधुसूदन! (इसका अर्थ यह भी हो सकता है—) मधुसूदन सम्बोधन के द्वारा अर्जुन भगवान् को स्मरण करवा रहे हैं—तुमने दुष्ट मधुदैत्य का निधन किया था, अतः वैसे दुष्ट दमन के कार्य में ही मुझे नियुक्त करना चाहिए किन्तु भीष्म द्रोणादि मेरे परम पूजनीय हैं इनके वध के लिए मुझे क्यों नियुक्त कर रहे हो? उत्तर में श्रीकृष्ण कह सकते हैं—क्यों मैंने भी तो अपने पूजनीय मामा कंस का निधन किया है। अतः भीष्म, द्रोण प्रभृति आततायी रूप में तुम लोगों को मारने के लिए जब विपक्ष में सज्जित हुए हैं तब इन लोगों को क्यों नहीं मारोगे? उत्तर में अर्जुन का कहने का अभिप्राय ऐसा है—कंस बाल्य-काल से तुम्हारा शत्रु था एवं तुम्हारे जन्म के पूर्व से ही तुम्हारे माता-पिता को अनेक कष्ट दे रहा था। अतः उसका वध कर अपने शत्रु का सूदन अर्थात् नाश किया था एवं इसलिए ही तो तुम्हें सभी 'अरिसूदन' कहते हैं। किन्तु भीष्म, द्रोण प्रभृति ने तो मेरे प्रति वैसा व्यवहार नहीं किया है।

बाल्यकाल में जब हम लोग पितृहीन हुए थे तब भीष्म पितामह ने कितने स्नेह से हमलोगों का लालन-पालन किया था और गुरु द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अश्वत्थामा एवं कर्ण दुर्योधनादि को भी धनुर्वेदादि के जो गुप्त रहस्य नहीं बतलाये उन्हें मेरे प्रति अत्यधिक स्नेहवश मुझे बतलाया था। और शास्त्र में भी कहा है कि 'स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म; शरीर-मेव मातापितरौ जनयतः' अर्थात् शरीर को मातापिता जन्म देते हैं किन्तु आचार्य (गुरु) विद्या के द्वारा जो जन्म देते हैं वही श्रेष्ठ जन्म है। इसलिए वे पिता से भी अधिक पूज्य हैं। इसके अतिरिक्त द्रोणाचार्य ब्राह्मण हैं ऐसी अवस्था में भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य पर कंस की भाँति किस प्रकार मर्मघाती बाण के द्वारा प्रहार करूँ ? वे लोग तो अन्तःकरण से मेरे प्रति स्नेहभाव रखते हैं अतः वे मेरे यथार्थ शत्रु नहीं हैं। तुम अरिसूदन हो तुम्हारे द्वारा ऐसे पूजनीय व्यक्तियों को मारने की प्रेरणा देने से क्या तुम्हारा अपयश नहीं होगा ? यही अर्जुन को 'अरिसूदन' कहकर पुनः सम्बोधन करने का अभिप्राय है। (ख) कथं प्रतियोत्स्यामि—जब गुरुस्थानीय द्रोणाचार्य तथा भीष्म पितामह के साथ युद्ध करना भी अनुचित है तब उन-लोगों का वध करना तो दूर की बात है। यदि कहो कि क्षत्रिय के लिए विपक्ष में युद्ध करने के उद्देश्य से उपस्थित गुरुजनों के साथ युद्ध करना शास्त्र में निषिद्ध नहीं है, अतः इस प्रकार के युद्ध में अधर्म नहीं हो सकता। उसके उत्तर में कहा जा सकता है, कि 'गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य' इत्यादि वाक्य के द्वारा शास्त्र में कहा गया है कि हुंकार अथवा 'तुम' शब्द उच्चारण करके गुरु के प्रति द्रोह प्रदर्शन करने से भी अनिष्ट फल उत्पन्न होता है। अतः उनलोगों के साथ युद्ध करना अधर्म है एवं निषिद्ध है इस विषय में और क्या संशय रह सकता है ? यही 'प्रतियोत्स्यामि' शब्द का तात्पर्य है।

(२) श्रीधर—[मैं कायरता से युद्ध से विरत नहीं हो रहा हूँ, परन्तु युद्ध के अन्याय्यत्व तथा अधर्मत्व के लिए युद्ध करना नहीं चाहता हूँ।] अर्जुन उवाच—अर्जुन बोले हे अरिसूदन—शत्रुविमर्दन ! पूजार्हौ—पूजा के योग्य भीष्मं द्रोणञ्च—भीष्म तथा द्रोण के साथ कथम् अहं प्रतियोत्स्यामि—किस प्रकार में युद्ध करूँगा ? (तत्रापि) इषुभिः—वह युद्ध भी फिर उनके प्रति बाणों को निक्षेप करके करना पड़ेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि—जिन पूज्य भीष्म तथा द्रोण के साथ वाक्य के द्वारा भी युद्ध करना अनुचित है उनके साथ बाण के द्वारा कैसे युद्ध करूँगा ?

(३) शंकरानन्द—[भगवान् के उन वचनों को सुनकर तथा गुरु प्रभृति स्वजनों के हिंसारूप दोष से उत्पन्न दुःख को सहने में असमर्थ होकर अर्जुन ने जो पहले कहा था वही विशेष रूप से यहाँ कह रहे हैं—] भीष्मम्—कुलवृद्ध एवं गुण में श्रेष्ठ भीष्म को द्रोणं च—एवं विद्यागुरु द्रोण को, संख्ये—युद्ध में इषुभिः—बाणों के द्वारा कथं प्रतियोत्स्यामि—किस प्रकार से प्रतिपक्षी होकर युद्ध करूँगा ? प्रश्न होगा—तब क्या भीष्म तथा द्रोण तुम से वीरत्व में अधिक श्रेष्ठ हैं ? और इसीलिए युद्ध करने में तुम समर्थ नहीं हो ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—हे अरिसूदन !—तुम भक्तों के कामादि शत्रुओं को नष्ट करते हो, इसलिए अरिसूदन हो [मैं उनके शौर्य के डर से युद्ध से विरत नहीं हो रहा हूँ किन्तु वे लोग] पूजार्हौ—वे लोग दोनों ही गृह (घर) में पिता की तरह पुष्पादि द्वारा पूजा के योग्य हैं। अतः जब (कठोर) वाणी के द्वारा भी उनके साथ युद्ध करना उचित नहीं है, तब मर्मघाती बाणों के द्वारा उन लोगों के साथ युद्ध करना जो उचित नहीं है, इसमें कहने को और क्या है ? अतः बाणों के द्वारा उन दोनों के मर्मस्थान को मैं किस प्रकार छेदन करूँगा ? यही कहने का अभिप्राय है।

(४) इषुभिः प्रतियोत्स्यामि —यहाँ प्रश्न होगा 'तुम अर्जुन विराट राज्य में जब छद्मरूप से वास करते थे तब तो भीष्म द्रोणादि के साथ युद्ध किया था ? तब तो तुम्हारी यह युक्तियाँ नहीं थी ? इसके उत्तर में अर्जुन द्वारा कहा जायगा कि "उस युद्ध में भी मैंने (अर्जुन) भीष्म, द्रोणादि को शस्त्र के द्वारा पहले प्रहार नहीं किया था एवं अन्त में भी केवल सम्मोहन नामक शस्त्र के द्वारा सभी को मोहित किया था। किन्तु उनलोगों के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया था। कुरुक्षेत्र का युद्ध उस युद्ध से अधिक भयंकर है; अतः इस युद्ध में अर्जुनादि के शस्त्र से भीष्म द्रोणादि के प्राणनाश की भी सम्भावना है। इसलिए उनलोगों की मृत्यु की आशंका में शोक तथा मोह में आच्छन्न होकर अर्जुन ने युद्ध से विरत होने की इच्छा प्रकट की।

[श्रीभगवान् कह सकते हैं कि क्षत्रिय के लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है। अतः युद्ध में प्रतिपक्ष के रूप में पितामह तथा गुरु के उपस्थित रहने से भी उनके साथ युद्ध न कर रणभूमि त्याग करने से तुम स्वधर्म से विच्युत होकर पाप के भागी होओगे। इसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं—]

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वय—हि महानुभावान् गुरून् अहत्वा इह लोके भैक्ष्यम् अपि भोक्तुं श्रेयः। तु गुरून् हत्वा इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् भुञ्जीय।

अनुवाद—क्योंकि महानुभाव-सम्पन्न गुरुजनों का वध न कर इहलोक में यदि भिक्षान्न भोजन करना पड़े तो वह भी श्रेयस्कर है। किन्तु गुरुजनों की हत्या करने से इहलोक में ही मुझे रुधिरलिप्त अर्थ तथा कामादि भोग्य वस्तुओं का भोग करना पड़ेगा।

दीपिका – हि महानुभावान् गुरून् अहत्वा—चूँकि (हि) अनुभाव है (अर्थात् शास्त्राध्यापन एवं तपश्चर्या प्रभृति के प्रभाव) जिनका महान् (अत्यन्त माहात्म्यपूर्ण) है वैसे (अति पुण्यशाली) भीष्म, द्रोण, कृप प्रभृति गुरुजनों की हत्या न कर [द्रोणाचार्य मेरे साक्षात् गुरु हैं और मेरे पितामह भीष्म ने काल तथा काम को जीत लिया है अर्थात् तपस्या के द्वारा मृत्यु को जीत लिया है एवं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर काम को भी जीत लिया है। इसलिए उनलोगों के सदृश पुण्यशील पूजनीय महान् पुरुष और कौन हो सकते हैं ? अतः ये लोग किसी भी प्रकार से वध करने के योग्य नहीं हैं। इन लोगों की हत्या न कर] इह लोके—इस संसार में भैक्ष्यम् अपि—भिक्षान्न भी भोक्तुम्—भोजन करना श्रेयः—श्रेयस्कर है।

युद्ध दो प्रकार का होता है (क) वृत्तिफलक (अर्थात् जीविका के लिए राज्यलाभ के उद्देश्य से जो युद्ध किया जाता है) उसको वृत्तिफलक युद्ध कहा जाता है वह धर्मयुद्ध नहीं है, (ख) अन्याय का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से दुष्ट को दमन करने के लिए यदि युद्ध किया जाय तब वह वृत्तिफलक नहीं होता है किन्तु धर्मफलक होता है (अर्थात् धर्म ही उसका फल है) और राज्य आदि का लाभ उसका केवल आनुषंगिक फल है। ऐसे स्थल में यदि गुरुजन भी युद्ध में प्रतिपक्ष के रूप में खड़े हों तब उन लोगों का वध करने में कोई पाप नहीं है। किन्तु अर्जुन ने सोचा कि हम लोग तो जीविका के उद्देश्य से राज्यलाभ के लिए ही युद्ध करने में उद्यत हुए हैं। अतः भ्रान्त धारणावश (अर्थात् यथार्थ धर्म के तत्त्वसम्बन्ध में अज्ञान के कारण) इस प्रकार युद्ध को धर्म मानने पर भी वह प्रकृत अधर्म ही है। इस अधर्म का आश्रय लेकर गुरुजनों की हत्या कर राज्यलाभ की अपेक्षा भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न भोजन करना ही श्रेयस्कर है। यह ठीक है कि क्षत्रिय के लिए भिक्षान्न भोजन करना शास्त्र में निषिद्ध है तथापि गुरुजनों की हत्या करने से जो पाप होगा उससे भिक्षान्न का भोजन करने से होनेवाला पाप बहुत ही तुच्छ होगा यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।] तु—दूसरी

ओर गुरून् हत्वा—भीष्म द्रोणरूप गुरुजनों की हत्या कर इह एव—इस जगत् में ही रुधिरप्रदिग्धान्—उनकी रक्तधारा में प्रकृष्टरूप से लिप्त अर्थात् रक्तमय अर्थकामान् भोगान्—अर्थ तथा कामरूप (विषय की कामना को तृप्तिरूप) निकृष्ट सकल भोग का ही भुञ्जीय भोग करूँगा किन्तु उससे उत्कृष्ट पुरुषार्थ जो धर्म तथा मोक्ष हैं, उनसे वंचित होऊँगा। ['रुधिर-प्रदिग्धान्' शब्द का अर्थ रुधिरधारा में लिप्त है किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि केवल राज्य के लोभ में यदि हम लोग इन गुरुजनों का वध करें तब हम लोगों का अपयश ही सर्वत्र व्याप्त होगा एवं भोग के साथ गुरु के वध रूप पाप में लिप्त रहने के कारण वह अत्यन्त निन्दित नारकीय भोग ही होगा। अतः इस प्रकार के युद्ध के फलस्वरूप जब इह जगत् में ही नरक के दुःख का भोग करना पड़ेगा तो परलोक में जो असीम दुर्गति भोगनी होगी इसमें कहने को और क्या है फिर दूसरी ओर से विचार करने से देखा जाता है कि चार प्रकार के पुरुषार्थ में (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में) मोक्ष मनुष्य जीवन की चरम लक्ष्य वस्तु है अर्थात् परम पुरुषार्थ है एवं धर्म ही उस लक्ष्य वस्तु में पहुँचने का प्रधान सहायक है। किन्तु हम लोग जो युद्ध करने को उद्यत हुए हैं वह युद्ध जीविकानिर्वाह के लिए राज्य लाभ करने के उद्देश्य से किया जा रहा है इसलिए (क) इसे धर्मयुद्ध नहीं कहा जा सकता है। अतः हम लोग धर्मरूप पुरुषार्थ से वंचित होंगे; (ख) इस युद्ध में जयलाभ कर जो अर्थ तथा काम (भोग) प्राप्त होंगे वे गुरुजनों के रुधिर से लिप्त रहेंगे। अतः अर्थ तथा कामरूप पुरुषार्थ हमलोगों को प्राप्त होने से भी वह अर्थ व भोग अतिनिन्दित परिगणित होगा (माना जायेगा) (ग) गुरु-वधरूप महापाप से जो भोग प्राप्त होगा वह इहलोक में ही समाप्त हो जायगा एवं इस पाप के फलस्वरूप हम लोग स्वर्गादि लोक के सुख से वंचित रहेंगे। (घ) जो लोग शास्त्रानुमोदित धर्म का आश्रय नहीं लेते हैं एवं जिन लोगों का अर्थ तथा काम अशुद्ध है उन लोगों की कभी भी चित्तशुद्धि नहीं हो सकती है अतः ज्ञानलाभ कर मोक्षलाभ करना उन लोगों के लिए असम्भव है। इसलिए मोक्षरूप परमपुरुषार्थ से भी हम लोग वंचित रहेंगे अतः इस प्रकार युद्ध करने से हम लोगों के चार प्रकार के पुरुषार्थ की ही हानि होगी। अतः युद्ध से विरति क्षत्रिय राजा के लिए निषिद्ध होने पर भी हम लोगों के लिए यह युद्ध न कर भिक्षान्न भोजन करना ही श्रेयस्कर है क्योंकि भिक्षान्न भोजन में केवल मात्र आहार की अशुद्धि हो सकती है किन्तु विधिपूर्वक प्रायश्चित्तादि के द्वारा हम लोग उस अशुद्धि से बाद में मुक्त हो सकेंगे। परन्तु

इस युद्ध में गुरुजनों का वध करने से जो पाप होगा उस पाप से मुक्ति लाभ करने का और कोई उपाय नहीं है—यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—हि महानुभावान् गुरूनहत्वा—

निम्नलिखित प्रश्नोत्तर के द्वारा अर्जुन के वक्तव्य का तात्पर्य क्या है ? यह स्पष्ट होगा।

(क) प्रश्न – गुरु किन लोगों को कहा जाता है ?

उत्तर—उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः।
मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामहपितामहौ।
वन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवःस्मृताः॥

अर्थात आचार्य (जिनसे शास्त्र आदि की शिक्षा प्राप्त होती है) पिता, ज्येष्ठ भ्राता, राजा, मातुल, श्वशुर, त्राणकर्ता, मातामह, पितामह, ज्येष्ठ वन्धु, पितृव्य ये सभी लोग गुरुजन हैं। इन लोगों की फूल-चन्दन से अर्चना करनी चाहिए। अतः प्रतिपक्ष में ये लोग उपस्थित रहने पर भी युद्ध में वाण के द्वारा इन लोगों पर मर्माघात कैसे करेंगे यही अर्जुन की समस्या है।

प्रश्न—गुरुजनों का वध करने से क्या पाप होता है ?

उत्तर—वध तो दूर की बात है, उन लोगों का तिरस्कार करने से भी अत्यन्त दुर्गति होती है।

धर्मशास्त्र में कहा गया है "गुरुं हुंकृत्य वा तुंकृत्य विप्रान् निर्जित्य वादतः। स्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः" अर्थात् जो पुरुष अपने गुरु को हुंकार या तुंकार शब्द कहकर उन लोगों का निरादर करते हैं अथवा साधु, ब्राह्मण को विवाद में जीतते हैं, वे अपनी मृत्यु होने के बाद स्मशान-भूमि में वृक्ष के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं, जिस पर गीध तथा कौवे निवास करते हैं।

(ख) प्रश्न—किन्तु गुरु भी यदि अवलिप्त अर्थात् गर्वित एवं कर्तव्या-कर्तव्य के विषय में अनभिज्ञ तथा उत्पथगामी हों तो उनका परित्याग करना कर्तव्य है क्योंकि स्मृतिशास्त्र में कहा गया है "गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्य-मजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥" (महा० भा० शा० प० ५७।७; रामायण अयो० २१।१३)। यह भीष्म, द्रोण प्रभृति गुरु लोग जब युद्धगर्व से गर्वित हैं एवं केवल अर्थ के वशीभूत होकर दुर्योधन का पक्ष अवलम्बन कर तुम लोगों के सदृश शिष्य के प्रति अनिष्टाचरण करने के लिए

युद्ध करने में उद्यत होकर अपनी कर्तव्याकर्तव्य विवेचनशून्यता प्रतिपन्न (प्रमाणित) कर रहे हैं तब उन लोगों का वध करना ही उचित है, क्योंकि स्वयं भीष्म का कथन है—

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥"

(म. भा. ६।४३।५६) अर्थात् पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का भी दास नहीं है, यह सच बात है। मैं कौरव के अर्थ के लोभ से आबद्ध हो गया हूँ। इससे प्रमाणित होता है कि भीष्म, द्रोण प्रभृति सब ही अर्थ के दास होकर कर्तव्यज्ञानहीन हो गये थे। अतः इन लोगों का युद्ध में वध करने से शास्त्र के अनुसार कोई दोष नहीं हो सकता है दूसरी बात ये लोग आततायी हैं। अतः इन लोगों की हत्या करने से कोई दोष नहीं होता है क्योंकि स्मृति शास्त्र में कहा गया है "गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ (मनुस्मृति ८।३५०) अर्थात् आततायी यदि गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो अथवा बहुश्रुत हो (सर्व वेदादि-शास्त्र में सुपण्डित हो) तब भी उन्हें आते हुए देखते ही विचार न कर उनकी हत्या करना उचित है।

उत्तर—भीष्म, द्रोण प्रभृति गुरुजन आततायी के रूप में प्रतीत होने से उनके साथ युद्ध करना उचित है कि नहीं इस सम्बन्ध में मुझे अब भी संशय है क्यों कि शास्त्र में कहा गया है "धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् । तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥" (भागवत १०।३१) अर्थात् जो लोग समर्थशाली पुरुष हैं इन लोगों में कभी-कभी धर्मव्यतिक्रम एवं साहस (हठवादिता) दिखाई पड़ता है। उन लोगों के लिये वैसा कार्य दोषरूप नहीं है क्योंकि वे लोग तेजस्वी हैं। इसका उदाहरण जैसे अग्नि सर्वभुक् है तब भी अर्थात् जैसे अग्नि के दुष्ट (खराब) चीज ग्रहण करने से भी उसमें कोई दोष नहीं रहता है [भीष्म ने तपस्या के द्वारा मृत्यु को जीत लिया है इसलिए वे काल के वशीभूत नहीं हैं और उन्होंने चिरकाल ब्रह्मचर्य का अवलम्बन कर काम को भी जीत लिया है। जो लोग ऐसे महानुभाव हैं उनलोगों को ऐसे क्षुद्र पाप (शास्त्र विरुद्ध कर्म) दूषित नहीं कर सकते हैं]। समर्थ व्यक्ति शास्त्रविगर्हित कर्म करने से भी तप के प्रभाव से उस पाप से मुक्ति लाभ करने का सामर्थ्य रखते हैं। इसलिए वे लोग कभी-कभी शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं किन्तु वह देखकर साधारण व्यक्ति को शास्त्र के

नियमों का अनादर नहीं करना चाहिए क्योंकि जो लोग शक्तिहीन हैं वे लोग उस दृष्टान्त को देखकर यदि उस प्रकार कोई पाप कर्म करें तब उस पाप से उन लोगों की अधोगति ही होगी। [नीलकण्ठ भगवान् महादेव भी विष का पान कर पचा न सके। दूसरा कोई उनका अनुकरण करके विष का पान करें तो मृत्यु ही वरण करेगा]।

हमलोग राज्य के लोभ के कारण इस युद्ध करने को उद्यत हुए हैं। अतः हमसे यदि इन गुरुजनों का प्राणनाश हो जाय। तब जो पाप होगा उससे निष्कृति पाने का कोई उपाय नहीं है। अतः हमलोगों के लिए भिक्षान्न भोजन कर जीविका निर्वाह करना ही अच्छा है किन्तु गुरुवधरूप पाप करना उचित नहीं है।

अथवा 'हिमहानुभावान्' यह एक ही पद है। जो हिम को दूर करते हैं वे 'हिमहा' अर्थात् सूर्य या अग्नि। उनके सदृश जिनका अनुभव (सामर्थ्य) है, उनको 'हिमहानुभाव' कहा जाता है अर्थात् वे लोग अग्नि के समान अतितेजस्वी हैं। अतः रागद्वेषादि के कारण कभी उनसे धर्म का व्यतिक्रम होने पर भी वह उनके लिए दोष नहीं माना जाता है—यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।

(ग) अर्थकामान् तु—इस पद का 'भोगान्' शब्द की विशेषकर दीपिका में व्याख्या की गयी है। किन्तु इसे 'गुरून्' शब्द का विशेषण मान करके भी दूसरे प्रकार से व्याख्या की जा सकती है।

अर्थकामान्—अर्थ के लिए लुब्ध (लोभी)। तु—अपि (तथा) अर्थात् यदि माना जाय कि भीष्म, द्रोण प्रभृति गुरुजन दुर्योधनादि के अर्थ के लोभ से वशीभूत होकर हमलोगों के विपक्ष में युद्ध करने के लिए उद्यत हुये हैं तब भी उन लोगों का बध करने पर राज्य प्राप्त कर केवल विषयभोग करने में ही हमलोग समर्थ होंगे, किन्तु मोक्षरूप परमपुरुषार्थ लाभ करने में समर्थ नहीं होंगे! [केवल मोक्ष से वंचित होना होगा यह बात नहीं। धर्म, अर्थ, काम—इन सब पुरुषार्थ से भी वंचित होना होगा (दीपिका देखिए)]।

(घ) इस श्लोक के द्वारा भगवान् ने २-३-श्लोक में 'अनार्यजुष्टम्' इत्यादि शब्दों के द्वारा अर्जुन को युद्ध से विरत देखकर जो तिरस्कार किया उसका प्रतिवाद कर अर्जुन अब प्रतिपक्ष कर रहे हैं (अर्थात् प्रत्युत्तर में कह रहे हैं) कि युद्ध करने से ही इन सब दोषों से युक्त होना पड़ेगा—युद्ध न करने से नहीं।

(क) "महानुभावान् गुरून् अहत्वा"—महाप्रभावशाली भीष्म, द्रोणादि गुरुजन के साथ युद्ध करने से ही 'अनार्यजुष्ट' होना पड़ेगा क्योंकि कोई नीतिशास्त्र भी इस प्रकार के गुरुजन के साथ युद्ध की अनुमति नहीं देता है।

(ख) 'इहैव भुञ्जीय'—उन गुरुजनों का वध कर राज्य प्राप्ति से जो अर्थ तथा काम (विषय) मिलेगा वे सब जागतिक वस्तु होने के कारण उनका भोग यहीं (इस जीवन में ही करना होगा—परलोक में नहीं) अर्थात् स्वर्गरूप फल इस युद्ध से प्राप्त नहीं हो सकता है, अतः यह 'अस्वर्ग्यम्' होगा।

(ग) 'रुधिरप्रदिग्धान्'—गुरुजन के रुधिर में लिप्त अर्थ तथा काम-रूप भोग करने से इह लोक में भी अपयश का भागी होना होगा। अतः यह युद्ध 'अकीर्तिकरम्' होगा। युद्ध न कर भिक्षावृत्ति अवलम्बन करने से इन सब दोषों की कोई सम्भावना नहीं है। अतः मेरा युद्ध करना उचित नहीं है, यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।

(२) श्रीधर—[यदि यह कहा जाय कि भीष्म द्रोण प्रभृति गुरुजनों का वध न करके तुम्हारी देहयात्रा का भी निर्वाह नहीं होगा, परन्तु तो भी] महानुभावान् गुरून् अहत्वा—महानुभाव गुरु की हत्या न कर अर्थात् जिस कर्म के द्वारा परलोक नष्ट होगा, उस गुरुजनों के वधरूप कर्म को न कर इहलोके—इस लोक में भैक्ष्यम् अपि भोक्तुं श्रेयः—भिक्षान्न भी भोजन करना श्रेयस्कर है, दूसरी ओर इन लोगों की हत्या करने से केवल परलोक में ही दुःख भोग करना पड़ेगा ऐसी बात नहीं परन्तु इहलोक में भी दुःखभोग करना पड़ेगा। गुरून् हत्वा इह एव—गुरुओं की (भीष्म, द्रोण प्रभृति गुरुओं की) हत्या कर इहलोक में ही रुधिरप्रदिग्धान्—रक्त के द्वारा प्रकृष्ट रूप से प्रदिग्ध अर्थात् लिप्त अर्थकामान् भोगान्—अर्थकामात्मक भोगों को [अर्थात् जो भोग अर्थ तथा कामरूप पुरुषार्थ ही सिद्ध करने में समर्थ हैं किन्तु धर्म तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ के प्रतिकूल है वह भोग] भुञ्जीय—भोग करेंगे। अथवा 'अर्थकामान्' शब्द को 'गुरून्' शब्द के विशेषण के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। अर्थकामान् गुरून्—अर्थ ही जिनका काम (काम्यवस्तु) है उन लोगों को 'अर्थकाम' कहा जाता है। भीष्म, द्रोण प्रभृति गुरुजन अर्थतृष्णा से आकुल हैं। अतः ये लोग स्वयं युद्ध से निवृत्त नहीं होंगे। अतः मैं यदि युद्ध करूँ तभी मैं इन लोगों के वध का कारण होऊँगा [और यदि युद्ध से निवृत्त होकर भिक्षान्न भोजन करूँ तब इन

लोगों के वध का प्रसंग उपस्थित नहीं होगा। अतः युद्ध न करना ही मेरे लिए श्रेयः है]। ये लोग जो 'अर्थकाम' हैं अर्थात् तृष्णा से आकुल है, इसका प्रमाण है युधिष्ठिर के प्रति भीष्म का यह वचन—"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः"॥ (महाभारत, भीष्मपर्व) अर्थात् हे महाराज! पुरुष अर्थ का दास है, परन्तु अर्थ किसी का भी दास नहीं है। यह सत्य ही तुम्हें कह रहा हूँ। मैं कौरव के अर्थ से बद्ध हुआ हूँ।

(३) शंकरानन्द—[क्षत्रियों के लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है, अतः इस युद्ध का त्याग तुम किस प्रकार करोगे? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] महानुभावान्–महान् अर्थात् अनर्गल (अविच्छिन्न) अनुभाव अर्थात् धर्म तथा ब्रह्मविषयक बोध जिनको है वे लोग 'महानुभाव' हैं। इस प्रकार गुरून् भीष्म, द्रोण, कृपादि गुरुजनों को अहत्वा—हत्या न कर इह—इहलोक में भैक्ष्यम्—भिक्षान्नं नः श्रेयः—हम लोगों के लिए युद्ध के सदृश ही श्रेयस्कर है (कल्याणकर है) अतः उस भिक्षान्न का भोजन करना ही हमारा कर्तव्य है अर्थात् गुरुप्रभृति एवं स्वजनों की हिंसा न कर भिक्षा से प्राप्त अन्न का भोजन करना ही हमलोगों के लिए श्रेयस्कर है। 'हि'—'अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्। अक्लेशयित्वा चात्मानं यदल्पमपि तद् बहु।' (अन्य को कष्ट न देकर, दुष्ट के घर में न जाकर एवं अपने को क्लेश न देकर यदि अल्प भी मिले, तब भी वह बहुत है) इत्यादि शास्त्रवाक्य की प्रसिद्धि सूचित करने के लिए 'हि' शब्द प्रयुक्त किया गया है। यदि कहो कि अनाथ की तरह क्या वीर को भिक्षान्न भोजन करना उचित है? वीर पुरुष को तो शत्रु को जीत कर राज्य भोग करना ही चाहिए। इसके उत्तर में कह रहे हैं, अर्थकामान्—यहाँ 'कम्' धातु का अर्थ ज्ञान है। 'अर्थान्' अर्थात् जो धर्मादि सभी पुरुषार्थ शिष्य को (कामयति बोधयतीति) बोध करता है अर्थात् धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) पुरुषार्थ के विषय में शिष्य को ज्ञान देते हैं उन्हें 'अर्थकाम' कहा जाता है। वह अर्थकाम रूप अर्थात् धर्मादि के उपदेष्टा (उपदेश देनेवाले) गुरून्—गुरुओं को हत्वा—वध कर इह एव—इस लोक में ही रुधिरप्रदिग्धान्—रक्तधारा में प्रसिक्त अर्थात् रुधिरमय भोगान्—भोगों को अर्थात् नारकीय विषयों को 'भुज्यन्ते इति भोगाः विषयाः' (जो भोग किया जा सकता है उसे भोग कहा जाता है अर्थात् विषय) भुञ्जीय–भोग करूँगा। उन विषयों का भोग करना जो परकाल में नरक का हेतु होगा केवल यहीं नहीं किन्तु गुरु का वध करने से निन्दनीय नरक के सदृश

भोग इस लोक में ही करना पड़ेगा। अतः गुरु प्रभृति की हिंसा न कर भिक्षान्न भोजन करना ही श्रेयस्कर है, यह मैं (अर्जुन) मानता हूँ।

[शास्त्र में है—"ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनुत्यजः" अर्थात् जो वीर रणभूमि में युद्ध करते हुए शरीर त्याग करते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि क्षत्रिय के लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है कारण वह उसका स्वधर्म है। फिर क्षत्रिय के लिए भिक्षा कर जीवन निर्वाह करना उचित नहीं है क्योंकि शास्त्र में भिक्षावृत्ति से जीविकानिर्वाह करना क्षत्रिय के लिये निषिद्ध है। अतः तुम्हें युद्ध ही करना चाहिए। इस प्रकार भगवान् कह सकते हैं, यह आशंका कर अर्जुन कह रहे हैं—]

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्‌ वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अन्वय—(भैक्ष्ययुद्धयोः मध्ये) कतरत् नः गरीयः एतत् च न विद्मः (अपि च) यद्वा (वयं) जयेम, यदि वा नः जयेयुः (एतदपि न विद्मः)। यान् हत्वा न जिजीविषामः ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः।

अनुवाद—(भिक्षा तथा युद्ध में) कौन अधिक श्रेयस्कर है ? यह समझ नहीं रहा हूँ। [फिर युद्ध की स्थिति (अर्थात् फल) के सम्बन्ध में भी सन्देह है] हम लोग जयलाभ करेंगे अथवा वे लोग हम लोगों को जीतेंगे, यह भी समझ में नहीं आ रहा है। फिर देखो हम लोगों की जय होने से भी वह पराजय के समान ही होगी क्योंकि जिनका विनाश कर हम लोग जीवित रहना नहीं चाहते हैं उस धृतराष्ट्र के सभी पुत्र (हम लोगों के विपक्ष में युद्ध करने के लिए) सामने ही अवस्थित हैं।

दीपिका—(भैक्ष्ययुद्धयोः मध्ये) [न विद्मः]—भिक्षा हिंसा-शून्य है इसलिए वह ही हमलोगों के लिए श्रेयस्कर है ? अथवा युद्ध क्षत्रिय का स्वधर्म है इसलिए क्या वहीं हम लोगों के लिए श्रेयस्कर है ? अर्थात् भिक्षा तथा युद्ध में कतरत्—कौन नः—हमलोगों के लिए गरीयः—अधिक श्रेयस्कर अर्थात् कल्याणकर है, न तत् च—वह न विद्मः—समझ नहीं रहा हूँ। [अथवा दोनों ही (भिक्षा करना एवं युद्ध करना) बराबर है अतः किसी भी एक को ग्रहण किया जा सकता है इस प्रकार अर्जुन के मन में आवेश उपस्थित हुआ यह अर्थ समझाने के लिए श्लोक में "च" शब्द का प्रयोग किया है]। युद्ध की स्थिति अर्थात् फल भी अनिश्चित है। अतः यद्वा वयं जयेम—युद्ध आरम्भ

होने से हम लोग जयलाभ करेंगे यदि वा—अथवा नः जयेयुः—धार्तराष्ट्र लोग हम लोगों को पराजित कर जयलाभ करेंगे, एतदपि—यह भी न विद्मः—नहीं जानता हूँ [अथवा हमलोग दोनों पक्षों में समान-समान रहेंगे, यह भी नहीं जानता हूँ। 'अपि' शब्द के द्वारा इस प्रकार अर्जुन का संशय भी सूचित किया जा रहा है]। (पुनः हमलोगों की जय होने से भी वह पराजय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योंकि) यान्—जिन प्रिय बन्धुओं की हत्वा—हत्या कर, न जिजीविषामः—जीवित रहने की भी इच्छा नहीं करता हूँ ते एव धार्तराष्ट्राः—धृतराष्ट्र के वे सब पुत्र तथा उनके पक्ष में युद्ध करने के लिए प्रवृत्त भीष्म, द्रोण प्रभृति हमारे बन्धु लोग [मृत्यु-पण कर अर्थात् या तो मरेंगे, नहीं तो जयलाभ करेंगे ऐसी प्रतिज्ञा कर] प्रमुखे—युद्ध भूमि में सामने अवस्थिताः—उपस्थित हैं। [वे लोग इस समय युद्ध करने में ही दृढप्रतिज्ञ हैं इसलिए युद्ध कर उन लोगों का वध करना ही होगा। अतः इस प्रकार के अनर्थ का कारण जो युद्ध है उसमें प्रवृत्त न होकर भिक्षान्न के द्वारा जीविका निर्वाह करना ही तो मैं श्रेयस्कर मानता हूँ, यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—ब्रह्मविद्या के अधिकारी होने के लिए साधनचतुष्टय से सम्पन्न होना होगा। साधनचतुष्टय शब्द का अर्थ है—

(क) नित्यानित्यवस्तुविवेकः (नित्य आत्मा का अनात्म देहेन्द्रियादि से पृथक्करण); (ख) इहामुत्र फलभोगवैराग्यम् अर्थात् इहलोक एवं परलोक सम्बन्धी फलभोग में विरक्ति; (ग) षट्सम्पत्तिः अर्थात् शम (अन्तरिन्द्रिय निग्रह), दम (बहिरिन्द्रिय निग्रह), तितिक्षा (प्रतिकार के बिना सहन करना), उपरति (सांसारिक विषयों से विरति), श्रद्धा (शास्त्र तथा गुरुवाक्य में विश्वास), समाधान (चित्त की निश्चलता का अभ्यास); (घ) मुमुक्षुत्वम् (मुक्तिलाभ करने की तीव्र इच्छा), श्रीमद्मधुसूदन सरस्वती जी कहते हैं कि इन उक्तियों के द्वारा अर्जुन जो संसार के दोषों की सम्पूर्णरूप से उपलब्धि कर वैराग्यवान् हुए हैं एवं अब सद्गुरु का आश्रय लेकर वेदान्तादि श्रवण कर ब्रह्मविद्या लाभ करने के अधिकारी हुए हैं वह निम्नलिखित कारण से प्रमाणित हो रहा है—(क) "न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे" (गीता १।३१) युद्ध में स्वजनों को निहत कर श्रेयः नहीं देख रहा हूँ। इसके द्वारा श्रेयः (मोक्ष) एवं प्रेयः (जागतिक प्रिय वस्तु) के बीच में पार्थक्य ज्ञान एवं श्रेयः (मोक्ष) से भिन्न अन्य सब कुछ तुच्छ है इस ज्ञान के द्वारा 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' अर्जुन को हुआ है, यही दिखाई दे

रहा है। (ख) "न कांक्षे विजयं कृष्ण" (गीता १।३२) अर्थात् हे कृष्ण ! मैं राज्य की अभिलाषा नहीं करता हूँ इसके द्वारा ऐहिक फल के प्रति वैराग्य एवं "अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः" (गीता १।३५) अर्थात् त्रैलोक्यरूप राज्य के लिए भी अभिलाषा नहीं है,—इसके द्वारा पारलौकिक फल में वैराग्य प्रदर्शित किया जा रहा है। इस प्रकार अर्जुन के "इहामुत्रफलभोगवैराग्यम्" प्रदर्शित किया जा रहा है। (ग) "नरके नियतं वासो भवति" (गीता १।४५) अर्थात् नरक में नियत अवस्थिति होती है—इसके द्वारा आत्मा जो स्थूल देह से अतिरिक्त है, यह दिखाया जा रहा है। [और "इत्यनुशुश्रुम" (गीता १।४४) (अर्थात् यह सब गुरु की परम्परा से हम लोगों ने सुना है) इसके द्वारा अर्जुन की शास्त्र तथा गुरुवाक्य में "श्रद्धा" दिखायी गयी है]। (घ) "किं नो राज्येन" (गीता १।३२) हम लोगों का राज्य से प्रयोजन क्या है ? इसके द्वारा "शम" (अन्तःकरण निग्रह या संयम) सूचित कर रहा है। (ङ) "किं भोगैः" (गीता १।३२) अर्थात् भोगों का प्रयोजन क्या है ?—इसके द्वारा "दम" (वहिरिन्द्रिय का निग्रह या संयम) सूचित कर रहा है। (च) "यद्यप्येते न पश्यन्ति" इत्यादि के द्वारा (गीता १।३८-३९) अर्थात् ये लोग यद्यपि देख नहीं पा रहे हैं इत्यादि वचन के द्वारा निर्लोभता दिखाई गयी है। (छ) 'यदि मामप्रतीकारं....तन्मे क्षेमतरं भवेत्' (गीता १।४६) यदि मैं प्रतिकार नहीं करूँ एवं शस्त्रहीन रहूँ तब भी यदि ये लोग मुझे मारें तब यह मेरे लिए अधिकतर मंगलकर होगा, इसके द्वारा तितिक्षा प्रदर्शित की जा रही है। (ज) "श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि" (गीता २।५) अर्थात् भिक्षान्न भोजन करना भी श्रेयस्कर है, इस वाक्य के द्वारा संन्यास में अर्जुन की रुचि प्रदर्शित की जा रही है।

[प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में 'ब्रह्मविद्या के अधिकार' के निर्णय में अर्जुन जो उपर्युक्त कारण से ब्रह्मविद्या के अधिकारी थे यह कहा गया है। यहाँ श्रीमत् मधुसूदन सरस्वतीजी के मत के द्वारा यह और स्पष्ट किया गया है]।

(२) श्रीधर—युद्ध नहीं करने से यदि अधर्म हो तब भी युद्ध में जय होगी या पराजय होगी, यह हमलोग नहीं जानते हैं। एतयोः—इस जय पराजय में यदि वा जयेम यदि वा नो जयेयुः— युद्ध में हम लोग ही जय-लाभ करेंगे या ये लोग ही हम लोगों को जीतेंगे कतरत् नः गरीयः—इन दोनों में कौन हम लोगों के लिए श्रेयस्कर है न विद्मः—हम लोग वह समझ

नहीं रहे हैं। फिर यदि हम लोगों की जय हो भी तो वह भी हम लोगों के लिये पराजय ही होगी क्योंकि यान् एव हत्वा न जिजीविषामः—जिन लोगों का वध कर हम लोग जीवित नहीं रहने की इच्छा करते हैं ते धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः—वे धृतराष्ट्र के सब पुत्र एवं उसके पक्ष के लोग सामने ही अवस्थित हैं।

(३) शंकरानन्द—['ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनुत्यजः' (जो शूरवीर रणभूमि में युद्ध करते-करते शरीर-त्याग करते हैं) इत्यादि श्रुति-वाक्य के द्वारा क्षत्रिय के लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है, भिक्षान्न भोजन नहीं। अतः भिक्षा करना क्षत्रिय के लिए उचित नहीं, इस प्रकार यदि कहा जाय तब उसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं—] नः—धर्मपरायण हमलोगों को कतरत्—भिक्षान्न भोजन तथा युद्ध में कौन गरीयः—श्रेष्ठ है ? युद्ध में गुरुहिंसाजनित दुष्कीर्ति आदि दोषों से बचने के लिए भिक्षा का भोजन करना ही हमलोगों के लिए श्रेष्ठ है अथवा युद्ध क्षत्रियों का स्वधर्म होने के कारण युद्ध करना ही श्रेष्ठ है अथवा दोनों ही (युद्ध करना तथा भिक्षान्न भोजन दोनों ही) हम लोगों के लिए बराबर है एतत् च–यह भी न विद्मः–हमलोग नहीं जानते हैं। यदि कहो कि युद्ध में जयलाभ करने से राज्य-सुख की प्राप्ति होगी एवं पराजय होने से स्वर्ग प्राप्ति होगी (एवं युद्ध क्षत्रिय का स्वधर्म होने के कारण युद्ध ही करना उचित है इस विषय में कोई संशय नहीं करना चाहिए। इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि यह ठीक है, तथापि युद्ध में विजय प्राप्ति होने से वह हमलोगों के लिए दुःख का ही हेतु होगी,—उससे किसी भी प्रकार के सुख की आशा नहीं दिखाई पड़ रही है)। अतः यद्वा जयेम यदि वा नः जयेयुः–यदि युद्ध में हमलोग जयलाभ करते हैं अथवा ये लोग हम लोगों को पराजित करते हैं इसमें (अर्थात् जय तथा पराजय में) कौन श्रेष्ठ है ? यह भी हमलोग समझ नहीं पा रहे हैं। क्योंकि, यान् एव हत्वा न जिजीविषामः—जिन लोगों को अर्थात् प्राण से भी अधिक जिन प्रिय भाई, पुत्र प्रभृति की युद्ध में हत्या कर हमलोग जीवित नहीं रह सकते हैं ते धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः–उस धृतराष्ट्र के पुत्र आदि सामने ही स्थित हैं अर्थात् 'युद्ध करके मरेंगे' इस प्रकार निश्चय कर स्थित हैं। अतः अनर्थ के कारण युद्ध से भिक्षान्न का भोजन ही हमलोगों के लिए श्रेयस्कर (कल्याणकर) है, यही कहने का अभिप्राय है।

[जो लोग संसार में दोष विचार कर अत्यन्त वैराग्यवान् होकर साधनचतुष्टय से सम्पन्न होते हैं वे लोग तत्त्वज्ञान के अधिकारी होते हैं, यह

बात प्रथम श्लोक की व्याख्या में कही गयी है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु के शरणापन्न होना पड़ता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" अर्थात् उस आत्मतत्त्व को जानने के लिए अर्थात् मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए वे गुरु के पास जायेंगे। गीता में भी श्रेय की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण का शिष्यत्व वरण किया, यही यहाँ दिखाया जा रहा है]।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

अन्वय—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसंमूढचेताः (अहं) त्वां पृच्छामि। मे यत् निश्चितं श्रेयः स्यात् (तत्) ब्रूहि, अहं ते शिष्यः, त्वां प्रपन्नः, मां शाधि।

अनुवाद—अज्ञान के वशीभूत होकर देहेन्द्रियादि अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि कर 'इन लोगों की हत्या कर मैं जीवित रहना नहीं चाहता हूँ' ऐसा कह रहा हूँ। अतः अज्ञानरूप कार्पण्यदोष से मेरा स्वभाव अर्थात् चित्त दूषित हुआ है एवं प्रकृत जो धर्म 'परमात्मा' हैं उसके सम्बन्ध में मेरा चित्त सम्पूर्ण-रूप से मूढ़ हो गया है अर्थात् अनात्मवस्तु से आत्मवस्तु को पृथक् कर धारण करने में सम्पूर्णतः असमर्थ हुआ हूँ। अतः मैं तुम्हारे पास यह प्रार्थना करता हूँ कि मेरे लिए जो निश्चित रूप से श्रेयस्कर है, वह तुम बताओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारा ही शरणापन्न हूँ मुझे उपदेश प्रदान करो।

दीपिका—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः—इन लोगों को मारकर मैं किस प्रकार जीवित रहूँगा? यही कृपणता (दैन्य) है; वह कृपणता ही दोष है; उस दोष के द्वारा स्वभाव [अर्थात् क्षत्रिय का स्वभाव शौर्य, तेजः, धृति, दक्षता इत्यादि (गीता १८।४३)] जिसका कण्ठ दूषित हो गया है, वह मैं (नीलकण्ठ) धर्मसंमूढचेताः—मेरे लिए युद्ध ही शास्त्रविहित धर्म है ऐसा तुम्हारे कहने से भी मैं अहिंसा को ही श्रेष्ठ धर्म मानकर युद्ध त्याग कर भिक्षावृत्ति के द्वारा जीविका निर्वाह करने में उद्यत हुआ हूँ एवं उसका समर्थन कर तुम्हें युक्ति भी बतलायी है। किन्तु ऐसा कहने से भी मेरा प्रकृत धर्म क्या है? उस विषय में मेरा अभी भी संशय है अर्थात् मेरा चित्त अब धर्म के विषय में सम्यक् प्रकार से मोह को प्राप्त हुआ है। (मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि अब मेरा कर्तव्य क्या है?)

[आनन्दगिरि तथा मधुसूदन की व्याख्या इस प्रकार है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः—जो व्यक्ति अति अल्प अर्थ का क्षय भी सहन नहीं कर सकता है, अतः अर्थव्यय से जो सांसारिक सुख की प्राप्ति हो सकती है उससे भी वंचित रहता है, लोकसमाज उसे कृपण (कंजूस) कहता है। जो लोग अज्ञानी हैं वे भी मोक्ष या परमानन्द प्राप्ति के लिए अति तुच्छ सांसारिक भोग का त्याग नहीं कर सकते हैं और इसलिए वे लोग परमपुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अर्थात् परमानन्दरूप चरम भोग से वंचित रहते हैं। अतः वे भी आध्यात्मिक दृष्टि से कृपण (कंजूस) हैं। श्रुति में कहा गया है "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः" (बृह० उ०) अर्थात् जो व्यक्ति इस अक्षर पुरुष को (सच्चिदानन्द-स्वरूप पर ब्रह्म को) न जानकर इहलोक से चले जाते हैं वे कृपण हैं। कृपण के भाव को कार्पण्य (दीनता) कहा जाता है, अतः कार्पण्य शब्द का अर्थ है अज्ञानजनित अनात्माध्यास। अनात्म देहेन्द्रियादि जड़ वस्तु है उसके साथ चैतन्यस्वरूप आत्मा का ऐक्य या अभिन्नता ज्ञान अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि अनात्मवस्तु में 'यही मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान जो अज्ञान के कारण होता है, उस अज्ञान को ही कार्पण्य कहा जाता है। यही दोष है क्योंकि नित्यशुद्धमुक्तआत्मस्वरूप को यह अज्ञान आवृत कर रखता है। इसलिए आत्मा सर्वव्यापी होने से भी साधारण जीव के पास अप्रकाशित ही रहती है। इस अनात्माध्यास के द्वारा या अज्ञानरूप दोष के द्वारा उपहत अर्थात् तिरस्कृत हुआ है जिसका स्वभाव अर्थात् चित्त वही मैं (अर्जुन) हूँ (आनन्दगिर) [अथवा कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः—अनात्माध्यास रहने के कारण इस जन्म में "ये लोग मेरे हैं, इनके निहत होने से जीवन का क्या प्रयोजन है?" इस प्रकार के ममतारूप दोष (कार्पण्य) के द्वारा जिनका स्वभाव अर्थात् युद्धोद्योगरूप क्षत्रियधर्म तिरस्कृत हुआ है, वह मैं (मधुसूदन)]। धर्मसंमूढचेताः—जो सब कुछ धारण किये हुए हैं वे ही धर्म अर्थात् परमात्मा हैं। उनके विषय में मैं 'संमूढचेताः' हुआ हूँ अर्थात् सम्यक्‌रूप से मूढ़ता या अविवेकता को प्राप्त हुआ हूँ अर्थात् अनात्मवस्तु को पृथक् कर जिस सामर्थ्य के कारण आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है, वह सामर्थ्य मुझमें नहीं है। इसलिए मैं 'धर्मसंमूढ़चेताः'—(आनन्दगिरि) हूँ। जिस प्रमाण के द्वारा प्रवृत्त धर्मतत्त्व निशीति हो सकता है, ऐसा कोई प्रमाण न जानने के कारण संमूढ़ (विशेषरूप से मोह प्राप्त) अर्थात् 'इन लोगों का वध करना धर्म है अथवा इन लोगों का परिपालन (रक्षा) करना स्वयं पृथ्वी परिपालन करना ही धर्म है अथवा जैसे अरण्य में थे वैसे ही अरण्य में रहना धर्म है, इस

प्रकार के संशय के द्वारा जिसका चित्त व्याप्त हुआ है वह मैं 'धर्मसंमूढ़चेताः' (मधुसूदन)। त्वां—तुमको अर्थात् जो सर्वभूत के हृदय में अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित है उस श्रीकृष्ण नामक परमात्मा को, पृच्छामि—पूछ रहा हूँ; मे—मुझे यत् निश्चितं—जो श्रुति, स्मृति एवं महर्षियों के द्वारा निश्चित हुआ है, जिसके द्वारा त्रिविध दुःख (आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःख) की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है अर्थात् रोग आदि की निवृत्ति की तरह नहीं अथवा स्वर्ग में जैसी दुःख की सामयिक या अस्थायी भाव से निवृत्ति होती है ऐसा नहीं परन्तु दुःख की इस प्रकार की निवृत्ति जिसके बाद और किसी भी काल में दुःख की उत्पत्ति नहीं होगी अर्थात् जिससे जन्ममृत्यु के बीज से रहित होकर परमानन्द को प्राप्ति हो सकती है उस प्रकार निश्चित श्रेयः स्यात्—श्रेयः लाभ जिसके द्वारा हो अर्थात् सर्वोत्कृष्टकल्याण मार्ग के (परमानन्द प्राप्ति या मोक्ष के) साधन या उपाय जो है तत् ब्रूहि—वह बताओ। [अब श्रीकृष्ण कह सकते हैं 'तुम तो मेरे सखा हो, शिष्य नहीं, परन्तु शास्त्र में है 'प्रब्रूहि नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः' अर्थात् पुत्र एवं शिष्य के बिना आत्मरहस्य का उपदेश किसी को भी नहीं दोगे ! ऐसी अवस्था में तुम्हें मैं उपदेश किस प्रकार दूँगा ? इस प्रकार की आशंका के उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं—] अहं ते शिष्यः—प्रकृत धर्म अर्थात् परमात्मतत्त्व को जानने के लिए मैंने आपका शिष्यत्व वरण किया है अर्थात् तुम मुझको जैसा शासन करोगे (उपदेश दोगे) वह मैं पालन करने को प्रस्तुत हूँ। त्वां प्रपन्नम्–[तुम जगद्गुरु परमेश्वर हो] परम तत्त्व को जानने के लिए मैं तुम्हारा शरणागत हूँ अतः मां शाधि–अनुग्रह कर मुझे सर्वोत्कृष्ट श्रेय या मोक्षप्राप्ति का उपदेश दो—शिक्षा दो अर्थात् अशिष्य मानकर मेरी उपेक्षा मत करो।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—निश्चितं श्रेयः—रोगादि की निवृत्ति के लिए औषधि सेवन करने से रोगों की कमी होती है किन्तु फिर दूसरे रोग की उत्पत्ति होने से वही रोगी के दुःख का (यहाँ तक कि मृत्यु का भी) कारण होता है। अतः औषधि के द्वारा रोगादि की दुःख-निवृत्ति सामयिक है, चिरकाल के लिए नहीं। इस प्रकार यज्ञादि कर्म अनुष्ठित होने पर भी यदि प्रारब्ध कर्मवश कोई प्रतिबन्धक रहे तब स्वर्ग की प्राप्ति नहीं भी हो सकती है; फिर स्वर्गप्राप्ति होने से भी उसके द्वारा नित्य सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रथमतः स्वर्गादि के भोग के समय में वह दुःख से शून्य नहीं है क्योंकि पुण्य कर्म के तारतम्य के कारण स्वर्ग में भोगों में भी तारतम्य दिखाई पड़ता है अर्थात् एक से दूसरे का भोग कम या अधिक भी हो सकता है।

जिसका भोग कम होता है उसको दूसरे के भोगों में आधिक्य देखकर ईर्ष्या होती है और इसके कारण दुःख भी मिल सकता है। द्वितीयतः वह चिरस्थायी नहीं है क्योंकि पुण्य का क्षय होने पर पुनः उसे मर्त्यधाम में आना पड़ता है। इसलिए सांख्यकारिका में कहा गया है "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" अर्थात् दुःख निवृत्ति के लिए यज्ञ प्रभृति जो सब आनुश्रविक अर्थात् वैदिक कर्मकांड हैं वे लौकिक उपायों के ही समान होते हैं क्योंकि उनमें भी अशुद्धि (यज्ञादि में पशु के वध निमित्त हिंसारूप अशुद्धि), क्षय (भोग के बाद नाश) एवं अतिशय (भोग के तारतम्य) प्रभृति दुःखों के हेतु वर्तमान रहते हैं। इस कारण से जो उसके विपरीत है अर्थात् वैदिक कर्मकांडोक्त यज्ञादिरूप उपाय से भिन्न आत्मतत्त्वबोध है वही प्रशस्त (श्रेयस्कर) है। व्यक्त (स्थूल जड़ वस्तुएँ), अव्यक्त (सूक्ष्म जड़ वस्तुएँ) एवं ज्ञ अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा—इसके विवेकज्ञान (परस्पर के पार्थक्य ज्ञान) से ही उस आत्मतत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस कारण से अर्जुन त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक नाश कर जन्ममृत्यु के प्रवाह को चिरकाल के लिए नष्ट करने में जो एकमात्र आत्मज्ञान ही समर्थ है, उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सर्वजीवों के चिरंतन गुरु भगवान् श्रीकृष्ण के शरणापन्न हुए। श्रुति में भी है "आचार्यवान् पुरुषो वेद" अर्थात् जो आचार्य या गुरु के शरणापन्न हुए हैं वे ही आत्मज्ञान लाभ कर सकते हैं।

(२) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा गया है उस हेतु—] कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः—इन लोगों का वध कर किस तरह जीवित रहेंगे इस कार्पण्य (कातरता) एवं कुलक्षयकृत दोष इन दोनों के द्वारा (अर्थात् इन दो दुश्चिन्ताओं के द्वारा) उपहत अर्थात् अभिभूत हुआ है जिसका शौर्यादि लक्षण स्वभाव, वह मैं हूँ, फिर धर्मसंमूढ़चेताः—युद्ध परित्याग कर भिक्षाटन (भिक्षावृत्ति) के द्वारा जीविका निर्वाह करना क्षत्रिय के लिए धर्म या अधर्म होगा, इस प्रकार धर्म के विषय में भी संमूढ़ अर्थात् संदिग्ध (संशययुक्त) चित्त वाला हुआ हूँ। अतः त्वां पृच्छामि—मैं तुमसे पूछ रहा हूँ, मे यत् निश्चितं श्रेयः स्यात् तत् ब्रूहि—मेरे लिए जो उपदेश निश्चित रूप से श्रेयस्कर है (प्रकृत कल्याण कर होगा) वह बोलो। क्योंकि ते शिष्यः अहं—मैं तुम्हारा शिष्य हूँ अर्थात् तुम्हारे शासन के योग्य हूँ, त्वां प्रपन्नं मां—अतः अपने शरणागत हुए मुझको शाधि—शिक्षा दो (उपदेश दो)।

(३) शंकरानन्द—[हे अर्जुन, तुम पंडित होकर भी मूढ़ की तरह अधर्म को धर्म एवं धर्म को अधर्म क्यों मान रहे हो ? ऐसे प्रश्न की आशंका कर अर्जुन कह रहे हैं कि मैं धर्म तथा अधर्म के सूक्ष्मार्थ को निर्णय करने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ। जो मेरा कर्त्तव्य है उसके बारे में तुम ही मुझे उपदेश दो—]

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः—अनात्मा का जो स्वरूप है वही अविद्याजनित देहेन्द्रियादि में ही "मैं" इस शब्द का व्यवहार जो अतत्त्वज्ञ पुरुष करता है, उसे कृपण कहा जाता है। श्रुति तथा स्मृति में भी कृपण शब्द का ऐसा ही अर्थ प्रसिद्ध है, जैसे "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः" (हे गार्गि ! जो इन्हें अर्थात् परमात्मा को न जानकर इस लोक से चले जाते हैं वह कृपण हैं); 'कृपणो योऽजितेन्द्रियः' (जो अजितेन्द्रिय हैं वे ही कृपण हैं) इत्यादि। उस कृपण के भाव को कार्पण्य अर्थात् अज्ञत्व कहा जाता है। यह अज्ञान तम से पूर्ण होने के कारण वस्तु के स्वरूप को दूपित करता है (अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखने नहीं देता है किन्तु उसे दूसरी तरह से प्रतीत करता है) इसलिए वह कार्पण्यरूप अज्ञान ही दोष है। उस अज्ञानरूप दोष के द्वारा जिसका स्वभाव [स्वस्य—अपने विकार रहित प्रत्यगात्मा की भावः—सत्ता] उपहत (तिरोहित) हुआ है। अतः "कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः" पद का अर्थ है—अविद्या के द्वारा जिनका आत्मस्वरूप तिरस्कृत (आवृत) हुआ है वह अतः धर्मसंमूढचेताः—अविद्या के द्वारा संसार में पतित पुरुष जिसके द्वारा रक्षित होता है उसे धर्म कहा जाता है अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप प्रकाश होने से संसार में और पतित नहीं होना पड़ता है वही प्रकृत धर्म है। इस प्रकार के स्वरूप को बतानेवाले ज्ञानरूप धर्म में जिनका अन्तःकरण संमूढ़ अर्थात् अप्रविष्ट (प्रवेश करने में असमर्थ) है वे 'धर्मसंमूढचेताः' हैं। इस प्रकार का लक्षणविशिष्ट मैं त्वां—तुम्हें अर्थात् परमेश्वर को पृच्छामि—जिज्ञासा कर रहा हूँ यत् निश्चितं—श्रुति स्मृति एवं महर्षियों के द्वारा निश्चित (निर्णीत) हुआ है जो श्रेयस्कर अर्थात् श्रेय (मोक्ष) मार्ग का जो अवश्य फलदायक साधन है एवं जो शोक को विशेषरूप से ध्वंस करने में समर्थ है तत् मे ब्रूहि—वह मुझसे कहो। प्रश्न होगा 'नापुत्रायाशिष्याय······वै पुनः' (अपुत्र को और अशिष्य को श्रेयोमार्ग का उपदेश नहीं देना चाहिये) ऐसा श्रुतिवचन है। अतः पुत्र तथा शिष्य को छोड़कर अति रहस्यपूर्ण (गुप्त) श्रेयः मार्ग का साधन अन्य किसी से नहीं कहना चाहिए। उसके उत्तर में

अर्जुन कह रहे हैं—ते शिष्यः अहं—धर्मज्ञान के प्रार्थी होकर अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप जानने के लिये मैं तुम्हारा शिष्य हुआ हूँ। त्वां प्रपन्नं मां—तुम्हारे अर्थात् जगद्‌गुरु परमेश्वर के प्रपन्न (शरणागत) मुझे शाधि—अनुग्रह करो। शोक की निःशेषता निवृत्ति जिससे हो सकती है उस ज्ञान को मुझे कृपाकर प्रदान करो।

[अच्छा, तुम स्वयं भी शास्त्रज्ञानसम्पन्न हो एवं तुममें सूक्ष्म तथा शुद्धबुद्धि भी है क्योंकि तुम सभी के द्वारा 'अर्जुन' कहे जाते हो। अतः तुम स्वयं ही अपने श्रेयः की विवेचना क्या नहीं कर लेते हो? दूसरों के शिष्यत्व की क्या आवश्यकता है? विशेषतः मैंने तो तुमसे पहले ही युद्ध करने के लिए कहा है क्योंकि युद्ध में जयलाभ कर राज्यप्राप्ति करने से ही तुम्हारे क्षत्रिय धर्म का पालन होगा—ऐसा श्रीकृष्ण जी का उत्तर हो सकता है, ऐसी आशंका कर अर्जुन कह रहे हैं—]

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अन्वय—भूमौ असपत्नम् ऋद्धम् राज्यम् अवाप्य सुराणाम् च आधिपत्यम् (अवाप्य) यत् मम इन्द्रियाणाम् उच्छोषणम् शोकम् अपनुद्यात् तत् अहम् न हि प्रपश्यामि।

अनुवाद—आत्मीयों का प्राण-संहार कर इस पृथ्वी में शत्रुहीन (निष्कण्टक) एवं समृद्धिसम्पन्न राज्यलाभ करने से अथवा देवों के ऊपर जो हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आधिपत्य करते हैं उनका पद लाभ करने से भी मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ जिससे मेरी इन्द्रियों का जो शोषणकारी शोक उपस्थित हुआ है उसे दूर कर सकूँ।

दीपिका (१)—भूमौ—इस पृथ्वी में असपत्नम्—शत्रुहीन निष्कण्टक ऋद्धं—समृद्धिसम्पन्न राज्यं—राज्य अर्थात् सार्वभौमत्व अवाप्य—लाभ करने से सुराणां च—अथवा देवताओं के एवं देवराज इन्द्र के ऊपर भी आधिपत्यं (अवाप्य)—आधिपत्य लाभ करने से अर्थात् हिरण्यगर्भ का पद (ब्रह्मा का पद) प्राप्त होने से भी ['सुराणां च' पद के "च" शब्द के द्वारा इन्द्र को समझाया जा रहा है इसलिए 'सुराणां च' पद का अर्थ देवता एवं

इन्द्र के ऊपर भी आधिपत्य करते हैं जो हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा उनके पद को प्राप्त होने से भी कोई कोई 'सुराणां च आधिपत्यं' पद का अर्थ 'देवताओं के ऊपर आधिपत्य अर्थात् इन्द्रत्व पद प्राप्त करने से भी' ऐसा अर्थ लगाते हैं] यत्—जो अर्थात् इहलोक तथा परलोक में द्रव्य, गुण या कर्म में जिसको विशेष रूप से प्राप्त होने से मम—मेरा इन्द्रियाणां—इन्द्रियों के उच्छोषणम्—अत्यन्त शोषणकारी अर्थात् अति सन्तापकारी शोकम्—शोक को अपनुद्यात्—दूर करेंगे तत्—वह अहं—मैं न हि प्रपश्यामि—देख नहीं पा रहा हूँ। [हि—इहलोक या परलोक का कुछ भी इस शोक को निवारण नहीं कर सकेगा, इसे निश्चित रूप से प्रकाश करने के लिए 'हि' शब्द का व्यवहार किया गया है]।

टिप्पणी। (१) न हि प्रपश्यामि—इत्यादि—प्रश्न हो सकता है "तुम्हारे आत्मीय स्वजनों की हत्या की आशंका से जिस शोक की उपस्थिति हुई है वह तो युद्ध में यत्नशील होने से ही दूर हो जायगा यदि तुम जयलाभ करो तब राज्य की प्राप्ति के द्वारा एवं युद्ध में निहत होने से स्वर्गलाभ द्वारा तुम्हारा शोक स्वतः ही निवृत्त हो जायगा क्योंकि धर्मशास्त्र में कहा गया है कि सम्मुख समर में किसी क्षत्रिय की मृत्यु होने से उसको स्वर्गप्राप्ति होती है।" इसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं कि शत्रुविहीन निष्कण्टक एवं अत्यन्त समृद्धियुक्त ससागरा पृथ्वी के ऊपर सार्वभौमत्व प्राप्त होकर यदि इसके पश्चात् हिरण्यगर्भ का पद भी प्राप्त करूँ अर्थात् यदि इन्द्रादि देवों के ऊपर भी आधिपत्यरूप ऐश्वर्य प्राप्त करूँ तब भी वह मेरे मन बुद्धि के जिस सन्तापकारी शोक की उपस्थिति हुई है उसे दूर करने में समर्थ नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि शोक की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। जब तक अज्ञान रहता है तब तक द्वैत बुद्धि भी रहती है। जब तक ब्रह्मज्ञान या सर्वत्र आत्मा का एकत्व दर्शन न हो तब तक किसी का भी शोक तथा भय से मुक्तिलाभ करना असम्भव है।

इसलिए सर्वशास्त्रविद् नारद ने एक दिन ऋषि सनत्कुमार से कहा था 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति' (छा० उ० ७।१।३) [अर्थात् हे भगवन्, मैंने सर्वशास्त्र अध्ययन किया किन्तु शास्त्र का शब्दार्थ मात्र ज्ञात कर सका हूँ किन्तु आत्मतत्त्व नहीं जान सका हूँ। मैंने सुना है कि आप के सदृश महापुरुष की

कृपा से ही मनुष्य तत्त्वज्ञान लाभ कर (आत्मतत्त्वविद् होकर) समस्त शोकों से त्राण लाभ करते हैं। भगवन्! मैं अज्ञान के द्वारा अभिभूत होकर अपने को अकृतार्थ मानकर सर्वदा शोक कर रहा हूँ। आप अनुग्रह कर आत्मज्ञानरूप नाव के द्वारा मुझे शोकसागर से पार कर दीजिये]। केवल आत्मज्ञान ही तो शोक, मोह को निवारण करने में समर्थ है। उसे श्रुति में भी कहा गया है—'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" (ईश० उ० ७) अर्थात् जब सर्वभूत में आकाश की तरह सर्वव्यापी एक ही आत्मा का दर्शन होता है तब उस एकत्वदर्शी के शोक और मोह किस प्रकार रहेंगे (क्योंकि शोक तथा मोह अविद्या के कार्य हैं। अविद्या आत्म-विद्या के द्वारा (तत्त्व-ज्ञान के द्वारा) नष्ट होने से शोक और मोह नहीं रह सकते हैं क्योंकि कारण का नाश होने पर कार्य का नाश अवश्यंभावी है)। श्रुति में और भी कहा गया है—"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'''तरति शोकं तरति पाप्मानं (मुण्डक० उ० ३।२।९) अर्थात् जो ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। तब वे सर्वशोक एवं सर्वपाप से त्राण पाते हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति तथा इतिहास (महाभारत) में शत शत वाक्य हैं जिनके द्वारा यह निश्चयरूप से प्रमाणित होता है कि एकमात्र अखंड, अद्वय आत्मा का साक्षात्कार लाभ करने से ही शोक के हाथ से रक्षा मिल सकती है। इसके अतिरिक्त और कोई पथ नहीं है। इसीलिए अर्जुन बोले "न हि प्रपश्यामि ममानुपद्याद् यच्छोकम्" अर्थात् इहलोक तथा परलोक में ऐसा कुछ भी देख नहीं पाता हूँ जो इस शोक को दूर करने में समर्थ है। "यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" (गीता २।७) अर्थात् इहलोक के तथा परलोक के सुख का लोभ न दिखाकर जो सबसे निश्चित श्रेयस्कर मार्ग है (जिसके द्वारा और कभी शोक की उत्पत्ति नहीं होगी वह उपाय) वह मुझे कहो।

कर्म के द्वारा दुःख तथा शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती है वह पहले ही २।७ श्लोक की टिप्पणी में कहा गया है। इस श्लोक में अर्जुन के "इहामुत्रफलभोगवैराग्य" (इहलोक तथा परलोक में भोग के विषयों के प्रति वैराग्य) कितना तीव्र हुआ था वह दिखाया गया है। अतः जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक हैं उनमें अन्यान्य साधन सम्पत्ति के साथ ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों के प्रति जो वैराग्य रहना आवश्यक है वह यहाँ दिखाया गया है।

(२) श्रीधर—[यदि भगवान् कहें कि तुम ही विचार करो कि क्या करना चाहिए—]

इन्द्रियाणाम् उच्छोषणम्—इन्द्रियों का अति शोषण कर मम शोकं—मेरा शोक यत्—जो कर्म (जो उपाय) अपनुद्यात्—निवारण कर सकते हैं तदहं—वह उपाय या कर्म न प्रपश्यामि—मैं नहीं देख रहा हूँ। यद्यपि भूमौ—पृथ्वी में असपत्नम्—शत्रुहीन ऋद्धं राज्यं—समृद्ध राज्य अथवा सुराणाम् अपि च आधिपत्यम्—यदि देवताओं का आधिपत्य (अर्थात् इन्द्रत्व पद) भी मुझे प्राप्त हो [और जो कुछ अभीष्ट है वह सब कुछ ही यदि प्राप्त करूँ 'च' शब्द के द्वारा ऐसा अर्थ सूचित किया जा रहा है] तब भी मेरे इस शोक की निवृत्ति करने में समर्थ है ऐसा कोई उपाय मैं नहीं देख रहा हूँ।

(३) शंकरानन्द—[मैं तुम्हें और क्या कहूँगा ? तुम तो सूक्ष्म बुद्धि-सम्पन्न पंडित हो। अतः युक्ति के द्वारा तुम्हारा जो श्रेयः साधन है उसे तुम स्वयं ही जान ले सकते हो, ऐसा यदि श्री भगवान् कहें तो इसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं।] इन्द्रियाणां–देहेन्द्रिय, मनोबुद्धि प्रभृति का शोषणम्–शुष्ककारी अर्थात् अत्यन्त सन्तापदायक मम शोकं—मेरा शोक यत् अपनुद्यात्—जो दूर कर सके अर्थात् कौन विशेष द्रव्य, गुण तथा कर्म प्राप्त कर मेरे सारे दुःखों की निवृत्ति हो जा सकती है उसे न हि प्रपश्यामि—नहीं देख रहा हूँ अर्थात् वैसा कुछ उपाय मैं नहीं जानता हूँ। यदि जानता तो मुझे यह शोक क्यों होता ? ऐसा अज्ञान सर्वजनों में प्रसिद्ध है उसे सूचित करने के लिए 'हि' शब्द का व्यवहार किया गया है। शत्रु को जीत कर, राज्य प्राप्ति कर, विशिष्ट पदार्थ को भोग कर, शोक का त्याग किया जा सकता है। इस प्रकार भगवान् कह सकते हैं, इसलिए इसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं—भूमौ असपत्नम् ऋद्धम् अवाप्य—पृथ्वी में असपत्न अर्थात् शत्रुहीन समृद्ध राज्य प्राप्त करके भी सुराणाम् अपि आधिपत्यम् च (अवाप्य)—एवं देवताओं के आधिपत्य अर्थात् इन्द्रत्व या ब्रह्मत्वादि पद प्राप्त करके भी (शोक त्याग नहीं कर सकूँगा)। सार्वभौमत्व, इन्द्रत्व तथा ब्रह्मत्वादि पद भी उत्पन्न होने के कारण (अर्थात् पूर्वजन्म की सुकृति के फल रूप से उत्पन्न अर्थात् प्राप्त होने के कारण) नाशवान् होते हैं और जो नाशवान् है उससे शोक की (आत्यन्तिक) निवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रकृत विषय में भी अर्थात् उपस्थित युद्ध में भी अर्जुन के शोक का कारण स्वजनों का नाश ही है। विषयप्राप्ति एवं विषयों का भोग कोई व्यक्ति के इस प्रकार शोक का निवर्तक (नाशक) कभी भी नहीं हो सकता है। अतः जिसके द्वारा मैं अनेक शोक को त्याग करने में समर्थ होऊँगा [एवं निश्चितरूप से श्रेयोलाभ कर सकूँगा]

उस धर्म के विषय में मुझे उपदेश दो। इस प्रकार सभी भोगों के प्रति वैराग्य-युक्त होकर एवं तीव्ररूप से मुमुक्षु होकर अर्जुन ने भगवान् की प्रार्थना की कि मुझे उपदेश दो, इसके द्वारा सूचित होता है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि पदों की प्राप्ति भी संसार दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के कारण नहीं होती है क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना उन पदों की प्राप्ति (परिणाम में) दुःख का ही कारण होती है। फिर वह ब्रह्मज्ञान गुरु के उपदेश के बिना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही आत्मतत्त्व को जान सकते हैं। (मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारा शरणागत हूँ, मुझे शिक्षा दो) अर्जुन की इस प्रकार की उक्ति से यह सूचित होता है कि जो सांसारिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की इच्छा करते हैं उनके लिये सद्‌गुरु की शरण लेना आवश्यक कर्तव्य है।

[अर्जुन का भगवान् के पास अपना अभिप्राय व्यक्त करने के बाद क्या हुआ ? वह संजय अब धृतराष्ट्र से कहने लगे--]

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
'न योत्स्य' इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

अन्वय—संजयः उवाच। परन्तपः गुडाकेशः हृषीकेशम् गोविन्दम् एवम् उक्त्वा अहम् न योत्स्ये इति उक्त्वा तूष्णीम् बभूव ह।

अनुवाद—संजय बोले—आलस्यहीन, परन्तप (अर्थात् शत्रुओं के सन्तापदायक) अर्जुन ने हृषीकेष (अर्थात् अन्तर्यामी) गोविन्द को कहा कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' एवं उसके बाद मौन होकर रहे।

दीपिका—संजय उवाच—संजय बोले। परन्तपः—पर अर्थात् शत्रुओं के तापदायक गुडाकेशः—निद्रा या आलस्य को जिसने जीत लिया है वह जितालस्य अर्जुन हृषीकेशं—इन्द्रियों के प्रवर्तक। [इन्द्रियाँ जड़ हैं उनको चालित करने के लिए चेतन पुरुष की आवश्यकता है। हृषीकेश (इन्द्रियों) के ईश (प्रवर्तक) अर्थात् सभी के अन्तर्यामी के रूप में सदा ही जो विद्यमान रहते हैं उस भगवान् को हृषीकेश कहा जाता है।] गोविन्दम्—जिसने गो अर्थात् वेदरूपा वाणी लाभ किया है अर्थात् जो शास्त्रयोनि हैं। (वेदादि शास्त्र जिससे स्वतः ही उत्पन्न हुआ है) उन सारे वेदों के उत्पत्ति के कारण है [उपादान कारण (मधुसूदन)] सर्वज्ञ भगवान् को

"गोविन्द" कहा जाता है। अतः हृषीकेशं गोविन्दम्—अन्तर्यामी एवं सर्वज्ञ भगवान् को एवम् उक्त्वा ऐसा कहकर अहं न योत्स्ये—(स्वजन-हिंसा की आशंका कर अत्यन्त शोकाकुल होकर) 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' अर्थात् युद्ध करने से मेरा कोई लाभ नहीं है इति उक्त्वा—ऐसा कहकर, तूष्णीं बभूव—मौन रहे अर्थात् युद्ध के पहले उत्साहवश समस्त वहिरिन्द्रिय का जो व्यापार आरम्भ हुआ था उसे अब निवृत्त कर व्यापार-विहीन अर्थात् निश्चेष्ट हुए।

टिप्पणी। (१) गुडाकेशः—इस शब्द का अर्थ दूसरे प्रकार का भी हो सकता है। [गुड़+आ+केश] गुड़—लगुड़ (दंड); वह लगुड़ या दंड के सदृश लम्बा। आ—सभी ओर से बराबर केश—जिनका है। अर्जुन के सभी केश लगुड़ की तरह लम्बे थे। इसलिए उनको गुड़ाकेश कहा जाता है। किन्तु गुड़ाकेश शब्द का अर्थ इस स्थान में 'आलस्यहीन' ऐसा करना ही समीचीन है क्योंकि मोक्षाभिलाषी अर्जुन तमोगुण—के प्रभाव से आलस्य या प्रमादवश युद्ध से निवृत्त नहीं हुआ है, यही संजय का कहने का अभिप्राय है। परन्तपः—शत्रुदमनकारी। इस शब्द के द्वारा अर्जुन शत्रुभय से भीत होकर युद्ध से विरत नहीं हुए हैं, वह स्पष्ट कर कहा गया है। श्लोक में 'ह' शब्द आश्चर्यबोधक है। अभिप्राय यह है कि अर्जुन आलस्य-हीन एवं शत्रु को नाश करने वाला है; अतः वे आलस्य के कारण या असामर्थ्य के कारण युद्ध से निवृत्त हुए, यह बात नहीं है किन्तु वे युद्ध में आत्मीय स्वजनों के वध की आशंका कर उनके निमित्त शोक से अभिभूत होकर युद्ध से विरत हुए हैं, यह एक आश्चर्य की बात है। [अथवा अर्जुन स्वभावतः गुड़ाकेश (आलस्यहीन) एवं परन्तप (शत्रुओं के तापदायक) हैं। अतः शत्रुओं के साथ युद्ध न कर युद्धविरतिरूप आलस्य जो उनमें देखा गया है वह आलस्य आगन्तुक है। अतः वह स्थायी नहीं होगा यह सूचित करने के लिए 'ह' शब्द प्रयुक्त किया गया है। (मधुसूदन)]। गोविन्द तथा हृषीकेश—इन दो शब्दों के द्वारा यह समझाया जा रहा है कि श्रीकृष्ण गोविन्द अर्थात् सर्वज्ञ एवं हृषीकेश (अन्तर्यामी अर्थात् सभी प्राणी के अन्त-रिन्द्रिय तथा वहिरिन्द्रियों के परिचालक) हैं। अतः अर्जुन जो मोहवश युद्ध से निवृत्त होना चाहता था उसका वह मोह भगवान् अनायास दूर कर सकेंगे, इस प्रकार अर्थ प्रकाश करने के लिए दो शब्दों का व्यवहार किया गया है। संजय ने इन दो शब्दों के द्वारा धृतराष्ट्र को और भी समझाया कि

जब अर्जुन "हृषीकेश तथा गोविन्द के" शरणापन्न हुए तब युद्ध अवश्य ही होगा एवं अर्जुन का जयलाभ भी निश्चित है।

(२) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोकों में जो कहा गया है वह कहकर अर्जुनने क्या किया ? धृतराष्ट्र के इस प्रकार के प्रश्न को अपेक्षा कर संजय बोले—] और सब स्पष्ट है।

(३) शंकरानन्द—[इस प्रकार अर्जुन के वृत्त को अर्थात् उसके पश्चात् अर्जुनने क्या किया, वह संजय धृतराष्ट्र के प्रति कहने लगे—] परन्तपः—शत्रुजयी गुडाकेशः—जहाँ नाम के एकदेश को ग्रहण किया जाता है वहाँ सम्पूर्ण नाम को ग्रहण करना चाहिए, इस नियम के अनुसार लगुड़ के अर्थात् दंड की तरह दीर्घ एवं सब ओर से बराबर जिनके केश हैं उन्हें गुड़ाकेश कहा जाता है। इस प्रकार शत्रुतापन एवं गुड़ाकेश अर्जुन हृषीकेशं—हृषी के (इन्द्रियों) के ईश (अधिपति) अर्थात् अन्तर्यामी गोविन्दं—गोभिर्वेदान्तवाक्यैरेव विन्द्यते लभ्यते अर्थात् केवल वेदान्त वाक्यों के द्वारा ही जिन्हें प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् जाना जा सकता है उस गोविन्द को, एवम् उक्त्वा—ऐसा कहकर न योत्स्ये—(स्वजनों के प्रति हिंसा अत्यन्त शोक का कारण होगी इसलिए) मैं युद्ध नहीं करूँगा। इस प्रकार उक्त्वा—कहकर तूष्णीं बभूव ह—चुप रहे अर्थात् और कुछ नहीं बोले।

['जो श्रेयः लाभ करने के लिए निमित्त साधन है वह मुझसे कहो' अर्जुन के श्रीभगवान् से इस प्रकार निवेदन करने पर श्रीभगवान् ने शोकार्त अर्जुन से क्या कहा यह जानने की आकांक्षा धृतराष्ट्र के मन में उदय हो सकती है ऐसी आशंका कर संजय कहने लगे—]

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अन्वय—हे भारत ! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तम् तम् हृषिकेशः प्रहसन् इव इदम् वचः उवाच।

अनुवाद—हे भारत ! उभय सेनाओं में विषादग्रस्त अर्जुन को मानो उपहास के छल में हृषीकेश ये बातें बोलें।

दीपिका—हे भारत !—महाधार्मिक महाराज भरत के कुल में तुमने जन्म लिया है। अतः अवश्य ही तुम मेरे कहे हुए वाक्यों को अवधारण कर

सकोगे। तुम सावधानी से सुनो। यह कहने के अभिप्राय से ही 'भारत' शब्द के द्वारा धृतराष्ट्र को संजय ने सचेत किया। उभयोः सेनयोः मध्ये—उभय सेनाओं में [अर्थात् उभय सेनाओं के मध्यस्थल में समागत (उपस्थित)] विषीदन्तं तम्—विषाद (मोह) प्राप्त उन्हें अर्थात् युद्ध के उद्यम के विरोधी शोक मोह के द्वारा अभिभूत एवं स्वधर्म से च्युतप्राय अर्जुन को ['मेरे सभी बान्धव मर जायेंगे, इनको मारकर मैं नरक में जाऊँगा' ऐसा सोचकर निष्क्रिय निर्विकार कर्तृत्वादि धर्मशून्य आत्मा में अनादि अविद्या के कारण अनात्मधर्म अर्थात् मैं कर्त्ता, भोक्ता हूँ इत्यादि धर्म आरोप कर स्वधर्म-पालन के विरोधी मोह द्वारा विषाद को प्राप्त हुआ है जो अर्जुन, उसे] हृषीकेशः—हृषीक (इन्द्रियाँ) उनके ईश—प्रवर्तक अर्थात् सभी के अन्तर्यामी श्रीकृष्ण प्रहसन् इव—मानो उपहास कर। अर्जुन जिस युक्ति के बल से युद्ध से विरत हो रहे हैं वह सम्पूर्ण भ्रान्तिमूलक है, इसे प्रकाश करने के लिए अर्जुन को मानो लज्जा समुद्र में डुबाकर [अथवा अर्जुन का शोक मोह दूर करना भगवान् के लिए अति सहज है ऐसे आश्वासन देने के लिए ही अन्तर्यामी भगवान् मानो परिहास कर (आनन्दगिरि)] इदं वचः—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' इत्यादि प्रकार के वक्ष्यमाण वाक्य अर्थात् जो वाक्य कहा जा रहा है उसे उवाच—कहने लगे। [अर्जुन का अनुचित वाक्य श्रवण कर एवं उसके अज्ञान को लक्ष्य कर भगवान् के उपहास करने से भी अर्जुन की उन्होंने उपेक्षा नहीं की है, यह समझाने के लिए श्लोक में 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् उपहास भी उन्होंने वह अर्जुन के अज्ञान को दूर करने के लिए ही किया है। जो परिहास लोक समाज में प्रसिद्ध है उससे यह (भगवान् का उपहास) विलक्षण (पृथक्) है, यही 'इव' शब्द का तात्पर्य है। जिस भ्रान्त धारणा के कारण अर्जुन स्वधर्म परित्याग करने में उद्यत होकर शोकसागर में निमग्न हुए हैं उसके तत्त्व-ज्ञान के बिना दूर होने की सम्भावना नहीं है ऐसा सोचकर पहले त्वं—पदार्थ के (जीव भाव के) शोधन के लिए (अर्थात् अर्जुन को 'मैं' या आत्मा क्या वस्तु है) यह समझाना शुरु किया यही "इदं वचः उवाच', वाक्य का तात्पर्य है। जब अर्जुन अपना स्वरूप जान सकेंगे—जब तत्त्वज्ञान लाभ कर समझ सकेंगे कि आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं है, आत्मा अमर, अजर तथा अविनाशी तथा अविक्रिय है तब अर्जुन अब जिन युक्तियों के बल पर अपने स्वधर्म रूप युद्ध का त्याग कर भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करने में उद्यत हो रहे हैं, उसे बाद में स्मरण कर अपनी अज्ञानता के लिए अपने ही

लज्जा समुद्र में निमग्न होंगे, यह बात सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान् को अज्ञात नहीं थी। अतः अर्जुन का वर्तमान आचरण विवेक तथा ज्ञान दृष्टि में अनुचित है यह समझाने के लिए ही उपहास के छल से हास्य कर कहने लगे यही प्रहसन् इव शब्द का अभिप्राय है।]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—प्रहसन् इव—किसी के भी अनुचित आचरण का विज्ञापन कर उसकी लज्जा की सृष्टि करने को प्रहसन कहा जाता है। यहाँ लज्जा उत्पादन करना श्रीभगवान् का उद्देश्य नहीं है क्योंकि लज्जा दुःखस्वरूप है। अर्जुन भगवान् के अनुग्रह के पात्र हैं, अतः वे कभी भी उन्हें लज्जारूप दुःख नहीं दे सकते हैं। अतः यहाँ प्रहसन् का तात्पर्य केवल अर्जुन का अनुचित आचरण (युद्ध से विरत होना अनुचित है वह) प्रकाश करने का अभिप्राय ही है। अर्जुन के विवेक ज्ञान की उत्पत्ति के लिए ही भगवान् ने अर्जुन के अनुचित आचरण का प्रकाश किया था। किन्तु अर्जुन को लज्जित करने के अभिप्राय से वह नहीं किया गया है। इस प्रकार प्रहास शब्द का गौण अर्थ समझाने के लिए ही 'प्रहसन्निव' पद में 'इव' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अर्जुन का लज्जित होना स्वाभाविक है किन्तु यहाँ लज्जा उत्पन्न हो या न हो वह श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय नहीं है।

युद्ध आरम्भ होने के पहले गृह में रहकर यदि अर्जुन युद्ध की उपेक्षा करते तब उनके लिए यह अनुचित आचरण नहीं होता किन्तु विपुल आयोजन कर युद्धक्षेत्र में अवतरित होकर युद्ध की उपेक्षा करना अनुचित है, यही प्रकाश करने के लिए ही श्लोक में "सेनयोरुभयोर्मध्ये" यह पद प्रयुक्त किया गया है। बाद में अशोच्यान्—इत्यादि श्लोक की व्याख्या में यह और स्पष्ट किया जायगा।

(२) श्रीधर—[इसके बाद अर्जुन ने क्या किया, धृतराष्ट्र के ऐसे प्रश्न की आशंका कर संजय कहने लगे।] प्रहसन् इव—प्रसन्नमुख होकर। और सब स्पष्ट है।

(३) शंकरानन्द—[उस श्रेय प्राप्ति का जो निश्चित साधन है वह मुझसे कहो, इस प्रकार अर्जुन के प्रार्थना करने पर श्रीभगवान् अर्जुन को शोक करते देखकर क्या बोले ? इसके उत्तर में संजय कहने लगे—] हे भारत—हे भरत कुल में उत्पन्न धृतराष्ट्र ! सेनयोरुभयोर्मध्ये—दो सेनाओं में विषीदन्तं तम्—मेरे यह सब बन्धु मर जायेंगे इस प्रकार के शोक से ग्रस्त अर्जुन को। अथवा इन लोगों की हत्या करने से उस हत्याजनित

दोष के कारण मुझे नरक में जाना पड़ेगा इस प्रकार निष्क्रिय निर्विकार कर्तृत्वादि धर्मशून्य आत्मा में अनादि अविद्यावश अनात्मा (देहेन्द्रियादि) एवं अनात्मा के धर्म (देहेन्द्रियादि के धर्म) कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि (मैं युद्ध का कर्ता हूँ, मैं फलभोक्ता हूँ इत्यादि) आरोप कर 'विषीदन्तम्' [वि (विपरीत भाव के द्वारा) सीदन्तं (मुह्यन्तं अर्थात् मोहप्राप्त)] अर्जुन को देखकर 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' (जो एक परमात्मा को सर्वत्र देखते हैं उनमें मोह और शोक का अवकाश कहाँ है ?) इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान के बिना शास्त्र [अर्थात् एक अखण्डाद्वय ज्ञान सत्ता हो (जिसको वेद में ब्रह्म या परमात्मा कहा जाता है वह ही) सत्य वस्तु है— द्वैतरूप से जो कुछ दृश्यवस्तु प्रतीत होकर भेदबुद्धि को उत्पन्न करता है उसका कारण है भ्रम या अज्ञान। अतः वे सब मिथ्या है, इस प्रकार सुनिश्चित ज्ञान के बिना] अर्जुन इस भ्रममूलक शोक सागर को उत्तीर्ण करने में समथ नहीं होंगे, परम कृपालु भगवान् यह विवेचना कर 'तत्' और 'त्वम्' इस पदार्थ-द्वय के शोधनपूर्वक ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्वज्ञान के उपदेश देने की इच्छा कर हृषीकेशः प्रहसन् इव इदं वचः उवाच—भगवान् प्रथम त्वं पदार्थ का शोधन करने के लिए, अर्जुन ने जो कहा एवं किया उसे लक्ष्य कर 'तुम पंडित हो यही मैं जानता था' अथवा "तुम्हारा पांडित्य क्या इस प्रकार का है ?" इस प्रकार से मानो अर्जुन का उपहास करते हुए यह (अर्थात् जो बात मैं कहा जा रहा हूँ वह) वचन बोले।

शांकरभाष्य की उपक्रमणिका

गीता शास्त्र में 'दृष्ट्वा तु पांडवानीकम्' इस श्लोक से आरम्भ कर 'न योत्स्ये इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं बभूव ह' इस श्लोक तक जो कहा गया है वह प्राणियों के शोक मोहादिरूप जो दोष संसार के (जन्ममृत्यु के) बीज अर्थात् कारण हैं उस शोकमोहादि की उत्पत्ति के कारणों को दिखाना ही इस प्रकरण का उद्देश्य है; इस प्रकार ग्रन्थ की व्याख्या करना है। [गीता शास्त्र में "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" इत्यादि प्रथम श्लोक शास्त्र की कथा का सम्बन्ध निर्णय कर समाप्त हुआ है। इसलिए वह एक वाक्य है। "दृष्ट्वा" इत्यादि से "तूष्णीं बभूव ह" यह और एक वाक्य है, उसके बाद के श्लोक से "इदं वचः" तक और एक वाक्य, इस प्रकार वाक्य विभाग समझना होगा। "दृष्ट्वा तु पांडवानीकं' से "तुष्णीं बभूव ह" तक एक ही विषय का प्रतिपादन किया है, इसलिए वह एक वाक्य है। वह अर्थ या विषय है इस प्रकार— शोक, मोह एवं उसका अवान्तर भेद सभी ही दुःखात्मक संसार के बीजभूत

दोष है अर्थात् जन्ममृत्युरूप संसार के प्रवाह का कारणीभूत दोष है। इस दोष की उत्पत्ति का कारण है अहंकार एवं ममकार (अर्थात् 'मैं'—'तुम', 'मेरा'—'तुम्हारा' इसप्रकार का अभिमान)। फिर अहंकार का कारण है अविद्या। यही प्रदर्शन करने के लिए यह प्रकरण शुरू किया गया है। (आनन्दगिरि)।] उक्त प्रकरण में 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि श्लोक द्वारा अर्जुन का राज्य, गुरु, पुत्र, मित्र, सुहृद, स्वजन, सम्बन्धी एवं बान्धव के विषय में 'यह सब मेरा है एवं मैं उनका हूँ' इस प्रकार के भ्रान्तिप्रत्यय के कारण (अर्थात् अज्ञाननिमित्त) स्नेह तथा विच्छेद की आशंका आदि कारण से ही शोक मोह की उत्पत्ति हुई थी, वह दिखाया जा रहा है। [राज्य (राजा का कर्म प्रजा परिपालनादि), गुरु (पूज्य भीष्म द्रोणादि), पुत्र, मित्र, सुहृद् (भगवान् श्रीकृष्ण प्रमुख सुहृद्लोग), स्वजन (दुर्योधन प्रभृति ज्ञातिलोग), सम्बन्धी (द्रुपद धृष्टद्युम्नादि श्वशुर शाला प्रभृति) एवं बान्धव (परम्पराक्रम से पितृपितामह आदि के प्रति जो राजालोग अनुरक्त थे वे बान्धव लोग) उनके प्रति आसक्तिवश जो विशेष चित्तवृत्ति की उत्पत्ति होती है उसे स्नेह या मोह कहा जाता है। फिर उनका विच्छेद होने से अथवा उन लोगों का वध करने से सर्वलोक द्वारा निन्दित पातक प्राप्त होगा, इस प्रकार की चित्तवृत्ति को शोक कहा जाता है। यह शोक तथा मोह ही किस प्रकार से संसार का बीज या कारण होता है। वह गीताशास्त्र में 'न योत्स्ये' इत्यादि श्लोक तक दिखाया गया है। अब प्रश्न होगा संसार का बीजरूप यह शोक एवं मोह केवल अर्जुन में ही किस प्रकार से सम्भव हुआ ? जो लोग स्वधर्म में रहकर विवेक ज्ञानशील होकर प्रसिद्ध हुए हैं उनके लिए इस प्रकार अर्थ का हेतु क्यों नहीं उपस्थित होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि वर्णाश्रम विहित कर्म न करने से युद्धरूप क्षत्रियधर्म से विरत होने से एवं निषिद्ध आचरण करने से (भिक्षावृत्ति के द्वारा जीविका निर्वाह करने से) अर्जुन की विवेकबुद्धि तिरस्कृत होगी एवं चित्त की अशुद्धि के कारण अनात्म वस्तु से आत्मा को पृथक् करने में समर्थ न होने से अर्जुन परमपुरुषार्थ (मोक्ष) से विच्युत होंगे इसलिए उनके लिए ऐसे अज्ञानजनित शोक तथा मोह अनर्थ के हेतु हैं। (आनन्दगिरि)] यद्यपि अर्जुन स्वयं ही पहले क्षात्र धर्मरूप युद्ध में प्रवृत्त हुए थे तथापि शोक एवं मोह के द्वारा उनका विवेक विज्ञान अभिभूत होने के कारण स्वधर्म (युद्ध) से विरत हुआ एवं परधर्म (सभी कर्म त्यागकर पारिव्राज्य अर्थात् संन्यासधर्म) ग्रहण कर भिक्षावृत्ति के द्वारा जीवननिर्वाह

करने के लिए प्रवृत्त हुए। इस प्रकार शोक, मोहादि दोष द्वारा [आदि शब्द से मिथ्याभिमान, स्नेह, वितृष्णा इत्यादि को भी ग्रहण किया गया है। (आनन्दगिरि)।] चित्त आविष्ट होने से सभी प्राणियों की स्वभावतः स्वधर्म त्याग एवं निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान करने की प्रवृत्ति होती है। यद्यपि वे लोग (अर्थात् शोकमोहादि द्वारा जिनका चित्त दूषित हुआ है वे) स्वधर्म को पालन करने में भी प्रवृत्त होते हैं तथापि उन लोगों का मन, वाणी, इन्द्रिय, शरीर प्रभृति की प्रवृत्ति फलाकांक्षापूर्वक एवं अहंकार (अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्व के अभिमान) के साथ ही होती है। ऐसा होने से (अर्थात् फलाकांक्षा तथा अहंकार के साथ शरीरादि द्वारा कर्म में प्रवृत्त होने से कर्म के फलस्वरूप) पुण्य तथा पाप दोनों ही वृद्धि पाते हैं। इसलिए शुभाशुभ जन्म एवं सुखदुःख प्राप्तिरूप संसार की कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः शोक तथा मोह दोनों ही संसार के बीज-स्वरूप है। [शुभ कर्म के द्वारा धर्मवृद्धि होने से (साधारण मनुष्य का इष्ट) देवादि जन्म प्राप्त होना सम्भव है एवं उससे स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है। अशुभ कर्म से अधर्म की वृद्धि होने के कारण अनिष्ट अर्थात् तिर्यगादि सर्पादि योनियों में जन्म लेना पड़ता है एवं उससे दुःख की प्राप्ति होती है। शुभाशुभ मिश्रित कर्म से धर्म एवं अधर्म दोनों की ही वृद्धि होने के कारण मनुष्यजन्म प्राप्त होता हैं एवं उससे सुख तथा दुःख दोनों का ही भोग करना पड़ता है। इस प्रकार से संसारप्रवाह चलता रहता है। अतः प्रत्येक जीव के लिए यह संसार के प्रवाह का मूलभूत कारण है शोक तथा मोह। (आनन्द-गिरि)] इस शोक तथा मोह की निवृत्ति सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञान-प्राप्ति बिना अन्य किसी उपाय के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः उस आत्म-ज्ञान के उपदेश देने की इच्छा कर भगवान् वासुदेव अर्जुन को निमित्त कर सभी लोक के प्रति अनुग्रह करने के लिए कहने लगे "अशोच्यानन्व-शोचस्त्वं" इत्यादि। [अर्जुन के चित्त की उस समय जो अवस्था थी उसमें साक्षात्रूप से 'तत्त्वमसि इत्यादि' ज्ञान का उपदेश यदि भगवान् देते तब अर्जुन का इष्टसाधन नहीं होता (क्योंकि अर्जुन को उस समय वैसा उपदेश धारण करने का सामर्थ्य नहीं था) इसलिए स्वधर्मानुष्ठान कर चित्त-शुद्धि प्राप्त करके ताकि ज्ञान का उपदेश धारण करने में अर्जुन समर्थ हों उस अभिप्राय से भगवान् ने उपदेश देना शुरू किया। (अर्जुन को निमित्त कर सभी मुमुक्षु को ही यह उपदेश दिया गया क्योंकि अर्जुन की तरह सभी को ही (क) स्वधर्मपालन (ख) चित्तशुद्धि की प्राप्ति (ग) जिज्ञासा का

उदय एवं (घ) परमानन्द प्राप्ति—इस प्रकार क्रम से मोक्षमार्ग में अग्रसर होना पड़ेगा (आनन्दगिरि)]। इस विषय में कोई-कोई टीकाकार कहते हैं कि सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक केवल मात्र आत्मज्ञाननिष्ठामात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। किन्तु अग्निहोत्रादि श्रौत-स्मार्त कर्म के साथ यदि ज्ञाननिष्ठा का समुच्चय रहता है तब उस प्रकार के ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही समस्त गीताशास्त्र का निश्चित अभिप्राय है। [इन लोगों के कहने का अभिप्राय यह है कि जैसा दर्शपूर्णमासादियाग प्रयाजानुयाजादि के द्वारा उपकृत होकर ही स्वर्गप्राप्ति के साधन होते हैं, उस प्रकार श्रौत तथा स्मार्त कर्म के द्वारा उपकृत होकर ब्रह्मज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन होता है (किन्तु केवल ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है)। अतः ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय (अर्थात् उनका एक साथ का अनुष्ठान) करना चाहिए, यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है]। वे लोग इस अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए (गीता शास्त्र से) प्रमाण भी देते हैं यथा 'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि' (यदि यह धर्मसंगत युद्ध तुम न करोगे तब तुम्हें पाप होगा) "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है), 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' (इसलिए तुम कर्म करो) इत्यादि।

[अब प्रश्न होगा, शास्त्र में कहा गया है "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" क्योंकि हिंसादि प्रतिषिद्ध कर्म अनर्थ का हेतु होता है। चूँकि पशुबलि इत्यादि हिंसादियुक्त वैदिककर्म अधर्म का कारण होता है अतः ये सब कर्मानुष्ठान मोक्षाभिलाषी के लिए सम्भव नहीं हैं। इसलिए ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय सिद्ध होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार सांख्यमत का निराकरण करने के लिये वृत्तिकारमतावलम्बी पंडित लोग कहते हैं (आनन्दगिरि)—हिंसादि द्वारा युक्त होने से वैदिक कर्म अधर्म का कारण होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिस युद्ध में गुरु, भ्राता एवं पुत्रों की हिंसा करना पड़ता है उस युद्धरूप क्षात्र कर्म अत्यन्त निष्ठुर होने से भी जब क्षत्रिय के लिए शास्त्र में वह स्वधर्मरूप से स्वीकृत हुआ है तब वह अधर्म का हेतु नहीं हो सकता है, वरन् उस धर्म का अनुष्ठान न करने से पाप होता है। इसलिए ही गीता में कहा गया है "ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि" अर्थात् युद्ध न करने से स्वधर्म तथा कीर्ति त्याग कर पाप के भागी होंगे। "यावज्जीवनं कर्म कुरु" इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा विहित पशु आदि की हिंसारूप कर्म जो अधर्म नहीं है यह भगवान् के पूर्वोक्त वाक्य के

द्वारा पहले ही निश्चित किया गया है। [अभिप्राय यह है कि, आचार्य (गुरु) पितामहादि को जिस युद्ध में वध करना होगा वह अति क्रूर (निष्ठुर) युद्ध भी यदि (भगवान् के उपर्युक्त वाक्य के अनुसार) अधर्म का हेतु न हो तब वेदविहित पशु हिंसादियुक्त यागादि कर्म से अधर्म होगा, यह तो अति दूर की बात है—यही भगवान् ने उक्त प्रकार के वचन के द्वारा स्पष्टरूप से निर्देश किया। सामान्य शास्त्र में वृथा हिंसा को निवारण करने के लिए "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" इस प्रकार का उपदेश दिया। किन्तु वह अनुशासन वेद के द्वारा यागादि कर्म में जो हिंसा विहित है उसमें प्रयुक्त नहीं होता है। अतः ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से जो कैवल्यसिद्धि (मोक्ष की प्राप्ति) होती है वह सिद्ध हुआ, इस प्रकार वृत्तिकारमतावलम्बी पंडितलोग कहते हैं (आनन्दगिरि)]।

समाधान—नहीं, वृत्तिकारमतावलम्बियों की इस प्रकार की युक्ति संगत (ठीक) नहीं है क्योंकि ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा भिन्न-भिन्न दो बुद्धियों को आश्रय करती हैं। इसलिए (गीता में) ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा को पृथक् कर वर्णित किया गया है। 'अशोच्यान्' इस श्लोक से (गीता २।११) ग्रन्थ में जो परमार्थ (आत्मतत्त्व) निरूपित किया गया है उसे 'सांख्य' कहा जाता है। और सांख्यविषयक जो बुद्धि उसे अर्थात् आत्मा में जन्म आदि छः प्रकार के विकार का (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति, इस छः प्रकार के विकार का) अभाव है, इसलिए आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार जो निश्चय होता है उसे सांख्यबुद्धि कहा जाता है। वह सांख्यबुद्धि जिन ज्ञानियों के लिए उचित है (अर्थात् जो ज्ञानी लोग उस सांख्यबुद्धि का लाभ करने के अधिकारी हैं) उन्हें सांख्य या सांख्ययोगी कहा जाता है। [शुक्तिकादि का ज्ञान होने से उसके फलस्वरूप ही रजत आदि भ्रान्ति या अज्ञान की निवृत्ति होती है। उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए किसी भी सहकारी कर्म की अपेक्षा नहीं रहती है। और गीताशास्त्र में जो कर्म तथा ज्ञान के विषय में कहा गया है वह समुच्चय के अर्थ में नहीं कहा गया है अर्थात् कर्म तथा ज्ञान का एक साथ अनुष्ठान करने के लिये नहीं कहा गया है क्योंकि गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि जो लोग योगी हैं उन लोगों को तत्त्वज्ञान के लाभ के लिए योग (कर्मादि) साधन का अवलम्बन करना होगा और जो लोग तत्त्वज्ञानी (सांख्य) हैं उन लोगों को स्वतः सर्वकर्मनिवृत्तिरूप शमता प्राप्त होती है। अतः उनलोगों के लिए श्रौत, स्मार्त कर्म करना सम्भव नहीं है। गीता में बाद में भी कहा जायगा "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन

योगिनाम्" (गीता ३।३)। मुमुक्षु व्यक्तियों की बुद्धि के दो विभाग किये गये हैं (क) सांख्यबुद्धि (ख) योगबुद्धि। इनमें सांख्यबुद्धि को आश्रय कर जो ज्ञाननिष्ठा रहती है उसकी ऊपर व्याख्या की गई है अर्थात् भगवान् गीता शास्त्र में (२।११ से २।३१ श्लोक तक) परमार्थभूत आत्मतत्त्व जिस प्रकार से निरूपित करेंगे वह जिस बुद्धि के द्वारा (सम्+ख्यात) सम्यक् प्रकार से ख्यात (प्रकाशित) होता है उस वैदिकी सम्यक् बुद्धि को सांख्य कहा जाता है। उस सांख्य के द्वारा जो यथार्थ तत्त्व प्रकाशित होता है उसे एवं जिनमें इस प्रकार की बुद्धि होती है उन्हें भी सांख्य कहा जाता है। ["न जायते म्रियते वा" इत्यादि श्लोक में आत्मा को कूटस्थ तथा छः प्रकार के विकाररहित कहा जायगा। आत्मा के विषय में जब उस प्रकार की निश्चय-बुद्धि उत्पन्न होती है तब वह (सम्यक्) बुद्धि ही सांख्यबुद्धि एवं उस सांख्य-बुद्धि में (सम्यक् ज्ञान में) जिनका निष्ठा रहती है उन संन्यासियों को भी "सांख्य" कहा जाता है। इस प्रकार से सांख्यबुद्धि निरूपण कर अब योग-बुद्धि को जो कर्मनिष्ठा या योग आश्रय करता है उसकी व्याख्या की जा रही है (आनन्दगिरि)]।

सांख्यबुद्धि उत्पन्न होने से सकल कर्म निवृत्त हो जाता है। अतः कर्मानुष्ठान उसका विरोधी होने के कारण सांख्य (सम्यक्ज्ञान) तथा कर्मानुष्ठान का समुच्चय होना असम्भव है (अर्थात् दोनों एक साथ नहीं चल सकते हैं)। अतः सांख्यबुद्धि उत्पन्न होने के पहले देहेन्द्रियादि से आत्मा का पृथक्त्व तथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादि की जो धर्माधर्मविवेक अपेक्षा रखते हैं [अर्थात् आत्मा शरीरादि से भिन्न होने से भी सभी कर्मों का कर्ता एवं सुख-दुःख का भोक्ता है ऐसा निश्चय रहने से ही लोग अधर्म से धर्म को विचार के द्वारा पृथक् कर धर्मकर्मानुष्ठान करते हैं एवं उसके द्वारा (अर्थात् शास्त्र-विहित कर्म को ईश्वर की आराधना के रूप में कर के) चित्तशुद्धि प्राप्त कर मोक्ष के अधिकारी होते हैं अतः] उस धर्माधर्मविवेक के साथ मोक्ष के लिए क्या करना चाहिए उसका स्वरूप निरूपण अर्थात् निश्चय करने को योग कहते हैं। [मोक्ष सिद्धि के लिए ईश्वर की आराधनारूप धर्मानुष्ठान परम्परा क्रम से ब्रह्म या परमात्मा के साथ योग का (एकत्वबोध का) साधन होने के कारण उसे योग कहा जाता है। [अर्थात् धर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि, चित्त-शुद्धि से ज़िज्ञासा, जिज्ञासा के बाद गुरूपसदन (गुरु के पास गमन) एवं गुरुमुख से वेदान्तमहावाक्यादि श्रवण, उसके बाद मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वज्ञान लाभ एवं तत्वज्ञान से मोक्ष इस प्रकार क्रमशः योग या ब्रह्म-

त्मैकत्वबोध का साधन होने के कारण ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्मानुष्ठान को योग कहा जाता है। जीवात्मा तथा परमात्मा का जिससे योग या मिलन होता है, वही योग है।] योगविषया बुद्धि को योगबुद्धि कहा जाता है। वह योग-बुद्धि जो कर्मियों के लिए उचित है उनको अर्थात् उस योगबुद्धि के अधिकारी कर्मियों को योगी कहा जाता है। इसलिए ही भगवान् गीता के २।३९ श्लोक में "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" ऐसा कह कर दोनों बुद्धि का (सांख्यबुद्धि तथा योगबुद्धि का) निर्णय पृथक् पृथक् किया। इन दोनों बुद्धियों में सांख्यबुद्धि को जिसका सांख्यलोग आश्रय किये हुए रहते हैं उनके ज्ञानयोग के द्वारा [जो ज्ञान के द्वारा ब्रह्म के साथ योग अर्थात् तादात्म्य प्राप्त होता है वही ज्ञानयोग है, इस प्रकार के ज्ञानयोग के द्वारा] संन्या-सियों की जो निष्ठा (अर्थात् निश्चयरूप से स्थिति) होती है उसे (कर्मनिष्ठा से) पृथक् कर 'पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता' [अर्थात् "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ, ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्" (गीता ३।३).] इत्यादि वचनों के द्वारा निर्दिष्ट करेंगे। फिर योगबुद्धि को जो कर्मयोग आश्रय कर रहती है [कर्म ही योग है क्योंकि ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्मानुष्ठान मोक्ष का साक्षात् कारण जो तत्त्वज्ञान है उसके साथ साधक को युक्त कर देता है इसलिए उसे कर्मयोग कहा जाता है।] उस कर्मयोग के द्वारा जो निष्ठा प्राप्त होती है उसे (ज्ञाननिष्ठा से) पृथक् कर "कर्मयोगेन योगिनाम्" (गीता ३।३) इस वाक्य के द्वारा बतायेंगे। कर्तृत्व, अकर्तृत्व एवं अनेकत्व, एकत्व-इस प्रकार पृथक् पृथक् बुद्धि को जो कर्म तथा ज्ञान आश्रय किये हुए रहता है उन दोनों का ही एक पुरुष का आश्रय करके रहना असम्भव है, यह देखकर भगवान् ने स्वयं ही उपर्युक्त प्रकार से सांख्यबुद्धि तथा योग-बुद्धि का आश्रय कर पृथक् पृथक् दो निष्ठाओं को (ज्ञाननिष्ठा तथा कर्म-निष्ठा को) विभक्त करके कहा। [कर्तृत्व एवं अनेकत्वबुद्धि को आश्रय कर कर्मानुष्ठान सम्भव होता है, और अकर्तृत्व तथा एकत्व बुद्धि को आश्रय कर के ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसलिए ज्ञान तथा कर्म का साधन एवं साध्य (फल) दोनों ही परस्पर विरुद्ध है। अतः एक ही पुरुष के द्वारा समकाल में उभयनिष्ठा (कर्मनिष्ठा एवं ज्ञाननिष्ठा) असम्भव है। अतः उन्हें विभक्त कर के दिखाना भगवान् के लिए युक्तियुक्त ही है। (आनन्दगिरि)]। जिस प्रकार से गीताशास्त्र में इन दो प्रकार की निष्ठा का पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है उस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी प्रदर्शित किया गया है। यथा "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तो ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति" (बृह० उ० ४।४।२२)

अर्थात् जो ब्राह्मण इस लोक को प्राप्त होने के इच्छुक हैं अर्थात् नित्य चिज्ञप्ति-स्वभाव अखण्डज्ञानस्वरूप यथार्थ आत्मा को जानने को जो इच्छुक हैं उनका त्रिविध कर्म के फल में [कर्म का फल शुभ, अशुभ एवं शुभाशुभ-ये तीन प्रकार होते हैं उनमें] वैराग्य होने के कारण सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास वे ग्रहण करते हैं [अर्थात् वे लोग ज्ञाननिष्ठ होते हैं]। इस प्रकार सर्वकर्मसंन्यास का विधान कर उस वाक्य के अन्त में कहा गया है "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (वृ० ४।४।२२) अर्थात् जिनका यह आत्मा ही लोक है [उनको हम लोगों की प्रजा से (सन्तान से) किस प्रयोजन की सिद्धि होगी ?] उक्त श्रुति में यही कहा गया है कि प्राकृत अर्थात् अज्ञानी मनुष्य धर्मजिज्ञासा के पश्चात् [अर्थात् ब्रह्मचारी होकर गुरु के पास यथाविधि वेद का अध्ययन कर वेदार्थ जानने के लिए धर्मजिज्ञासा (मीमांसा) कर उसके बाद] लोकत्रय प्राप्ति का साधन अर्थात् मनुष्यलोक, पितृलोक एवं देवलोक प्राप्ति के उपायस्वरूप पुत्रादित्रय की कामना करते हैं। इसलिए श्रुति में कहा गया है "जाया में स्यात्" इत्यादि। अतः गुरुगृह से समावर्तन के बाद एवं विवाह के पहले तीन लोकों की प्राप्ति के साधारणरूप (१) पुत्र की एवं (२) दैव तथा (३) मनुष्य इस दो प्रकार के धन की इच्छा करते रहते हैं। इनमें पितृलोक की प्राप्ति के साधारणरूप 'कर्म' को मनुष्यधन कहा जाता है एवं देवलोक की प्राप्ति के साधनरूप 'विद्या को' दैव धन कहा जाता है (बृह. १।४।१७) इसप्रकार शतपथब्राह्मण में अविद्याग्रस्त (अज्ञ) एवं कामनाविशिष्ट पुरुष के लिये ही श्रौतादि सब कर्म निर्दिष्ट किये गये हैं। [और जो लोग कर्म से विरक्त हुए हैं अर्थात् जिनकी किसी भी प्रकार के कर्मफल में आसक्ति नहीं है उनके लिए संन्यास-पूर्विका ज्ञाननिष्ठा को बात पहले कही गई है]। उस श्रुति में और भी कहा गया है 'तेभ्यो व्युत्थाय प्रव्रजन्ति' (बृह० उ० ४।४।२२) अर्थात् वे लोग कर्मों से निवृत्त होकर संन्यास ग्रहण करते हैं। इस प्रकार के वचनों के द्वारा यही स्पष्ट हो रहा है कि केवल आत्मलोक प्राप्त करने में इच्छुक निष्कामी पुरुष के लिए ही संन्यास का विधान हुआ है।

[अवस्था के भेद के अनुसार ज्ञान का अधिकारी तथा कर्म का अधिकारी परस्पर भिन्न है ऐसा श्रुति में कहा गया है एवं श्रुति के वचन का अवलम्बन कर भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का विभाग कर गीता में जो ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय निर्देश नहीं किया गया है, वह दिखाया है। (आनन्दगिरि)]। तो भी यदि माना जाय कि श्रौत कर्म एवं ज्ञान का

समुच्चय ही (अर्थात् दोनों का एक साथ अनुष्ठान करना हीं) भगवान् को अभिप्रेत है तब भगवान् का उपर्युक्त विभागवचन ('ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इत्यादि) असंगत हो जाता है। दूसरी बात यह है कि अर्जुन जो प्रश्न करेंगे "ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिः" (गीता ३।१) इत्यादि भी युक्ति संगत नहीं हो सकता है। यदि एक पुरुष के द्वारा एक साथ ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान करना असम्भव है यह बात भगवान् नहीं कहते एवं कर्मापेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ हैं यह भगवान् पहले ही निर्देश नहीं करते तब अर्जुनने जो बात भगवान् के मुँह से श्रवण नहीं की है वह बात यथा "ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मताबुद्धिर्जनार्दन" इत्यादि कहकर किस प्रकार से भगवान् में मिथ्या अध्यारोप कर सकते हैं ? [और इसप्रकार आरोप न कर 'कर्म से बुद्धि (ज्ञान) यदि तुम्हारे मत के अनुसार श्रेष्ठ है तब इस घोर (अति क्रूर युद्धरूप) कर्म में मुझे क्यों नियुक्त कर रहे हो। (गीता ३।१), यह प्रश्न अर्जुन नहीं कर सकते थे। अतः अर्जुन के प्रश्न की आलोचना करने से एवं प्रश्नकर्ता तथा उत्तरदाता के शास्त्रार्थालोचन के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय भगवान् को अभिप्रेत नहीं है। (आनन्दगिरि)]।

यदि पुरुषार्थ साधन के लिए सभी व्यक्तियों को ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय करना उचित है, ऐसी बात भगवान् बतलाते तब अर्जुन के प्रति भी वह कहा जाता। किन्तु ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय का उपदेश प्राप्त होकर "यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्" अर्थात् इन दोनों में जो मेरे लिए श्रेयस्कर है वह निश्चित करके कहो—इस प्रकार दोनों में एक के सम्बन्ध में प्रश्न करना अर्जुन के लिए किस प्रकार सम्भव है ? क्योंकि जो पित्त रोग की शान्ति चाहता है उसे यदि वैद्य उपदेश देता है कि मीठा तथा ठंडा पदार्थ पीना चाहिए, तब रोगी ऐसा प्रश्न कर नहीं सकता है कि इन दोनों में एक को पित्त की दवा के रूप में कहिए।

और यदि ऐसी कल्पना की जाय कि भगवान् ने जो वचन कहा था उनके वाक्य के अर्थ का विवेक (तात्पर्य) अवधारण करने में (समझने में) असमर्थ होने में ही अर्थात् अर्जुन ने उस वाक्य का प्रकृत अर्थ समझे ही बिना वैसा प्रश्न किया है, तब हम कहेंगे कि अर्जुन के प्रश्न के अनुरूप ही भगवान् को उत्तर देना चाहिए था कि मैंने तो ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय करने को पहले ही तुम्हें बतलाया है, अतः तुम भ्रान्त क्यों हो रहे हो ?

[अर्थात् मैंने तुमसे जो कहा है वह भूल न जाने से ऐसा प्रश्न करना तुम्हारे लिए सम्भव नहीं होता] । किन्तु [अर्जुन को भगवान् वैसा कुछ न कह कर] "मैंने पहले दो प्रकार की निष्ठाओं के विषय में तुमसे कहा है" (गीता ३।३) ऐसा कह कर भगवान् ने जो उत्तर दिया वह अर्जुन के प्रश्न के अननुरूप (विपरीत अर्थात् अन्य प्रकार) होता या (क्योंकि अर्जुन यदि भगवान् के वचन को नहीं समझ कर प्रश्न करते तब भगवान् ने जो उत्तर दिये वह किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं होता) अतः उपर्युक्त कल्पना (अर्थात् भगवान् के वचन का अर्थ न समझ कर अर्जुन ने प्रश्न किया है ऐसी कल्पना) उपयुक्त (संगत) नहीं सिद्ध होती है । (श्रौत कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय नहीं होता है, ऐसा कहा गया है) । इसके अतिरिक्त स्मार्त कर्म के साथ ही ज्ञान का समुच्चय करना पड़ेगा, ऐसा यदि भगवान् को अभिप्रेत हो तब विभाग-वचनादि (अर्थात् ज्ञान-निष्ठा तथा कर्मनिष्ठा को पृथक् कर निर्देश करना) युक्तिसंगत नहीं हो सकता क्योंकि वैसा स्वीकार करने से युद्धरूप स्मार्त कर्म क्षत्रिय का स्वधर्म है ऐसा जान कर भी "मुझे घोर युद्धरूप कर्म में क्यों नियुक्त कर रहे हो ?" ऐसा प्रश्न असंगत है ।

अतः यह सिद्ध होता है कि गीताशास्त्र में श्रौत तथा स्मार्त कर्म के साथ आत्मज्ञान का समुच्चय माना गया ऐसा किंचित् मात्र बचन भी कोई दिखाने में समर्थ नहीं होगा । तथापि प्रथमावस्था में अज्ञानवश अथवा आसक्ति आदि दोष के कारण जो पुरुष कर्म में प्रवृत्त थे वे जब यज्ञ, दान अथवा तपस्या के द्वारा अन्तःकरणशुद्धिलाभ कर परमार्थतत्त्वविषयक ज्ञान प्राप्त कर साक्षात्रूप से अनुभव करते हैं कि "यह सब ब्रह्म ही हैं एवं वह ब्रह्म अकर्ता हैं" तब उनके कर्म एवं कर्म का प्रयोजन (अर्थात् कर्म से फल-कामना) दोनों ही निवृत्त होते हैं । तब भी वे यदि लोकसंग्रह के लिए यत्नपूर्वक कर्ममें प्रवृत्त होते हैं तो इसप्रकार के कर्म में प्रवृत्त पुरुष की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह वस्तुतः ऐसा कर्म नहीं है जिससे कि ज्ञान के साथ उस प्रकार कर्म का समुच्चय हो सकता है । जैसा भगवान् वासुदेव क्षत्रियधर्म पालन करने के लिए जो सब चेष्टा करते थे वह पुरुषार्थ की (मोक्ष के) सिद्धि के लिए ज्ञान के साथ कर्म का मोक्ष की सिद्धि के लिए समुच्चय नहीं होता, ऐसा ही (भगवान् के सदृश) फल की इच्छा एवं अहंकार का अभाव समान होने के कारण आत्मज्ञानी भी "मैं कर रहा हूँ" इस प्रकार कर्तृत्व—अभिमान नहीं करते हैं और उनमें किसी कर्म के फल के लिए आकांक्षा भी नहीं रहती है । [कहने का अभिप्राय यह है कि, विशुद्ध ब्रह्मात्म-

ज्ञान (ब्रह्म आत्मा का एकत्वज्ञान) उसकी फलसिद्धि के लिए सहकारी के रूप में किसी भी कर्म की अपेक्षा नहीं करता है। जैसे शुक्ति में रजत केवल अज्ञान या भ्रान्ति के कारण ही दिखाई पड़ता है एवं किसी कर्म विना केवल अज्ञान या भ्रान्ति निवृत्त होने से ही शुक्ति का ज्ञान होता है, उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से आत्मासम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होने से 'सब कुछ ब्रह्म है एवं मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव होकर संसारबन्धन से मुक्त होना सम्भव है। अब प्रश्न होगा, गीता में जब भगवान् ने कहा था "कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्" तब गीता में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय नहीं कहा गया है ऐसी युक्ति व्यर्थ होती है। वर्णाश्रमानुकुल वेदविहित कर्म के द्वारा धर्म या पुण्य संचित होता है किन्तु जिन लोगों को फलकामना (धर्म या अन्य कुछ के लिए कामना) नहीं है उस वर्णाश्रम में अभिमानशून्य तत्त्वदर्शी पुरुष के अविद्यालेश को भी आश्रय कर जो वाक्य बोलना, श्रवण-करना इत्यादि कार्य में प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है उसे कर्म नहीं कहा जाता है–वह कर्माभास मात्र है। [विद्या या तत्त्वज्ञान से अविद्या नष्ट होने पर भी जीवन्मुक्त पुरुषों का शरीर व इन्द्रियादि जिसको आश्रय कर प्रारब्ध कर्म का फल भोग करते हैं एवं कर्म करते हैं उस आश्रय को अविद्यालेश कहा जाता है। लेश शब्द का अर्थ नहीं के बराबर है] इसलिए ज्ञानियों की कर्मप्रवृत्ति (अर्थात् कर्माभास) ज्ञान या ज्ञान के फल के साथ समुच्चित नहीं हो सकता है क्योंकि उनलोगों की किसी भी प्रवृत्ति में फलकामना नहीं रहती है अथवा 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा अहंकार भी नहीं रहता है। भगवान् की प्रवृत्ति जैसे स्वभाव से ही होती है, ज्ञानियों की प्रवृत्ति भी ठीक उसी प्रकार स्वभाव या प्रकृति से ही होती है। इसलिए कर्म करके वे लोग कर्म नहीं करते हैं, ऐसा कहा गया क्योंकि उन लोगों का व्याख्यान, भिक्षाटनादि व्यापार चलते रहने से भी कार्य–करण–संघात के द्वारा ही (देह तथा इन्द्रियादि द्वारा ही) वह सम्पन्न हो रहा है—आत्मा स्वयं इन सब का द्रष्टा है, यह ज्ञान कभी भी लुप्त नहीं होता है। अतः उन लोगों के अहंकार की तृप्ति के लिए अथवा फल की अभिसन्धि के लिए यह सब कर्म नहीं होते हैं, इस लिये यह सब कर्म आभासमात्र हैं। अब प्रश्न होगा कि ज्ञानोदय की पूर्वावस्था में जैसे ज्ञानी की कर्म में प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है ज्ञानोदय के बाद भी उसी प्रकार की प्रवृत्ति ही दृष्ट होती है। इसलिए यदि कहा जाय कि ज्ञानी व्यक्तियों की उस प्रवृत्ति को 'आभास' नहीं कहा जाता है। [इसके उत्तर में कहा जा रहा है—] जैसे स्वर्गादि प्राप्ति की कामना

कर स्वर्गादिरूप काम के साधनरूप अग्निहोत्रादि कर्म अनुष्ठान करने के लिए आहिताग्नि में (जो अग्नि शास्त्रीय नियम के अनुसार लाकर स्थापित की गई है उस अग्नि में) काम्य अग्निहोत्रादि कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त पुरुष के आधा कर्म समाप्त होने से किसी कारणवश जिस कामना को लेकर वह कर्म किया जा रहा था वह यदि नष्ट हो जाय (अर्थात् स्वर्गादि के लिए कामना यदि उन्हें नहीं रहे) एवं उसके बाद यदि वे नित्य अग्निहोत्रादि कर्म (उस अग्नि में ही) निष्काम रूप से अनुष्ठान करते रहते हैं तब उसे काम्य अग्निहोत्रादि कर्म नहीं कहा जा सकता है। [उस प्रकार विद्वान् व्यक्ति की ज्ञानोदय के बाद पूर्ववत् कर्म में प्रवृत्ति दिखाई पड़ने से भी वह कर्म किसी विधिनिषेध के वशीभूत होकर नहीं किया जाता है एवं कर्तृत्वाभिमान अथवा फलाकांक्षा नहीं रहती है। इसलिए वह 'कर्माभास' मात्र है। कहने का अभिप्राय यह है कि, अग्निहोत्रादि कर्म स्वभावतः नित्य हैं या तो काम्य हैं। कामना लेकर करने से वह काम्य कर्म एवं कामनाशून्य होकर कर्तव्य बुद्धि में यदि वह नित्य अनुष्ठित हो तब वह नित्याग्निहोत्रादि कहकर अभिहित होता है। उस प्रकार कर्म में कोई स्वाभाविक बन्धन नहीं है। कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा (अर्थात् इस कर्म का मैं कर्ता हूँ एवं इस कर्म के द्वारा यह फललाभ करूँगा ऐसे भाव) के साथ यदि कर्म किया जाय तब वह काम्य कर्म है एवं वह ही संसारबन्धन का कारण होता है। और कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा नहीं रहने से वह कर्म फल प्रसव नहीं कर सकता है। अर्थात् कर्तृत्वाभिमानरहित निष्काम कर्म से कर्मफल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए उसे कर्म नहीं कहा जाता है—वह कर्माभास है।] भगवान् ने भी गीता में स्थान-स्थान पर यही बात कही है यथा—'न करोति न लिप्यते' (१३।३१) "कुर्वन्नपि न लिप्यते" (५।७) । [और यदि कहो कि विद्वान् व्यक्ति के सम्बन्ध में भी कर्म शब्द का प्रयोग है इसलिए (गीता ३।२०, ४।१५) उस व्यापार को कर्माभास नहीं कहा जाता है; उसके द्वारा समुच्चय ही (ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय ही) सिद्ध होता है। इसके उत्तर में (४।१५) कहा जायगा कि गीता शास्त्र में जो 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (३।२०) इत्यादि वचन हैं उन्हें विभाग कर अर्थ समझना होगा (अर्थात् जनकादि तत्त्ववित् थे कि अतत्त्ववित् थे ऐसा विभाग कर श्लोक का अर्थ समझना होगा)। यह किस प्रकार समझा जा सकेगा, यही अब कहा जा रहा है।]

यदि पूर्वकाल में जनकादि तत्त्ववेत्ता होकर भी लोकसंग्रह के लिए

कर्म में प्रवृत्त थे तब समझना होगा कि उन लोगों 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता ३।२८) अर्थात् गुण गुणों में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा ही सम्यक् सिद्धि प्राप्त हुई थी। अभिप्राय यह है कि वे लोग कर्मसंन्यास की योग्यता प्राप्त करने पर भी कर्म त्याग नहीं किये थे परन्तु कर्म करते रहने से भी परमसिद्धि में (ज्ञाननिष्ठा में) स्थित थे। [ज्ञानियों के किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए कर्म में प्रवृत्त होना सम्भव नहीं है एवं इसलिए सभी कर्म में ही उन लोगों की उदासीनता रहना स्वाभाविक है। तथापि तत्त्वविद् पुरुष की गुणों के द्वारा (अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा) गुणों में (विषयों में) प्रवृत्ति रहने से भी स्वयं अकर्त्ता, असंग, साक्षी स्वरूप में स्थित रहकर इन गुणों की क्रिया के द्रष्टा रहते हैं, अतः उनके ज्ञान की कोई हानि नहीं होती है। इसलिए देहेन्द्रियादि के द्वारा कर्म होते रहने से भी बाधितानु-वृत्ति के द्वारा वह कर्माभास होता है एवं सभी अवस्था में ज्ञान अक्षुण्ण रहने के कारण जनकादि के सदृश उस प्रकार तत्त्ववित् पुरुष जो संसिद्धि (परमा सिद्धि या मोक्ष) की प्राप्ति करेंगे उसमें आश्चर्य की और क्या बात है ? यही कहने का अभिप्राय है।]

और यदि जनकादि तत्त्वज्ञानी नहीं थे—यही माना जाय तब वे लोग ईश्वर में समर्पित साधनरूप कर्म के द्वारा [अर्थात् सर्व कर्म करते हुए उन सबका ईश्वर में समर्पण करते थे एवं इस प्रकार साधन द्वारा चित्तशुद्धिरूप सिद्धि अथवा ज्ञानोत्पत्तिरूप सिद्धि को प्राप्त हुए थे, ऐसी व्याख्या करनी होगी। (कर्म चित्तशुद्धि उत्पन्न कर ज्ञान का हेतु होता है) यह बात ही बाद में भगवान् बतायेंगे 'सत्वशुद्धये कर्म कुर्वन्ति' (योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये—गीता) (५।११) अर्थात् योगीलोग ईश्वरार्पण बुद्धि से फलासक्ति रहित होकर अन्तःकरण शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। फिर 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः (गीता १८।४६)] अर्थात् अपने कर्मों के द्वारा उस परमेश्वर को अर्चना कर मानव सिद्धि लाभ करता है, इस प्रकार का वाक्य कहकर सिद्धिप्राप्त (चित्तशुद्धि-प्राप्त) व्यक्ति "सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म" (गीता १८।५०) अर्थात् सिद्धि (चित्तशुद्धि) प्राप्त होकर जिस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त होता है इत्यादि वचनों के द्वारा ज्ञाननिष्ठा किस प्रकार प्राप्त होती है उसका उपदेश देंगे। [कर्म साक्षात् मोक्ष का हेतु नहीं है। अपने-अपने वर्णाश्रम के लिये विहित कर्म निष्काम रूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित होने पर ईश्वर की कृपा से चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञाननिष्ठा (ज्ञान में स्थिति)

होने से मुक्ति होती है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होने से कर्म का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। अतः कर्तृत्वाभिमान अथवा फलाकांक्षा के साथ कर्मानुष्ठान असम्भव है।] अतः गीताशास्त्र में जो कहा कया है उससे यही अर्थ निश्चित होता है कि केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति होती है। कर्म के साथ ज्ञान के द्वारा नहीं (अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय के द्वारा नहीं होती है)। भगवान् का जो यही अभिप्राय है वह प्रकरण के अनुसार यथास्थान दिखाया जायगा।

इस प्रकार धर्म के विषय में (कर्त्तव्याकर्तव्य विवेक के विषय में) जिनका चित्त सम्यक् प्रकार से मोहित हुआ है एवं जो (मिथ्याज्ञान से उत्पन्न अहंकार तथा ममकार के द्वारा वशीभूत होकर) महान् शोक-सागर में विमग्न हैं इस प्रकार अर्जुन के लिए आत्मज्ञान (ब्रह्मात्मैक्यज्ञान) के विना उद्धार प्राप्त होना असम्भव जानकर उस शोक-समुद्र से अपने भक्त अर्जुन का उद्धार करने को इच्छुक भगवान् वासुदेव अब (अर्जुन के) आत्मज्ञान के अवतारणार्थ (अर्थात्, अर्जुन को त्वं तथा तत् पदार्थ-शोधन में प्रवर्तित करने के उद्देश्य से पहले 'त्वं' पदार्थ का शोधन करने के लिए) कहे 'अशोच्यान्' इत्यादि। [वृत्तिकार का ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय-वाद का प्रत्याख्यान कर भाष्यकार ने अपना मत (जो गीताशास्त्र के अर्थ के द्वारा समर्थित है। वह) स्पष्ट करके दिखाया है। इस गीता शास्त्र में तीन कांड हैं। अठारह अध्यायों के प्रत्येक छः अध्याय एक-एक कांड में विभक्त हुए हैं। पहले छः अध्याय लेकर जो पूर्व कांड निर्मित हुआ है उनमें 'त्वं' पदार्थ को (जीव के स्वरूप को) विषय बनाया है अर्थात् त्वं पदार्थ को विषय बनाकर उनके शोधन को निर्दिष्ट कर रहा है। बीच के छः अध्यायों को लेकर मध्यम कांड है। वह तत् पदार्थ को (परमात्मा के स्वरूप को) निर्दिष्ट कर रहा है एवं अन्तिम छः अध्यायों को लेकर जो अन्तिम कांड है वह तत् तथा त्वं पदार्थद्वय के ऐक्य (अर्थात् जीव तथा परमात्मा के एकत्व सम्पादन) को किस प्रकार करना चाहिए वह कहकर 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त महावाक्यों का अर्थ प्रकाश कर रहा है। इसके अतिरिक्त जीव तथा परमात्मा का ऐक्यज्ञान साधन की अपेक्षा करता है। इसलिए स्थान-स्थान पर प्रसंगतः उस ज्ञान के साधनों का भी उल्लेख किया गया है। गीताशास्त्र में सर्वत्र एक तत्त्वज्ञान ही साध्य है (क्यों कि उससे ही कैवल्य या मोक्षप्राप्ति सम्भव है)। अतः यही तत्त्वज्ञान एवं उसका साधन ही गीता में विशेषरूप से गाया गया है (आनन्दगिरि)]।

[इस प्रकार प्रकृत धर्म के सम्बन्ध में मूढ़ चित्त, मिथ्याज्ञान के द्वारा आविष्ट (अर्थात् देहादि में अज्ञान वश आत्मबुद्धिकारी) अर्जुन जब आत्मीय बन्धुओं के विनाश की आशंका से महाशोक सागर में निमग्न होकर अपना वास्तविक कल्याण क्या है ? वह समझने में असमर्थ रहा तब श्रीभगवान् वासुदेव ने कृपाकर अर्जुन का चिरकाल के लिए शोक मोह से उद्धार करने के लिए आत्मज्ञान का उपदेश देना प्रारम्भ किया]

भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥

अन्वय—त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः प्रज्ञावादान् भाषसे पंडिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति ।

अनुवाद—जो लोग शोक करने के अयोग्य हैं (भीष्म, द्रोण प्रभृति) उनके लिए तुम शोक कर रहे हो परन्तु ज्ञानी की तरह वाक्य कह रहे हो। (इस जगत् में) पंडित लोग मृत अथवा जीवित व्यक्तियों के लिए शोक नहीं करते हैं।

दीपिका—त्वम्—तुम अशोच्यान् अन्वशोचः—जो लोग शोक करने के योग्य नहीं है (यथा भीष्म, द्रोण प्रभृति) उनको उद्देश्य कर 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' इत्यादि कहकर तुम अनुशोचना कर रहे हो अर्थात् "मेरे लिए वे लोग मर जायेंगे उन लोगों के विरह से राज्यसुखादि प्राप्त होकर भी मैं क्या करूँगा ?" इत्यादि (गीता १।२८-४६) कहकर शोक कर रहे हो। किन्तु तुम भूल जा रहे हो कि भीष्म, द्रोण प्रभृति सदाचारी हैं (अतः मरने के बाद भी वे लोग जगत् में महाकीर्ति रख के जायेंगे)। फिर परमार्थ दृष्टि से वे लोग नित्य हैं। अतः उनके देहादि का नाश होने से भी आकाशवत् सर्वव्यापी आत्मा का कभी भी नाश नहीं होगा। अतः उनके लिए शोक का कोई कारण ही नहीं है। परन्तु तुम अज्ञानी व्यक्ति की तरह जो रजत नहीं है उसमें रजत बुद्धि की तरह परमार्थतः नित्य (अतः अशोच्य अर्थात् जिनके लिए शोक करना उचित नहीं है वे) भीष्म, द्रोण प्रभृति को उद्देश्य कर अनुशोचना कर रहे हो अर्थात् देह के नाश से उन लोगों की आत्मा का नाश होगा यह सोचकर अनुशोचना कर रहे हो। यह भ्रान्ति या मूढ़ता का ही परिचायक है। [इस प्रकार का

मोह पशुओं को भी होता है क्योंकि वह सर्वसाधारण मोह है। तुम्हारी तरह बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए ऐसा शोक करना उचित नहीं है (मधुसूदन)]।

प्रज्ञावादांश्च भाषसे—फिर इधर तुम "प्रज्ञावान्" अर्थात् बुद्धिमानों के 'वाद' अर्थात् वचन भी कह रहे हो। [उत्सन्नकुलधर्माणां (गीता १।४४) इत्यादि अर्थात् जिन लोगों का कुलधर्म नष्ट होता है उनका नियत नरक में ही वास होता है, बुद्धिमान् व्यक्तियों की तरह यह वाक्य भी कह रहे हो।] इस प्रकार अपना पांडित्य तथा मूढ़ता एक साथ प्रकाश कर रहे हो अर्थात् तुम पागल की तरह एक समय में अनेक विरुद्ध बातें कह रहे हो, इससे अनुचित और क्या हो सकता है? इस अर्थ को समझाने के लिए 'च' शब्द का व्यवहार किया गया है, [कहने का अभिप्राय यह है कि तुम्हारी अधर्म में धर्मत्व की भ्रान्ति एवं धर्म में अधर्मत्वबुद्धिरूप मोह असाधारण है (अर्थात् सबों में इस प्रकार का मोह नहीं होता है) क्योंकि यह मोह तुम्हारा स्वभावगत करुणादि दोष के लिए उपस्थित हुआ है किन्तु तुम्हारे सदृश विचारशील व्यक्ति के लिए इसप्रकार का मोह शोभनीय नहीं है (मधुसूदन)]। पंडिताः—आत्मज्ञ लोग। आत्मविषयिणी बुद्धि को 'पंडा' कहते हैं। श्रुति में कहा है "पांडित्यं निर्विद्य" (पांडित्य अर्थात् आत्मज्ञान को निश्चित रूप से प्राप्त कर) अतएव श्रुतिवाक्य से प्रमाणित होता है कि जिनको पंडा (आत्मविषयक ज्ञान) है वे लोग पंडित हैं। [जिन लोगों ने गुरुमुख से वेदान्तादि वाक्य श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा अर्थात् (निर्विकल्प) समाधि के द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर अविद्या-ग्रन्थि छेदन किया है एवं समस्त जगत् के दृश्य पदार्थ को कल्पित जानकर उसमें और लिप्त नहीं होए हैं उन्हें पंडित कहा जाता है। केवल सूक्ष्म बुद्धि जिनमें हैं उन लोगों को पंडित नहीं कहा गया है।] पंडित लोग गतासून्—गतप्राण अर्थात् मृत के लिए तथा अगतासून्—अगतप्राण या जीवित व्यक्तियों के लिए अर्थात् जीवित बन्धुओं की मृत्यु अथवा उनलोगों के वियोग की आशंका कर नानुशोचन्ति—अनुशोचना नहीं करते हैं। [क्योंकि जो लोग आत्मज्ञ पुरुष (पंडित) हैं उनके चित्त में समाधि के समय में इन विषयों का स्फुरण ही नहीं होता है। और व्युत्थान की दशा में (अर्थात् जागतिक व्यवहार के समय में) विषय सब प्रतीत होने से भी ज्ञानी पुरुष उसे मिथ्या ही सोचते हैं। रस्सी को देखने के बाद रस्सी में सर्पभ्रान्ति दूर होने से भ्रान्तिजनित कम्पादि जिस प्रकार फिर नहीं रहते हैं उस प्रकार आत्मदर्शन के बाद विषय में सत्यत्व

बुद्धि नष्ट होने के कारण मिथ्या नामरूपात्मक जागतिक वस्तुओं में किसी के लिए भी शोक नहीं रहता है फिर आत्मा नित्य है, अतः उसी दृष्टि से सभी लोग परमार्थतः नित्य एवं अशोच्य हैं इसलिये] उन लोगों के लिए शोककर तुम अपनी मूढ़ता ही (विवेकहीनता ही) प्रकाश कर रहे हो। [हे अर्जुन ! तुम शुद्धस्वभाव हो, अतः आत्मज्ञान प्राप्ति के पूर्ण अधिकारी हो। तुम्हारे लिए इसप्रकार मूढ़ की तरह अनुशोचना करना उचित नहीं है, यही भगवान् का अभिप्राय है। और यदि कहो कि वशिष्ठादि महापुरुषों ने भी बन्धुओं के विच्छेद में शोक किया था तब मैं कहूँगा कि वशिष्ठादि महापुरुषों ने प्रारब्ध-कर्म की प्रबलता के कारण वैसा किया था किन्तु उसे शिष्टाचार मानकर उसका अनुकरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो शिष्टजनों के द्वारा धर्मबुद्धि से अनुष्ठित होता है एवं जो अलौकिक व्यवहार होता है (अर्थात् जिसके द्वारा अलौकिक फल की प्राप्ति हो सकती है) उस प्रकार के आचरण को शिष्टाचार कहा जाता है। ऐसा नहीं होने से महापुरुषों के थूक फेंकना प्रभृति आचरण भी लोगों के लिए शिष्टाचार के रूप से अनुष्ठेय होते अर्थात् अनुकरण करने के योग्य होते (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—(क) अन्वशोचः—युद्ध नामक स्वधर्म में अर्जुन की प्रवृत्ति स्वतः ही उत्पन्न होने पर भी उस प्रवृत्ति के दो प्रकार के मोह (एवं तज्जनित शोक) द्वारा बाधा प्राप्त होने के कारण अर्जुन युद्ध कार्य से विरत होना चाहते थे। अतः अर्जुन के इन दो प्रकार के मोहों को दूर करना चाहिए। ये दो प्रकार के मोह इस प्रकार के हैं—(क) स्वप्रकाश तथा परमानन्दस्वरूप, एवं सभी प्रकार के संसार धर्म के साथ संसर्ग-रहित आत्मा का स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं उनके कारण अविद्या, ये तीन प्रकार की उपाधियाँ आत्मा में उतने समय तक भ्रान्तिवश आरोपित होती रहती हैं, जितने समय तक आत्मा से इन्हें पृथक् करके दिखाया न जाय। नित्य तथा चेतनस्वरूप आत्मा के साथ उक्त उपाधि के तादात्म्यबोध (एकत्व-ज्ञान) रहने के कारण इस मिथ्याभूत संसार के विषय में भी सत्यत्व बुद्धि रहती है। जन्म मृत्युरूप मिथ्या संसार देहादि जड़ पदार्थ का ही धर्म है। तथापि अनादि अज्ञानवश इन तीनों उपाधियों का भेदज्ञान न रहने के कारण संसार सत्य है एवं आत्मा का ही धर्म है ऐसा बोध होता है। इसलिए "आत्मा जन्म ले रहा है, आत्मा मर रहा है"—ऐसा प्रतीत होता है। उक्त उपाधियों से आत्मा वस्तुत भिन्न होने पर भी अविवेकवश देहादि का धर्म आत्मा में आरोपित होता है एवं आत्मा का धर्म (चैतन्य, सत्यत्व प्रभृति)

देहादि में आरोपित होता है। यही भ्रम या मोह है एवं यह मोह सभी जीवों में ही समानरूप से विद्यमान रहता है इसलिए इसे साधारण मोह कहा जाता है। (ख) और युद्ध में हिंसादि का बाहुल्य रहने के कारण युद्धादि स्वधर्म में (क्षत्रिय धर्म में) जो अर्जुन का अधर्मत्व प्रतीत हो रहा है वह अर्जुन के व्यक्तिगत करुणादि दोष के लिए हुआ है। अतः वह असाधारण मोह है। त्रिविध उपाधि से आत्मस्वरूप का विवेक (पृथक्) कर शुद्धात्मा के स्वरूप ज्ञान होने से प्रथम भ्रम (मोह) अर्थात् सर्वसाधारण मोह निवृत्त होता है। और यदि हिंसा आदि युक्त होने से भी युद्धादिकर्म क्षत्रिय के लिए शास्त्रविहित स्वधर्म है इसलिए उससे क्षत्रिय का अधर्म नहीं हो सकता है, इस प्रकार का जो असाधारण ज्ञान है वह दूसरे प्रकार के मोह का (असाधारण मोह का) निवर्तक होता है। शोक का कारण है अज्ञान। वह अज्ञान नष्ट होने से शोक और नहीं रह सकता है। अतः उस अज्ञान की निवृत्ति के बिना शोक निवारण का कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस कारण से क्रमशः दो प्रकार के भ्रम का उल्लेख कर श्रीभगवान् बोले "अशोच्यानित्यादि"। [श्लोक में 'अशोच्यान् अन्वशोचः' पद पशु आदि सभी का जो शोक दिखाई पड़ता है उस सर्वसाधारण—शोक या मोह को लक्ष्य कर कहा गया है क्योंकि देह तथा आत्मा के अविवेकवश देह की मृत्यु में आत्मा की मृत्यु होती है, ऐसा सोचकर सभी प्राणी ही शोक करते हैं। और 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' यह वाक्य अर्जुन के असाधारण मोह को व्यक्तिगत करुणादि दोष से उत्पन्न मोह को लक्ष्य कर कहा गया है]।

(ख) अन्वशोचः—अनुशोचना की। अर्जुन की (क) अनुशोचना तथा (ख) प्रचंड व्यक्ति के भाषण की तरह भाषण दोनों ही श्रीकृष्ण के उत्तर के पूर्वकालवर्ती है किन्तु अनुशोचना भाषण की भी पूर्वकालवर्तिनी है। इसलिए [अर्जुन की अनुशोचना तथा श्रीकृष्ण के उत्तर 'भाषण के' द्वारा व्यवहित होने के कारण] 'अन्वशोचः' इस पद में अतीतकाल की विभक्ति का प्रयोग हुआ है। और भाषण श्रीकृष्ण के उत्तर के अव्यवहित पूर्वकालवर्ती होने के कारण "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा" (अर्थात् वर्तमान के समीप कोई घटना होने से भी वर्तमानकाल बोधक विभक्ति का ही प्रयोग होता है) इस नियम के अनुसार 'भाषसे' इस पद में वर्तमानकालबोधक विभक्ति व्यवहृत की गयी है। अथवा अन्वशोचः यह पद छन्द के अनुरोध में व्यवहृत किया गया है ऐसा मानकर तिङन्त विभक्ति का परिवर्तन कर 'अनुशोचसि' इस प्रकार पाठ कर वर्तमान के रूप में व्याख्या करनी होगी।

(२) श्रीधर—[देहादि से आत्मा के अविवेक के कारण ही (पार्थक्य ज्ञान नहीं रहने से ही) जीव को शोक होता है। अतः देहादि से जो आत्मा पृथक् है अर्जुन के इस विवेक को उत्पन्न करने के लिए अशोच्यान् इत्यादि के द्वारा भगवान् अब उपदेश दे रहे हैं]। त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः—शोक के अविषयीभूत जो बन्धुवर्ग हैं उनके लिए 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' इत्यादि (गीता १।१८) कह कर तुम शोक कर रहे हो। प्रज्ञावादान् च भाषसे—'कुतस्त्वा कश्मलमिदं' (गीता २।२) इत्यादि वाक्य के द्वारा मैं तुम्हें प्रबोधित करने की चेष्टा कर रहा हूँ परन्तु प्राज्ञ व्यक्ति की (पंडित की) तरह तुम 'कथं भीष्ममहं संख्ये, (गीता २।४) इत्यादि वाद अर्थात् शब्दों को कह रहे हो। तुम उस प्रकार कहकर तुम कितने पंडित हो यह भाव केवल दिखा रहे हो परन्तु तुम यथार्थ रूप से पंडित नहीं हो क्योंकि पंडिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति—प्रकृत पंडित अर्थात् विवेकी पुरुष गतासु अर्थात् मृत बन्धुओं के लिए अथवा अगतासु अर्थात् बन्धु लोगों के जीवित रहते हुए बन्धुहीन होकर किस प्रकार जीवन धारण करूँगा ऐसा सोचकर शोक नहीं करते हैं। [यहाँ पंडित—विवेकी पुरुष (श्रीधर), तत्त्वज्ञानी (शंकर)]।

(३) शंकरानन्द—अशोच्यान् अन्वशोचः—जो भीष्म, द्रोणप्रभृति शोचनीय नहीं हैं अर्थात् जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए उनलोगों को उद्देश्य कर तुम शोक कर रहे हो। यदि प्रश्न करो कि आत्मीय-स्वजन की मृत्यु में तो सभी को ही शोक होता है, अतः तुम किस प्रकार से कह सकते हो कि इनके लिए क्यों शोक कर रहे हो अथवा इन लोगों के मरने के लिए तैयार होने से भी ये लोग शोक के अयोग्य हैं। इसके उत्तर में मैं जिज्ञासा करता हूँ कि भीष्म द्रोणादि शब्द के वाच्यार्थ को उद्देश्य कर शोक कर रहे हो, या लक्ष्यार्थ को उद्देश्य कर ? यदि वाच्यार्थ को (अर्थात् उनके शरीरादि को) उद्देश्य कर शोक करो तब क्या उनके असत् आचरण देखकर शोक कर रहे हो, या शरीरादि का नाश होगा, ऐसा सोचकर शोक कर रहे हो ? वे लोग असदाचारी नहीं है क्योंकि तुमने "गुरूनहत्वा हि महानुभावान्" इत्यादि वाक्यों के द्वारा अपने मुँह से ही उनका महत्त्व प्रतिपादन किया है। और द्वितीय पक्ष तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि शरीरादि का नाश तो अवश्यम्भावी है एवं यह सभी को ही प्रत्यक्ष-सिद्ध है। श्रुति-स्मृति में भी शत-शत वाक्य के द्वारा शरीरादि को नाशवान् कहा गया है यथा "मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना" [मघवन् !

(हे इन्द्र !) यह शरीर मृत्यु के द्वारा ग्रस्त होने के कारण मरणशील है]। इसप्रकार से शरीर मृत्युग्रस्त (शरीर की मृत्यु निश्चित) है वह श्रुति प्रतिपादन कर रही है। फिर देह जो विनाशशील है उसका भी श्रुति इस प्रकार कहकर प्रतिपादन कर रही है 'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः' इत्यादि अर्थात् देहधारी मात्र का ही देह क्षणभंगुर (विनाशशील) है तथापि मनुष्य देह प्राप्त करना दुर्लभ है (अर्थात् वहुजन्म की सुकृति के फल रूप में ही मनुष्यदेह प्राप्त होना सम्भव है)। अतः जब प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से यह निश्चित हुआ है कि देहादि मरणशील हैं तब देहादि के नाश के लिए भी तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है। भीष्म-द्रोणादि शब्द के लक्ष्यार्थ को उद्देश्य करके भी शोक करना उचित नहीं है क्योंकि आत्मा जन्म-रहित हैं, अतः अमर हैं एवं मरणरहित होने के कारण आत्मा नित्य है। 'अजो नित्यः शाश्वतः', 'नित्यः नित्यानाम्' इत्यादि श्रुतिवचनों के द्वारा (सबके 'अह' का) लक्ष्यार्थ जो आत्मा है उसका नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। नित्य आत्मा सदाप्राप्त हैं, अतः उनके लिए शोक करना सम्भव नहीं है। नित्यवस्तु के लिए कोई बुद्धिमान् व्यक्ति शोक नहीं करता है। और अनित्य वस्तु के लिए भी शोक नहीं करता है। इस प्रकार से भीष्मादि का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों ही जब अशोच्य सिद्ध होते हैं तब वे लोग शोक के योग्य न होने पर भी वे लोग शोच्य (शोक के योग्य) हैं, इसप्रकार की बुद्धि से उन लोगों के लिए मूढ़ की तरह तुम शोक कर रहे हो।

केवल यही नहीं, फिर प्रज्ञावादान् च भाषसे—असत् (अनात्म) वस्तु से सत् (आत्मस्वरूप को) विवेक (पृथक्) कर जो लोग प्रकृष्ट रूप से (आत्मस्वरूप को) जानते हैं उन्हें प्रज्ञ, अर्थात् पंडित कहा जाता है। उनकी जो वाणी शास्त्र में व्याप्त है उसे 'प्रज्ञावाद' कहा जाता है। 'कुलक्षय होने से कुल का धर्म नष्ट हो जाता है', (गीता १।४०) 'जिनके कुल का धर्म नष्ट हो गया है उन्हें नियत नरक में वास करना पड़ता है' (गीता १।४४), 'मैं भीष्म को युद्ध में किस प्रकार मारूँगा ?' (गीता २।४) इत्यादि प्रौढ़ वचनों (वृद्ध तथा अनुभवी पण्डित व्यक्ति का वचन सदृश वचनों) को तुम कह रहे हो अर्थात उन वचनों का तात्पर्य न जानकर केवल वचनों को ही कह रहे हो। एक ओर मूर्ख के सदृश अशोच्य के लिए तुम शोक कर रहे हो फिर अन्य ओर शास्त्रार्थ प्रकट कर पांडित्य प्रकाश कर रहे हो—ये दोनों अंधकार तथा प्रकाश की तरह परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक व्यक्ति में

रहना असम्भव है, अतः तुम जब शोकार्त हो तब तुम्हें मूढ़ ही कहूँगा। यदि प्रश्न करो कि ऐसे समय में पण्डित लोग कैसा व्यवहार करते हैं ? तब इसके उत्तर में कहूँगा कि **पण्डिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति**— (क) जो लोग मूढ़ हैं वे लोग पुत्र आदि के लिए 'मेरा यह पुत्र मर गया है' ऐसा शोक करते हैं और जीवित पुत्रादि के लिए शोक नहीं करते हैं और (ख) जो लोग केवल शास्त्रज्ञ हैं वे लोग 'मेरे सभी पुत्र मूढ़, दुर्भागी, दुराचारी हैं', ऐसा सोचकर जीवित पुत्रों के लिए शोक करते हैं मृत पुत्रों के लिए नहीं करते हैं किन्तु (ग) पण्डित लोग (तत्त्वदर्शी) जीवित या मृत किसी के लिए भी शोक नहीं करते हैं क्योंकि वे लोग जानते हैं कि जीवन तथा मृत्यु दोनों ही अविद्या के कार्य हैं, अतः स्वप्न के पदार्थ की तरह मिथ्या हैं। उनकी दृष्टि में सर्वावस्था में जन्म-मृत्यु का अधिष्ठान सत्ता ब्रह्म का ही दर्शन होता है क्योंकि उन्हें ही पण्डित कहा जाता है जो सदा मिथ्या वस्तु को त्याग कर एकमात्र सद्वस्तु ब्रह्म को ही ग्रहण करते हैं। सदा सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करना ही पांडित्य है। इसलिए श्रुति कहती है 'ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य' ब्राह्मण पांडित्य को निश्चय कर उक्त लक्षण (अर्थात् पण्डित का लक्षण) तुम्हें अभीतक नहीं प्राप्त है, अतः तुम मूढ़ ही हो—पंडित नहीं हो, यही कहने का अभिप्राय है।

(४) **नारायणी टीका—अशोच्यान् इत्यादि—**यदि अज्ञान की दृष्टि से देहेन्द्रिय को ही आत्मा मानो तब भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि युद्ध में मर कर ये लोग पुण्यलोक को प्राप्त करेंगे। और यदि ज्ञान-दृष्टि से देहादि से विलक्षण शुद्ध चैतन्य को आत्मा मानो तब भी शोक करना उचित नहीं क्योंकि आत्मा "नित्य (अविनाशी) सर्वगतः (आकाशवत् सर्व-व्यापी) स्थाणुः (स्थिर) अचलः (किसी से भी विचलित नहीं होती है) सनातन (चिरन्तन) है"। **प्रज्ञावादान् च भाषसे**—(क) **प्रज्ञानां वादान्**—प्रथम अध्याय के ३६ श्लोक से ४५ श्लोक तक अपने को प्रज्ञावान् अर्थात् बुद्धिमान् एवं धर्मशास्त्रज्ञ मानकर जो सब बातें अर्जुन ने की [यथा 'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः' इत्यादि] वे युक्तिसंगत प्रतीत होने पर भी अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति की उक्ति के सदृश होने पर भी जबतक अज्ञानवश जीव तथा जगत् में सत्यत्व बुद्धि रहती है तबतक ही वैसा कहना शोभा पाता है—किन्तु जिन लोगों ने देहादि से विलक्षण नित्य सत्य आत्मतत्त्व को जाना है एवं जीव तथा जगत् को काल्पनिक तथा मिथ्या जाना है अर्थात् जो लोग यथार्थ प्रज्ञावान् हुए हैं वे लोग कभी भी इस

प्रकार की बात नहीं कहेंगे, यही तात्पर्य है। अथवा (ख) तुम्हारी अपनी ही देह त्याग करने से भी आत्मा रह जाती है यह स्वीकार करके कह रहे हो—'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः' 'नरके नियतं वासः' (गीता १।४१,४३) अथच द्रोण, भीष्मादि के देहनाश की आशंका कर शोक कर रहे हो। देह का नाश होने से ही यदि आत्मा का भी नाश होता तब नरक भोग और किसे करना पड़ेगा ? अतः तुम्हारी इन सब बातों से यही मालूम होता है कि तुम केवल पंडित के ही वाक्यों को याद कर कह रहे हो किन्तु आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी भी जानने में असमर्थ हो। इसलिए ही तुम मूर्ख की तरह मोहप्राप्त एवं शोक से सन्तप्त हुए हो अथवा (ग) प्रज्ञानाम् अवादान्=प्रज्ञावादान्। इसप्रकार से समास करने से प्रज्ञा शब्द का अर्थ प्रकृत (यथार्थ) ज्ञान है। देह से पृथक् नित्य आत्मा के स्वरूप का ज्ञान जिनको है वे लोग कभी भी वैसी बात कहकर ऐसी अनुशोचना नहीं करेंगे जैसे तुम (अर्जुन) कर रहे हो—शोक करना तो दूर की बात है। अतः जो लोग पंडित हैं अर्थात् जिन लोगों ने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया है एवं जिन लोगों का आत्मातिरिक्त सभी वस्तुओं में मिथ्यात्व बुद्धि का दृढ़ निश्चय हुआ है वे लोग जानते हैं कि प्राण का जन्म, प्राण का लय (मृत्यु) एवं प्राण की स्थिति सब ही मायिक है अर्थात् जन्ममृत्यु तथा स्थिति आत्मा का अधिष्ठान कर चलचित्र के समान आते हैं तथा जाते हैं। आत्मा अविकारी जन्मविनाशरहित है अतः जो लोग जीवित हैं उन लोगों की मृत्यु होगी ऐसी आशंका कर अथवा जो लोग मृत हुए हैं उनके लिए वह पंडित व्यक्ति अर्थात् तत्त्वदर्शी पुरुष कभी भी शोक नहीं करता है।

[क्यों अनुशोच्य नहीं है ? क्योंकि वह नित्य है। किस प्रकार वे लोग नित्य है। इसके उत्तर में अब श्रीभगवान् कह रहे हैं।

श्रीभगवान् अब १९ श्लोकों में (१२–३० श्लोकों में) 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' क्यों कहे यह विस्तारित करेंगे एवं ८ श्लोकों में (३१–३८ श्लोकों में) 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' क्यों कहे ? यह विवृत करेंगे।]

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अन्वय—जातु अहम् नासम् इति तु न एव (किन्तु आसमेव) न त्वम् न इमे जनाधिपाः इति न। अतः परं सर्वे वयम् न च एव भविष्यामः इति न (किन्तु भविष्याम एव।)

अनुवाद—मैं कभी भी नहीं था यह नहीं और तुम नहीं थे यह बात नहीं, ये राजन्यवर्ग (राजा लोग) भी नहीं थे ऐसी बात नहीं। इसके बाद हम लोग कोई भी नहीं रहेंगे, ऐसी बात भी नहीं है (अर्थात् इस वर्तमान देह के नाश के बाद भी हम लोग रहेंगे ही क्योंकि सभी की आत्मा नित्य है)।

दीपिका—जातु—किसी भी समय में अहं नासम्—मैं (वासुदेवाख्य परमेश्वर) नहीं था न तु एव-वह नहीं किन्तु सर्वदा ही मैं विद्यमान था। जैसे घट (घडा) टूट जाने से भी घटस्थित आकाश विद्यमान रहता है उस देह की उत्पत्ति तथा विनाश होने से भी उन सब समयों में मैं अर्थात् मैं शब्द का चैतन्यस्वरूप आत्मा जो विद्यमान था यह निश्चित है। 'यह निश्चित है' इस भाव को प्रकाश करने के लिए 'एव' शब्द का श्लोक में व्यवहार किया गया है। और 'तु' शब्द के द्वारा देहादि से आत्मा का व्यतिरेक (विलक्षणता) अर्थात् देहादि जो आत्मा नहीं है (आत्मा देहादि से पृथक्) यह सूचित हो रहा है। जन्म-मृत्यु आत्मा में जो प्रतीत होती है वह औपाधिक है। कारण निरुपाधिक आत्मा का जन्म नहीं है। अतः मरण भी नहीं है अर्थात् किसी भी अवस्था में आत्मा का अभाव नहीं हो सकता। [जन्म तथा मृत्यु देहादि का ही होता है]। अब प्रश्न होगा अच्छा, तुम ईश्वर हो, तुम्हारा जन्म नहीं भी हो सकता है किन्तु मेरा तो जन्म-मरण है। इसके उत्तर में कह रहे हैं न त्वं—तुम भी नहीं थे यह बात नहीं, किन्तु विद्यमान थे, न इमे जनाधिपाः—उस प्रकार यह सब जनाधिप भी (राजा लोग भी) पहले विद्यमान नहीं थे यह बात नहीं किन्तु पहले विद्यमान अवश्य ही थे। देह का नानात्व स्वीकार कर जनाधिपाः इस प्रकार बहुवचन प्रयोग किया गया है। आत्मा का नानात्व कहने के अभिप्राय से नहीं। अतः परं सर्वे वयं न चैव भविष्यामः (इति न)—उस प्रकार इस देह के विनाश के बाद हम लोग कोई नहीं रहेंगे अर्थात् हमारा कोई अस्तित्व नहीं रहेगा, ऐसी बात भी नहीं। हमलोग सभी विद्यमान रहेंगे क्योंकि भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में आत्मा के स्वरूप में हम लोग सभी ही नित्य (अविनाशी) हैं। [जन्म तथा नाश (मृत्यु) औपाधिक है अर्थात् देहरूप उपाधि सर्वदा ही] विकारशील होने के कारण जन्म तथा विनाश का विषय हो सकता है किन्तु सर्व उपाधि का अधिष्ठान सत्ता आत्मा स्वयं जन्मरहित एवं अविकारी है, अतः उसकी मृत्यु असम्भव है। न्याय की भाषा में आत्मा प्रागभाव का प्रतियोगी नहीं है (क्योंकि आत्मा का जन्म नहीं है), प्रध्वंसाभाव का भी प्रतियोगी नहीं है क्योंकि आत्मा का नाश नहीं है,

अतः तीनों काल में सत्तासम्बन्धी होने के कारण अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों कालों में ही आत्मा की सत्ता विद्यमान रहती है इसलिए आत्मा नित्य है एवं इस कारण से ही अनित्य देह (जो तीनों काल में विद्यमान नहीं रहता है उस से) आत्मा का वैलक्षण्य (पार्थक्य) सिद्ध होता है (अर्थात् देह आत्मा नहीं है, किन्तु आत्मा देह से पृथक् तथा नित्य है यही सिद्ध होता है)। अतः नित्य आत्मा के लिए शोक करने का कोई कारण नहीं रह सकता है, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अशोच्यत्व का हेतु कह रहे हैं] अहं जातु न आसम् (इति) तु न—मैं परमेश्वर हूँ। मेरे भी लीला-विग्रह का आविर्भाव तथा तिरोभाव के कारण मैं पहले कभी भी नहीं था, ऐसी बात नहीं। वरन् मैं निश्चितरूप से था क्योंकि मैं अनादि हूँ। न त्वं न—(आसीः) उस प्रकार तुम भी नहीं था यह बात नहीं। तुम भी अवश्य ही था, इमे जनाधिपाः न आसन् इति न—ये सब राजा नहीं थे ऐसी बात भी नहीं है, वे लोग भी अवश्य ही थे क्योंकि तुम, ये राजा एवं अन्य सभी मेरा ही अंश हो। अतः परम्—इसके बाद भी अर्थात् भविष्यत् में देहनाश के पश्चात् वयं न भविष्यामः (इति) न च एव—हमलोग कोई भी नहीं रहेंगे यह भी नहीं। हम लोग भी अवश्य ही रहेंगे। अतः जन्म मरण से रहित होने के कारण हमलोग सभी ही नित्य हैं, अतः अशोच्य हैं (शोक के योग्य नहीं है अर्थात् हमलोगों को किसी के लिए भी शोक करना उचित नहीं है)।

(२) शंकरानन्द—जो लोग अशोच्य हैं उनके लिए शोक कर रहे हो इसलिए भीष्मादि के अशोच्यत्व प्रतिपादन करने के कारण भीष्मादि-पद के लक्ष्यार्थ आत्मा जो देहेन्द्रियादि से भिन्न है एवं नित्य है यह सूचित किया किन्तु अर्जुन वह अर्थ समझ नहीं सके, यह देखकर श्रीभगवान् लक्ष्यार्थ आत्मा अज (अजन्मा) होने के कारण नित्य है अर्थात् आत्मा का अजत्व ही नित्यत्व का हेतु है ऐसा कह सकते थे किन्तु तब (अर्जुन भी प्रश्न कर सकते कि) असत् खरगोश का शृंग (सिंग) भी अज होने के कारण (कभी उत्पन्न नहीं होने के कारण) नित्य होगा। इसलिए कहना पड़ेगा कि 'भावत्वे सति अजत्वं नित्यत्वप्रयोजकम्' अर्थात् जिसकी सत्ता विद्यमान है वह यदि अज (जन्मरहित) हो तब उससे नित्यत्व शब्द प्रयुक्त हो सकता है अर्थात् उसे नित्य कहा जा सकता है। जिसका भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में (त्रिकाल में) सत्ता का व्यभिचार नहीं होता है उसे भाव तथा नित्य कहा

जाता है और जिसकी सत्ता का व्यभिचार होता है वह (अर्थात् किसी समय में रहता है फिर किसी समय में नहीं भी रहता है) भाव पदार्थ नहीं है, अतः वह अनित्य है। इसलिए आत्मा की तीनों कालों में सत्ता है यह प्रतिपादन कर देहेन्द्रियादि से आत्मा का भिन्नत्व सूचित करने के लिए पुनः तत् तथा त्वं पदार्थ का शोधन एवं शोधित तत् तथा त्वं पदार्थ का एकत्व प्रतिपादन कर रहे हैं ताकि त्वं पदार्थ निःशेष रूप से संसार दुःख की निवृत्ति के द्वारा नित्य, निरतिशय अखंडाद्वय प्राप्त हो सके एवं तत् पदार्थ का भी परोक्षत्व तथा परिच्छिन्नतारूप अनर्थ निवृत्ति के द्वारा अद्वितीयत्व एवं अखंडैकत्व सत्त्व सिद्ध हो सके। अहं—तत् पदार्थपरमात्मा (सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वतन्त्रस्वतंत्र परमेश्वर) जातु—कभी भी न आसम्—नहीं थे इति न—ऐसी बात नहीं किन्तु सर्वदा ही थे क्योंकि मैं यदि न रहता तब जगत्सृष्ट्यादि व्यापार सम्भव नहीं होता। 'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'यतो जातानि भुवनानि विश्वा', 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति', 'स इमाँल्लोकानसृजत' इत्यादि श्रुति मुझसे ही जो जगत् की उत्पत्ति हुई है, यह प्रतिपादित कर रही है। फिर मेरे द्वारा ही जो जगत् की स्थिति होती है यह भी श्रुति प्रतिपादन कर रही है यथा—'येन जातानि जीवन्ति', 'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः', 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्', 'भीषास्माद् वातः पवते', 'इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ', 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' इत्यादि। फिर मुझसे ही जो जगत् का लय होता है यह भी श्रुति प्रतिपादन कर रही है। यथा—'यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति', 'तथाक्षरा द्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति,' 'यस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः' इत्यादि। चूँकि जगत् की सृष्टि-आदि क्रिया एकमात्र मुझसे ही होती है इसलिए जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय होने पर भी उनके अधिष्ठाता के रूप में मैं सदा ही वर्तमान हूँ। अतः उन श्रुतियों के बल से तीनों काल में मेरा सद्भाव (अस्तित्व) अचल रहता है यह निश्चय करना होगा। इसके द्वारा सूचित होता है कि जैसे बादल, बादल का आगमन, बादल की स्थिति तथा लय प्रभृति के विषय में आकाश सदा ही आधाररूप में एक ही प्रकार से स्थित रहता है उसी प्रकार प्रपंच, प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के अधिष्ठान के रूप में अवस्थित तत् पदार्थ अपने स्वरूप में सदा ही निष्कल, निष्क्रिय रहता है, एवं प्रपंच तथा प्रपंच के धर्म कर्म के साथ उनका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वह प्रपंच से भिन्न तथा नित्य है। अब प्रश्न होगा—तुम स्वतंत्र परमेश्वर हो अतः तीनों काल में तुम्हारी सत्ता रह सकती है किन्तु मैं तो मरणशील हूँ, अतः

मेरे नित्यत्व की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? ऐसी शंका यदि अर्जुन करें तो उसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं–न (जातु) त्वम् आस इति न— तुम अर्थात् त्वं पद का लक्ष्यार्थ तुम कभी भी नहीं थे, ऐसी बात नहीं है किन्तु तुम थे ही । अतीत तथा अनागत देह की उत्पत्ति के पहले भी तुम वर्तमान थे एवं रहोगे भी जैसे वर्तमान देह में जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में तुम सदा ही वर्तमान हो अर्थात् जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्थित होकर भी तुम्हारा स्वप्न के साथ सम्बन्ध रहता है एवं स्वप्न में स्थित रह कर भी सुषुप्ति के साथ सम्बन्ध रहता है फिर सुषुप्ति में रह कर भी तुम्हारा सम्बन्ध जाग्रत के साथ रहता है उसी प्रकार गतदेह में जो तुम (आत्मरूप में) स्थित थे वही तुम्हारा इस देह के साथ सम्बन्ध रह गया एवं इस देह में जो तुम स्थित हो वह तुम्हारा सम्बन्ध तुम्हारी भविष्यत् में होने वाली देह से भी रहेगा, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा । ऐसा नहीं होने से सुख दुःख आदि की विचित्रता सम्भव नहीं होती क्योंकि कर्म की विचित्रता के कारण ही तुम्हारी (जीव की) सुखदुःखादि में विचित्रता दीखती है । अतः इस प्रकार कर्मानुष्ठानकारी तुम्हारे गतदेह के साथ सद्भाव (संबंध) मानना ही पड़ेगा क्योंकि ऐसा नहीं मानने से कृतहान (अनुष्ठित कर्म के फल भोग का अभाव) एवं अकृताभ्यागम का (नहीं किये गये कर्म के फलभोग का) प्रसंग हो जायगा । इसके अतिरिक्त 'यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते' (जो कर्म किया जाता है उसका फल मिलता है), 'जन्मान्तरकृतं कर्म भुञ्जते जन्तवोऽधुना' (जन्मान्तर में कृत कर्म के फल का जीव इसी जन्म में भोग करता है) इत्यादि श्रुति स्मृति में कही गयी बातों के साथ विरोध होगा। पूर्व जन्म में जो किया गया है उसका फल-भोग इसी जन्म में एवं इस जन्म में किये गये फल का भोग भविष्यत् जन्म में करना पड़ता है ।

श्रुति में भी इसी प्रकार कहा गया है—'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात् पुनरेत्य तस्मै लोकाय कर्मणे ॥' (जो कुछ कर्म किया गया है उन कर्मों का फल भोग कर उस लोक से इस लोक में फिर कर्म करने के लिए आते हैं । चूँकि इस प्रकार होने से जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में जैसे तुम्हारा सद्भाव (अस्तित्व) रहता है उस प्रकार वर्तमान देह की तरह गतदेह में तुम्हारा सद्भाव था एवं होने वाली देह में भी सद्भाव रहेगा अर्थात् तीनोंकाल में तुम्हारा सद्भाव है । इसके द्वारा सूचित होता है कि त्वं पदार्थ आत्मा देहेन्द्रियादि से भिन्न तथा नित्य है । इमे जनाधिपाः च न आसन् इति न—यह सब राजा नहीं थे ऐसी बात नहीं किन्तु तीनों काल में

ये लोग भी हैं क्योंकि त्वंपदार्थत्व इन में भी समानरूप से है अर्थात् ये लोग भी त्वंपदार्थ ही हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि—जैसे मैं नित्यसिद्ध सत्-स्वभाव हूँ उस प्रकार ये लोग भी नित्य सत्स्वरूप ही हैं। [सत् स्वभाव शब्द का अर्थ है सदा ही अविकारी रूप से विद्यमान रहना]। 'जनाधिपाः' (राजा लोग) यह शब्द अविद्या वृत्तिजनित भेदभाव (देहादिका भेदभाव) अवलम्बन कर बहुवचन में कहा गया है। आत्मा का भेद कहने के उद्देश्य से बहुवचन का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि आत्मा में भेद नहीं हो सकता है ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। शंका—आत्मा के भिन्नत्व में कोई प्रमाण नहीं है ऐसा कहना अत्यन्त साहस (दुराग्रह) की बात मालूम होती है। विचार करने से आत्मा का एकत्व अर्थात् सभी की, आत्मा जो, एक है यह असम्भव प्रतीत होता है क्योंकि आत्मा का एकत्व प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यथा—जहाँ-जहाँ अहं प्रत्यय का ('मैं' इस ज्ञान का) भेद होता है वहाँ-वहाँ आत्मा का भी भेद प्रत्यक्ष होता है, एवं प्रत्येक देह में 'मैं' इस प्रत्यय का भेद प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है। यदि आत्मा का एकत्व सिद्ध हो तब 'तुम' 'मैं' 'यह' इन शब्दों के व्यवहारों का लोप हो जायगा। अतः आत्मा का भेद प्रत्यक्ष—प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। आत्मा के भेद का अभाव होने से व्यवहार की सिद्धि दूसरे प्रकार से सम्भव नहीं होती है—यह अर्थापत्ति—प्रमाण है। 'आत्मा' प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है क्योंकि व्यक्ति सब भिन्न हैं, गौ आदि की तरह प्रत्येक व्यक्ति में अहंप्रत्यय का ('मैं' इस प्रत्यय का) भेद दिखाई पड़ता है एवं इस कारण प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्यय में (चित्तवृत्ति में) भी भेद होता है। इसलिए जैसे घर आदि परस्पर भिन्न है उस प्रकार आत्मा परस्पर भिन्न है। यही आत्मा के भिन्नत्व के लिए अनुमान—प्रमाण है। 'अदितिर्देवा गन्धर्वा मनुष्याः पितरो सुराः' इस प्रकार देवादि का भेद-प्रतिपादक श्रुति—भी आत्मा के भिन्नत्व में प्रमाण है। 'देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसकिन्नराः' इत्यादि पुराण वचन भी इस विषय में प्रमाणस्वरूप है। और यदि आत्मा के एकत्व को ही स्वीकार किया जाय तब तुम्हारे सुखदुःखादि की व्यवस्था भी सिद्ध नहीं हो सकेगी क्योंकि कोई एक व्यक्ति दुःखी एवं सुखी होने से सभी ही दुःखी एवं सुखी होंगे। तथा यदि देव, मनुष्य आदि सभी की देह में ही आत्मा एक होती है, तब तो सभी सर्वज्ञ हो जायेंगे एवं ऐसा होने से शास्त्र के विधिनिषेध निरर्थक हो जायेंगे। फिर एक जन बद्ध होने से ही सभी बद्ध एवं मुक्त होने से सभी ही मुक्त हो जायेंगे। अतः आत्मा का अनेकत्व (भिन्नत्व) जो सर्वप्रकार से सिद्ध है यह तुम्हें भी स्वीकार करना पड़ेगा,

ऐसा यदि कहूँ ? **समाधान**—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि व्याप्ति का व्यभिचार होने से प्रत्यक्षप्रमाण की सिद्धि नहीं होती है। जहाँ-जहाँ अहं-प्रत्यय का भेद होता है वहाँ वहाँ आत्मा का भेद होगा, इस व्याप्ति का व्यभिचार दिखता है। मैं शिशु, मैं कुमार, मैं वृद्ध हूँ इस प्रकार बाल्य आदि की अवस्था के भेद के कारण अहंप्रत्यय का भेद होता है क्योंकि उन अवस्थाओं का भेद प्रत्यक्ष दिखता है। कुमार अवस्था में मैं शिशु हूँ, ऐसा प्रत्यय नहीं होता है क्योंकि इस प्रत्यय का उत्पादक जो शैशव (शिशु की अवस्था) है वह कुमार को अवस्था में नहीं रहती है। इस प्रकार युवत्व एवं वार्धक्य में भी अहंप्रत्यय का भेद होता है। तब भी शैशवादि अवस्था जिनको है, उनके अहं प्रत्यय का अर्थ (विषय) जो आत्मा है उस आत्मा का भेद नहीं दिखता है। अतः आत्मा के भेद को सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती है। और यदि कहो कि 'विशेषण का भेद होने से विशिष्ट का भी भेद होता है' अर्थात् अवस्था के भेद से अवस्थावान् का भो भेद होता है, तब तो कहना पड़ेगा कि वैसा भेद शिशु आदि को अवस्था में अभिमान करता है जो अहंकार उसी में हो चरितार्थ होता है अर्थात् वैसा भेद अहंकार में ही दिखता है किन्तु नित्य आत्मा में वह आत्मा का भेद कभी नहीं होता है। यदि शैशव आदि अवस्था में आत्मा का भेद होता तब बाल्य काल से शुरु कर देह, इन्द्रियादि के द्वारा जितना कार्य किया गया है, परवर्ती अवस्था में उसे स्मरण (याद) करना असम्भव होता। किन्तु मैं बाल्यावस्था में गेंद लेकर खेला हूँ, इत्यादि की तो यौवन या वार्धक्य में भी याद आती है। परन्तु आत्मा यदि शैशव आदि की अवस्था में भिन्न होती तब ऐसा याद करना असम्भव होता क्योंकि एक व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्म दूसरों को कभी भी याद नहीं होता है। अतः चूँकि बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक किये गये सभी कार्यों का स्मरण होता है उस कारण अहं प्रत्यय के भेद से अहं प्रत्यय का विषय जो आत्मा है उसका भी भेद होता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता है। फिर तुमने जो अनुमान किया कि व्यक्ति के भेद के अनुसार आत्मा का भी भेद होता है, यह अनुमानप्रमाण भी सिद्ध नहीं होता है क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म कारण देह के एवं जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति देह के भेद होने से भी अहं प्रत्यय का अर्थ (लक्ष्य वस्तु) आत्मा का भेद नहीं होता है। और तुम जो श्रुति तथा पुराण का प्रमाण दिये वह भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति 'अदिति, देव, गन्धर्व,' इत्यादि कहकर आत्मा की उपाधि का भेदमात्र अनुवाद कर रही है आत्मा का भेद नहीं है क्योंकि चैतन्य सर्वत्र एक प्रकार होने के कारण आत्मा का भेद

उपपन्न (सिद्ध) नहीं होता है । अतः स्वप्न देह जैसे आत्मा के भोग का स्थान है उस प्रकार देव, गन्धर्व मनुष्यादि सब ही आत्मा के भोग का स्थान है। उसके द्वारा आत्मा का भेद सूचित नहीं होता है। जैसे स्थूल, सूक्ष्म कारणादि देह के द्वारा भिन्न-भिन्न भोग होता है उस प्रकार देव आदि देह के द्वारा उस आत्मा का ही भिन्न-भिन्न भोग होता है। इस कारण से देव आदि देह भी आत्मा का भोग का ही साधन है; क्योंकि वह देव आदि देह का रूप, तेज, स्वभाव आदि का ही भेद दिखता है—चेतन (चैतन्य सत्ता का) भेद नहीं दिखता है। अतः जो आत्मा को विषय कर 'मैं हूँ' ऐसा अहं प्रत्यय होता है वह सदा एक ही प्रकार का रहता है। इस कारण से यही सिद्ध होता है कि श्रुति व्यक्ति का भेद प्रतिपादन करती है किन्तु आत्मा का भेद प्रतिपादन कभी नहीं करती। पुराण के वचन का तात्पर्य भी उसी प्रकार समझना होगा। जैसे एक ही देह के अवयव का भेद अवलम्बन कर सिर, हाथ, पैर इत्यादि का व्यवहार होता है उस प्रकार आत्मा सर्वत्र एक होने से भी व्यक्ति का भेद ग्रहण कर 'तुम, मैं, यह' इत्यादि व्यवहार-सिद्ध होता है। उक्त व्यवहार आत्मा के भेद की अपेक्षा नहीं करता है। अतः 'अन्यथा अनुपपत्ति' (अर्थात् आत्मा के भेद के बिना उस प्रकार का व्यवहार सिद्ध नहीं होता है ऐसा जो कहा था वह) सिद्ध नहीं होने के कारण अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा आत्मा की भेद सिद्धि नहीं होती है। और तुम जो कहो कि आत्मा का भेद नहीं रहने से सुखदुःखादि की भेद-व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है (अर्थात् आत्मा एक होने से एक व्यक्ति के सुख से सभी ही सुखी एवं एक व्यक्ति के दुःख से सभी को ही दुःखी होना पड़ेगा)। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वह व्यवस्था (सुखदुःख आदि की भेद व्यवस्था) कर्ममात्र के द्वारा सिद्ध होती है। एक ही देह में कर्म के फलरूप सुख दुःखादि का वैचित्र्य दिखता है। पुण्य का कार्य (फल) होता है सुख एवं पाप का कार्य है दुःख। अतः पुण्य तथा पापरूप कर्म के भेदवश एवं उनके फलरूप सुख तथा दुःख के भोक्ता के भेदवश सुखदुःखादि के तारतम्य की व्यवस्था सम्भव होती है। श्रुति में भी कहा गया है—'यत्कर्म कुरुते तदभि-संपद्यते' (जो जैसा कर्म करते हैं वह वैसा फल भोग करते हैं), 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (जैसा कर्म, जैसा आचारसम्पन्न होता है, वैसा ही होता है)। अतः आत्मा का एकत्व सर्वत्र रहने से भी सुखदुःख आदि का सांकर्य (मिश्रण) [अर्थात् एक व्यक्ति का सुख या दुःख के भोग से अन्य व्यक्ति का भी उसी प्रकार का भोग होगा यह] सिद्ध नहीं होता है। 'नान्योऽ-

तोऽस्ति विज्ञाता' (इस आत्मा के अतिरिक्त और कोई विज्ञाता नहीं हैं)। इत्यादि श्रुतिवचन के द्वारा आत्मा का एकत्व सुस्पष्ट होता है। यद्यपि फल के भोक्ता (जीव) अनेक हैं। अतः आत्मा का एकत्व रहने से भी आत्मा के आभास का अनेकत्व सम्भव होता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा का भेद प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, पुराण इत्यादि किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं होता है। अतः आत्मा सर्वत्र एक किन्तु आभास के भेद से (बुद्धिरूप उपाधि के भेद के कारण) जीव अनेक हैं]। यद्यपि आत्मा ही सर्वदा सर्वत्र विज्ञाता हैं तब भी भिन्न-भिन्न देह में भिन्न-भिन्न बुद्धि को ग्रहण कर स्वयं सभी वस्तु विशेष भाव से जान सकता है एवं इसलिए देह के भेद के साथ बुद्धिभेद नियत रहने के कारण प्रत्येक देह में विशेष-विशेष ज्ञान भिन्न-भिन्न होते हैं। जिसके द्वारा वस्तु को जाना जाय वह ज्ञान है अर्थात् बुद्धिवृत्ति के द्वारा सभी वस्तुओं को जाना जाता है इसलिए बुद्धिवृत्ति—ही ज्ञान है। चक्षु जिस रूप के साथ संलग्न होता है उस रूप को ही प्रकाशित करता है, दूसरे रूप को नहीं, उसी प्रकार यह बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान भी जिस वस्तु के साथ संयुक्त होता है उसे ही केवल प्रकाशित कर सकता है। इसलिए यह ज्ञान परिच्छिन्न है। बुद्धिवृत्ति परिच्छिन्न होने के कारण सभी पदार्थों के साथ एक ही समय में सम्बन्धित नहीं हो सकता है यदि बुद्धिवृत्ति का सभी पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता तब सभी जीव ही सर्वज्ञ होते किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः सभी का सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता है। जिस प्रकार सर्वव्यापी महाकाश शब्द की उत्पत्ति का कारण है। इसलिए आकाश का भेरी, पणव इत्यादि वाद्ययंत्र के साथ सर्वत्र संबन्ध है। तब भी जहाँ भी भेरी आदि को बजाया जाता है वहीं शब्द की उत्पत्ति होती है, सर्वत्र नहीं। उसी प्रकार एक परिपूर्ण आत्मा का बुद्धिवृत्ति के द्वारा जहाँ किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है वहाँ उस पदार्थ के विषय में ज्ञान का उदय होता है। दूसरे पदार्थ के विषय में नहीं। इस कारण यह सिद्ध होता है कि बुद्धिवृत्ति के अनेक होने के कारण एवं सर्वव्यापी न होने के कारण सभी सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं इसलिये ही अल्पज्ञ पुरुष की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के हेतु शास्त्रों का विधिनिषेध ही होता है। अतः विधिनिषेध शास्त्र की सार्थकता रहती है। यद्यपि आत्मा ज्ञानस्वरूप एवं सर्वव्यापी है तब भी प्राणी मात्र ही परिच्छिन्न बुद्धिवृत्ति के द्वारा विषयों को जानते हैं। इसलिए प्राणियों में सर्वज्ञता का अभाव होता है। किन्तु वेदान्त श्रवणजनित ज्ञान के द्वारा जो सर्वव्यापी ज्ञानस्वरूप

परब्रह्म को अपनी ही आत्मा के रूप में अनुभव करते हैं उनको ही मुक्ति होती है, दूसरों को नहीं। श्रुति भी यही बात बतलाती है—'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (देवताओं में जो परब्रह्मरूप आत्मा को जानते हैं वे भी परब्रह्म हो जाते हैं। इसप्रकार ऋषि तथा मनुष्यों में जो ब्रह्म को जानते हैं वे भी ब्रह्म हो जाते हैं)। इस कारण आत्मा का एकत्व सर्वत्र विद्यमान रहने से भी आत्मज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है क्योंकि 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (ज्ञान के द्वारा ही कैवल्य की प्राप्ति होती है) ऐसा नियम श्रुतिवचन से ही जाना जाता है। अतः आत्मा के एकत्व के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी जिन दोषों का आरोप करते हैं उसका कोई अवकाश भी नहीं है। और तुम यदि आत्मा का अनेकत्व तथा पूर्णत्व स्वीकार करो तब तुम्हारे लिए भी वे सब दोष उपस्थित होंगे यह किस प्रकार से होगा वह अब कहा जा रहा है—आत्मा अनेक तथा विभु (सर्वव्यापी) है ऐसा यदि मानो। एक वृत्ति की आत्मा का दूसरे के मन, बुद्धि के साथ संयोग होगा तब जैसा तुमने आत्मा के एकत्व के सम्बन्ध में कहा उस प्रकार ही सुख, दुःख, बन्धन, मोक्ष प्रभृति का मिश्रण हो जायगा (अर्थात् एक के सुख दुःख में दूसरों का सुख-दुःख एवं एक का बन्धन या मोक्ष होने से दूसरों का भी बन्धन तथा मोक्ष हो जायगा)। केवल इस प्रकार अनर्थ ही नहीं होगा बल्कि विभुत्व आदि की सिद्धि भी नहीं होगी। इसकी युक्ति इस प्रकार है—जो-जो वस्तु अपने में भेदयुक्त रहती है अथवा दूसरों से भेदयुक्त रहती है वे वस्तुएँ परिच्छिन्न होती हैं। इस अनुमान के द्वारा यह सिद्ध होता है कि आत्मा यदि अनेक हो तब एक की सत्ता से दूसरे की सत्ता का भेद होगा। अतः परस्पर की सत्ता में भेद रहने के कारण सभी आत्मा ही परिच्छिन्न रहती है एवं परिच्छिन्न होने के कारण आत्मा कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती है। आत्मा के पूर्णत्व को मानने से अनेकत्व सिद्ध नहीं होता है क्योंकि पूर्णत्व तथा एकत्व परस्पर विरोधी है। अतः आत्मा का पूर्णत्व तथा अनेकत्व सम्पादन करने में ब्रह्मा भी समर्थ नहीं होंगे। इसलिये तुम्हें भी आत्मा के एकत्व को ही मानना पड़ेगा। आत्मा परिच्छिन्न है, चिद्रूप है एवं अनेक है–ऐसा जो लोग कहते हैं उनका पक्ष भी सिद्ध नहीं होता है क्योंकि अनेक श्रुति, स्मृति तथा युक्ति के साथ इस मत का विरोध होता है। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (आत्मा आकाश की तरह सर्वगत तथा नित्य है), 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' (एक एवं सर्वभूत की अन्तरात्मा), 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः' (एक देव सर्वभूत में गूढ़ हैं), 'एकः

सन् बहुधा विचचार' (एक होकर अनेक प्रकार से विचार किया था), 'एक एव हि भूतात्मा' (भूतों की आत्मा एक ही है), 'निरपेक्ष एक एव साक्षी' (निरपेक्ष साक्षी एक ही है), 'एकस्तेनेदं पूर्णं' (आत्मा एक है एवं उसके द्वारा यह सब पूर्ण है), 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्'। महान्तं विभुमात्मानम्' (शरीर में अशरीर एवं अनवस्थित में अवस्थित अर्थात् अस्थिर सब वस्तुओं में स्थिर, महान् विभु आत्मा को)—इत्यादि श्रुतिवचन से आत्मा का एकत्व ही सिद्ध होता है। 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (नित्य सर्वगत स्थाणु', 'नित्यः सर्वगतोऽप्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः॥' (नित्य, सर्वगत, कूटस्थ दोषरहित आत्मा एक होने से भी भ्रान्तिरूप माया के द्वारा भिन्न होती है—स्वरूप में उसमें कोई भेद नहीं है) इत्यादि स्मृति वचन भी आत्मा का एकत्व ही प्रतिपादन कर रहा है। 'आत्मा सर्वशरीर में एक ही होगो क्योंकि आत्मा पूर्ण है, जैसे घड़े आदि में एक पूर्ण आकाश सर्वत्र व्याप्त रहता है', 'आत्मा एक ही रहेगी क्योंकि आत्मा निष्कल (निरवयव), सर्वप्रकाशक, सर्वसाक्षी, एवं सर्वत्र अहं प्रत्यय का अर्थ (लक्ष्य विषय) इत्यादि युक्ति के द्वारा भी आत्मा का पूर्णत्व अवधारित होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति, युक्ति प्रमाण के द्वारा आत्मा एक ही है, यह सिद्धान्त स्थिर होता है। मैं, तुम, ये लोग अर्थात् हमलोग सभी ही परब्रह्म ही हैं। दृश्य वस्तु प्रपंच एवं प्रपंच के अभिमानी सभी के अधिष्ठान निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, ज्ञानी, आनन्द एवं अद्वयस्वरूप ब्रह्म ही हैं। 'भोक्ता भोज्य-प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्' (भोक्ता, भोज्य तथा प्रेरित को जान कर इन तीनों को ब्रह्म ही कहा गया है), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही यह सब है) इस प्रकार श्रुतिवाक्य के अनुसार तुम, मैं, यह सब परब्रह्म ही हैं, ऐसा जानना। [इसप्रकार आत्मज्ञान नहीं रहने के कारण एवं देहादि में आत्माभिमान रहने से ही जीव शोक, मोह, दुःख, सुख आदि के द्वारा अभिभूत होते हैं। सभी में एक ही अजर, अमर, अविकारी, नित्य, शुद्ध, मुक्त, आनन्दस्वरूप आत्मा 'विराजमान' है, इस तत्त्व को जानने से कौन किसके लिए एवं किस कारण से शोक कर सकता है ?] यही इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—(क) अहं आसमेव—तत् पदार्थ को लक्ष्य कर अहं शब्द का व्यवहार किया गया है। अतः अहं—मैं अर्थात् परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्वतंत्र परमेश्वर हूँ। मैं यदि पहले नहीं रहता तब जगत्सृष्टि

किस प्रकार सम्भव होती ? जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय का एकमात्र मैं ही कर्ता हूँ, तब भी जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय चलचित्र के दृश्य की तरह सदा ही परिवर्तनशील है अर्थात् आता तथा जाता रहता है। चलचित्र का दृश्य जैसे एकखंड श्वेत वस्त्र को (White sereen) अवलम्बन कर के रहता है उस प्रकार मिथ्या जगत्—चित्र भी सत्यस्वरूप मुझे अवलम्बन कर सदा ही परिवर्तित हो रहा है अर्थात् मैं इसका नित्य, अविकारी अधिष्ठान सत्ता हूँ। इसलिए मैं पहले भी था एवं भविष्यत् में भी रहूँगा। श्रुति, स्मृति एवं शास्त्रादि भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् में मेरा सद्‌भाव (अर्थात् मेरा कभी भी अभाव नहीं होता है) यह निश्चय किया है [श्लोक में 'एव' शब्द का निश्चयार्थ में व्यवहार किया गया है। आकाश रूप आधार में या आश्रय में जैसे मेघ की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश होता है उस प्रकार मुझसे अर्थात् परमात्मस्वरूप अधिष्ठान में ही जगत् प्रपंच को स्थिति, सृष्टि, प्रलय होता है। स्वरूपतः मैं निष्क्रिय, शुद्ध, निःसंग, एवं विलक्षण (अर्थात् प्रपंच से सम्पूर्ण पृथक् हूँ) एवं नित्य हूँ (सभी कालों में एक ही प्रकार से विद्यमान हूँ)।

(ख) न त्वम्—अर्जुन प्रश्न कर सकते हैं "अच्छा तुम परमेश्वर हो" तुम्हारी सत्ता तीनों काल में ही विद्यमान है, किन्तु मैं तो जीव हूँ, जन्ममरण-शील मुझे तथा इन राजाओं को तुमने नित्य क्यों कहा ? समाधान—नहीं, त्वं पदार्थ की लक्ष्यार्थ वस्तु ("तुम" इस शब्द के द्वारा वस्तुतः जिसे लक्ष्य कर कहा गया है वह) भी नित्य है। भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् में त्वं पदार्थ की लक्ष्य वस्तु का भी कोई अभाव नहीं होता है।

रात में तुमने जो स्वप्न देखा था अथवा सुषुप्ति में तुमने जिस सुख का भोग किया था, उसे तुम्हीं वर्तमान जाग्रत् अवस्था में भोग रहे हो, इसे तुम अस्वीकार नहीं कर सकते हो। उसी प्रकार अतीत जीवन तथा वर्तमान जीवन तथा भविष्यत् जीवन के साथ जीव का सम्बन्ध है। वह जीव के सुख दुःखादि भोग के वैचित्र्य एवं कर्मवैचित्र्य को देख कर ही प्रमाणित होता है। यदि अतीत जीवन के साथ तुम्हारे वर्तमान जीवन का सम्बन्ध नहीं रहता तब इस जन्म के भोग के तारतम्य के विषय में किसी कारण का निर्णय नहीं किया जा सकता अर्थात् उक्त सम्बन्ध नहीं रहने से किसी को भी पूर्वजन्म में पाप कर इह जन्म में उस पाप का फलभोग नहीं करना पड़ता अर्थात् "कृत-हानि" होता; फिर 'अकृताभ्यागम' भी होता अर्थात् पाप न करने से भी उसका दुःख भोग करना होता। किन्तु यह श्रुति तथा स्मृति शास्त्र के विरुद्ध

बात है। श्रुति में कहा गया है 'यत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' (बृह० उ०) अर्थात् जैसा कर्म करते हैं उसी के अनुसार फलभोग करते हैं। "जन्मान्तरकृतं कर्म भुञ्जते जन्तवोऽधुना" अर्थात् पूर्व जन्म में जीव ने जैसा कर्म किया है वह वर्तमान जन्म में भोग कर रहा है (अर्थात् पूर्वजन्म के कर्म का फल इस जन्म में एवं इस जन्म के कर्म का फल भविष्यत् जन्म में भोग करना होगा)। इसके द्वारा देहादि का विनाश होने पर भी आत्मा सदा ही विद्यमान रहती है यह सिद्ध होता है अर्थात् त्वं पदार्थ की लक्ष्यवस्तु आत्मा देहेन्द्रिय से भिन्न एवं नित्य है यह सिद्ध होता है। आत्मा का नित्यत्व अन्य रूप से भी प्रत्यक्ष अनुभूत होता है—जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, बाल्य-कौमार-यौवन-वार्धक्य इत्यादि अवस्था के भेद से सभी प्राणियों का सदा ही परिवर्तन होता है किन्तु तब भी माला में फूल जैसे एक ही सूत्र के द्वारा गूँथे रहते हैं वैसे सभी अवस्था के साक्षी के रूप में एक नित्य सत्ता सर्वदा ही विद्यमान रहती है जिसके द्वारा सब कुछ ग्रथित होता है। यह साक्षी सदा ही वर्तमान रहता है इसलिए इसे सत्—कहा जाता है। यह चैतन्यस्वरूप विज्ञाता है इसलिए इसे चित्—कहा जाता है। यह आत्मा (अहं प्रत्यय की लक्ष्य वस्तु) है, अतः सर्ववस्तु से प्रियतम है। इसलिए इसे आनन्द कहा जाता है। इस प्रकार से आत्मा का स्वरूप है सच्चिदानन्द ये वस्तुतः साक्षीमात्र हैं एवं सम्पूर्ण रूप से असंग होने से भी [कोई विषय इन्हें स्पर्श नहीं कर सकने से भी (बृ० उ० ३।९।२६)] देहेन्द्रियादि में अभिमान कर जीव के रूप में लीला करते हैं ("लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"—(ब्र० सू० २।१।३३) एवं तभी यह कर्ता, भोक्ता इत्यादि के रूप में प्रतीत होते हैं ('आत्मेन्द्रियमनोयुक्तः भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'–कठ० उ० १।३।४)। वस्तुतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि आत्मा के स्वरूप में नहीं है। देहेन्द्रियादि का धर्म अज्ञानवश आत्मा में आरोपित होता है और आत्मा का चेतन धर्म देहेन्द्रियों में आरोपित होता है। अतः जीवत्व भ्रान्ति के द्वारा (अध्यास द्वारा) उत्पन्न होता है। सच्चिदानन्दस्वरूप एक ही आत्मा सर्वजीव में विद्यमान रहती है। अतः सभी ही परब्रह्मस्वरूप हैं। चूँकि आत्मा एक है, आत्मा नित्य है (भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में सदा ही एक रूप में अवस्थित है) एवं आत्मा आनन्दस्वरूप है इसलिए आत्मा के लिए शोक नहीं करना चाहिए—यही तात्पर्य है।

[किन्तु पहले देह त्याग कर अन्य देह ग्रहण करने में तो आत्मा की विकारशीलता एवं उत्पत्ति तथा विनाश प्रत्यक्षसिद्ध होता है। तब आत्मा नित्य कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर अब श्रीभगवान् दे रहे हैं।]

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अन्वय—यथा अस्मिन् देहे देहिनः कौमारम् यौवनम् जरा, तथा देहान्तरप्राप्तिः, तत्र धीरः न मुह्यति।

अनुवाद—देहाभिमानी जीव की इस देह में जिस प्रकार कुमार अवस्था, युवा अवस्था तथा वार्धक्य अवस्था का परिवर्तन होता है (अथ च देही एक रूप ही रहते हैं) उसीप्रकार इस देह के विनाश के बाद अन्य देहप्राप्ति होती है किन्तु देही समान रूप से वर्तमान रहते हैं। अतः कौमार प्रभृति अवस्था के परिवर्तन की तरह देह के परिवर्तन से (मैं मरूँगा अथवा मेरे आत्मीय स्वजन मरेंगे ऐसा सोचकर) धीर व्यक्ति मोह के वशवर्ती नहीं होते हैं।

दीपिका—देहिनः—जिसका देह है उसको देही (देहाभिमानी जीव) कहा जाता है। उस देही का अर्थात् देहविशिष्ट आत्मा के यथा अस्मिन् देहे—जिस प्रकार वर्तमान देह में अर्थात् देहेन्द्रियान्तःकरणसंघात में कौमारम्—कुमारभाव या बाल्यावस्था, यौवनम्—युवा अवस्था या मध्यमावस्था, जरा—वय (उम्र) की हानि होने पर अत्यन्त जीर्णावस्था, ये तीन प्रकार की परस्पर विलक्षण अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं। उन तीन अवस्थाओं में प्रथमावस्था (कौमारावस्था) का नाश होने से देही (आत्मा) का नाश नहीं होता है, द्वितीय अवस्था (यौवनावस्था) की उत्पत्ति होने से देही की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु विकाररहित आत्मा को ही द्वितीय तृतीयावस्था की प्राप्ति होती दिखाई पड़ती है क्योंकि अहं अहं (मैं मैं) यह साक्षात् ज्ञान सभी अवस्था में एक ही प्रकार से रहता है अर्थात् अवस्था के भेद होने पर भी आत्मा का परिवर्तन (विकार) कभी नहीं होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। तब भी यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती है कि स्थूल देहादि का जो कुछ परिवर्तन होता है, वह इस अविकारी आत्मा का अवलम्बन करके ही होता है। तथा—उस प्रकार देहान्तरप्राप्तिः—उस देह से दूसरे देह की प्राप्ति अविक्रिय आत्मा को (देही को) ही होती है अर्थात् इस जीवन में ही देह की विभिन्न प्रकार की अवस्था के परिवर्तन होने पर भी जिस प्रकार आत्मा स्वरूपतः विकाररहित रहती है उसी प्रकार मृत्यु के बाद एक देह से अन्य देह की प्राप्ति होने पर भी आत्मा एक ही रहती है क्योंकि मृत्यु के बाद देहनाश के साथ-साथ यदि आत्मा का भी नाश होता तब

संस्कार का भी नाश होता किन्तु नये जन्म लिए बच्चे में पूर्वसंस्कार के कारण स्तनपान करने में स्वतः प्रवृत्ति दिखती है। अतः पूर्वदेह तथा परदेह में आत्मा जो एक ही रहती है वह उस प्रकार की प्रवृत्ति के द्वारा ही प्रमाणित होता है एवं यह भी साथ साथ सिद्ध होता है कि आत्मा एक एवं अविकारी होने के कारण नित्य, अचल तथा सनातन है।

धीरः—बुद्धिमान् पुरुष [जो अनात्म वस्तु से आत्मा को पृथक् कर आत्मा के यथार्थस्वरूप को ज्ञात कर चुका है वह आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष] देहादि का विनाश होने से भी श्रुति, स्मृति, युक्ति एवं अपने अनुभव के द्वारा जान सकते हैं कि आत्मा विकाररहित एवं नित्य है अतः, तत्र—मृत्यु के बाद देहान्तरप्राप्ति होने से न मुह्यति—मोह को नहीं प्राप्त होते हैं। [अर्थात् सभी की आत्मा एक तथा विभु (सर्वव्यापी) होने से भी 'मैं भीष्म, द्रोण प्रभृति का हन्ता होऊँगा और ये लोग मेरे द्वारा हत होंगे' ऐसी कल्पना कर तुम्हारा चित्त विकल हो रहा है उसका कारण है तुम्हारी 'अधीरता'। किन्तु जो लोग धीर हैं (अर्थात् विवेकी तथा तत्त्वदर्शी हैं) वे लोग मोह प्राप्त नहीं करते हैं क्योंकि उनके अन्तर में वध्य तथा घातक का कोई भेद नहीं है (वे चलचित्र की तरह जन्म मृत्यु इत्यादि अवस्था के परिवर्तन के पीछे एक नित्य, स्थिर, अविकारी, आत्मस्वरूप अधिष्ठान सत्ता को ही सत्य वस्तु मानते हैं)]।

टिप्पणी—(१) मधुसूदन—लौकायतिक (चार्वाक) सम्प्रदाय कहते हैं कि चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है क्योंकि 'स्थूल मैं हू' 'गौरवर्ण मैं हूँ' ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति सभी को ही होती है। अतः देह तथा आत्मा का भेद किस प्रकार सम्भव है ? और यदि सम्भव भी हो तब आत्मा जो जन्मविनाश-हीन है यह किस प्रकार से प्रमाणित होता है ? क्योंकि देवदत्त ने जन्म लिया है, देवदत्त की मृत्यु हुई है—ऐसा ही यदि हो तब तो देह के जन्म तथा विनाश के साथ आत्मा का भी जन्म एवं विनाश होता है। अतः आत्मा देह से भिन्न है, यह किस प्रकार से कहा जाय ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—देहिनः—समस्त जगत् में भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान सभी देह ही जिनकी है वे देही हैं। आत्मा में सर्वव्यापित्व रहने के कारण सभी देह के साथ सम्बन्ध रहता है एवं इसलिए सभी देह की चेष्टा (आहार विहारादि) एक ही आत्मा के संयोग से सिद्ध हो सकता है। अतः आत्मा सभी देह में एक ही है। प्रत्येक देह में जो पृथक्-पृथक् आत्मा है उसके सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। [प्रश्न होगा प्रत्येक देह में आत्मा एक होने से एक देह का

सुख-दुःख दूसरे देह को भी अनुभूत होगा किन्तु ऐसा तो दिखाई नहीं पड़ता है। इसके उत्तर में कहा जायगा, नहीं, ऐसा नहीं होगा क्योंकि सुख-दुःख आदि अन्तःकरण के धर्म हैं। भिन्न भिन्न देह में पृथक्-पृथक् अन्तःकरण रहने के कारण एक के सुख में दूसरों का सुख तथा दूसरे के दुःख में दुःख नहीं होता है। जैसे एक ही विद्युत-शक्ति के द्वारा बत्ती जलती है, पंखा चलता है इत्यादि। वे लोग अपने-अपने संस्कार के अनुसार कार्य करते रहते हैं किन्तु उनकी भिन्न-भिन्न शक्ति का आधार है एक ही वैद्युतिक प्रवाह के साथ बत्ती, पंखा इत्यादि का संयोग। भिन्न-भिन्न जीव भी अपने-अपने संस्कार के कारण सुखी हैं, दुःखी हैं, पापी तथा पुण्यवान् रहते हैं किन्तु उनका संयोग सदा ही एक ही अविकारी आत्मा के साथ रहता है]। सभी देह में आत्मा एक ही है इसे सूचित करने के लिए 'देहिनः' इस पद का व्यवहार किया गया है। किन्तु पूर्व श्लोक में 'सर्वे वयमतः परम्' पद में देह की अनेकता को लक्ष्य कर बहुवचन में प्रयोग किया गया है किन्तु आत्मा की अनेकता सिद्ध करने के लिये 'सर्वे वयम्' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। देही एक एवं नित्य होने के कारण अस्मिन् देहे—इस वर्तमान देह में यथा कौमारं यौवनं जरा—जैसे कौमार, यौवन एवं जरा यह तीन परस्पर विरुद्ध अवस्थायें क्रमशः उपस्थित होती हैं किन्तु इन अवस्थाओं के भेद के कारण आत्मा का कोई भेद नहीं होता है क्योंकि जो मैंने बाल्या-वस्था में पिता माता का तथा विभिन्न विषयों का अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्था में पौत्रलोगों का तथा अन्य विषयों का अब अनुभव कर रहा हूँ। इस प्रकार बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक आत्मा के एकत्व तथा अभिन्नत्व के विषय में दृढ़तर प्रत्यभिज्ञा रहती है [पूर्वानुभूत विषय के संस्कार के साथ चक्षुरादि इन्द्रिय से जो ज्ञान (अनुभव) होता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है]। बाल्यकाल की आत्मा यदि वृद्धावस्था की आत्मा से पृथक् होती तब बाल्यकाल का संस्कार वृद्धावस्था में प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न नहीं कर सकता। [यौवनादि देह का धर्म है, आत्मा का नहीं। अज्ञान के कारण जब आत्मा देह के साथ अभिन्न रूप से गृहीत होती है तब वह आत्मा का औपाधिक धर्म होता है। यौवनादि आत्मा का धर्म होने से आत्मा का भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ता किन्तु तब उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं होती। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षज्ञान की एक विशेष अवस्था है। देह के विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों में आत्मा का एकत्व ही प्रत्यभिज्ञा का विषय होता है अर्थात् मैं जो यौवन में हूँ, वही मैं वार्धक्य में विद्यमान हूँ इस प्रकार आत्मा का एकत्व प्रत्यक्ष होता है]।

तथा देहान्तरप्राप्तिः—कौमार, यौवन, जरा की तरह अविकृत (विकाररहित) आत्मा की देहान्तर प्राप्ति (मृत्यु के बाद दूसरे देह की प्राप्ति) होती है किन्तु उसमें आत्मा का भेद नहीं होता है। 'स्वप्नावस्था में अथवा योगैश्वर्य के कारण मनुष्य दूसरी देह में 'मैं यह हूँ' इस प्रकार का अभिमान करता है किन्तु जाग्रत् होकर वह पूर्व देह में ही अभिमान कर 'स एवाहं' अर्थात् मैंने जो स्वप्न में या योग के बल से दूसरी देह में (व्याघ्रादि देह में) अभिमान किया था वही मैं मनुष्य के रूप में विद्यमान हूँ, इस प्रकार आत्मा के एकत्व के विषय में प्रत्यभिज्ञा होती है। आत्मा यदि देह ही होती तब कौमारादि अवस्था के भेद के अनुसार देह का भेद जब होता रहता है तब आत्मा का भेद भी अवश्यंभावी होता। अतः बाल्यावस्था से वार्द्धक्य अवस्था तक एकत्व बोधक (स एवाहम्) प्रत्यभिज्ञा रह नहीं सकती और यदि कहो कि कौमारादि अवस्थाओं का अत्यन्त भेद रहने से भी 'यावत् प्रत्यभिज्ञा वस्तुस्थितिः'—[अर्थात् जबतक किसी वस्तु के विषय में प्रत्यभिज्ञा होती है तबतक उसका ऐक्यबोध रहता है, इस नियम के अनुसार यौवनादि जिसकी अवस्था है उस अवस्थाविशिष्ट देह का ऐक्य (अभिन्नता) बोध होता है। किन्तु जाग्रत अवस्था में यह मान लेने से भी अर्थात् जाग्रत अवस्था में बाल्यकाल का देह वार्धक्य में रहता है इस प्रकार देह का अभेद मानकर उक्त प्रकार से प्रत्यभिज्ञा सम्भव होने से भी स्वप्न-अवस्था में एवं योगैश्वर्य के प्रभाव से जब अत्यन्त विलक्षण देह में अभिमान होता है एवं देहरूप धर्मी का भेद स्पष्टरूप से रहता है तब फिर जाग्रत अवस्था में लौटकर 'स एवाहं' (मैं ही वह हूँ) इसप्रकार अभिन्नत्व (एकत्व) विषयक प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं होती। [जिस प्रत्यभिज्ञा का विषय बाधित नहीं है तादृश अबाधितविषयक प्रत्यभिज्ञा द्वारा ही ऐक्य सिद्ध होता है। जाग्रत-देह, स्वप्न-देह से विलक्षण होता है इसलिए अभेद विषयक प्रत्यभिज्ञा ('स एवाहं' अर्थात् वही मैं हूँ, यह अनुभव) सभी अवस्था में आत्मा का ही एकत्व सिद्ध करता है—देह का एकत्व नहीं]। अतः मरीचिका में जिस प्रकार जल की बुद्धि—भ्रम है उसी प्रकार 'मैं स्थूल हूँ,' 'मैं कृश हूँ' इत्यादि रूप से जो बुद्धि होती है वह भी भ्रम ही है क्योंकि दोनों ही स्थानों में बोध समान है अर्थात् मरीचिका में प्रतीत जल जैसे बाधित होता है अर्थात् भ्रम की निवृत्ति के बाद नहीं रहता है) वैसे ही 'मैं स्थूल हूँ' यह अनुभव भी बाधित होता है। बाद में 'न जायते म्रियते' इत्यादि श्लोकों की व्याख्या में इसकी विस्तारपूर्वक आलोचना की जायगी। इसके द्वारा 'आत्मा

देह से भिन्न होने से भी देह के साथ उत्पन्न होता है तथा विनष्ट भी होता है' यह मत भी निराकृत हुआ अर्थात् कौमारादि अवस्था की प्राप्ति जैसे एक ही अविकृत आत्मा में होती है, उसी प्रकार वर्तमान देह से उत्क्रान्ति के वाद देहान्तर की प्राप्ति भी एक ही आत्मा में होती है। किन्तु दूसरे देह के साथ जन्म लेने से 'मैं वही हूँ' इस प्रकार अभिन्नता की (एकत्व की) प्रत्यभिज्ञा नहीं रहने पर भी शिशु जन्म लेने के साथ-साथ उसमें पूर्वसंस्कार से उत्पन्न हर्ष, शोक एवं भय दिखाई पड़ता है। फिर देहान्तरप्राप्ति में भी आत्मा की अभिन्नता नहीं रहने पर जन्म लिए हुए शिशु की स्तनपान आदि में प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति इष्ट-साधनतादि ज्ञान (इसके द्वारा मेरा इष्ट साधन होगा अर्थात् मेरी आकांक्षित वस्तु प्राप्त होगी ऐसा ज्ञान) से उत्पन्न होता है अथवा केवलमात्र अदृष्ट से उत्पन्न होता है, यही सभी स्वीकार करते हैं। [नव-जात शिशु का इस जन्म में प्रत्यक्षरूप से इष्ट-साधनता या द्विष्ट साधनता ज्ञान (प्रतिकूल वस्तु का ज्ञान) नहीं दिखाई पड़ने से भी उसकी जन्मान्तरीय स्मृति ही इस प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति की हेतु होती है ऐसा मानना पड़ेगा। इस स्मृति के आश्रय के रूप में देहातिरिक्त जो आत्मा पूर्व जन्म में विद्यमान थी वह आत्मा ही इस जन्म में वर्तमान है, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा। अथवा जो लोग एकमात्र अदृष्ट को ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का कारण मानते हैं उनके मत में भी वह अदृष्ट आत्मा का आश्रय लेकर ही रहता है। इस कारण यह स्वीकार करना होगा कि पूर्वजन्मीय देह में एवं इस जन्म के देह में एक ही आत्मा विद्यमान है] पूर्वजन्म के तथा परजन्म के देह की आत्मा एक न होने से कृत-नाश (अर्थात् पूर्वजन्म में कृत पुण्य तथा पाप के बिना भोग से ही क्षय होता है) एवं अकृताभ्यागम (अर्थात् जो पुण्य या पाप उपार्जित नहीं हुआ है उसका अकस्मात् इस जन्म में सुखदुःखरूप फल प्राप्त होता है. यह) स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु यह होना सम्भव नहीं है। इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है तुम देहीरूप में एक हो। तुम्हारी देह का यथाक्रम उत्पत्ति या विनाश होने से भी तुम्हारा कोई भेद नहीं है क्योंकि देही नित्य है। इस प्रकार एक ही आत्मा की दूसरे देह की प्राप्ति सम्भव होती है क्योंकि तुम (देही या आत्मा) विभु (सर्वव्यापी) हो। आत्मा विभु न होकर यदि मध्यम परिमाण हो तव वह अवयवविशिष्ट अर्थात् परिच्छिन्न तथा अनित्य होगी और यदि आत्मा अणुपरिमाण हो तो समग्र देहव्यापी सुख-दुःख की उपलब्धि करने में सक्षम नहीं होगी। किन्तु समस्त शरीर में सुख-दुःख का

अनुभव दृष्ट होता है। आत्मा का सर्वव्यापित्व निश्चित होने से ही ऐसा सम्भव होता। अतः आत्मा समस्त शरीर में ही एक तथा विभु है और वह आत्मा ही तुम हो। इस प्रकार ज्ञान जिनका है वह धीरस्तत्र न मुह्यति-धीर व्यक्ति का 'मैं उनका घातक हूँ' एवं 'ये लोग मेरे वध्य हैं' अर्थात् मेरे द्वारा हत होने के योग्य है' ऐसा भेदज्ञान नहीं रहता है। अतः वे (देह को मृत्यु में) मोह को प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु तुम 'मैं भीष्म, द्रोणादि का घातक हूँ' और 'ये लोग मेरे वध्य हैं' इसप्रकार भेद की कल्पना के द्वारा जो मोह को प्राप्त हुए हों उसका कारण तुम्हारी अधीरता (अज्ञानता) तुम्हारी देह की अवस्था के भेद (परिवर्तन) होते हुए भी जैसे तुम्हारी आत्मा एक एवं विभु ही रहती है उस प्रकार सभी देह में ही एक आत्मा विद्यमान है यह अनुमित होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—विवाद के विषयीभूत समस्त देह ही एक भोक्तृक है (समस्त देह का भोक्ता एक ही है)। हेतु—चूँकि यह सब ही देह है, उदाहरण—जैसे तुम्हारे विभिन्न देह में (कौमार, यौवनादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में) एक आत्मा (तुम ही) सदा विद्यमान रहते हो। अतः शोक करने का कोई कारण नहीं है-यही कहने का अभिप्राय है। श्रुति भी वैसा ही कहती है 'एको देवो सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादि अर्थात् एक चैतन्यस्वरूप स्वयंप्रकाश परमात्मा सभी प्राणियों में प्रच्छन्नरूप से विद्यमान है' वह सर्वव्यापी है एवं सर्वजीवों की अन्तरात्मा है। आत्मा के विषय में अनेक प्रकार का मतभेद है यथा (१) चार्वाकों के मत में—देह ही आत्मा है, (२) एकदेशी चार्वाकों के मत में (अर्थात् जो लोग आंशिकरूप में चार्वाक मतावलम्बी हैं, उनके मत में)—इन्द्रिय अथवा मन अथवा प्राण ही आत्मा है, (३) बौद्धों के मत में—क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है, (४) दिगम्बर जैनियों के मत में—आत्मा देह से भिन्न, स्थिर, तथा देह—परिमाण है (देह के बराबर आत्मा का परिमाण है), (५) एकदेशी वेदान्ती लोग (विशिष्टाद्वैतवादी) कहते हैं—आत्मा मध्यम-परिणाम होने से नित्य नहीं हो सकती है इसलिए आत्मा अणुपरिमाण है, (६) अद्वैत-वेदान्ती—आत्मा को देहातिरिक्त, नित्य तथा विभु (सर्वव्यापी) मानते हैं। इस मत के द्वारा ही अन्य सब मत निराकृत हुए हैं अर्थात् असार प्रमाणित हुए हैं।

(२) श्रीधर—[तुम ईश्वर हो तुम्हारा जन्म-मरण नहीं है यह बात सत्य मानता हूँ किन्तु जीव का जन्म-मरण तो अति प्रसिद्ध है। इस शंका के उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं—] देहिनः—देहाभिमानी जीव का यथा

अस्मिन् देहे—जैसे इस स्थूल देह में कौमारं यौवनं जरा—कौमारादि अवस्था अर्थात् कामार, यौवन, जरा इत्यादि अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं। यह सब अवस्थायें स्थूल देह का अवलम्बन करके ही रहती हैं अर्थात् स्थूल देह ही क्रम से कौमार, यौवन तथा वार्धक्य देह में परिणत होती है। स्थूलदेह को छोड़कर यह सब कौमारादि अवस्थायें स्वतः नहीं आती हैं अर्थात् ये सब अवस्थायें स्थूल देह की ही हैं आत्मा की नहीं हैं क्योंकि पूर्वावस्था का नाश होने से अन्य अवस्था की प्राप्ति होने से भी 'स एवाहम्' (वह मैं हूँ) ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। [जो मैं कौमार में हूँ वह मैं ही यौवन में अथवा वार्धक्य में विद्यमान रहता हूँ अर्थात् सभी अवस्थाओं में एक ही 'मैं' रहता हूँ अर्थात् 'मैं हूँ मैं हूँ' इस प्रकार एकत्व ज्ञान का व्यभिचार किसी भी अवस्था में नहीं दिखता है। देह का ही कौमारादि भिन्न-भिन्न अवस्था में परिवर्तन होता रहता है किन्तु 'मैं' सदा ही अपरिवर्तित रहता है] तथा देहान्तरप्राप्तिः—उस प्रकार देह के नाश के बाद देहान्तर प्राप्ति भी। पंचप्राण, पंचकर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, तथा अन्तःकरण ये सोलह अवयवविशिष्ट लिंग देह की ही मृत्यु के बाद प्रारब्ध के अनुसार दूसरी देह ग्रहण कर जन्म लेते हैं किन्तु आत्मा का कभी नाश नहीं होता है। पूर्वजन्म की आत्मा इस जन्म में भी विद्यमान रहती है यह प्रमाणित होता है नवजाती शिशु के पूर्व संस्कार के कारण मातृस्तन-पान की प्रवृत्ति से। [अभ्यास से संस्कार होता है एवं देह का नाश होने से भी संस्कार आत्मा का आश्रय किये हुए रहता है। नवजात शिशु की स्तन-पानादि में प्रवृत्ति पूर्वजन्म का अभ्यास तथा संस्कार सूचित करती है। पूर्वजन्म की आत्मा यदि इस जन्म में विद्यमान नहीं रहती तब वह संस्कार-जनित प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। अतः अन्य देह की प्राप्ति होने से भी आत्मा का नाश या उत्पत्ति नहीं होती है यही सिद्ध होता है]। अतः धीरः—धीमान् तत्र—देह के नाश तथा उत्पत्ति में न मुह्यति—आत्मा ही जात तथा मृत होती है यह नहीं सोचते हैं।

(३) शंकरानन्द—यद्यपि इस प्रकार तत् एवं त्वम् पदार्थ का शोधन श्रुति तथा युक्ति के द्वारा किया गया है एवं शोधित कर उनका (तत् तथा त्वम् पदार्थ का) एकत्व प्रतिपादन किया गया है तब भी त्वं पदार्थ आत्मा अविद्या तथा अविद्या के कार्य के द्वारा आवृत है एवं वह (त्वं पदार्थ) अतिसूक्ष्म एवं दुर्विज्ञेय (जिसका जानना कठिन) है। इसलिए मन्दबुद्धि मुमुक्षु श्रोता को जब तक प्रतिबन्धरहित अपरोक्ष ज्ञान न हो तब तक 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'

(वेदान्त सूत्र) (बार-बार उपदेश के द्वारा आवृत्ति करना चाहिए) इस नियम के अनुसार बार बार त्वं पदार्थ का शोधन सम्यक् प्रकार से करना होगा, यह परवर्ती श्लोकों में सूचित किया गया है। उसमें पहले त्वं पदार्थ की सत्ता तीनों काल में (भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान) विद्यमान रहती है ऐसा प्रतिपादित होने से भी वर्तमान देह के नाश के बाद उसकी सत्ता जब नहीं दिखाई पड़ती है तब उसका सद्भाव किस प्रकार होगा ? ऐसी शंका [अर्जुन के मन में है, यह देखकर इस देह के नाश] के बाद दूसरी देह में आत्मा की सत्ता रहती है, इसे उदाहरण के साथ प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण के द्वारा अर्जुन को समझाने के लिए श्रीभगवान् कह रहे हैं—

अस्मिन् देहे—इस देह में देहिनः—अविक्रिय अर्थात् विकाररहित के रूप से (एक ही रूप से) 'मैं, मैं' इस प्रकार सर्वदा अवस्थित देही का (देह में आत्मा की उपलब्धि होती है इसलिए आत्मा को देही कहा जाता है)। कौमारं—कुमार का शरीर, यौवनं—युवा का शरीर जरा—जरा के द्वारा उपलक्षित जीर्ण शरीर—ये सब जिस प्रकार आते हैं अर्थात् कौमार छोड़ के यौवन, यौवन छोड़ के जरा (वृद्ध का शरीर) आती है, तथा—उसी प्रकार देहान्तरप्राप्तिः—इस स्थूल देह को छोड़कर अविनाशी आत्मा को देहान्तर (दूसरी देह) की प्राप्ति होती है। श्रुति इसलिए कहती है—'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (जीव से रहित होकर ही इस शरीर की मृत्यु होती है—जीव की मृत्यु नहीं होती है)। यद्यपि जाग्रत देह तथा स्वप्नदेह का सुषुप्ति में नाश होने से आत्मा की सत्ता को सुषुप्ति में जाना नहीं जाता है तब भी सुषुप्ति से उठकर जो स्वप्न देखा था एवं सुषुप्ति में जो सुख से सोया था, वह 'मैं' ही अब जाग्रत हूँ ऐसी अपनी प्रत्यभिज्ञा के बल से जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा की सत्ता एवं नित्यत्व एक ही प्रकार रहता है। यह जानकर, धीरः—विद्वान् अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष तत्र—आत्मा के नित्यत्व के विषय में न मुह्यति—मोहित नहीं होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि—अतीत जन्म में आत्मा ने अन्नादि आहार अवश्य ही किया है क्योंकि वह इस जन्म में उपदेश के बिना ही स्तनपान करने में प्रवृत्त हुई है—'जो ऐसा नहीं है, वह वैसा नहीं हैं', जैसे प्रतिमा आदि। आत्मा (इस देह के नाश के बाद) दूसरा देह आने से भी एक ही रूप से स्थित रहता है क्योंकि वह नित्य है। जैसे इस जन्म में कौमार, यौवनादि, जरादि देह को प्राप्त करने से भी आत्मा स्थिररूप से (एक ही

रूप से) स्थित रहता है। इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति तथा प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणादि के द्वारा जन्मान्तर में भी (देह का दूसरा जन्म होने पर भी) आत्मा का सद्भाव बराबर रहता है यह जानकर एवं उसके द्वारा अर्थात् उस ज्ञान के द्वारा आत्मा का नित्यत्व निश्चय कर 'आत्मा है या नहीं है' ऐसा शंकाजनित भ्रम पंडित व्यक्ति लोग नहीं करते हैं अर्थात् पंडित व्यक्ति का (तत्त्वज्ञानी का) आत्मा की सत्ता के नित्यत्व के सम्बन्ध में भ्रम कभी भी होना सम्भव नहीं है।

(४) नारायणी टीका—धीरस्तत्र न मुह्यति—संसार में शोक मोह का कारण है अविद्या एवं उससे उत्पन्न देहेन्द्रियादि में धर्म आत्माभिमान (अर्थात् देहेन्द्रिय के धर्म को अपना धर्म मानना प्रत्येक देहाभिमानी पुरुष को ही कुमार अवस्था के बाद यौवनावस्था आती है फिर यौवन के बाद जरा की अवस्था आती है। ठीक उसी प्रकार इस स्थूल देह को त्याग करके स्वतः ही देहान्तर की प्राप्ति होती है किन्तु देही (आत्मा) सभी अवस्था में एक रहता है। इसलिए श्रुति में कहा है—"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते" (छा. उ.) अर्थात् जीव को जब इस देह में अभिमान नहीं रहता है तब यह देह मरता है, किन्तु जीव की मृत्यु नहीं होती है। इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में एक की अवस्था दूसरे में नहीं रहती है, तब भी जिन्होंने स्वप्न देखा था अथवा जो सुषुप्ति में बाह्य सारे विषयों के सम्बन्ध में ज्ञानरहित होकर सोये थे, वे जागकर कहते हैं "मैंने ऐसा स्वप्न देखा था", अथवा "सुषुप्ति में मैं खूब सुख से था—तब कुछ भी नहीं जानता था।" इससे प्रमाणित होता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की अवस्था का परिवर्तन होने पर भी उनका द्रष्टा या विज्ञाता एक ही रहता है अर्थात् ये सब अवस्थाओं को जाननेवाला 'मैं' ही हूँ, इस बोध का कभी भी लोप नहीं होता है। ये ही देही हैं। इनका विनाश नहीं होता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्" "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्" (बृह० उ० ४।३।२३-२०) अर्थात् इस द्रष्टा या विज्ञाता का कभी भी लोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है। आत्मा ही एकमात्र शुद्ध तथा सत्य वस्तु है। देहादि का धर्म में अभिमान (अर्थात् मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ इत्यादि) अथवा कौमार आदि अवस्था में अभिमान अथवा जाग्रदादि में अभिमान भ्रम के कारण ही होता है। आत्मा में ही सभी अवस्था भ्रान्तिवश कल्पित होती हैं। अतः ये सब मिथ्या है। इस

प्रकार जिनकी बुद्धि निश्चित हो गयी है, वे ही धीर हैं (विद्वान् या आत्म-तत्त्वज्ञ हैं)। इस जन्म के कौमारादि अवस्थाओं के भेद की प्राप्ति होने से अथवा देहान्तर प्राप्त होने से भी आत्मा नित्य, सत्य तथा अविकारी है इस विषय में निश्चित बुद्धि रहने के कारण किसी भी अवस्था में धीर व्यक्ति "मैं मरूँगा या और कोई मरेगा" अथवा "मैं इन लोगों का घातक हूँ और ये लोग मेरे द्वारा हत होंगे" इस प्रकार की भ्रान्ति में नहीं आते हैं। पूर्ववर्ती श्लोक में दिखाया गया है कि आत्मा की मृत्यु नहीं होती है, अतः आत्मा के लिए शोक नहीं करना चाहिए। इस श्लोक में दिखाया गया है कि आत्मा के देहान्तर ग्रहण करने पर भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि आत्मा सभी अवस्था में एक ही रूप से स्थिर रहती हैं—केवल देह का ही जन्म होता है, देह की ही अवस्था का क्षण-क्षण में परिवर्तन होता है एवं देह की ही मृत्यु होती है।

[श्रुति प्रभृति के प्रमाण से एवं युक्ति के द्वारा आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है। अतः जो लोग आत्मा को नित्य जानते हैं उन लोगों को आत्मा के विनाश के सम्बन्ध में मोह होना सम्भव नहीं है। तब भी उन लोगों को भी शीत-उष्ण-सुख-दुःख की प्राप्ति में लौकिक मोह (अर्थात् साधारण व्यक्ति की तरह ही मोह) होता है एवं उनको भी दुःख के साथ संयोग होने से एवं सुख से वियोग होने से शोक होता है, यह भी देखा जाता है। अतः शोक-मोह से रक्षा पाने का कोई उपाय नहीं है ऐसी आशंका अर्जुन के मन में हो सकती है इसलिए श्रीभगवान् कह रहे हैं—]

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः तु शीत-उष्ण-सुख-दुःखदाः आगमापायिनः अनित्याः । हे भारत ! तान् तितिक्षस्व ।

अनुवाद—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन। इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध शीतोष्ण की तरह सुख-दुःख प्रदान करते हैं। किन्तु ये सभी ही उत्पत्ति तथा विनाशशील एवं अनित्य हैं। इस कारण से हे भारत ! तुम इन सब को सहन करो।

दीपिका—हे कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तुम्हारी माता कुन्ती ने असहनीय दुःख सहन किया है किन्तु कभी भी उनको धैर्यच्युति नहीं

हुई हैं। अतः तुममें भी यह अनित्य सुख दुःखादि सहन करने की अवश्य सामर्थ्य है। यही स्मरण कराने के लिए भगवान् ने "कौन्तेय" शब्द का व्यवहार किया है।

मात्रास्पर्शाः—मात्राः शब्द का व्युत्पत्ति-अर्थ है "आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि" अर्थात् शब्द प्रभृति विषय जिसके द्वारा ज्ञानगोचर (ज्ञान का विषय) होता है उस कर्ण प्रभृति इन्द्रियसमूहको 'मात्राः' कहा जाता है। स्पर्शाः—शब्दादि विषय के साथ संयोग को 'स्पर्श' कहा जाता है। अतः "मात्रास्पर्शाः" शब्द का अर्थ इन्द्रियादि का विषय के साथ संयोग। यह मात्रास्पर्श ही शीत, उष्ण, सुख एवं दुःख को प्रदान करता है। अथवा "स्पृश्यन्ते इति स्पर्शा विषयाः शब्दादयः" अर्थात् जो स्पर्श (अर्थात ज्ञान) का विषय होता है उन शब्दादि विषयों को स्पर्श कहा जाता है अर्थात् इन्द्रियों को मात्रा एवं विषयों को स्पर्श कहा जाता है। वे सब शीतोष्णसुखदुःखदाः—शीत तथा उष्ण की तरह सुख तथा दुःख प्रदान करते हैं। शीत किसी समय में सुख का हेतु होता है (जैसे गृष्म काल में); किसी समय में दुःख का हेतु है (जैसे शीत काल में); इस प्रकार उष्ण किसी समय (शीतकाल) में सुखकर तथा किसी समय (ग्रीष्मकाल) में दुःखकर होता है। इस कारण से शीत तथा उष्ण इन दो वस्तुओं की सुख तथा दुःखरूपता अनियत है अर्थात् ये एकरूप से नहीं रहते हैं—अवस्था के भेद के अनुसार उनमें परिवर्तन होता है किन्तु सुख तथा दुःख नियत अर्थात् [सुख की सुखरूपता तथा दुःख की दुःखरूपता का कभी भी व्यभिचार नहीं होता है। इस कारण से सुख तथा दुःख से पृथक् कर शीत तथा उष्ण को ग्रहण किया गया है। विषय के साथ इन्द्रिय के संयोग के कारण जिस सुख तथा दुःख की उत्पत्ति होती है वह भी उसी प्रकार है [अर्थात् विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग शीत तथा उष्ण की तरह सुख-दुःख प्रदान करता है]। एक ही विषय किसा व्यक्ति के लिये किसी समय में सुखकर फिर किसी समय में वही विषय दुःखकर होता है किन्तु सुखरूपता या दुःखरूपता का कोई भेद नहीं होता है। प्रश्न होगा विषय तथा इन्द्रिय का संयोग तो नित्य है। अतः उनके निमित्त सुख दुःख भी नित्य रहेगा। इसलिये वे सुख तथा दुःख के द्वारा सर्वदा आक्रान्त होने से उस सुख-दुःख के चिंतन से कैसे मुक्त हो सकेंगे ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—चूँकि यह मात्रास्पर्शादि (अर्थात् इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग अथवा इन्द्रिय एवं विषय) आगमा-

पार्थिनः अनित्याः—आगम (उत्पत्ति) तथा विनाशशील होने के कारण अनित्य है, तान् तितिक्षस्व—अतः वह शीतोष्णादि तथा सुख-दुःखादि सहन करो अर्थात् इस शीतोष्ण एवं सुख-दुःख के प्राप्त होने से हर्ष-विषाद न करो। भीष्मादिरूप विषय के साथ संयोग तथा वियोगरूप मात्रास्पर्श यथा क्रम से तुम्हारे लिये सुख तथा दुःखप्रद है—इन सबको तुम्हें सहन करना पड़ेगा। माघ महीने में स्नान करना दुःखकर होने से भी धर्म का विधान पालन करने के लिए जैसे उस शीत को सहन करके भी स्नान करना पड़ता है उसी प्रकार भीष्मादि के साथ युद्ध दुःखकर होने से भी उस दुःख को सहन कर तुम्हें क्षत्रिय का धर्म पालन करना होगा, यही तात्पर्य है। हे भारत !—अर्जुन, तुम कुन्ती के पुत्र हो तथा भरतवंश में उत्पन्न हुए हो। तुम्हारे दोनों कुल ही विशुद्ध है। अतः तुम्हारे लिए अज्ञान अनुचित है, यही कहने के उद्देश्य से 'कौन्तेय' तथा 'भारत' इन दो शब्दों के द्वारा अर्जुन को सम्बोधित किया जा रहा है। अथवा भा—ब्रह्मविद्या, तस्यामेव रमते इति भारत। अर्जुन को ब्रह्मविद्या का अधिकारी देखकर उन्हें 'भारत' शब्द के द्वारा सम्बोधित किया गया है।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—अच्छा, आत्मा के नित्यत्व तथा विभुत्व के सम्बन्ध में मैं विवाद नहीं करूँगा किन्तु आत्मा प्रतिदेह में अभिन्न (एक) हैं यह स्वीकार नहीं कर पा रहा हूँ, जैसे—सभी नैयायिक, वैशेषिक तथा मीमांसक लोग आत्मा का गुणवत्त्व (इच्छा तथा द्वेषादि गुण से विशेषत्व) एवं बहुत्व स्वीकार करते हैं किन्तु सांख्यमतावलम्बी लोग आत्माका निर्गुणत्व स्वीकार कर भी आत्मा अनेक है यह कहते हैं क्योंकि उनके मत में प्रत्येक देह में आत्मा भिन्न भिन्न नहीं होने से सुखदुःख प्रभृति का सांकर्य उपस्थित होता है अर्थात् आत्मा सब देह में एक होने पर एक का सुख दूसरों को स्वतः ही मिल जायगा। एवं दूसरे के पाप में अन्य दूसरे पुण्यात्मा को दुःख भोगना पड़ेगा। इन मतों के द्वारा भ्रान्त होकर अर्जुन शंका कर सकते हैं—"मैं" शब्द का लक्ष्य वस्तु जो आत्मा है वह नित्य तथा सर्वव्यापी होने से भी मैं जब भीष्म प्रभृति से भिन्न हूँ एवं सुख-दुःख आदि गुणों से युक्त हूँ, तब भीष्म प्रभृति बन्धुओं के वियोग से मेरा सुख से वियोग एवं दुःख के साथ संयोग तो होगा ही। अतः मेरा शोक तथा मोह प्रकाश करना अनुचित क्यों है ? अर्जुन के इस प्रकार के अभिप्राय की आशंका कर आत्मा तथा लिंग शरीर के पार्थक्य (भेद) समझाने के लिए श्री भगवान् अब कह रहे हैं—मात्रास्पर्शास्तु इत्यादि।

मात्रास्पर्शास्तु—इनका अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा सभी विषय मित अर्थात् गृहीत होते हैं इस लिए इन्द्रियको 'मात्रा' कहा जाता है। उनके (इन्द्रिय के) विषय के साथ सम्बन्ध (संयोग) को स्पर्श कहा जाता है। अथवा उन-उन विषयाकार में अन्तःकरण का जो परिणाम होता है वही स्पर्श है। यह मात्रास्पर्श (अर्थात् इन्द्रियादिका विषय के साथ संयोग अथवा इन्द्रिय द्वारा अन्तःकरण की विषयाकारता प्राप्ति) आगमापायिनः—उत्पत्ति—विनाशशील अर्थात् वह आता और जाता है। शीतोष्णसुखदुःखदाः—एवं वह सब शीत तथा उष्णादि के द्वारा अन्तःकरण का ही सुखदुःखप्रदायक होता है। नित्य तथा सर्वव्यापी आत्मा को वे सुखदुःख प्रदान नहीं कर सकते हैं क्योंकि आत्मा निर्गुण तथा निर्विकार है। सुखदुःख इत्यादि अनित्य धर्म है। आत्मा नित्य होने के कारण अनित्य सुखदुःखादि धर्म का आश्रय नहीं हो सकती है। [क्योंकि धर्म तथा धर्मी के अभेद सम्बन्ध बिना दूसरा किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं होता है। अतः धर्म तथा धर्मी अभिन्न हैं, यह स्वीकार करना पड़ता है। धर्म अनित्य होने से धर्मी नित्य नहीं हो सकता है। इस कारण से नित्य आत्मा का सुखदुःखादि अनित्य धर्म रहना असम्भव है] इस कारण से ही जो कुछ जड़दृश्य वस्तु है वह चेतन साक्षीका (द्रष्टा आत्मा का) धर्म नहीं हो सकता है। इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा गया है—"नर्ते स्यात् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः। धीविक्रिया सहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः" अर्थात् विकार प्राप्त नहीं होने से कोई दुःखी नहीं होता है। और जो विकारी है वह साक्षी नहीं हो सकता है। चूँकि मैं (आत्मा) बुद्धि या अन्तःकरण के हजार-हजार कार्य का साक्षी हूँ इसलिए मैं अविक्रिय (विकार शून्य) हूँ। अतः सुख दुःखादि का आश्रय जो अन्तःकरण है उसी के भेद के कारण सभी प्रकार को व्यवस्था की उपपत्ति (समाधान) हो सकती है। निर्विकार तथा सभी वस्तु के प्रकाशक आत्मा के भेद के कारण सुख दुःखादिका भेद होता है इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि सद् रूप में (अस्ति रूप में) तथा चिद्रूप में (भाति अर्थात् प्रकाश रूप में) आत्मा सर्वत्र ही व्याप्त है। और अन्तःकरण में ही सुख दुःख की उत्पत्ति होती है वह उभयवादी ही अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में एकत्ववादी तथा बहुत्ववादी दोनों पक्ष ही स्वीकार करते हैं, इस विषय में समवायी कारण ही (उपादान कारण ही) प्रधान है इसलिए अन्तःकरण की सुख दुःखादि के समवायी (उपादान) कारण के रूप में कल्पना करनी चाहिए [केवल निमित्त कारण (यथा कुम्भार) घटरूप कार्य का जनक नहीं हो सकता है उसे उपादान

कारण या समवायिक कारण मृत्तिका की अपेक्षा करनी पड़ती है इसलिए उपादान कारण (जो मृत्तिका के रूप में है वह) ही घटोत्पत्तिरूप कार्य में प्रधान कहा जाता है]। सुखदुःखादि के विषय में जब अन्तः करण से भिन्न दूसरा कोई समवायिकारण उपस्थित नहीं है तब अन्तःकरण की केवल निमित्त कारण के रूप में कल्पना करना उचित नहीं है। श्रुति भी इसलिए कह रही हैं–'कामः संकल्पः'''एतत् सर्वं मन एव' अर्थात् काम, संकल्प, सुखदुख इत्यादि सभी मन ही है। इस प्रकार अन्तःकरण एवं उसके सुखदुःखादिरूप धर्म की अभिन्नता प्रतिपादन कर श्रुति कह रही हैं कि मन ही कामादि सभी प्रकार के विकार का उपादान है। और शत-शत श्रुति वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि आत्मा स्वप्रकाश, ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप हैं अतः आत्मा काम आदि का आश्रय नहीं हो सकता है। इसलिये वैशेषिक प्रभृति दार्शनिकलोगों ने भ्रान्तिवश ही आत्मा के विकारित्व तथा भेद को स्वीकार किया है। अन्तः-करण आगमापायि (उत्पत्ति तथा विनाशशील) एवं दृश्य है। अतः वह नित्यदृक्स्वरूप (जन्ममरणरहित द्रष्टस्वरूप) आत्मा से भिन्न है। (अन्तः-करण के सुख दुःखादिजनक जो मात्रास्पर्श है वह भी अनित्यान्—अनियत रूप हैं अर्थात् वे सर्वदा एक प्रकार के नहीं होते हैं क्योंकि जो शीत तथा उष्ण एक समय में सुख उत्पन्न करते हैं वे ही फिर दूसरे समय में दुःखप्रद होते हैं। इस प्रकार जो कभी भी दुःखजनक होता है वही फिर दूसरे समय में सुखप्रद होते हैं। इसप्रकार जो कभी भी दुःखजनक होता है वही फिर दूसरे समय में सुख प्रदान करता है ऐसा दिखता है। श्लोक में 'शीतोष्ण' पद के द्वारा आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इस तीनों प्रकार के हीं सुखदुःख को उपलक्षण द्वारा समझाया जा रहा है। शीत तथा उष्ण—ये सब कभी सुख तथा कभी दुःख के रूप में प्रतीत होते हैं किन्तु सुख तथा दुःख कभी भी विपरीत नहीं होते हैं अर्थात् सुख कभी भी दुःख नहीं होता है तथा दुःख भी कभी सुख नहीं होता है। तुमसे पृथक् भीष्मादि के साथ संयोग अथवा वियोगरूप मात्रास्पर्श तुमसे भिन्न जो विकारी अंतःकरण है उसे ही सुखदुःख प्रदान करता है। वह मात्रास्पर्श अनित्य अर्थात् अत्यन्त अस्थिर है, तान् तितिक्षस्व—अतः इन मात्रास्पर्शों को तुम सहन करो अर्थात् ये मुझसे (आत्मा से) पृथक् हैं—मैं तो असंग चित्स्वरूप हूँ, अतः ये मुझको स्पर्श भी नहीं कर सकेंगे, इस प्रकार की भावना से उपेक्षा करो। दुःखी अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास कर (अन्तःकरण धर्म को अपने आत्मा का धर्म मानकर) अपने को दुःखी मत सोचो। कौन्तेय एवं

भारत—इन दो प्रकार के सम्बोधन कर भगवान् सूचित कर रहे हैं कि 'तुम्हारा दोनों कुल ही (अपना कुल तथा माता का कुल) दोनों ही विशुद्ध है'। अतः तुम्हारे लिए अज्ञान शोभा नहीं देता है।

(२) श्रीधर—[उनके लिए शोक नहीं कर रहा हूँ किन्तु उनकी मृत्यु में जो दुःख होगा, उसके लिए मैं शोक कर रहा हूँ—ऐसा यदि कहूँ ? इसके उत्तर में कह रहे हैं]। मात्रास्पर्शाः तु—जिसके द्वारा विषय का ज्ञान होता है उन्हें मात्रा अर्थात् इन्द्रियवृत्ति कहा जाता है। उस इन्द्रियवृत्ति के साथ विषय का जो स्पर्श या सम्बन्ध (संयोग) होता है उसे मात्रास्पर्श कहा जाता है। ये सब मात्रास्पर्श शीतोष्णसुखदुःखदाः—शीत, उष्ण, सुख, दुःख प्रदायक होते हैं किन्तु वे आगमापायिनः अनित्यान् —उत्पत्ति तथा विनाशशील हैं अतः अनित्य अर्थात् अस्थिर है। अतः तान् तितिक्षस्व—उन्हें सहन करो। जैसे स्वभावतः अल्प का संसर्ग शीत तथा धूप का संसर्ग गरमी प्रदान करता है, उस प्रकार इष्ट वस्तु के संयोग से सुख तथा वियोग से दुःख मिलता है। यह सुख तथा दुःख अनित्य (अस्थिर) है अर्थात् वे आते हैं तथा जाते हैं। अतः तुम्हारे सदृश धीर व्यक्ति को यह सहन करना चाहिए। हर्ष तथा विषाद के वशीभूत होना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं है।

(३) शंकरानन्द—यद्यपि मैं जानता हूँ कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम (श्रुति) के द्वारा यह सिद्ध होता है कि त्वं पद का लक्ष्यार्थ आत्मा नित्य ही है तथापि भीष्मादि शब्द के वाच्यार्थ को (अर्थात् उनके शरीर की) मृत्यु होने से उनके वियोग से जिस दुःख की उत्पत्ति होगी उसे मैं सहन करने में समर्थ नहीं होऊँगा, अर्जुन को ऐसा अभिप्राय लक्ष्यकर मुमुक्षुओं के अनात्मविषयक सुख-दुःख का अनुसन्धान नहीं करना चाहिए किन्तु प्रारब्ध के कारण आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीन प्रकार के जो दुःख उपस्थित होते हैं उन्हें सहनकर तीव्र मोक्ष की इच्छा के साथ सर्वदा ब्रह्म का ही अनुसन्धान (चिन्तन) करना कर्तव्य है, इसे सूचित करने के लिए भगवान् कह रहे हैं—

मात्रास्पर्शाः तु—चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा सामान्यरूप से जिन रूपादि विषयों को जाना जाता है वह मात्रा और वाक् आदि दोनों इन्द्रियों के द्वारा (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा) जो स्पर्श किया (ग्रहण किया) जाता है वह स्पर्श है। अतः, 'मात्रास्पर्श' पद का अर्थ है शब्दादि भोग्य-पदार्थ वे सब शीतोष्णसुखदुःखदाः—शीत और उष्ण की तरह सुख

तथा दुःख प्रदान करता है। शीत तथा उष्ण दोनों ही जैसे किसी समय में अनुकूल होकर सुख एवं किसी समय में प्रतिकूल होकर दुःख देते हैं उसी प्रकार शब्द आदि भी अनुकूल तथा प्रतिकूल होकर सुख तथा दुःख देते हैं। अच्छा, विषय और इन्द्रिय का संयोग तो नित्य होता है। अतः उस संयोग से जिस सुख तथा दुःख की उत्पत्ति होती है वह भी नित्य होगी ? अतः सुख दुःख के अनुसन्धान (चिन्तन) विना ब्रह्म का अनुसन्धान कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—आगामापायिनः अनित्याः तान् तितिक्षस्व—आगम (उत्पत्ति) और अपाय (विनाश), इनके द्वारा युक्त विषय एवं उन विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख आदि विद्युत् की तरह अनित्य होते हैं। अतः इन क्षणस्थायी विषयों को एवं उनके संयोग तथा वियोग को सहन करो। हे भारत, हे कौंतेय—भा अर्थात् ब्रह्मविद्या में ही जो रत रहते हैं (अर्थात् ब्रह्मविद्या में ही जो रमण करते हैं) वे भारत (कुन्ती पुत्र अर्जुन) जो नित्य सुख पाने की आकांक्षा करते हैं, ऐसे मुमुक्षु व्यक्ति के प्रारब्ध के द्वारा प्राप्त सुख दुःख आदि को सहन करना अवश्य कर्तव्य है क्योंकि इस प्रकार जो सहन कर सकते हैं, उनकी ही श्रवण आदि, श्रवण आदि से उत्पन्न ज्ञान एवं ज्ञान का फल मोक्ष की सिद्धि होती है। अतः तुम जैसे भीष्म, द्रोण आदि के समागम के कारण सुख सह रहे हो उस प्रकार उनके वियोगजनित दुःख को भी सहन करो। दुःख की प्रतिक्रिया को (अर्थात् दुःख के प्रतिरोध के उपाय की चिन्ता तथा दुःख से उत्पन्न विषादादि को) त्याग कर दुःख को सहन करना ही मुमुक्षु का उत्तम धर्म है। श्रुति भी इसके सम्बन्ध में ऐसा कहती है—'वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत। उपल इव निष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत' (वृक्ष की तरह स्थिर रहना होगा, छेदन करने से भी क्रोधित तथा कम्पित नहीं होना चाहिये; पत्थर की तरह स्थिर रहना होगा, छेदन करने से भी कोप न करे तथा कम्पित न हो इत्यादि)। देहेन्द्रियादि तथा शब्द आदि सभी अनित्य है क्योंकि उनकी उत्पत्ति तथा विनाश होता है। जो ऐसा नहीं है, वह वैसा नहीं होता है अर्थात् जो उत्पत्तिशील तथा नाशवान् नहीं है, वह अनित्य भी नहीं होता है, जैसे आत्मा। आत्मा नित्य है क्योंकि आगमापायी (उत्पत्ति तथा विनाशशील) वस्तुओं का आत्मा साक्षी है। जो ऐसा नहीं है वह वैसा नहीं हो सकता है, जैसे शरीर, इस प्रकार के अनुमान के द्वारा यह सूचित हो रहा है कि देह, इन्द्रिय आदि अनित्य हैं एवं उनका साक्षी आत्मा नित्य है।

(४) नारायणीटीका—मात्रास्पर्श से ही [विषय के साथ मात्रा का

(इन्द्रियों का) स्पर्श (संयोग) होने से ही] शीत उष्ण तथा सुख-दुःख का अनुभव होता है। [यहाँ इन्द्रिय शब्द के द्वारा अन्तःकरण को भी समझा जायगा]। सुख-दुःख आदि का ग्रहण चित्तवृत्ति के द्वारा होता है। चित्त के आत्मा में वृत्तिहीन होकर स्थित होने से विषय, इन्द्रिय उनके संयोग एवं संयोगजनित शीत, उष्ण तथा सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है क्योंकि ये सब ही कल्पित हैं। चित्त आत्मसंस्थ (आत्मा में पूर्णरूप से स्थित) होने पर वे सब ही आत्मरूप में एक हो जाते हैं। अतः जब तक अज्ञान रहता है तब तक प्रारब्ध के अनुसार आगत सुख-दुःख आदि को सहन करना मुमुक्षु का (मोक्ष के आकांक्षी व्यक्ति का) आवश्यक कर्त्तव्य है। जिन में ऐसा सहन करने का सामर्थ्य है उनको ही वेदान्त के महावाक्य के श्रवणादि का अधिकार होता है एवं उसके बाद ज्ञान उत्पन्न होने से मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है। दुःख उपस्थित होने से उसकी प्रतिक्रिया के लिए चिन्ता न रहने से ही उसे तितिक्षा कहा जाता है। दुःख उपस्थित होने पर किसी प्रकार से विचलित न होकर दुःख को सहन करना ही मुमुक्षु का उत्तम धर्म है। सुख-दुःखादि सभी अनात्म धर्म (देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण का धर्म) है एवं अनित्य हैं। किन्तु आत्मा उस उत्पत्ति (आगम) तथा विनाश (अपाय) का नित्य साक्षी है! अतः उस नित्य आत्मा में स्थित होने से ही सुख-दुःख के स्पर्श से मुक्त होना सम्भव है। "आगमापायिनः" शब्द के द्वारा देह में इन्द्रियादि का एवं उनके द्वारा ग्राह्य विषयों का अनित्यत्व तथा मिथ्यात्व एवं उनके साक्षी आत्मा का नित्यत्व तथा सत्यत्व सूचित किया जा रहा है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया शीत, उष्ण, सुख तथा दुःख को जो लोग सहन करते हैं, उन लोगों का क्या होता है ? तो सुनो, मैं कह रहा हूँ—]

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अन्वय—हे पुरुषर्षभ ! एते यं समदुःख-सुखं पुरुषं हि न व्यथयन्ति, सः अमृतत्वाय कल्पते।

अनुवाद—हे पुरुषश्रेष्ठ ! जो सुख तथा दुःख में समान अनुभवकारी हैं (अर्थात् सुख में हर्ष या दुःख में विषाद अनुभव नहीं करते हैं) उन धीर पुरुषों को यह शीत तथा उष्ण व्यथा देने में (चंचल करने में) समर्थ नहीं हो सकते हैं। ऐसे पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

दीपिका—हे पुरुषर्षभ—हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! चूँकि तुम पुरुषों में श्रेष्ठ हो। अत एव तुम्हें शीत उष्ण, सुख, दुःख कुछ भी विचलित नहीं कर सकेगा। अतः मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ तुम प्राप्त करोगे यह मेरा विश्वास है इसे ही सूचित करने के लिए भगवान् ने यहाँ इस प्रकार से सम्बोधन किया। एते—यथोक्त शीतोष्णादि अर्थात् शीत, उष्ण, सुख, दुःख यं समदुःखसुखं—सुख या दुःख की प्राप्ति में जो समान रहता है (अर्थात् सुखप्राप्ति से जिसका हर्ष नहीं होता है तथा दुःखकी प्राप्ति से जिसका विषाद उत्पन्न नहीं होता है) उस प्रकार के धीरं पुरुषं—धीमान् पुरुषको। धीमान् शब्द के द्वारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान युक्त होकर जो आत्म-दर्शन करने के योग्य हुए हैं उस प्रकार के पुरुष को निर्देश किया जा रहा है। उन्हें हि न व्यथयन्ति—परिचालित या (विचलित) नहीं कर सकता है अर्थात् वे सदा एवं सभी जगह में एक ही आत्मा का दर्शन करते हैं अतः शीतोष्णादि कोई भी उन्हें आत्मस्थिति से च्युत नहीं कर सकता है। सः—नित्यानित्य (आत्मानात्म) विवेकज्ञान तथा वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न होकर आत्मा को साक्षात् कर उस नित्य आत्मा में जिस तत्त्वदर्शी ने निष्ठा (स्थिति) प्राप्त की है अतः (उनकी दृष्टि में कोई द्वैतवस्तु न रहने के कारण) वह द्वन्द्वसहिष्णु हुआ है अर्थात् शीत, उष्ण, सुख, दुःख को समान रूप से ही ग्रहण करता है, ऐसा पुरुष अमृतत्वाय—अमृततत्त्व (मृत्यु रहित अवस्था) या मोक्ष लाभ करने में [अर्थात् श्रुति में जिसे अमृत, अभय, एवं ब्रह्मपद कहा जाता है उस पद को लाभ करने में] कल्पते—समर्थ होते हैं।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—पूर्ववर्ती श्लोक की व्याख्या में कहा गया है कि अन्तःकरण सुख-दुःख आदि का आश्रय है। यदि यही हो तब अन्तःकरण का ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व रहने के कारण अन्तःकरण का ही चेतनत्व स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि निर्गुण निष्क्रिय आत्मा कर्ता या भोक्ता नहीं हो सकता है। अन्तःकरण का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व आत्मा में आरोपित होने के कारण अन्तःकरण से व्यतिरिक्त (पृथक्) एवं अन्तःकरण का प्रकाशक स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है, वैशेषिकों का ऐसा ही मत है। वे लोग कहते हैं कि हम लोगों के मत में जिसे आत्मा कहा जाता है उसे अद्वैतवादी तुम लोग अन्तःकरण कहते हो, केवल उसके नाम में भेद है। यदि आत्मा को अन्तःकरण से पृथक् मानो तब बन्धन तथा मुक्ति एक अधिकरण में नहीं रह सकता। अतः वह युक्तिविरुद्ध बात होगी अर्थात् अन्तः-करण सुख-दुःख का आश्रय होने के कारण बद्ध हो जायगा और आत्मा

अन्तःकरण से भिन्न होने के कारण मुक्त रहेगा, ऐसी उक्ति युक्तिविरुद्ध होगी। अर्जुन की इस प्रकार की आशंका दूर करने के लिए भगवान् कह रहे हैं हि यं—आत्मा स्वप्रकाश होने के कारण स्वतः ही प्रसिद्ध हैं ['हि' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ में व्यवहार किया गया है]। क्योंकि श्रुति कहती है—'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति' अर्थात् यहाँ यह पुरुष स्वयं ज्योतिः अर्थात् स्वप्रकाश होता है। [उसको ही श्रुति में 'पुरुष' कहा गया एवं वह ही 'समदुःखसुख' तथा 'धीर' है यह अभी कहा जा रहा है—] पुरुषं—पूर्णरूप से सभी जीवों के पुर में (शरीर में) शयान (अधिष्ठित) रहते हैं [अर्थात् [सब कुछ व्याप्तकर शयान (अधिष्ठित) रहते हैं] इसलिए परमात्मा परब्रह्म को पुरुष कहा जाता है। [श्रुति भी यही कहती है—'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरि वा शयो नैतेन किंचनावृतं नैतेन किञ्चना-संवृतम्' बृह० उप०] समदुःखसुखं—निर्विकार स्वयंज्योतिः द्रष्टस्वरूप परमात्मा के पास सुख तथा दुःख दोनों ही अनात्मधर्म एवं प्रकाश्य हैं अर्थात् परमात्मा सुख तथा दुःख को समान रूप से प्रकाशित करता है परन्तु उनके द्वारा किसी प्रकार से विकार प्राप्त नहीं होता है। यहाँ 'सुख-दुःख' शब्द के द्वारा अन्तःकरण का अशेषविध परिणाम को (राग) द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि सभी प्रकार की वृत्ति को) समझाया जा रहा है। श्रुति भी इसीप्रकार ही कहती है—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते न अणीयान्' (बृह० उ०) अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुष की यह महिमा नित्य है। (वह महिमा किस प्रकार की है ?) वह (सुख का या दुःख का) किसी कर्म के द्वारा वृद्धि प्राप्त नहीं होता है और न क्षय को प्राप्त होता है। इसप्रकार से श्रुति आत्मा सुख तथा दुःख की अवस्था में बराबर एक ही रहती है, वह कहती है। इसप्रकार समसुखदुःख तथा धीरं—धियमिरयति अर्थात् धी (बुद्धि) को परिचालित करता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार चिदाभास से बुद्धि के साथ तादात्म्याध्यास के द्वारा जो बुद्धि का प्रेरक है अर्थात् बुद्धि का साक्षी है उसे श्रुति में भी 'धीर' कहा गया है। यथा—"स धीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमति-क्रामति" अर्थात् वह पुरुष स्वप्नावस्था में बुद्धिवृत्ति को तादात्म्याध्यास कर (अपने भी स्वप्नावस्थायुक्त होकर बुद्धि को प्रकाशित कर) इस व्यावहारिक जगत् को अतिक्रम करते हैं। [यहाँ आत्मा का बन्धन किस प्रकार होता है दिखाया गया अर्थात् बन्धन बुद्धि का धर्म होने से भी अज्ञानवश बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न चिदाभास के साथ आत्मा का तादात्म्याध्यास होने के कारण सदा मुक्त परमात्मा में बन्धन का प्रसंग होता है। और वह पुरुष जब

बुद्धि के साथ तादात्म्याभिमान त्यागकर अपने स्वरूप का अभिमान करता है (मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्म यह अभिमान करता है) तब पुरुष को बन्धन की निवृत्ति या मुक्ति होती है। अतः वैशेषिक लोगों ने पहले जो आपत्ति की थी कि आत्मा को अन्तःकरण से पृथक् मानने से बद्ध अन्तःकरण तथा मुक्त आत्मा के अधिकरण भिन्न होंगे, यह बात खंडित हुई]। इसलिए शास्त्र में कहा गया है "यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा। भावाभावविभागश्च स ब्रह्मास्मीति बोध्यते" ॥ अर्थात् जिनके द्वारा बुद्धिवृद्धिरूप-प्रमाणों की सिद्धि होती है (अर्थात् जिनके द्वारा बुद्धिवृत्ति प्रकाशित होती है किन्तु जो बुद्धिवृत्ति के द्वारा गृहीत या प्रकाशित नहीं होता है) एवं जिनके द्वारा जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति यह तीनों अवस्था एवं उन उन अवस्थायों के ज्ञेय विषय प्रकाशित होते हैं एवं जिनके द्वारा भाव (सत्) तथा अभाव (असत्) का विभाग निश्चित होता है वह स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप साक्षी आत्मा अध्यासवश उन विषयों को ग्रहण कर कर्ता तथा भोक्ता के रूप में प्रतिभात होनेपर भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वेदान्त महावाक्य के द्वारा बोधित होकर सभी उपाधियों से शून्य होकर अपने को ब्रह्म के साथ अभिन्न अनुभव करता है। एते—यह सुख-दुःखदायक मात्रास्पर्श इत्यादि (इन्द्रिय के साथ विषय के सम्बन्ध) हि—चूँकि, न व्यथयन्ति—उन्हें व्यथित नहीं करते हैं अर्थात् परमार्थतः उनका कोई विकार उत्पन्न नहीं करते हैं क्योंकि वह समस्त विकारों का प्रकाशक होने के कारण किसी के द्वारा भी विकृत नहीं हो सकते हैं। इसलिए श्रुति ने कहा है 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।' अर्थात् सूर्य जैसे सभी लोगों की आंखों का प्रेरक होने के कारण सभी लोगों की आँख के स्वरूप होने से भी आखों के बाह्यदोषों के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं उसी प्रकार एक ही पुरुष सभी जीवों की अन्तरात्मा होने से भी वह सभी से बाह्य अर्थात् स्वतंत्र (पृथक् तथा असंग) है। अतः अन्तःकरण के दुःखों के द्वारा वह लिप्त नहीं होता है। इसप्रकार निर्विकार तथा निर्लिप्त पुरुष स अमृतत्त्वाय कल्पते—अपने स्वरूपभूत ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा का ऐक्य अनुभव कर अमृतत्व का अर्थात् मोक्ष का अधिकारी होता है। [तत्त्वमसि प्रभृति वेदान्त महावाक्यों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य साधित कर जीव "सम दुःख सुख धीर पुरुष" अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं क्योंकि श्रुतिमें कहा है—"ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति" (मु० उ०) अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार से

पुरुष के सभी प्रकार के दुःखों का कारण जो अज्ञान है उसकी निवृत्ति हो जाती है एवं वह पुरुष सभी प्रकार के द्वैतभाववर्जित स्वप्रकाश-परमानन्द-स्वरूपता को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वरूप में स्थितिलाभ करने में समर्थ होते हैं। अपने स्वरूप में स्थितिलाभ करने को ही मोक्ष कहा जाता है।

बन्धन ही यदि आत्मा का स्वाभाविक धर्म होता तब मुक्ति पाना कभी भी सम्भव न होता क्योंकि धर्मी की (आत्मा की) निवृत्ति के बिना उसका स्वाभाविक धर्म (बन्धन आदि) कभी भी निवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए कहा गया है—'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा कांक्षीस्तर्हि मुक्तताम्। न हि स्वभावो भावानां व्यवर्तेतौष्ण्यवद्रवेः'। अर्थात् आत्मा यदि कर्ता, भोक्ता इत्यादि होता तब मुक्ति की आकांक्षा करना उचित नहीं होता क्योंकि सूर्य की उष्णता की तरह भावपदार्थों के (जिस पदार्थों की सत्ता विद्यमान है उनके) स्वभाव या धर्म की कभी भी निवृत्ति नहीं होती है। वैशेषिकमत के अनुसार—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना इन नौ विशेष गुणों को बद्ध आत्मा का धर्म कहा जाता है। यदि ऐसा ही हो तब उन विशेष गुणों का प्रागभाव (उत्पत्ति के पूर्व जो अभाव विद्यमान रहता है वह) रहता है अर्थात् जिस समय आत्मा में एक सुख या दुःख या अन्य विशेष गुण रहता है उस समय असंख्य सुख दुःखादिकों का (जिनका भविष्यत् में आविर्भाव होगा उनका) प्रागभाव भी रहता है। इस कारण से प्रत्येक विशेष गुण की निवृत्ति ही 'प्रागभाव सहवृत्ति' रहती है अर्थात् आत्मा में किसी विशेष गुण की निवृत्ति के साथ साथ उस विशेष गुण का प्रागभाव (अर्थात् भावी उत्पत्ति की सम्भावना) रहती है। परन्तु वैशेषिक कहते हैं कि मोक्ष की अवस्था में आत्मा के सारे विशेष गुणों की युगपत् (एक साथ) निवृत्ति होती है एवं उनके प्रागभाव का अभाव भी होता है अर्थात् उनके मत में "प्रागभाव सहवृत्ति" सभी विशेष गुणों की युगपत् (एक साथ) निवृत्ति ही मुक्ति है। किन्तु यह उन सब विशेषगुणों के अधिकरण रूप धर्मी के (अर्थात् आत्मा की) निवृत्ति (नाश) के बिना कभी भी सम्भव नहीं है अर्थात् उनके मतानुसार आत्मा के स्वरूप के नाश के बिना मोक्ष कभी भी नहीं हो सकता है। और यदि कहो कि बन्धन आत्मा में स्वाभाविक नहीं है किन्तु वह बुद्धि प्रभृति उपाधियों के कारण ही हुआ करता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है—"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" अर्थात् मनीषीलोग शरीर, इन्द्रिय तथा मन के साथ युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। अतः धर्मी (आत्मा) विद्यमान रहने से भी शरीर, इन्द्रिय तथा मन इत्यादि के कार्यरूप उपाधि की

निवृत्ति होने से मुक्ति सम्भव है। इसके उत्तर में कहूँगा—जो अपने धर्म को दूसरे के धर्म के रूप में प्रकाश करते हैं उसे ही उपाधि कहा जाता है। अतः बुद्धि प्रभृति अपने धर्म को आत्मा के धर्म के रूप में प्रकाशित करते हैं, यही यदि तुम्हारा मत हो तब तुम लोग भी हमलोगों की तरह बन्धन की असत्यता स्वीकार कर रहे हो। जैसे जवाकुसुम के सान्निध्य के कारण (सामने रहने के कारण) स्फटिक मणि भी लाल दिखाई पड़ता है। किन्तु उसकी वह लाली सत्य नहीं है। आत्मा का भी संसार धर्म के साथ किसी प्रकार का स्वाभाविक संसर्ग न रहने से भी उपाधि के कारण उनका संसार धर्म के साथ संसर्गत्व प्रतीत होता है अर्थात् आत्मा संसार-धर्म से युक्त मालूम होता है। यही आत्मा का बन्धन है। [उपाधि के कारण यह बन्धन होता है। अतः बन्धन मिथ्या है]। और आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने से उस स्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यभूत बुद्धि प्रभृति उपाधिओं की निवृत्ति होती है। तब बुद्धि प्रभृति उपाधि के कारण जो अशेष भ्रम था उसकी भी निवृत्ति होती है एवं इस अवस्था में द्रष्टा आत्मा का भास्य (दृश्य) पदार्थ में जो उपराग (अविद्याजनित संसर्ग) था उसकी भी निवृत्ति होती है। तब शुद्ध, स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप, पूर्ण आत्मा स्वरूपसिद्ध कैवल्य की अवस्था प्राप्त करता है। यही मोक्ष है।

["सुख दुःखदायकमात्रास्पर्शाः" शरीर—इन्द्रिय मनरूप उपाधियुक्त आत्मा को ही व्यथा (कष्ट) दे सकती है अर्थात् अज्ञानवश देहेन्द्रियादि में तादात्म्यबुद्धि रहने से ही वे कष्ट दे सकते हैं किन्तु जो सर्वोपाधि रहित होकर समदुःख-सुख एवं धीर होकर अपने परमानन्दस्वरूप में स्थित हुआ है उसे यह मात्रास्पर्श किस प्रकार व्यथा देगा ? अतः स्वस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। इसीलिए श्लोक में कहा है "सः अमृतत्वाय कल्पते"]। मन, इन्द्रिय, बुद्धि सब ही भास्य (प्रकाश्य) है और आत्मा है भासक (प्रकाशक) अतः आत्मा शरीर, इन्द्रिय इत्यादि नहीं हो सकती है क्योंकि भास्य और भासक का एकत्व असम्भव है। यदि एक ही वस्तु भास्य और भासक हो तब कर्म-कर्तृविरोध (अर्थात् एक ही वस्तु के एक क्रिया का एक ही समय में कर्ता तथा कर्म होने के कारण विरोध) उपस्थित होगा। और यदि कहो "मैं दुःखी हूँ" इत्यादि स्थान में 'मैं' (अहं) शब्द के द्वारा उपलक्षित जो आत्मा है वह अपने अनुभव के द्वारा ग्राह्य होने के कारण भास्य है एवं फिर आत्मा ही आत्मा को (अपने को) अनुभव करने वाला है, अतः भासक भी है अर्थात् आत्मा

भास्य और भासक दोनों ही है। इसके उत्तर में कहा जायगा तुम जो 'अहं' पद को आत्मा कह रहे हो वह 'अहं' प्रकृत आत्मा नहीं है किन्तु वह दुःखादि-वृत्ति से युक्त अहंकार है। वह अहंकार चैतन्यस्वरूप (ज्ञानस्वरूप या अनुभव-स्वरूप) आत्मा के द्वारा भास्य (प्रकाशित) होता है और आत्मा उस अहंकार का भासक है। अतः आत्मा कभी भी भास्यकोटि में प्रवेश नहीं करती है अर्थात् आत्मा कभी भास्य (दृश्य) नहीं होती है। अतः (१) जो दुःखी हैं वह अपने से अतिरिक्त किसी भासक का प्रकाश्य नहीं है चूँकि वे स्वयं भासक हैं अर्थात् अपने ही अपने को प्रकाशित करते हैं, जैसे प्रदीप–इस अनुमान के द्वारा, एवं (२) जो भास्य है (जैसे दुःख) वह अपने से अतिरिक्त भासक की अपेक्षा करता है, जैसे घट—इस प्रकार के अनुमान के द्वारा आत्मा का भासकत्व सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त पूर्वपक्ष को पूछता हूँ कि वे भासकत्व कहने से क्या भानकरणत्व अर्थात् अनुभव का साधनत्व समझे जा रहे हैं अथवा स्वप्रकाशभानरूपत्व (अपना अपने को प्रकाश करना ही उसका स्वभाव है ऐसा) समझे जा रहे हैं। प्रथम पक्ष में दीप जैसे घट आदि वस्तु को प्रकाशित करने के लिए दूसरे किसी साधन की अपेक्षा नहीं करने से भी उसके अपने प्रकाश के लिए अपने से भिन्न ज्ञान की अपेक्षा रखता है (क्योंकि दीप जड़ पदार्थ है) उसी प्रकार दुःखी भी स्वयं दुःख का अनुभव का करण (साधन) होने से भी अपने अनुभव के लिए अपने से भिन्न ज्ञान की (चेतन सत्ता की) अपेक्षा रखता है। ऐसा न कहने से साध्य-वकल्यरूप दोष उपस्थित होगा। [साध्य है—स्वातिरिक्त भासक सापेक्ष-त्वाभाव—किन्तु उसे सिद्ध करने के लिए जो प्रदीप का दृष्टान्त के रूप में उल्लेख किया गया है उसमें है स्वातिरिक्तभासक सापेक्षत्व। साध्य और दृष्टान्त विपरीत होने के कारण साध्यवैकल्य दोष होता है]। द्वितीय पक्ष में अर्थात् भासकत्व का अर्थ 'स्वप्रकाशभानरूपत्व' कहने से पूर्वपक्ष के अनुमान में दुःखी को भासक मानकर भासकत्वरूप जिस हेतु का उल्लेख किया गया है वह असिद्ध होगा। क्योंकि 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार जो अहं प्रत्यय है वह बुद्धि की ही वृत्तिविशेष होने के कारण वह भास्य ही है—भासक नहीं। भासक तो एकमात्र चैतन्यस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मा ही है।

अतः 'दुःखी अपने से भिन्न पदार्थ के द्वारा (आत्मा के द्वारा) प्रकाश्य है चूँकि वह भास्य है 'जैसे घट' इस अनुमान से भास्यत्व हेतु अधिकतर बलवान् होने के कारण विजय प्राप्त करते हैं। और यदि कहो कि

बुद्धिवृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव करनेवाला है यह बात हम लोग स्वीकार नहीं करते हैं, अतः बुद्धि ही भानस्वरूप है। वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जो भान (अनुभूति) है वह सारे देश तथा काल में व्याप्त रहने के कारण उस अनुभूति का भेद—साधक के रूप में (भेद करने में समर्थ) कोई धर्म नहीं रह सकता है एवं इसलिए वह भान या अनुभव सर्वव्यापी, नित्य तथा एक होगा। किन्तु बुद्धि का परिणाम अनित्य, परिच्छिन्न (देश तथा काल के द्वारा सीमित) एवं अनेक रूप होने के कारण बुद्धि वह अनुभवस्वरूप नहीं हो सकती है। तथापि अनुभूति के जो उत्पत्ति तथा विनाश दिखाई पड़ते हैं वह जिस विषय से सम्बन्धित होकर अनुभूति होती है, उस सम्बन्ध की उत्पत्ति तथा विनाश होने के कारण अनुभूति की भी उत्पत्ति तथा विनाश हो रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि में घट पट आदि वस्तुओं के विशेष गुणों का ही परस्पर भेद होता है [किन्तु ज्ञान का कोई भेद नहीं होता है]। घटज्ञान नाश होकर पटज्ञान की उत्पत्ति हुई, इस प्रकार घट पट आदि के साथ अनुभव का जो सम्बन्ध रहता है उस सम्बन्ध के ही नाश तथा उत्पत्ति दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ज्ञानरूप जो विशेष्य का अंश है वह सबमें अनुगत तथा सदा ही वर्तमान रहता है। वस्तुतः ज्ञान की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता है। इसे न मानने से प्रत्येक ज्ञान की उत्पत्ति, विनाश, भेद इत्यादि की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिए अत्यन्त कल्पना-गौरव दोष होता है। (इसे बाद में १७ श्लोक की टीका में विस्तृत रूप से कहा जायगा)। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् (बृह० उ० ४।३।२३) 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः; महद्‌भूतम् अनन्तम् अपारं विज्ञान-घन एव (बृह० २।४।१२) 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरम् अनन्तरमबाह्यम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० ३।४।५) इत्यादि अर्थात् द्रष्टा (ज्ञाता) आत्मा की दृष्टि का लोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है। आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी तथा नित्य है। वह महद्‌भूत (सद् ब्रह्म) अनन्त अपार एवं विज्ञानघन है। वह ही ब्रह्म अपूर्व हैं (उनका और कोई पूर्ववर्ती कारण नहीं है) वह अनपर है (उसकी कोई कार्यवस्तु नहीं है), वह अनन्तर है (उसका कोई अन्तर या अवकाश नहीं है जहाँ कि विजातीय वस्तु रह सके), वह अबाह्य (उनका बहिर्भाग भी नहीं है, क्योंकि वह सर्वस्वरूप हैं), यह ब्रह्म सबका ही हैं एवं समस्त विषयों की अनुभविता है इत्यादि श्रुति आत्मा को ही विभु, नित्य, स्वप्रकाश तथा ज्ञान-स्वरूप प्रतिपादित किया है। अतः अविद्या रूप उपाधि से भी ब्रह्म का

(आत्मा का) भेद सिद्ध किया गया है। अतः सत्य आत्मज्ञान से असत्य उपाधि के हेतुभूत अज्ञान की–भ्रम की निवृत्ति होने से ही मुक्ति होती है। यह ही श्लोक में 'अमृतत्वाय कल्पते' पद का प्रतिपाद्य विषय है। पुरुषर्षभ–आत्मा स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप होने के कारण (पूर्ण ब्रह्म स्वरूप होने के कारण) पुरुष एवं परमानन्दस्वरूप है। इसलिये इसको 'ऋषभ अर्थात् सारी द्वैतवस्तुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ, कहा जाता है। तुम अपनी आत्मा का पुरुषत्व तथा ऋषभत्व नहीं जानते हो इसलिए शोक कर रहे हो। अतः अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से ही तुम्हारे शोक की निवृत्ति स्वतः ही हो जायगी क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात् जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है वह शोक से उत्तीर्ण होते हैं। इस श्लोक में 'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं' इस वाक्य में पुरुष शब्द के एकवचन की विभक्ति प्रयोग कर सर्व-भूत में पुरुष या आत्मा जो एक ही हैं (एक से अधिक नहीं है) यह सूचित किया गया। इसके द्वारा सांख्य मत निराकृत हुआ क्योंकि सांख्य लोग पुरुष का बहुत्व स्वीकार करते हैं।

(२) श्रीधर—[प्रतिकार के लिए प्रयत्न न कर शीत उष्ण आदि सहन करना ही उचित है क्योंकि उसके द्वारा महाफल की प्राप्ति होती है। यहीं अब कह रहे हैं—] एते—यह मात्रास्पर्श (इन्द्रिय की वृत्ति के साथ विषय का संयोग होने से जो सुख दुःखादि उत्पन्न होते हैं वे) यं समदुःखसुखं धीरं पुरुषं–जो सुख दुःख में समबुद्धिसम्पन्न धीर पुरुष को न व्यथयन्ति—अभिभूत नहीं कर सकते हैं सः अमृतत्वाय कल्पते—वे किसी के द्वारा विक्षिप्तचित्त न होकर धर्मज्ञान के द्वारा अमृतत्व (मोक्ष) लाभ के योग्य होते हैं अर्थात् मोक्ष लाभ करने में समर्थ होते हैं। [टीका में 'धर्मज्ञान द्वारा' शब्द का अर्थ आत्मतत्त्व के ज्ञान के द्वारा क्योंकि आत्मा ही सभी को धारण किये हुए हैं इसलिए आत्मा ही सर्वसाधारण का धर्म है। गीता में भी शाश्वत धर्म की प्रतिष्ठा जो आत्मा ही है, वह बाद में कहा जायगा (गीता १४।२७)]।

(३) शंकरानन्द—विवेक, वैराग्य, शम, दम एवं संन्यास के साथ तितिक्षा ही श्रवण आदि का साधन होता है एवं श्रवणादि से ज्ञान की उत्पत्ति होती है एवं ज्ञान ही मोक्षफल प्रदान करता है, यही अब कहा जा रहा है—हे पुरुषर्षभ !—सारे दुःखों को सहते हुये निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा जो मोक्ष सम्पादन करने में समर्थ है वह ही पुरुषों में ऋषभ (पुरुष श्रेष्ठ) हैं, [अर्जुन की भी इस प्रकार सामर्थ्य है]। इसे सूचित करने के लिए भगवान् ने

ऐसा सम्बोधन किया है। यं समदुःखसुखं धीरं—'विषयग्रहणेभ्यो धियं राति निगृह्णातीति' धीरः अर्थात् विषय ग्रहण से जो धी को (बुद्धि को) निग्रह कर सकते हैं वे ही धीर है [आत्मा में स्थिति लाभ न होने से कोई धीर नहीं हो सकता। अतः धीर शब्द का अर्थ है सदा आत्मनिष्ठ पुरुष] अतः वे 'समदुःखसुखः' अर्थात् उनका दुःख तथा सुख बराबर रहता है (सुख या दुःख प्राप्त करने से वे अविकारी के रूप में स्थित रहते हैं अथवा उनका सुख तथा दुःख में समभाव (अर्थात ब्रह्म भाव) रहता है। इस प्रकार जो ब्रह्मज्ञानी पुरुष को एते—शीतोष्णादि न व्यथयन्ति—पीड़ा नहीं दे सकते हैं अर्थात् आत्मनिष्ठा से विचलित कर नहीं सकते हैं सः—वह पुरुष अमृतत्वाय कल्पते—मोक्ष (ब्रह्मभाव) प्राप्त करने में समर्थ होता है। जिनके स्वरूप का ज्ञान न रहने के कारण पुरुष को मृत्यु तथा जन्म होता हैं वही अमृत अर्थात् ब्रह्म है। क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' (यह अमृत,यह अभय, यह ब्रह्म हैं) उस अमृतत्व के लिये (अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस भाव को प्राप्त कर मुक्त होने के लिये) समर्थ होता है अर्थात् ऐसे 'समदुःखसुख तथा धीर' पुरुष मुक्त हो जाते हैं। 'हि—शान्तः दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति' (शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु एवं समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखते हैं—सबको आत्मा के रूप में ही देखते हैं), 'अभयं वै ब्रह्म' 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति' (ब्रह्म ही अभय है) इत्यादि श्रुतिवाक्य इस विषय में प्रसिद्ध है, इसे सूचित करने के लिए श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(४) नारायणी टीका (क) पुरुषर्षभ—पुरुष + ऋषभ (उत्तम या श्रेष्ठ) अर्थात् सभी पुरुषों में श्रेष्ठ है। सभी दुःखों को सहते हुए निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ होकर जो जरामरणादि धर्मवर्जित आत्मा में स्थितिलाभ कर मनुष्य-जीवन का परम पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसका लाभ करने में समर्थ होते हैं, वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। अर्जुन को भी मोक्ष लाभ करने की योग्यता है यह समझाने के लिए भगवान् ने ऐसा सम्बोधन किया। अथवा पुरुष—स्वप्रकाश परमानन्द स्वरूप परमात्मा जो सभी पुर में (शरीर में) शयान (अधिष्ठित) हैं, वे ही ऋषभ (सर्वश्रेष्ठ) हैं। अतः पुरुषर्षभ शब्द के द्वारा शुद्ध परमात्मा को समझाया जाता है। अर्जुन को "पुरुषर्षभ" सम्बोधन कर यही स्मरण करवा रहे हैं कि "तुम स्वरूपतः वह सर्वव्यापी, सच्चिदानन्दघन पुरुषर्षभ हो, अज्ञानवश देह-इन्द्रिय-आदि में आत्मबुद्धि कर क्यों वृथा शोक कर रहे हो ? अपने स्वरूप में स्थित रहने से यह सब दुःख, एवं शोक मोह तुम्हें पीड़ा

नहीं दे सकेंगे। (ख) समदुःखसुखं—सुख तथा दुःख जिनके पास समभाव (ब्रह्मभाव) प्राप्त होकर सब एकाकार हो गये हैं उस प्रकार के पुरुष को "समदुःखसुखं" कहा जाता है। ब्रह्म ही सम है और सब विषम है—गीता ५।१९। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (आत्मानुभव) होने से द्वैतबुद्धि (उसके कारण अज्ञान सहित) नष्ट हो जाती है। अतः शीतोष्ण, सुखदुःख इत्यादि और पीड़ा नहीं दे सकते हैं। (ग) धीरं—विषयों के ग्रहण से धीको (बुद्धि को) विरत (निग्रह) कर जो बुद्धि को सदा आत्मा में रत (स्थित) रखने में समर्थ होते हैं अर्थात् नाम रूपात्मक विषय को ग्रहण न कर उनके उपादान ब्रह्म स्वरूप आत्मा को ही ग्रहण (दर्शन)करते हैं, उन्हें धीर कहा जाता है। धीर होने से ही समदुःख सुख होना सम्भव है एवं समदुःख सुख होने से और मात्रास्पर्श पीड़ा देने में (विक्षिप्त करने में) समर्थ नहीं होते हैं। (घ) अमृतत्वाय कल्पते—इस प्रकार धीर एवं समदुःखसुख पुरुष मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। प्रत्येक प्राणी का स्वरूप ही अखंडाद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्म है। इस अद्वैत सत्ता में बन्धन तथा मोक्ष कुछ भी नहीं है। यदि बन्धन स्वाभाविक होता तब मुक्तिलाभ किसी के लिए भी सम्भव नहीं होता क्योंकि स्वभाव का व्यतिक्रम कभी भी नहीं हो सकता है। अग्नि की दाहिका शक्ति तथा जल की शीतलता स्वाभाविक है। इसका जैसे व्यतिक्रम होना सम्भव नहीं है उस प्रकार जीव में बन्धन यदि स्वाभाविक होता तब उसका अन्यथा होना भी असम्भव होता। बन्धन मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है एवं चिदात्मा में अध्यस्त या कल्पित है। जब अद्वैत अखण्ड चिदात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है एवं जीवाभिमान (मैं जीव हूँ इस प्रकार का अभिमान) त्याग कर चिदात्मा में अभिमान ['मैं ही चैतन्यस्वरूप ब्रह्म' हूँ, ऐसा अभिमान] होता है तब मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाता है एवं जीव को मुक्ति प्राप्त होती है अर्थात् अज्ञान ही बन्धन एवं ज्ञान ही मोक्ष है। वस्तुस्वरूप चिदात्मा में न तो बन्धन है और न तो मुक्ति है। अतः चिदात्मा में अर्थात् समब्रह्म में स्थितिलाभ कर समदुःखसुख तथा धीर होने से ही जीवन्मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पुरुष को द्वैत—प्रपंच का कोई कुछ भी अर्थात् शीतोष्ण सुखदुःख इत्यादि स्पर्श करने में (पीड़ा देने में) समर्थ नहीं होता है। (ङ) हो—जो कुछ कहा गया है वह जो सभी शास्त्र में प्रसिद्ध है उसे समझाने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[इसके अतिरिक्त भी शोक मोह त्यागकर शीत उष्ण सहन करना युक्तियुक्त है—]

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अन्वय—असतः भावः न विद्यते सतः अभावः न विद्यते । तत्त्वदर्शिभिः उभयोः अपि अनयोः अन्तः तु दृष्टः ।

अनुवाद—असत् को (अज्ञानकल्पित शीतोष्णादि की) सत्ता नहीं है; परमार्थ सद्वस्तु का भी अभाव नहीं है । तत्त्वज्ञ पंडित लोगोंने इस सत् तथा असत् का इस प्रकार तथ्य (स्वरूप) निर्णय या उपलब्धि किया है ।

दीपिका । असतः भावः न विद्यते—असत् अर्थात् जो स्वरूपतः विद्यमान नहीं है (इसप्रकार शीत उष्ण इत्यादि एवं उसके कारण का) भाव (अस्तित्व) नहीं है, [जो स्वरूपतः नहीं है उसकी प्रतीति होने से भी वास्तविक रूप से वह जादुगर के खेल को तरह या स्वप्न दृश्य के समान असत् (अर्थात् सत्ताहीन या मिथ्या) है]। शीत-उष्ण आदि विषय एवं उसका कारण प्रमाण के द्वारा निरूपित होने से भी वह कभी भी सद्वस्तु नहीं हो सकती है । क्योंकि वह शीतोष्णादि सब विकारमात्र हैं, और विकार मात्र ही नाशवान् है । [जो विकारशील हैं वह आदि में (उत्पत्ति के पूर्वमें) एवं अन्त में (विनाश के बाद) नहीं रहता है केवल बीच में दिखाई पड़ता है इसलिए विकारमात्र ही असत् है]। जिस प्रकार घट आदि वस्तु आँख के द्वारा निरूपित होने से भी मृत्तिका को छोड़कर वह और कुछ भी नहीं है, उस प्रकार सभी कार्य कारण को छोड़कर उपलब्ध नहीं होता है इसलिए उसका अपना रूप असत् है । [श्रुति में कहा है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६।४।१) अर्थात् घट आदि नाशवान् (विकारशील) पदार्थमात्र ही वाक्य के द्वारा आरब्ध नाममात्र है (वाक्य का विलासमात्र है) इसलिए वह सब मिथ्या है; घट का आदि कारण जो मृत्तिका है, वही सत्य है] । घट आदि की तरह मृत्तिका प्रभृति एवं मृत्तिका का भी कारण अपने-अपने कारण के विना उपलब्ध नहीं होता है अर्थात् कारण का भी कारण फिर उस कारण का भी कारण अपने कारण के रूप में ही उपलब्ध होता है—निजरूप में नहीं । इसलिए मृत्तिका प्रभृति एवं उसका कारण प्रभृति भी असत् है । इसप्रकार सभी कारण ही सत्ताहीन होने से (सभी का ही अभाव होने से) शून्यवाद आ जायगा, ऐसी शंका होना उचित नहीं है क्योंकि सभी प्रकार के व्यवहार के समय सद्बुद्धि तथा असद्-

बुद्धि इस दो प्रकार की बुद्धि उपलब्ध होती है। जिस वस्तु के विषय में ज्ञान का कभी भी व्यभिचार (अभाव) नहीं होता है उसे ही सत् कहा जाता है, जिस वस्तु के विषय में ज्ञान का व्यभिचार होता है अर्थात् (किसी समय में रहता है फिर किसी समय में नहीं रहता है) वह असत् है। इसप्रकार सत् और असत् का विभाग बुद्धि के अधीन होता है। विचार करने से पता चलता है कि एक ही अधिकरण (अधिष्ठान) में सभी को दो बुद्धि (सत् तथा असत् बुद्धि) उपलब्ध होती है अर्थात् एक ही वस्तु का (चैतन्य सत्ता को) अवलम्बन करके ही द्विविध बुद्धि का अनुभव होता है। किन्तु यह दो प्रकार की बुद्धि नील कमल की तरह नहीं है, किन्तु घट है, पट है, ऐसी होती है इसप्रकार सभी जगह में बुद्धि की उपलब्धि होती है। [अभिप्राय यह है कि 'नीलोत्पलम्' इस ज्ञान से जैसे कमल में कमलत्व की बुद्धि एवं नीलत्व की बुद्धि—दोनों प्रकार की बुद्धि होती है उसप्रकार गुण (नीला) तथा गुणी (कमल) रूपसे जो दो बुद्धि होती है उसके बारे में यहाँ नहीं कहा जा रहा है किन्तु मृगतृष्णारूप भ्रान्ति होने से जैसे अधिष्ठान के अतिरिक्त जलबुद्धि भी रहती है उसप्रकार दो बुद्धि के बारे में कहा जा रहा है]। "घट है"—इन दो बुद्धियों में घट को विषय कर जो बुद्धि होती है वह नष्ट हो जाती है किन्तु सत् बुद्धि ('है' इसप्रकार की बुद्धि) कभी भी नष्ट नहीं होती है। अर्थात् घट न रहने पर भी अन्य कुछ है इसप्रकार की बुद्धि रह जाती है। अतः घट आदि बुद्धि के विषय में जो घट आदि है वह असत् है क्योंकि उनका व्यभिचार होता है अर्थात् वह कभी रहता है फिर कभी नहीं रहता है। किन्तु सद्बुद्धि का जो विषय (अस्ति अर्थात् 'है') वह असत् नहीं हो सकता कारण उसका व्यभिचार नहीं होता है। शंका—घट का नाश होने से घट सम्बन्धित बुद्धि नष्ट होने के साथ-साथ सद्बुद्धि (घट है इसप्रकार की बुद्धि) भी नष्ट हो जाती है ऐसा यदि कहे? **समाधान**—नहीं ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि घट न रहने से घटके स्थान में 'पटः अस्ति' (पट अर्थात् वस्त्र है) अथवा दूसरी कोई वस्तु है, इसप्रकार अन्य किसी वस्तु में सद्बुद्धि दिखती है। यह सद्बुद्धि केवल विशेषण को विषय कर के रहती है अर्थात् वस्तु की सत्ता ही सद्बुद्धि का विषय होती है। अतः सद्बुद्धि का नाश नहीं होती है।

शंका—सद्बुद्धि की तरह घटबुद्धि भी अन्य घट में दिखाई पड़ती है [अतः घटबुद्धि को क्यों असत् कहा गया है ?] **समाधान**—ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि पट आदि में (वस्त्रादि में) घटबुद्धि

नहीं दिखती है [किन्तु सद्बुद्धि घट, पट इत्यादि सभी वस्तु में दिखाई पड़ती है यथा–घट है, पट है, हाथी है इत्यादि]। शंका–घट का नाश होने से घट में जो सद्बुद्धि हुई थी वह तो और नहीं दिखाई पड़ती है। समाधान–नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि वहाँ केवल घटरूप विशेष्य का अभाव होता है। शंका–सद्बुद्धि विशेषण को विषय करती है; जब घटरूप विशेष्य का अभाव होता है तब विशेषण विशेष्य के विना नहीं रह सकता है इसलिए सद्बुद्धि का विषय क्या होगा ? पुनः घट आदि विषयों का अभाव होने से एकाधिकरणता अर्थात् घट नहीं है और कुछ है इस प्रकार की असत् तथा सत् बुद्धि (दो बुद्धि) एक ही ज्ञान में प्रतिभाषित होती है, यह कहना तो युक्तियुक्त नहीं है। समाधान—ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि मृगतृष्णिकादि में (मरीचिकादि में) अधिष्ठान के अतिरिक्त अन्य वस्तु का (अर्थात् जल का) अभाव रहता है तब भी 'वह जल है' ऐसी बुद्धि होने पर समानाधिकरणता दिखती है अर्थात् जल नहीं रहने से भी अधिष्ठान के अस्तित्व का अवलम्बन कर 'है' यह प्रतीति होती है। [अधिष्ठान का (सूर्य किरण के द्वारा उद्भासित मरुभूमि का) स्वरूप न जानने के कारण भ्रान्ति होती है एवं उस भ्रान्ति के कारण 'जल है' ऐसी प्रतीति होती है]। 'जल है' इस प्रकार प्रतीति असत् जल की प्रतीति में एवं सत् अधिष्ठान की सत्ता-मात्र की प्रतीति (दोनों ही) एक ही अधिकरण में (एक ही व्यक्ति में) दिखाई पड़ता है। उक्त प्रकार की युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि व्यभिचारी (परिणामी) होने के कारण शरीरादि एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व एवं उसका जो कारण है वे सभी ही असत् है अतः उनका पारमार्थिक भाव (अस्तित्व) नहीं है। [इस प्रकार से अनात्मजात सभी वस्तुएँ कल्पित होने के कारण अवस्तु (असत्) हैं, यह पहले प्रतिपादन कर अब आत्मा सर्वकल्पित वस्तु के अधिष्ठान एवं अकल्पित होने के कारण वही सत्य वस्तु (सत्) है अब इसका प्रतिपादन कर रहे हैं। (आनन्दगिरि)] इसलिए सतः अभावः न विद्यते—सत् आत्मा का अभाव नहीं है क्योंकि आत्मा सर्वत्र (एवं सर्व-काल में) अव्यभिचारी रूप से (एक ही रूप से) विद्यमान है। अभाव कहने से देश काल एवं वस्तु के द्वारा परिच्छिन्नत्व समझाया जाता है—किन्तु आत्मा अनन्त ('सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—तै० उ०) होने के कारण किसी प्रकार की परिच्छिन्नता उसमें सम्भव नहीं है। तत्त्वदर्शिभिः उभयोरपि अनयोः अन्तः दृष्टः—तत् शब्द सर्वनाम है अतः इस शब्द के द्वारा सभी वस्तुओं को ही समझाया जाता है। ब्रह्म सभी वस्तुओं का स्वरूप है इसलिए

तत् शब्द ब्रह्म का नाम है। [ब्रह्म तत् है अतः तत्त्व (तत्+त्व) शब्द का अर्थ है ब्रह्म का धर्म या ब्रह्म का प्रकृत स्वरूप]। ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप दर्शन ही जिनका स्वभाव है उन्हें तत्त्वदर्शी कहा जाता है। इस प्रकार तत्त्वदर्शी लोगों के द्वारा सत् अर्थात् आत्मा (द्रष्टा) एवं असत् अर्थात् अनात्मा (दृश्य पदार्थ) दोनों के अन्त अर्थात् निर्णय (विवेक द्वारा इनका स्वरूप का निर्णय) दृष्ट हुआ है अर्थात् उपलब्ध या ज्ञात हुआ है। सत् 'सत्' ही है, असत् 'असत्' ही है, इस प्रकार तत्त्वदर्शी लोगों ने निर्णय किया है। हे अर्जुन ! तुम भी तत्त्वदर्शी लोगों की दृष्टि का अवलम्बन कर अर्थात् आत्मा के प्रकृत स्वरूप को जानकर शोक तथा मोह परित्याग कर शीत-उष्ण आदि, सुख-दुःख आदि जितने प्रकार के नियत अथवा अनियत द्वन्द्व (विरुद्ध भाव) अनुभूत होते हैं वे सब ही विकारमात्र है, अतः वे असत् होकर भी (उनको वास्तविक सत्ता नहीं रहने पर भी) मरीचिका की तरह मिथ्या प्रतिभासित होते हैं, इस प्रकार हृदय में निश्चय कर उसे सहन करो, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—शंका—अच्छा, स्वीकार कर रहा हूँ कि पुरुष का (आत्मा का) एकत्व तुमने सिद्ध किया तब भी पुरुष जब सत्य है तब उसका दृश्य जगत् भी सत्य होगा (अतः सुख दुःख सब ही यदि सत्य हो तब ज्ञानोदय होने से उसका विनाश कैसे होगा ?)। फिर सत्य सुख दुःखादि का कारण शीत उष्ण प्रभृति विद्यमान रहने से उनका भोग भी अवश्यम्भावी है। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में सुख-दुःख आदि की तितिक्षा किस प्रकार सम्भव है ? तितिक्षा यदि असम्भव हो तब साधक किस प्रकार से अमृतत्व का (मोक्ष का) अधिकारी होगा ? समाधान—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है क्योंकि समस्त द्वैत प्रपंच जब आत्मा में अज्ञान से कल्पित है (अविद्या से आरोपित है) तब आत्मज्ञान के द्वारा उन सब का (आत्मा में अध्यस्त जागतिक सभी विषयों का) विनाश सम्भव है। जैसा शुक्ति में कल्पित रजत शुक्ति के स्वरूप का ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। शंका—अच्छा, आत्मा की तथा अनात्मा की प्रतीति जब बराबर ही होती है तब आत्मा की तरह अनात्म वस्तु भी सत्य क्यों नहीं होगी अथवा अनात्मा की तरह आत्मा भी क्यों नहीं मिथ्या होगी ? क्योंकि उनकी प्रतीति तो बराबर ही है। समाधान—नहीं, आत्मा और अनात्मा में विशेषता यह है कि आत्मा सत् है और अनात्मा (जड़जगत्) असत्य है। जो देश, काल तथा वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न है वह असत् है जैसे उत्पत्ति तथा विनाशशील घट आदि द्रव्य पूर्वकाल तथा उत्तरकाल के द्वारा परिच्छिन्न (सीमित) रहता है अर्थात्

पहले नहीं था इसलिये प्रागभाव का प्रतियोगी होकर रहता है और उत्तर काल में (बाद में) भी नहीं रहेगा इसलिये ध्वंस का प्रतियोगी होता है। इसलिये घरादि सब ही वस्तु काल से परिच्छिन्न रहती है क्योंकि वे कभी रहती है और कभी नहीं भी रहती हैं। इस प्रकार से वे कालपरिच्छिन्न (अतः जन्म-विनाशशील) सब वस्तुएँ देश से भी परिच्छिन्न होती है क्योंकि वे मूर्तिमत् (अवयव विशिष्ट) होने के कारण सभी देश (स्थान) में एक साथ नहीं रह सकती है। फिर वे सब वस्तु से भी परिच्छिन्न है। सजातीय भेद, विजातीय भेद तथा स्वगत भेद इस तीन प्रकार के भेद को वस्तुपरिच्छेद कहा जाता है। जैसे एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष का जो भेद प्रतीत होता है वह सजातीय भेद है; पत्थर से वृक्ष का भेद विजातीय भेद है तथा अपना पत्र या पुष्प से समग्र पृथ्वी का जो भेद है वह स्वगत भेद है। (अथवा जीव तथा ईश्वर का भेद, जीव तथा जगत् का भेद, जीवों में परस्पर भेद, ईश्वर तथा जगत् का भेद, एवं जागतिक पदार्थों में परस्पर भेद इस पाँच प्रकार के भेद को वस्तु परिच्छेद अर्थात् (वस्तु का भेद) कहा जाता है। यद्यपि काल से परिच्छिन्न पदार्थ मात्र ही है देश परिच्छिन्न तथा वस्तु परिच्छिन्न होता है तब भी नैयायिक लोगों का परमाणु (जिसे वे लोग नित्य एवं निरवयव कहते हैं) देश परिच्छिन्न होते हुये भी उनके मत में कालपरिच्छिन्न नहीं है इसलिये देशपरिच्छिन्नता को पृथक् रूप से कहा गया है। और उनलोगों के मत में आकाश नित्य होने के कारण काल परिच्छिन्न भी नहीं है एवं सर्व-व्यापी होने के कारण देशपरिच्छिन्न भी नहीं है किन्तु आकाश सर्वात्मक नहीं होने के कारण आकाश की वस्तुपरिच्छिन्नता वे लोग स्वीकार करते हैं। इस कारण से वस्तुपरिच्छेद को पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है। सांख्य के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष का कालपरिच्छेद तथा देशपरिच्छेद नहीं रहने से भी वस्तु परिच्छेद है। (अर्थात् सांख्य के अनुसार पुरुष का बहुत्व स्वीकृत होने से एक पुरुष से दूसरा पुरुष भिन्न है एवं प्रकृति भी पुरुष से भिन्न है।) [जिसका कीसी प्रकार का परिच्छेद (सीमा नहीं है, जिसका किसी देश में किसी काल में अथवा किसी वस्तु में व्यभिचार नही होता है अर्थात् जो सर्वकाल में एवं सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) है उसे पारमार्थिक सत् पदार्थ कहा जाता है। और जो देश, काल तथा वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण व्यभिचारी होता है अर्थात् किसी स्थान में किसी समय में रहता है और दूसरे स्थान में या दूसरे समय में नहीं रहता है वह असत् है। जगत् प्रपंच की प्रत्येक वस्तु ही सर्वदा ही अपने बराबर या उससे अधिक सत्तावाले देश, काल

तथा वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होती है इसलिए प्रत्येक जागतिक वस्तु ही असत् है]। असतः—इसप्रकार (अर्थात् देश काल तथा वस्तु परिच्छेद से युक्त, असत् शीतोष्णादि रूप समस्त प्रपंच के भावः न विद्यते—सत्ता (सर्व परिच्छेद रहित पारमार्थिक सत्ता) नही है। अर्थात् नैयायिकों की भाषा में 'स्वान्यूनसत्ताक तादृशः परिच्छेदशून्यत्व' नहीं है। [अर्थात् शीत उष्ण आदि सर्वप्रपंच का अपने से कम नहीं किन्तु अधिक अथवा समान सत्ता वाले देश, काल तथा वस्तु से परिच्छेद शून्यत्व नही दिखता है। अतः सर्वप्रपंच ही परिच्छिन्न (सीमित तथा वाधित) होने के कारण वह मिथ्या है (उसकी पारमार्थिकत्व पारमार्थिक सत्ता नहीं है) अर्थात् उसका पारमार्थिकत्व सम्भव नहीं है क्योंकि सत् (अपरिछिन्न) तथा असत् (परिछिन्न) परस्पर विरोधी होने के कारण वे कभी भी एकत्र नहीं रह सकते हैं जैसा घटत्व तथा अघटत्व एक ही स्थान में नहीं रह सकते हैं। दृश्यपदार्थ मात्र की ही सर्वत्र अनुवृत्ति (स्थिति) नहीं रहती है। कोई भी दृश्य पदार्थ किसी समय में रहता है, किसी दूसरे समय में नहीं रहता है, किसी देश में रहेगा तथा किसी दूसरे देश में नहीं रहेगा एवं किसी विशेष वस्तु के रूप में प्रतीत होगा तथा अन्य वस्तु के रूप में नहीं रहेगा, यही दृश्य वस्तु का स्वभाव है। दूसरे पक्ष में सत् वस्तु सभी देश तथा सभी काल में एवं सभी वस्तु में अनुगत (व्याप्त) रहता है, उसका निषेध (अभाव) कभी भी नहीं होता है अर्थात् उसका व्यभिचार कभी भी नहीं होता है। इस प्रकार सर्वत्र अनुगत (अपरिछिन्न सत् वस्तु में व्यभिचारी तथा देश, काल व वस्तु द्वारा परिच्छिन्न दृश्य वस्तु कल्पित ही होता है जैसे रस्सी में जितने भी प्रकार की भ्रान्ति (सर्प, दंड, जलधारा इत्यादि भ्रान्ति) क्यों न हो उसमें रज्जु ही अनुगत रहता है एवं रज्जुखंड ही भ्रान्ति के पहले तथा बाद में भी विद्यमान रहता है। किन्तु रज्जुखंड में भ्रान्ति से प्रतीत सर्पादि व्यभिचारी होता है क्योंकि वे सब कल्पित है। [अतः जागतिक दृश्य वस्तु मात्र ही व्यभिचारी होने के कारण कल्पित है। अतः वे सब ही असत् है अर्थात् उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जो सर्वत्र अनुगत 'परमार्थ' सत्य वस्तु में (आत्मा में) जगतप्रपंच कल्पित है यही एकमात्र सत् है]। वस्तुमात्र ही व्यभिचारी है अर्थात् किसी देश में, किसी काल में अथवा किसी रूप में रहती है किन्तु सर्वदेश में, सर्वकाल में अथवा सर्वरूप में वह दिखाई नहीं पड़ती है। व्यभिचारी वस्तुमात्र ही कल्पित व असत् है यह कहा गया है। अब प्रश्न होगा वस्तु व्यभिचारी होने से ही यदि कल्पित हो तब सत् वस्तु भी

कल्पित होगी क्योंकि सत् वस्तु भी तुच्छ वस्तु से (असत् अर्थात् जो नहीं है, जैसे वन्ध्या पुत्र) उससे आवृत्त अर्थात् भिन्न होता है, इसलिए व्यभिचारी है। [जैसे शशविषाण आदि का अस्तित्व ही नहीं है, उसमें 'सत्' का अस्तित्व रहना असंभव है। और 'सत्' के अभाव के कारण उसे (सत् को) असत् क्यों नहीं कहा जाता है ?] समाधान—जिसकी सत्ता ही नहीं है, ऐसी तुच्छ शशविषाणादि में (खरगोस का सींग में) 'सत्' अनुगत नहीं है इसलिए 'सत्' का अभाव सिद्ध नही होता है। न्याय शास्त्र के अनुसार 'सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं हि वस्तुपरिच्छिन्नत्वम्' अर्थात् जिस भेद का अधिकरण आश्रय 'सत्' के रूप में प्रतीत होता है उसे सदधि-करणभेद कहा जाता है एवं उस भेद के प्रतियोगित्व को वस्तु का परिच्छिन्नत्व कहा जाता है। [अभिप्राय यह है कि एक सत् वस्तु से दूसरी सत् वस्तु का भेद सिद्ध करना हो तो भेद के अनुयोगी (अधिकरण या आश्रय) एवं भेद के प्रतियोगी इस दोनों वस्तु की हो सत् रूप से प्रतीति होनी चाहिये क्योंकि 'सद्भ्यामभावो निरूप्यते' (सत् के रूप में प्रतीयमान दोनों वस्तु के द्वारा ही परस्पर का अभाव (भेद) निरूपित होता है), ऐसा नियम है प्रस्तुत विषय में (शशविषाणादि में) भेद के प्रतियोगी सद्ब्रह्म सत् रूप में (इस स्थान में कुछ है इस प्रकार) प्रतीत होने से भी भेद के अनुयोगी तुच्छ शशविषाणादि सत् रूप में प्रतीत नहीं होते हैं। इस कारण से शश-विषाणादि तथा आकाश कुसुम इत्यादि अलीक पदार्थ में जो भेद है वह सद-धिकरणक नहीं है (सद् वस्तु को आश्रय कर नहीं रहता है) एव इस लिए सत् ब्रह्म में 'सदधिकरणक भेद प्रतियोगित्व रूप परिच्छिन्नत्व' नहीं रहता है। अतः अलीक (जिसका अस्तित्व ही नहीं है ऐसा) आकाशकुसुमादि पदार्थ से सद् वस्तु (ब्रह्म या आत्मा) भिन्न है क्योंकि सद्वस्तु का आकाश कुसुमादि में व्यभिचार (अभाव) देखा जाता है एवं इसलिये ब्रह्म भी कल्पित वस्तु ही है, इस प्रकार की शंका करना उचित नहीं है]। दूसरी बात यह है कि एक ही स्वप्रकाश, नित्य, विभु सद्वस्तु समस्त पदार्थों में अनुस्युत (व्याप्त) होने के कारण 'सत्' का भेद नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान होने के साथ साथ पहले ही 'सत्' की (अस्ति—है इस प्रकार की) प्रतीति होती है। इस प्रकार सर्वत्र सत्-सत् (है है ऐसी) प्रतीति की एकरूपता दिखाई जाती है। अतः एक सत् वस्तु के द्वारा ही सर्वत्र 'सत्' की प्रतीति होती है, इसलिए सत् का भेद असम्भव है। कहने का अभिप्राय यह है कि—घट है, पट है इत्यादि में 'है' की प्रतीति सभी में प्रसिद्ध है। अतः

सद् वस्तु (ब्रह्म) घटादिनिष्ठ भेद का प्रतियोगी नहीं हो सकता है अर्थात् घटपटादि सभी पदार्थ के साथ सद्वस्तु अभिन्न होने के कारण सद्वस्तु में (ब्रह्म में) भेद प्रतियोगित्व (अतः परिच्छिन्नत्व) नहीं रह सकता। अभावः—परिच्छिन्नता अर्थात् देश, काल, तथा वस्तु के द्वारा परिच्छेद (संकीर्णता) सतः—सर्वानुगत सत् ब्रह्म के [देशतः, कालतः तथा वस्तुतः परिच्छिन्नता] न विद्यते—सम्भव नहीं है अर्थात् सत् वस्तु असत् (व्यभिचारी, परिच्छिन्न तथा कल्पित) नहीं हो सकती है क्योंकि परिच्छिन्नत्व तथा अपरिच्छिन्नत्व एक ही वस्तु में नहीं रह सकता है।

शंका—किन्तु ऐसी कोई सत् वस्तु नहीं दिखाई पड़ती है जिसका देश, काल अथवा वस्तु से परिच्छेद न हो सकता है अर्थात् जो सदा ही अपरिच्छिन्न रहती है। और यदि कहो कि ऐसा होता है तब सत्त्व (सत् का भाव) से क्या समझा जाता है ? समाधान—नैयायिक लोग परसामान्य को (परजाति को) सत्त्व कहते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म उस सत्ता का आधार होने के कारण (अर्थात् पराजाति रूप सत्ता द्रव्य गुण तथा कर्म में हो विद्यमान रहती है, इसलिए) द्रव्य, गुण तथा कर्म में 'सत्' शब्द का व्यवहार होता है। जिस आश्रय में (अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म में) सत्ता रहती है उस आश्रय में सामान्य, विशेष, तथा समवाय भी रहता है। अतः सत्ता के साथ सामान्य, विशेष तथा समवाय के 'तदेकाश्रयत्वरूप' सम्बन्ध है। इसलिए सामान्य, विशेष, तथा समवाय में भी 'सत्' का व्यवहार होता है। किन्तु घट की उत्पत्ति के पूर्व घट असत् था, घट की उत्पत्ति के समय उस असत् से सत् का आविर्भाव हुआ अर्थात् असत् का अभाव हुआ। फिर घट के ध्वंस के बाद सत् भाव का अभाव हुआ। अतः तुमने जो कहा 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' यह किस प्रकार से संगत हुआ ? नैयायिक लोगों के ऐसे प्रश्न के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—उभयोरपि सत् तथा असत् दोनों का ही अन्तः—मर्यादा (सीमा) अर्थात् जो सत् है वह सर्वदा ही सत् एवं जो असत् है वह सर्वदा असत् है इसप्रकार नियत-रूपता (सदा एकरूपता) दृष्टः—श्रुतिस्मृति एवं युक्ति के द्वारा विचारपूर्वक दृष्ट अर्थात् निश्चित हुआ है। किनके द्वारा निश्चित हुआ है ? तत्त्वदर्शिभिः—जो लोग सदा ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं। इसप्रकार ब्रह्मविद् पुरुषों के द्वारा किन्तु जो लोग कुतार्किक हैं वे लोग इसे देखने में समर्थ नहीं होते हैं। अतः उन लोगों को जो भ्रान्ति होगी एवं उस भ्रान्ति के निमित्त विपर्यय होगा, उसमें और आश्चर्य की क्या बात है ? तु—यह शब्द निश्चय के

अर्थ में व्यवहृत किया गया है अर्थात् सत् तथा असत् इनके प्रत्येक के सम्बन्ध में अव्यभिचारी नियम दृष्ट हुए हैं अथवा तत्त्वदर्शी लोगों ने ऐसा निश्चय किया है—अतत्त्वदर्शी लोगों ने नहीं किया है। श्रुति भी 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् हे सौम्य, इस नाम रूपात्मक जगत् एक अद्वितीय सत्रूप में ही था ऐसा उपक्रम (आरम्भ) कर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' अर्थात् यह समस्त जगत् ब्रह्मस्वरूप है, वह ब्रह्म ही सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो, तुम ही वह ब्रह्म हो यह कहकर उपसंहार कर निष्कर्ष दिखा रहे हैं कि सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदशून्य एक अखंड सत् पदार्थ (ब्रह्म ही) सब का व्याप्त कर अव्यभिचारी रूप में विद्यमान है एवं वह ही एकमात्र सत्य वस्तु है और 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' अर्थात् विकारशील जो कुछ है वह केवल वाक्य के द्वारा आरब्ध नाममात्र है (अर्थात् वाक्य का विलासमात्र है), वस्तुतः वे सब मिथ्या है। घट आदि वस्तु की मृत्तिका ही केवल सत्य है। (घट, कलस इत्यादि कोई पृथक् वस्तु नहीं है, वे सब नाममात्र है, क्योंकि उनके भीतर तथा बाहर में अणु परमाणु में केवल मृत्तिका ही वर्त्तमान रहती है)। फिर 'अन्नेन सौम्य शुंगेनापो मूलमन्विच्छ अद्भिः सौम्य शुंगेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सौम्य शुंगेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० उ०) अर्थात् हे सौम्य अन्न के द्वारा (पृथ्वीरूप कार्य के द्वारा) उसके मूलकारण जल की खोज करो, जल रूप कार्य के द्वारा उसके मूलकारण तेजका अन्वेषण करो, तेजोरूप कार्य द्वारा उसके मूल कारण सत्स्वरूप का अन्वेषण करो। हे सौम्य, ये प्रजा अर्थात् स्थावर जंगमात्मक सभी सृष्टपदार्थ सन्मूलक है (अर्थात् एक सत्पदार्थ ही इनका मूलकारण है) एवं वे सब सदायतन है अर्थात् वे सब एक सत् पदार्थ को ही आश्रय कर रहते हैं एवं ये सब सत्प्रतिष्ठ हैं अर्थात् इनकी प्रतिष्ठा (अवसान) भी सत्पदार्थ में ही होगी। [जगत् के सभी पदार्थों की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय (नाश) इसी सत् पदार्थ को अवलम्बन करके ही हुआ करते हैं]। इस प्रकार से श्रुति यही दिखा रही है कि समस्त विकारशील दृश्य पदार्थ एक सत्पदार्थ में ही कल्पित होते हैं एवं उस कारण से ये सभी मिथ्या हैं। फिर 'सत्त्व' शब्द से सामान्य को नहीं समझा जाता है (नैयायिको के परसामान्य या पराजाति को नहीं समझा जाता है) क्योंकि उनके कथित पराजाति या सत्ता जाति के सम्बन्ध में कोई यथार्थ प्रमाण नहीं है चूँकि 'सत्, सत्' इस प्रकार को प्रतीति सभी पदार्थ में ही (द्रव्य, गुण,

कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय यह छः पदार्थ में हो) साधारण (समान) रूप से रहती है। अतः नैयायिको के मतानुसार यदि द्रव्य, गुण, कर्म मात्र में ही सत्ता-जाति रहे तब वह सत्ता दूसरी जगह अपनी ही सत् प्रतीति का अनुपपादक होगी किन्तु ऐसी सत्ता की कल्पना नहीं की जाती है। पुनः उसके विपरीत भी कहा जा सकता है अर्थात् सामान्य, विशेष तथा समवाय में सत्ता है और द्रव्य, गुण तथा कर्म में सत्ता नहीं है किन्तु परस्परा सम्बन्धयुक्त होकर द्रव्य, गुण तथा कर्म 'सत्' प्रतीत होता है, ऐसा भी कहा जा सकता है। एक प्रकार की प्रतीति एक प्रकार के विषय के द्वारा ही यदि निर्वाहित हो जाय तब सम्बन्ध भेद तथा सत्ता की स्वरूपभेदकल्पना करना अनुचित है। और विषय के अनुगम (एकरूपता) के बिना ही यदि प्रतीति का अनुगम (एकरूपता) स्वीकार किया जाय तब जातिमात्र का ही उच्छेद का प्रसंग आता है। अर्थात् 'यह द्रव्य है, यह द्रव्य है', 'यह गुण है, यह गुण है' ऐसे विषय की एकरूपता रहने के कारण ही द्रव्य तथा गुण में द्रव्यत्व तथा गुणत्व (जाति) स्वीकार किया जाता है। किन्तु विषय की एकरूपता के बिना ही यदि प्रतीति की एकरूपता स्वीकार की जाय तब द्रव्यत्व, गुणत्व प्रभृति पृथक् पृथक् जाति की कल्पना करना सम्भव नहीं है। इसलिए यही सिद्धान्त है कि एक ही स्वतः प्रकाश, सद्वस्तु ज्ञात, अज्ञात सभी अवस्था का (सभी विषयों का प्रकाशक होकर उस उस पदार्थ के साथ तादात्म्याध्यास के द्वारा सर्वत्र 'सत्' इस प्रकार व्यवहार का उपपादक कारण) होता है। 'सन् घटः' (घट है) ऐसी प्रतीति सद्वस्तु के साथ अभेद घट ही में विषयीकृत होती है किन्तु सत्तासमवायित्व (तार्किकों के मत के अनुसार द्रव्य, गुण तथा कर्म में जो सत्ता—जाति रहती है उसके साथ समवाय सम्बन्ध) विषयीकृत नहीं होता है क्योंकि समवाय सम्बन्ध भेद सम्बन्ध है। 'सन् घटः' इस प्रकार सत् तथा घट की जो अभेद प्रतीति है वह समवायरूप भेद-सम्बन्ध के द्वारा विदित नहीं हो सकती है। इस प्रकार 'यह द्रव्य सत्' है 'यह गुण सत् है' इत्यादि प्रतीति के द्वारा भी सद्वस्तु के साथ सभी पदार्थों की अभिन्नता सिद्ध होती है। द्रव्य गुण आदि का भेद सिद्ध नहीं होने से उन सब धर्मों में सत्त्व नाम का धर्म कल्पित होता है ऐसी बात नहीं है किन्तु लाघव के कारण सत्रूप धर्मी में ही द्रव्यगुणादि का भेद कल्पित होता है यह कहना ही युक्तियुक्त है। और यदि कहो कि यह अभेद वास्तविक रूप में सम्भव नहीं है अतः वह अभेद आध्यात्मिक (कल्पित) है तब मैं कहूँगा कि वह दूसरा विषय है अर्थात् उस अभेद की वास्तविकता या अवास्तविकता यहाँ विचार का विषय नहीं है।

[नैयायिकों के मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय यह छः भावपदार्थ हैं। इनमें सामान्य शब्द का अर्थ है जाति। जाति दो प्रकार की होती है (क) अपर सामान्य तथा (ख) पर सामान्य। पर सामान्य या पराजाति अर्थात् सत्ताजाति सर्वापेक्षा व्यापक है क्योंकि अन्यान्य जाति इसीका व्याप्य है। यह परसामान्य या सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहती है किन्तु सामान्य, विशेष तथा समवाय इन तीनों पदार्थों में उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता है—परम्परा सम्बन्ध रहता है अर्थात् तदेकाश्रयत्त्व सम्बन्ध में रहता है। वेदान्ती लोग कहते हैं कि नैयायिकों की ऐसी उक्ति युक्तिहीन है क्योंकि द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है, ऐसी प्रतीति जिस प्रकार की होती है उस प्रकार सामान्य सत्, विशेष सत् तथा समवाय सत् है ऐसी प्रतीति भी होती है अर्थात् इन छः पदार्थों में सत् अनुगत रहने के कारण सत् या भाव पदार्थ सर्व साधारण है। इस सत् को सामान्य या पराजाति नहीं कहा जाता है क्योंकि समस्त प्रतीति के मूल में ही सत् रहता है। घट आदि द्रव्य सत् रूप से प्रतीत होते हैं फिर सामान्य विशेष प्रभृति भी सत् रूप में ही प्रतीत होते हैं। प्रतीति सर्वत्र समान (बरावर) है अतः द्रव्य गुण आदि में सत्ता-जाति है और सामान्य, विशेष इत्यादि में सत्ताजाति नहीं है ऐसा जातित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रतीति का एकरूपत्व देखकर ही विपय का एकजातीयत्व सिद्ध होता है। 'सत्' 'सत्' इस प्रकार की प्रतीति बरावर सर्वत्र होने के कारण सत् प्रतीति अभेद का प्रतिपादक होती है अतः 'सत्' वस्तु सर्वत्र अनुगत, एक तथा अभिन्न है एवं वह प्रकाशस्वरूप है क्योंकि सत् को छोड़कर द्रव्य आदि पदार्थ का पृथक् स्फुरण न रहने के कारण एवं सत् की स्फूर्ति में (प्रकाश से) उनका स्फुरण होने के कारण सभी वस्तु एक ही सत् पदार्थ में कल्पित है एवं इस कारण सत् से अभिन्न रूप में प्रतीत होती है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से भेद कुत्रापि है ही नहीं।

शंका—घट से पट भिन्न है, पट से मठ भिन्न है, इस प्रकार सर्वत्र भेद ही दिखता है। अतः यह तुमने कैसे कहा कि भेद सिद्ध नहीं होता है ?

समाधान—घट जब दिखता है तब घट का ही बोध होता है और पट जब दिखता है तव पट का ही बोध होता है किन्तु घट तथा पट की जो भिन्नता या भेद है वह किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं दिखाई पड़ते हैं। यदि कहो कि भेद के अनुभव को एक पृथक् अनुभव रूप से मानना पड़ेगा तब मैं कहूँगा कि इस भेद का अनुभव दूसरे अनुभव से भिन्न है, यह भी अनुभव

करना पड़ेगा। किन्तु इस भेद को किस इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जायगा ? अतः अनवस्था का दोष आ जायगा। अतः भेद असिद्ध है]। इसलिए पूज्य-पाद वार्त्तिककार ने कहा हैं, "सत्तातोऽपि न भेदः स्याद् द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः। एकाकारा हि संवित्तिः सद् द्रव्यं सन् गुणस्तथा"। (बृह० सम्बन्ध वार्त्तिक ९६८) अर्थात् सत्ता से ही जब द्रव्यादि का भेद नहीं होता है तब अन्य पदार्थ से किस प्रकार द्रव्यादि का भेद सिद्ध होगा ? द्रव्य सत् है, गुण सत् है इत्यादि रूप संवित्ति एक ही प्रकार है अर्थात् द्रव्य, गुण आदि सभी पदार्थ सत् से अभिन्नरूप से प्रकाशित होते हैं। अतः एक अभिन्न सत् ही पारमार्थिक सत्यवस्तु है। सभी भेद एक पारमार्थिक सत् में कल्पित होने के कारण सत् के साथ अभिन्नरूप से ही सभी भेद की प्रतीति होती है और इसीलिए इन भेदों का पारमार्थिकत्व नहीं है। इसलिए सत्ता असत् की भी भेदिका (भेदकरनेवाली) नहीं हो सकती है क्योंकि असत् रूप से कोई भी पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है। द्रव्यत्व आदि सत् का धर्म होने के कारण सत् का भेदक (सत् से भिन्न) नहीं हो सकता है (जैसे पट का धर्म, रूप आदि पट का भेदक नहीं होता है)। इसलिए घट से पट भिन्न है ऐसी प्रतीति सद्वस्तु की भेद-साधिका नहीं है क्योंकि घट पट इत्यादि एवं उनका भेद सद्वस्तु से अभिन्न होने के कारण वे सब एक (अभिन्न सत् ही) हैं। इस प्रकार जहाँ भेद ज्ञान होता है वहीं सद्भेद प्रतीति (सत् से अभेद का अर्थात् अभिन्नत्व का ज्ञान) होती है। तार्किकलोग सर्वात्मक कालनामक एक पदार्थ को स्वीकार करते हैं। उसके द्वारा ही यदि सर्वव्यवहार सम्भव हो तब उससे अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना करने के लिए दूसरा कोई प्रमाण नहीं रहता है क्योंकि काल सभी वस्तु में व्याप्त है। वह कालरूप पदार्थ ही सत् के रूप में तथा स्फुरण के रूप में सभी पदार्थों के साथ अभिन्नरूप से प्रतीत हो सकता है। वह स्फुरण सभी वस्तु में व्याप्त होने के कारण वह एक एवं नित्य है—वह आगे के श्लोक में विस्तृत रूप से कहा जायगा।

अतः किसी देश या काल में जो पट घट से भिन्न है वह जैसे दूसरे देश या काल में कभी भी घट नहीं हो जाता है तथा किसी भी देश या काल में जो घट रूप से प्रतीत हो रहा है वह कभी भी दूसरे देश या काल में अघट रूप में अर्थात् पट इत्यादि रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता है क्योंकि पदार्थों के अपने स्वभाव का कभी नाश नहीं होता है। इसप्रकार जो किसी देश या काल में असत् है वह कभी भी दूसरे देश या काल में सत् नहीं हो सकता है। तथा जो किसी देश या

काल में सत् रूप में विद्यमान है वह कभी भी दूसरे देश या काल में असत् नहीं हो सकता है। चूँकि दोनों ही पक्ष में युक्ति समान (बराबर) है। अतः सत् तथा असत् उभय का स्वरूप नियत (निर्दिष्ट) है अर्थात् उनके स्वरूप का परिवर्तन नहीं होता है, ऐसा ही समझना होगा। (अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ में इसकी विस्तार पूर्वक आलोचना की गई है)। 'सत् वस्तु परमार्थतः अमृतस्वरूप (मोक्षस्वरूप) होने से भी माया के द्वारा कल्पित असत् वस्तु में अभिमान कर अपने ऊपर संसारित्व आरोप करते हैं अर्थात् मैं संसारचक्र में भ्रमण करने वाला सुख दुःख भोगी जीव हूँ इस प्रकार सोचता है। ज्ञान से अज्ञान रूपी माया को निवृत्ति होने से जब उस आरोपित संसारधर्म को निवृत्ति होती है तब उनका नित्य मुक्त शुद्धस्वरूप प्रकट होता है। यही उस 'सत्' स्वरूप आत्मा की अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्ति है और इस सन्मात्र दृष्टि के द्वारा ही अर्थात् एकमात्र सत् वस्तु ही सत्य है, शीत-उष्ण आदि प्रपंच असत् (कल्पित) है यह निश्चितरूप से समझने से ही शीतोष्णादि की तितिक्षा (प्रतिकार के बिना सहन करने का सामर्थ्य) सम्भव है। [मधुसूदन सरस्वती के इस श्लोक की अति पांडित्यपूर्ण व्याख्या साधारण पाठक के लिए नहीं है किन्तु जो लोग न्यायशास्त्र आदि से परिचित हैं उन लोगों के लिए आनन्दवर्धक होगी। इस कारण से विस्तार-पूर्वक टिप्पणी में दिया गया है]।

(२) श्रीधर—[यदि मान लिया जाय कि शीतोष्ण आदि जिन्हें विचलित नहीं कर सकता है वे मोक्ष के योग्य होते हैं, तब भी असहनीय शीत तथा उष्ण को कैसे सहा जाय ? और यदि शीत तथा उष्ण अत्यधिक मात्रा में हो तब उसके सहन करते हुये कभी कभी आत्मनाश भी हो सकता है, इस प्रकार शंका के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि तत्त्वविचार के द्वारा सभी कुछ सहा जा सकता है]। असतः भावः न विद्यते—असत् अर्थात् अनात्म धर्म जिनका है, अतः जो पारमार्थिक दृष्टि में सत् (विद्यमान्) नहीं है उस शीत उष्ण आदि का आत्मा में भाव अर्थात् सत्ता नहीं रह सकती है, पुनः सतः अभावः न विद्यते—सत् स्वभाव आत्मा का अभाव अर्थात् नाश भी नहीं हो सकता है।तत्त्वदर्शिभिस्तु अनयोः अपि अन्तः दृष्टः—जो लोग वस्तु के यथार्थ तत्त्व (स्वरूप) को जान गये हैं वे तत्त्वज्ञानी लोगों ने इस सत् तथा असत् दोनोंका अन्त (निर्णय) देखा हैं [आत्मा ही एकमात्र सत् वस्तु है एवं आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ असत् है यह निश्चित रूप से जानते हैं]। तुम भी उस तत्त्वदृष्टि के द्वारा अर्थात् आत्मा तथा अनात्मा के विवेक द्वारा इन सबों को (शीत् उष्ण आदि प्रपंचो को) असत् निश्चय कर सहन करो।

(३) शंकरानन्द—सर्वत्र विद्यमान शब्द आदि विषयों का अनुसन्धान त्यागकर सर्वदा ब्रह्म की ही चिन्ता करना असम्भव है, ऐसी आशंका अर्जुन कर सकते हैं। इस आशंका के उत्तर में भगवान् प्रतिपादन कर रहे हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी वस्तु का अभाव होने से अर्थात् दूसरी वस्तु का वास्तविक अस्तित्व न रहने के कारण एवं ब्रह्म हो पूर्ण तथा अन्तहीन होने के कारण मुमुक्षु व्यक्ति को सर्वदा ही उस ब्रह्म का ही अनुसन्धान (चिन्तन) करना कर्त्तव्य है यह सूचित करने के लिये ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है (अर्थात् ब्रह्म ही सत् एवं और सब असत्) इसका अभी श्रीभगवान् प्रतिपादन कर रहे हैं। [शब्द का अर्थ जो वस्तु सर्वत्र एवं सदा ही विद्यमान है] [जो वस्तु सदा एवं सर्वत्र एक ही रूप में विद्यमान रहती है उसे 'सत्' कहा जाता है]। जो सर्वगत है, अति सूक्ष्म (दुर्विज्ञेय) है, नित्य तथा निरञ्जन (शुद्ध) है एवं सर्ववेदान्त से जिनका स्वरूप जाना जाता है वह विज्ञान स्वरूप आत्मा ही एकमात्र 'सत्' ही है। उससे विलक्षण शब्द आदि विषय सहित सभी जगत् प्रपञ्च असत् है अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से सत्ताहीन है। जो स्वरूपतः सत् वस्तु है उसमें सत्ता रहती है और जो स्वरूपतः सत् वस्तु नहीं है उसमें सत्ता का अभाव होता है। इसलिए असत् रूप जगत् की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् किसी भी प्रमाण के द्वारा ही जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। (क) उसे प्रत्यक्षतः दिख पड़ता है इसीलिए इसे सत् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि शुक्ति में भ्रान्तिवश जो रजत दिखता है अथवा चन्द्रमा को प्रादेशमात्र (छोटा) दिखा जाता है इसीलिए रजत सत्यवस्तु तथा चन्द्रमा प्रादेशमात्र है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यभिचार दृष्ट होने के कारण [सत्ताहीन वस्तु का भी प्रत्यक्ष दर्शनादि हो सकता है अतः] उसके द्वारा जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। और यदि कहो कि रजत तथा चन्द्रमा में प्रमाण तथा प्रमेय का सम्यक् संसर्ग अर्थात् पूर्णरूप से सम्बन्ध नहीं है इसीलिए उक्त व्यभिचार हो सकता है किन्तु उससे दूसरे स्थान में उनकी सत्ता के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही ? ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं हैं क्योंकि लकड़ी में हाथी अथवा मृत्तिका में घट भ्रान्ति के कारण ही दिखाई पड़ता है। अतः उसमें भी व्यभिचार का अभाव नहीं है अर्थात् उनकी वास्तविक सत्ता नहीं रहने से भी उसका अस्तित्व प्रत्यक्षीभूत होता है। (ख) अनुमान प्रमाण का भी प्रयोग नहीं हो सकता है क्योंकि जगत् को जब तुम प्रत्यक्ष कर रहे हो तब उसके सम्बन्ध में अनुमान करने का कोई

प्रयोजन नहीं है। (ग) उपमान प्रमाण के द्वारा भी जगत् का अस्तित्व नहीं होता है क्योंकि जैसे गोसदृश गवय देखा जाता है उस प्रकार दूसरी किसी वस्तु के सदृश जगत् भी दिखाई पड़ रहा है; ऐसा सादृश्य का बोध (ज्ञान) जगत् के सम्बन्ध में सम्भव नहीं होता है। यदि कहो कि स्वप्न जगत् की तरह जाग्रत जगत् दिखाई पड़ता है तब तो स्वप्न के मिथ्यात्व के साथ जगत् का भी सादृश्य होगा अर्थात् स्वप्नवत् जगत् के मिथ्यात्व का ही निश्चय होता है। (घ) शब्द प्रमाण के द्वारा भी जगत् की सत्यता सिद्ध नहीं होती है क्योंकि 'विकल्पवस्तु नहीं है'। अतः 'द्वैत की सत्यता कभी भी सिद्ध नहीं होती है' इस प्रकार जगत् के असत्य प्रमाणक वचन के बिना श्रुति में जगत् की सत्ता है, ऐसा वाक्य कभी भी नहीं दिखाई पड़ता है। यदि कहो 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (अर्थात् आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई) 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (अर्थात् जिस से इस भूतवर्ग को उत्पत्ति होती है) इत्यादि श्रुति वाक्य से ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति सुनी जाती है, अतः जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण तो है ही। इसके उत्तर में कहूँगा कि यदि जगत् को ब्रह्म का कार्य कहो तब जिज्ञासा करता हूँ कि ब्रह्मकार्यरूप जगत् ब्रह्म से (१) भिन्न (२) अभिन्न अथवा (३) भिन्ना-भिन्न है। (१) यदि भिन्न कहा जाय तब प्रश्न होगा कि वह क्या है (क) सद्रूप में भिन्न है (ख) अथवा असद् के रूप में भिन्न है (ग) या सद-सत् के रूप में भिन्न है? यदि सत् के रूप में भिन्न हो तब कार्य की सत्ता कहने से क्या कारणसत्ता को समझा जाता है, या कार्य सत्ता को समझा जाता है? प्रथम पक्ष में कार्य तथा कारण की सत्ता एक होने के कारण कार्य की अपनी सत्ता का अभाव होता है। अतः कार्य का (ब्रह्मकार्य जगत् का) असत्त्व सिद्ध होता है। और यदि कहो कि कार्य को अपनी ही सत्ता है तब जिज्ञासा करूँगा कि वह सत्ता क्या सद्रूपा या असद् रूपा है? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि ब्रह्म पूर्ण (सर्वव्यापी) तथा निरन्तर है [अन्तर (व्यवधान) नहीं है] अर्थात् (आकाश में जैसा सम्भव है ऐसा ब्रह्म में दूसरी वस्तु की स्थापना देने का अवकाश नहीं है)। अतः कार्य की ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त सत्ता असम्भव होने के कारण जगत् रूप कार्य का असत्त्व ही सिद्ध होगा। और यदि कहो कि कार्य की अपनी ही सत्ता है तब जगत् तथा ब्रह्म की (दोनों की) सत्ता सद्रूप होने के कारण (अर्थात् एक ही होने के कारण) जगतूरूप कार्य ब्रह्मरूप कारण से भिन्न नहीं हो सकता है अर्थात् कार्य भिन्न प्रतीत होने पर भी ब्रह्मसत्ता के साथ उसकी सत्ता अभिन्न होने से

जगत्रूप कार्य तथा कारण ब्रह्म सद्रूप में एक ही हो जाता है। अतः कार्य का पृथक्त्व न रहने के कारण उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। (ख) और यदि जगत्रूप कार्य कारणब्रह्म से असद् रूप में भिन्न है तब कार्य की सत्ता का स्वतः स्वरूपाभाव होने के कारण खरगाश के सींग की तरह कार्यशून्यता प्राप्त होगी एवं तब जगत् ब्रह्म का कार्य है ऐसा कहना भी युक्ति विरुद्ध होगा। और यदि कहो कि असत् जगत् प्रध्वंस अभाव की तरह कार्य हो सकता है तब कहूँगा कि यह भी ठीक नहीं है चूँकि प्रध्वंसाभाव का कारण के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। इसलिए प्रध्वंसाभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् घट की उत्पत्ति में कर्ता, करण इत्यादि कारक सम्बन्ध रहने के कारण घट को कार्य कहा जाता है किन्तु नष्ट घट में (अर्थात् अत्यन्त असत् प्रध्वंसाभाव में) कारक सम्बन्ध (घटनाशक सामग्री के साथ अर्थात् कर्ता, करण इत्यादि के साथ सम्बन्ध) नहीं रहता है, इसलिए प्रध्वंसाभाव कार्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार असत् जगत् में भी कार्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता है (ग) यदि कहो कि जगत्रूप कार्य ब्रह्मरूप कारण से सदसद् रूप से भिन्न है तब कहूँगा कि सत्त्व एवं असत्त्वरूप (भाव तथा अभावरूप) धर्म एक दूसरे से विरुद्ध है। इसलिए दोनों का एक ही अधिकरण में (जगत् रूप कार्य में) रहना असम्भव है। अतः जगत् ब्रह्म का कार्य है यह युक्ति द्वारा प्रमाणित नहीं होता है अर्थात् जगत् का असत्त्व ही प्रमाणित होता है (२) यदि कहो कि जगत्रूप कार्य ब्रह्म से अभिन्न है तब कहूँगा कि ऐसी युक्ति ठीक नहीं है क्योंकि इसे स्वीकार करने से अनेक अनर्थों का प्रसंग उपस्थित होगा। यथा—(क) यह जड जगत् यदि ब्रह्म से अभिन्न हो तब ब्रह्म भी जड़धर्म को प्राप्त होंगे अर्थात् ब्रह्म भी दृश्य एव अनित्य है, अप्रकाश है, दुःखरूप है, सावयव है इत्यादि दोष परम्पराक्रम से प्राप्त होंगे। (ख) इसके अतिरिक्त इससे जगत् की अन्धताप्रसंग उपस्थित होगा एवं 'मैं एवं मेरा' ऐसा जागतिक व्यवहार भी सिद्ध नहीं होगा। (ग) यदि तुम भी (तुम्हारी आत्मा भी) जगत् के साथ अभिन्न होकर जड़त्व प्राप्त करो तब ज्ञान के अभाव में मोक्ष के अभाव का प्रसंग भी उपस्थित होगा। (घ) 'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात् आत्मज्ञानी शोक से उत्तीर्ण होता है ऐसे शत-शत वाक्य श्रुति में है। किन्तु ब्रह्म तथा जगत् अभिन्न होने से यह सब श्रुतिवाक्य व्यर्थ हो जायेंगे एवं मुक्ति के लिए ब्रह्मानन्दप्राप्तिकामी सत्पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होगी एवं 'यत्तदद्रश्यमग्राह्यम्' (जो आँख के द्वारा देखने के योग्य नहीं है एवं जिसे इन्द्रिय तथा मन के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता है), 'अजो

नित्यः शाश्वतः' (आत्मा अजन्मा, नित्य तथा सनातन है) इन श्रुतिवाक्यों के साथ भी विरोध उपस्थित होगा। (३) और यदि कहो कि जगत्‌रूप कार्य ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है, अभिन्न भी नहीं है तब कहूँगा कि भिन्नत्व तथा अभिन्नत्व परस्पर विरुद्ध है, अतः एक आश्रय में दोनों का रहना असम्भव है।

इसप्रकार की युक्ति से जगत् का ब्रह्मकार्यत्व अर्थात् जगत् ब्रह्म का कार्य है यह असिद्ध होता एवं जगत् का ब्रह्म कार्यत्व विषय में श्रुति प्रमाण भी नहीं है। शंका—यदि ऐसा कहो तब श्रुति में जो कहा गया है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि [अर्थात् जिससे सब ही प्राणियों की सृष्टि एवं जिसमें स्थिति तथा लय होते हैं वह ही ब्रह्म]। वह मिथ्या हो जाती है एवं श्रुति का अप्रामाण्य स्थापित होता है। समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है क्योंकि उक्त श्रुति ब्रह्म के अद्वितीयत्व प्रतिपादन करने के उद्देश्य से ही वैसा कहा था। अतः श्रुति का प्रामाण्य अस्वीकार करने को बात नहीं उठती है। कोई कहते हैं कि अणु ही जगत् का कारण है, मगर कोई कहते हैं कि प्रकृति ही जगत् का कारण है—इन मतवादों को मानने से कार्य-कारण से विलक्षण सर्वश्रुतिप्रसिद्ध ब्रह्म का अद्वितीयत्व नष्ट हो जाता है। इसे सहन करने में असमर्थ होकर श्रुति ने ब्रह्म को ही जगत् के उपादान के रूपमें प्रतिपादित किया है। यदि कहो कि ब्रह्म और जगत् में कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं है यह पहले ही तुमने कहा हो अतः ब्रह्म जगत् का उपादान किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में कहूँगा कि ब्रह्म जगत् का विवर्त-उपादान कारण है। ग्रहीता या द्रष्टा के दोष के कारण जब अधिष्ठान सत्ता के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अधिष्ठान भ्रान्तिवश दूसरे रूप में प्रतीत है तब उसे विवर्त कहा जाता है जैसे शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है। शुक्ति का यथार्थज्ञान होने से जैसे मिथ्या रजत शुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता है उस प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार होने से प्रतीति मात्र जगत् भी ब्रह्म में पर्यवसित (ब्रह्म से अभिन्न) हो जाता है। इसलिए ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने से भी ब्रह्म के अद्वितीयत्व की हानि नहीं होती है। जगत्‌रूप कार्य केवल नाममात्र है, यह श्रुति के वाक्य से प्रमाणित होता है यथा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छा० उ०) 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्रह्म सूत्र) अर्थात् जगत् आदि विकारशील वस्तु केवल वाक्य का आरम्भ है अर्थात् वाक्य का विलास है एवं नाममात्र है। आरम्भण शब्द आदि के द्वारा श्रुति यही प्रमाणित कर रही है कि जगत् ब्रह्म से अभिन्न है।

अतः शब्द आदि प्रपंच के सद्भाव का प्रतिपादन करना श्रुति का उद्देश्य नहीं है। पुनः प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि भी जगत् की सत्ता का प्रमाण करने में समर्थ नहीं है, (यह पूर्व में कहा गया है)। अतः कोई प्रमाण न रहने के कारण जगत् मिथ्या है यही सिद्ध होता है। "नासतो विद्यते भावः" इस प्रकार वाक्य के द्वारा असत् शब्दादि से उपलक्षित जगत् प्रपंच की सत्ता के अभाव को प्रतिपादन कर श्रीभगवान् अब ब्रह्म के स्वरूप का सद्भाव प्रतिपादन कर रहे हैं।

न अभावः विद्यते सतः—सामान्य-विशेष-भाव रहित, अखंड, चिदेकरस, सर्व विक्रियारहित, 'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं' (अर्थात् कार्य कारण रहित, भीतर बाहर रहित, अवकाश रहित अर्थात् पूर्ण) ब्रह्म ही 'सत्' है इसे श्रुतिओं ने प्रतिपादित किया है। उस ब्रह्म का अभाव (असत्ता) कभी भी नहीं हो सकता है। इस आत्मा (ब्रह्म) का सद्भाव (जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति) तीनों अवस्थाओं में ही समभाव में दिखा जाता है। अतः आत्मा की जो नित्य सत्ता (सत्य) है, इसके सम्बन्ध में यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। आत्मा नित्यसत्त्वविशिष्ट है क्योंकि वे तीनों अवस्थाओं का साक्षी हैं, जो ऐसा नहीं है, वह तीनों अवस्थाओं का साक्षी नहीं हो सकता है, जैसे देह आदि यह अनुमान प्रमाण है। 'अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः' 'अजो नित्यः शाश्वतः', 'तथारसं नित्यमगन्धवच्च' इत्यादि वाक्य आत्मा के नित्यत्व तथा सत्यत्व के सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण है। इस प्रकार सर्वप्रमाण के द्वारा निर्धारित नित्य, सत्य, प्रत्यगभिन्न, सत् ब्रह्म का कभी भी अभाव नहीं होता है यह तत्त्वदर्शिभिः अनयोः अन्तः दृष्टः—तत्त्वदर्शी अर्थात् ब्रह्मज्ञ पुरुषलोग असत् जगत् तथा सत् ब्रह्म का निर्णय कर (सदा सर्वत्र एक ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चय कर) देखा हैं। तत्त्व शब्द का अर्थ है—सभी का अधिष्ठानभूत ब्रह्म का यथार्थस्वरूप जिसको सत्यज्ञानानन्दात्मक आत्मा (सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा) कहा जाता है। उस ब्रह्म को ही सदा एवं सर्वत्र देखना ही जिनका स्वभाव है उसे तत्त्वदर्शी या ब्रह्मवित् कहा जाता है। श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि 'हे अर्जुन ! तुम आत्मा को देह आदि के साथ अभिन्न मानकर आत्मा अनित्य है ऐसा भ्रम कर शोक में निमग्न हुए हो'। अब तुम उस भ्रम को त्याग कर, शोक रहित होकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह सब ही ब्रह्म हैं इत्यादि श्रुति के तात्पर्य का अवलम्बन कर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन में तत्पर होओ।

(४) नारायणी टीका सत् तथा असत्—जो तीनों काल में ही एक रूप में रहते हैं उसे ही परमार्थरूप से सत् वस्तु कहा जाता है जो देश, काल तथा वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न (सीमित) होता है, वह सदा ही एक रूप में नहीं रह सकता है वह अवश्य ही नाशवान् होगा अर्थात् किसी भी समय में दिखाई पड़ता है तथा किसी समय नहीं भी दिखता है। जो एक देश में (एक स्थान में) है किन्तु दूसरी जगह नहीं है वह देश द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण असत् है। जो अब है, किन्तु दूसरे समय में नहीं है वह काल द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण असत् है। जिसकी तुल्य वस्तु है अथवा जिससे भिन्न अन्य वस्तु एवं जिसका स्वागत भेद है अर्थात् जिसका अंशांशि भाव है वह वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण असत् है कोई वस्तु देश से परिच्छिन्न होने से भी, काल द्वारा परिच्छिन्न नहीं भी हो सकती है जैसे नैयायिक लोगों का परमाणु है। सर्वव्यापी आकाश देश द्वारा परिच्छिन्न न होने से भी कालपरिच्छिन्न है क्योंकि प्रलय काल में आकाश विलीन होता है। सांख्य का पुरुष या प्रकृति देश से परिच्छिन्न या काल से परिच्छिन्न न होने से भी वस्तु परिच्छिन्न होता है, क्योंकि एक पुरुष दूसरे पुरुष से भिन्न है तथा प्रकृति भी पुरुष से भिन्न है। इसलिए असत् शब्द का यह अर्थ नहीं है कि वन्ध्यापुत्र या खरगोश के सींग के तुल्य उसकी व्यावहारिक सत्ता ही नहीं है किन्तु वस्तु की प्रतीति होने से भी देश काल तथा वस्तु द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण एवं व्यभिचारी होने के कारण जिसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है उसे असत् कहा जाता है। शीत, उष्ण आदि निखिल प्रपञ्च अनुभूत होने से भी इसी कारण से ही असत् है। निखिल जगत् प्रपंच आत्मा में कल्पित है। शुक्ति में रजत कल्पित होने से मिथ्या रजत दिखता है, रज्जु में जैसे भ्रमवश सर्प दिखाई पड़ता है एवं इस से भय तथा कम्प सभी ही अनुभूत होते हैं, उस प्रकार मिथ्या जगत् एवं उससे उत्पन्न सुख, दुःख इत्यादि सब ही आत्मा में कल्पित है एवं उसका व्यवहार भी होता है। शुक्ति ज्ञान होने से जैसे रजत की भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, रज्जुज्ञान होने से जैसे सर्प की बुद्धि नष्ट हो जाती है उस प्रकार आत्मा का ज्ञान होने से ही आत्मा में अध्यस्त जगत्भ्रान्ति नष्ट हो जाती है क्योंकि जिसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है ऐसी मिथ्या वस्तु केवल अज्ञान के कारण दिखाई पड़ती है उसके अधिष्ठान के रूप में विद्यमान यथार्थ (सत्य) वस्तु के ज्ञान का उदय होने से ही उसकी (मिथ्यावस्तु की) सत्ता का लोप हो जाता है। अहं पदार्थ का लक्ष्य शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है। घट, पट इत्यादि वस्तु नष्ट होने से भी सत् बुद्धि का लोप नहीं होता है।

जगत् के विषय में सत् बुद्धि का उदय उस अधिष्ठान रूप सत् वस्तु को आश्रय करके ही होता है। विशेष-विशेष वस्तु (यथा घट इत्यादि) का आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है किन्तु घट नष्ट होने से भी 'पट है' यह बुद्धि रहती है तथा पट नष्ट होने से भी 'मठ' यह बुद्धि रहती है। इसलिए वस्तुएँ भिन्न-भिन्न होने से भी उसके मूलमें अनुगत जो 'सत्' है वह सदा ही एकरूप में रहता है अर्थात् 'सत्' 'सत्' (है, है) ऐसी समान प्रतीति सर्वत्र होती है। पुनः जब सभी दृश्य प्रपंची का उपशम होता है अर्थात् कोई दृश्य भी नहीं रहता है (यथा समाधि में) तब भी 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ इस बोध का लोप नहीं होता है। अतः पारमार्थिक सत् वस्तु (अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा नित्य, सर्वगत, अचल तथा सनातन है (गीता २।२४)। वस्तु के नाम रूप क्रिया असत् हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति तथा विनाश होता है किन्तु सभी वस्तु में सच्चिदानन्द सत्ता अनुस्यूत (व्याप्त) है क्योंकि वस्तु है (सत्), वह प्रकाशित हो रहा है (चित्) वह (किसी न किसी के लिये) प्रिय है (आनन्द)—इस प्रकार सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुभव होता है। उसका (सच्चिदानन्द स्वरूपत्व का) कभी भी व्यभिचार नहीं होता है। इसी को ही सत् या परमार्थ सत्ता (या परमात्मा) कहा जाता है। जो तत्त्वदर्शी हैं उन्होंने सत् तथा असत् के तत्त्व का निर्णय इसी प्रकार (निश्चय) किये हैं।

[वह कौन वस्तु है जो सत्स्वरूप में सर्वत्र विद्यमान है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा रहा है —]

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति। १७॥

अन्वय—येन इदं सर्वं ततं तत् तु अविनाशि विद्धि अस्य अव्ययस्य कश्चित् विनाशं कर्तुम् न अर्हति।

अनुवाद—जिसके द्वारा (जिस साक्षिचैतन्य के द्वारा) यह सारे दृश्य पदार्थ व्याप्त है उस आत्मस्वरूप को अविनाशि ही मानना चाहिए। चूँकि कोई भी इस अव्यय का (क्षति-वृद्धिहीन सत्ता का) विनाश नहीं कर सकता है।

दीपिका—येन इदं सर्वं ततम्—जिनके द्वारा अर्थात् जिसको 'सत्' कहा जाता है एवं जो सर्वव्यापी चैतन्य स्वरूप आत्मा या ब्रह्म है उनके

द्वारा (आकाश के द्वारा जैसे घट आदि सभी वस्तु व्याप्त है उस प्रकार) यह सारा जगत् तथा आकाश व्याप्त है तत् तु अविनाशि विद्धि—उन्हीं को ही अविनाशि जानना चाहिए। तु शब्द असत् जगत् प्रपञ्च से सत् की विलक्षणता (पृथक्त्व) दिखाने के लिए एवं सत् वस्तु को निश्चितरूप से दिखाने के लिए अर्थात् उस सत् ब्रह्म को ही अविनाशि जानोगे ऐसा निश्चय कर समझाने के लिए व्यवहार किया गया है। [जिस प्रकार आकाश में स्थित घट आदि वस्तु आकाश के द्वारा व्याप्त है उस प्रकार आकाश के साथ यह विश्व सत् (है) ही जिसकी आख्या (नाम) है उस ब्रह्म के द्वारा व्याप्त है क्योंकि 'है' अर्थात् घटः सन्, पटः सन् (घट है, पट है) इस सद्बुद्धि के बिना किसी वस्तु का भी अनुभव असम्भव है। विनाश का अर्थ है देश काल तथा वस्तु के द्वारा परिच्छेद। यह परिच्छेद जिसमें है वह विनाशी अर्थात् परिच्छिन्न है। जो पदार्थ उसका विपरीत है वही अविनाशी (सर्वपरिच्छेदरहित) है। आत्मा जन्ममृत्युरहित है एवं किसी प्रकार की परिच्छिन्नता उसमें सम्भव नहीं है, अतः सत्स्वरूप आत्मा अविनाशी है]। अस्य अव्ययस्य कश्चित् विनाशं कर्तुं न अर्हति—इस अव्यय ब्रह्म का कोई भी विनाश करने में अर्थात् अदर्शन या अभाव करने में समर्थ नहीं है। जिसका व्यय नहीं है, ह्रास (क्षति) वृद्धि नहीं है वही अव्यय है। देहादि की तरह अवयव नहीं रहने के कारण 'सत्' (अस्ति अर्थात् है) इस शब्द का प्रतिपाद्य ब्रह्म अपने रूप में कभी भी व्यभिचारी नहीं होता है (अन्यरूप नहीं प्राप्त होता है)। स्वजन बन्धुओं के विनाश के कारण भी ब्रह्म का अपचय (क्षति) सम्भव नहीं है। स्वजन, धन आदि की हानि में जिस प्रकार देवदत्त की (व्यक्ति विशेष की) हानि होती है उस प्रकार ब्रह्म का अपने से अतिरिक्त कोई पदार्थ रहने के कारण उस की किसी हानि की सम्भावना नहीं है। इस कारण कोई भी इस अव्यय ब्रह्म का विनाश करने में समर्थ नहीं है। ब्रह्म सभी की आत्मा है इसलिए ईश्वर भी इसका विनाश करने में समर्थ नहीं है क्योंकि कोई भी अपनी आत्मा का नाश करना नहीं चाहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा का स्वतः अथवा परतः किसी प्रकार से भी विनाश होना सम्भव नहीं है।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—(१) जिस सत् पदार्थ के सम्बन्ध में कहा जा रहा है उसे ज्ञानात्मक (शुद्ध चित् अर्थात् प्रकाश-स्वरूप) मानना पड़ेगा। वह प्रकाश्य (दृश्य) कभी नहीं होता क्योंकि ज्ञान से भिन्न होने से

वह परिच्छिन्न होता है (ज्ञान से भिन्न ज्ञेय या दृश्य वस्तु मात्र ही परिच्छिन्न या सीमित होता है)। (२) सत् पदार्थ की इस ज्ञानात्मकता को अनध्यासिक (अकल्पित) होना पड़ेगा (अर्थात् सत् पदार्थ को यदि ज्ञान में कल्पित माना जाय तब वह अवश्य ही जड़ होगा क्योंकि कल्पित वस्तु मात्र ही जड़ है)। (३) ऐसी शंका हो सकती है कि यह सत्पदार्थ यदि अनध्यासिक ज्ञानरूप हो तब तो वह क्रियारूप होगा क्योंकि ज्ञा धातु का अर्थ है जानना रूप क्रिया। क्रियामात्र की ही उत्पत्ति तथा विनाश हुआ करता है। अतः वह सत् पदार्थ भी ज्ञानरूप या क्रियारूप होने के कारण उत्पत्ति तथा विनाशशील होगा। जैसे घट का ज्ञान (घट के सम्बन्ध में जानना) उत्पन्न होता है तथा फिर विनष्ट हो जाता है। पुनः मुझे घट का ज्ञान हो रहा है ऐसो प्रतीति होने से वह ज्ञान साश्रय तथा सविषय होगा अर्थात् उस ज्ञान का (घट को जानने का) जो आश्रय एवं विषय है उसे भी स्वीकार करना पड़ेगा। अतः मैं घट को जान रहा हूँ अर्थात् 'मैं' जानता हूँ, दूसरा व्यक्ति नहीं जानता है ऐसी प्रतीति होने के कारण देश परिच्छेद होता है एवं 'मैं' इस समय जान रहा हूँ, उस समय नहीं जानता था इस प्रकार की प्रतीति होने के कारण काल परिच्छेद एवं 'ज्ञान एक है, उसका ज्ञेय दूसरा है' ऐसी प्रतीति के कारण वस्तु परिच्छेद होता है।

इसलिए वह स्फुरण (प्रकाश) स्वरूप, ज्ञानात्मक सत् पदार्थ देश, काल तथा वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होकर भी किस प्रकार परिच्छेद (सीमा) रहित हो सकता है ? इस आशंका के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं– अविनाशि—विनाश का अर्थ देश काल तथा वस्तु के द्वारा परिच्छेद। ऐसा परिच्छेद जिसका है अर्थात् जो परिच्छिन्न है उसे विनाशी कहा जाता है जो उसका विपरीत है वही अविनाशी अर्थात् सभी प्रकार के परिच्छेद से शून्य है। तु—यहाँ तु शब्द का 'एवं' (अर्थात् निश्चितक) अर्थ में व्यवहार किया गया है। तत् विद्धि–उस सत् स्वरूप स्फुरण का (अर्थात् प्रकाश स्वरूप ब्रह्म को) तुम सभी प्रकार के परिच्छेद से रहित जानो। वह वस्तु क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है येन—जो एक नित्य सर्वव्यापी सत् रूप के द्वारा एवं स्फुरण (चित्) रूप के द्वारा अर्थात् अपनी सत्ता तथा प्रकाश के द्वारा सर्वम् इदम्—जो स्वतः सत्ताशून्य तथा स्फुरणहीन (प्रकाशहीन अर्थात् जड़) है, वह दृश्य रूप से प्रतीत विश्व प्रपंच ततं—व्याप्त है अर्थात् जो रज्जु में (रस्सी में) सर्प दंड धारादि की तरह अपने में ही समस्त दृश्य पदार्थ को समावेशित किये हुए हैं उन पदार्थों को निश्चय ही अविनाशी मानना चाहिए।

[समावेशित शब्द का तात्पर्य यह है कि अध्यस्त (मिथ्या कल्पित) वस्तु के अधिष्ठान से पृथक् सत्ता या स्फुरण नहीं रहता है। जगत् ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण अधिष्ठान की सत्ता में ही वह सत्तावान् हुआ करता है एवं इस अधिष्ठान के प्रकाश के द्वारा ही वह प्रकाशित होता है। ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानने के कारण ही भ्रान्तिवश जगत् ब्रह्म में आरोपित होता है। अतः असत् जगत रूप दृश्य प्रपंच सत् ब्रह्म में ही समावेशित (आरोपित) रहता है क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है,] यह सद् ब्रह्म अविनाशी क्यों है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—अस्य अव्ययस्य—इस अपरोक्ष (साक्षात् प्रत्यक्ष) सबमें अनुस्यूत (व्याप्त) स्फुरणरूप (प्रकाशात्मक) अव्यय अर्थात् अपरिच्छिन्न सत् वस्तु का कश्चित्—कोई भी अर्थात् कोई आश्रय अथवा कोई विषय अथवा इन्द्रिय सन्निकर्षकरूप हेतु विनाशं–परिच्छेद न कर्तुम् अर्हति—करने में समर्थ नहीं होता है क्योंकि कल्पित वस्तु अकल्पित वस्तु का परिच्छेद नहीं हो सकती है और यदि कहो कि वह अकल्पित सद् ब्रह्म परमार्थतः अपरिच्छिन्न (अविनाशी) होने से भी उत्पत्ति तथा विनाशशील जगत् उसमें आरोपित होने के कारण भ्रान्तिवश सद् ब्रह्म ही परिच्छिन्न प्रतीत हो रहा है तब तो इष्टापत्ति ही होगी अर्थात् तब हम जो कह रहे हैं वही तुम भी सिद्ध कर रहे हो। 'अहं घटं जानामि' अर्थात् मैं घट को जान रहा हूँ इस ज्ञान का अहंकार है आश्रय, घट है विषय या ज्ञेय, और अहंकार वृत्ति ['अहं' (मैं) इत्याकारक अन्तःकरण की उत्पत्ति तथा विनाशशील वृत्ति विशेष] सर्वव्यापी प्रकाशस्वरूप 'सद्' वस्तु के अभिव्यजक के रूप में भासित रहती है। तार्किक लोग कहते हैं कि आत्मा तथा मन का संयोग ही ज्ञान का हेतु है एवं इस संयोग की उत्पत्ति तथा विनाश के लिए स्फुरणरूप सत् पदार्थ की भी उत्पत्ति तथा विनाश की प्रतीति होती है। अतः एक अद्वितीय स्फुरणरूप सत् पदार्थ की स्वतः (स्वाभाविक) उत्पत्ति तथा विनाश का प्रसंग नहीं हो सकता है। जैसे शब्द की उत्पत्ति तथा विनाश ध्वनिरूप अवच्छेद में ही (शब्द की उपाधि जो ध्वनि है उसमें ही) चरितार्थ होते हैं अर्थात् ध्वनि की उत्पत्ति तथा नाश से शब्द की भी उत्पत्ति तथा नाश होता है ऐसा प्रतीत होता है अथवा घट से अविच्छिन्न आकाश की उत्पत्ति तथा विनाश का ज्ञान जैसे आकाश के उपाधिस्वरूप घट आदि वस्तु का अवलम्बन करके ही होता है किन्तु वस्तुतः जैसे आकाश की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता है उसी प्रकार अहंकार की वृत्ति का आश्रय करके ही एक स्वप्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति तथा विनाश कल्पित होते हैं परन्तु स्वतः वह सदा ही एकरूप में तथा अविनाशी रहता है।

यद्यपि अहंकार उक्त प्रकाशात्मक सत्पदार्थ में ही अध्यस्त (अविद्या के द्वारा कल्पित) हैं एवं उस सत्पदार्थ की सत्ता से ही सत्तावान् एवं उसके स्फुरण से ही प्रकाशित रहता है तब भी अहंकार की वृत्ति के साथ प्रकाशात्मक सत्पदार्थ का तादात्म्याध्यास होने के कारण अहंकार ही उस सत्पदार्थ के आश्रय के रूप में प्रतीत होता है [अर्थात् तादात्म्याध्यास के कारण अहंकार वृत्ति एवं उसमें जो चैतन्य (प्रकाशात्मक सत्पदार्थ या ब्रह्म या आत्मा) प्रतिबिम्बित होता है, वे दोनों ही पानी में प्रतिबिम्बित सूर्य की तरह अभिन्न प्रतीत होते हैं]। वस्तुतः अहंकार जो स्फुरण का (चैतन्य का) आश्रय नहीं है उसका प्रमाण है सुषुप्ति अवस्था। सुषुप्ति की अवस्था में अहंकार नहीं रहता है। किन्तु उस अवस्था में अहंकार का वासना से वासित (अहंकार रूप संस्कार से युक्त) जो अज्ञान रहता है, उस अज्ञान के भासक (प्रकाशक) के रूप में चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वतः ही प्रकाशित रहता है। ऐसा नहीं होने से सुप्तोत्थित व्यक्ति—'मैंने अब तक कुछ भी नहीं जाना है' ऐसा स्मरण नहीं कर सकता (क्योंकि अनुभव विना स्मरण नही होता है)। [अनुभव या ज्ञान समानार्थक है। ज्ञानस्वरूप जो शुद्ध चैतन्य या साक्षी चैतन्य है उसके साथ इस अज्ञान का विरोध नहीं है किन्तु वृत्ति से उत्पन्न ज्ञान के साथ ही अज्ञान का विरोध है। इसलिए सुषुप्ति की अवस्था में वह अज्ञान साक्षी चैतन्य के द्वारा ही प्रकाशित होता है। सुषुप्ति की अवस्था में अहंकार की वासना से वासित (युक्त) जो अज्ञान साक्षी चैतन्य के द्वारा साक्षात् अपरोक्षरूप से गृहीत हुआ था उसका संस्कार अज्ञान का कार्य अहंकार इत्यादि में आहित (स्थापित) होने के कारण जाग्रत अवस्था में उसकी स्मृति हुआ करती है]। किन्तु तार्किक लोग वेदान्तियों का मत खंडन करके कहते हैं कि सुप्तोत्थित (गाढ़ी नींद से जगा हुआ) व्यक्ति जो कहता है 'मैंने अब तक कुछ भी नहीं जाना' यह सुषुप्तिकालीन ज्ञान के अभाव का अनुमानमात्र है अर्थात् सुषुप्ति की अवस्था में जो किसी प्रकार का ज्ञान नहीं था उसे ही सुषुप्ति से उठकर अनुमान करके प्रकाश करता है। किन्तु प्रश्न है कि किस हेतु के द्वारा यह अनुमान सिद्ध होगा ? सुषुप्तिकालीन "अहं ज्ञानाभाववान्" यह है प्रतिज्ञावाक्य। सुषुप्तिकाल होगा पक्ष और ज्ञानाभाव होगा साध्य। अनुमान करने में पक्षविषयक ज्ञान एवं जो दोषयुक्त नहीं है ऐसा हेतु रहना आवश्यक है। सुषुप्ति की अवस्था में ज्ञान नहीं रहता है ऐसा ही जब तुम लोग (तार्किकलोग) कह रहे हो तब तुम लोगों का पक्ष (सुषुप्ति) अज्ञात है। 'अज्ञातः पर्वतः वह्निमान्' ऐसा अनुमान नहीं हो सकता है। और

तुमलोग जो कहते हो कि सुषुप्ति की अवस्था में ज्ञान नहीं रहता है चूँकि उस ज्ञान का स्मरण नहीं होता है अर्थात् अस्मरण आदि को ज्ञानाभाव की अनुमिति का हेतु कहते हो किन्तु इस हेतु का व्यभिचार दिखाई पड़ता है, इस कारण यह (हेतु) अनैकान्तिक है; क्योंकि (क) अनुभव होने से ही जो स्मरण होगा ऐसा कोई नियम नहीं है जैसे रास्ते में चलते समय रास्ते के दोनों ओर तृण इत्यादि को देखने पर भी उनकी स्मृति नहीं रहती है क्योंकि उपेक्षात्मक ज्ञान की स्मृति नहीं होती है; (ख) निर्विकल्पक ज्ञान भी एक प्रकार का अनुभव है परन्तु उसकी स्मृति नहीं होती है, यह तार्किकलोगों के द्वारा भी स्वीकृत है। (ग) और यदि कहो कि ज्ञान की सामग्री जो इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष इत्यादि है वे नहीं रहने के कारण सुषुप्ति की अवस्था में ज्ञानाभाव था, तब अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा। ज्ञान नहीं रहने के कारण करण का (इन्द्रिय आदि का) अभाव, पुनः सुषुप्ति में करण का अभाव होने के कारण ज्ञान का अभाव—इस प्रकार परस्पर का ज्ञान परस्पर की अपेक्षा करने के कारण अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा। अतः यह अनुमान असिद्ध है। [करण का (इन्द्रिय का) विषय के साथ सन्निकर्षादि नहीं रहने से अपरोक्ष अनुभव नहीं हो सकता है—इसे वेदान्ती लोग स्वीकार नहीं करते हैं]।

इसके अतिरिक्त श्रुति भी कहती है "यद्वैतन्न पश्यति पश्यन्वै तद् द्रष्टव्यं न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्" (बृह० ४।३।२३) अर्थात् वह जो देख नहीं रहा है इससे समझना होगा कि वह देख कर भी नहीं देख रहा है चूँकि द्रष्टा की (आत्मा की) दृष्टि का (ज्ञान का) विपरि-लोप अर्थात् उच्छेद या विनाश नहीं हो सकता क्योंकि वह अविनाशी है। ऐसी श्रुति प्रकाशात्मक (ज्ञानस्वरूप) आत्मा की नित्यता निर्देश कर सुषुप्ति-काल में भी उनका अस्तित्व दिखा रही हैं अर्थात् श्रुति के वचन से यही सिद्ध होता है कि सुषुप्ति काल में भी नित्य द्रष्टा ज्ञानस्वरूप आत्मा का सद्भाव (अस्तित्व) रहता है। अतः ज्ञानस्वरूप (चैतन्यस्वरूप) सत्पदार्थ अविनाशी है इसे श्रुति प्रमाण के द्वारा भी सिद्ध किया गया है। [स्फुरणात्मक सद्वस्तु जो अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य का आश्रय होकर भी परिच्छिन्न नहीं हो सकता है, यह अब तक कहा गया है। अब वह वस्तु जो विषय होकर भी परिच्छिन्न नहीं हो सकती है वह कही जा रही है]। इस प्रकार घट आदि विषय भी (अर्थात् ज्ञेय पदार्थ मात्र ही) घट आदि विषय की अज्ञात अवस्था का भासक जो स्फुरण (चैतन्य या सत्पदार्थ) है उसमें कल्पित

रहता है, क्योंकि (क) ज्ञेय पदार्थ के सम्बन्ध में 'जो पहले अज्ञात था' वही अब मेरे द्वारा ज्ञात हुआ है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। और अज्ञात ज्ञापकत्व ही प्रामाण्य (प्रमात्व) है इसे सभी स्वीकार करते हैं अर्थात् जो अज्ञात वस्तु को ज्ञात कराता है उसे ही प्रमाण कहा जाता है। इसलिए तार्किक लोग (नैयायिक लोग) यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं। [ज्ञान दो प्रकारका है, अनुभव और स्मृति। यदि यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहा जाय तब तो स्मृति भी प्रमा हो जाती है किन्तु स्मृति ज्ञातविषय की ही ज्ञापिका होने के कारण अर्थात् अज्ञात ज्ञापक नहीं होने के कारण वह प्रमाण नहीं है। इसलिए स्मृति को प्रमा से व्यावृत्त (निषेध) करने के लिये यथार्थ ज्ञान को प्रमा न कह कर यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहा गया है]। (ख) पुनः घट आदि विषयों के अज्ञातत्व को आँख इत्यादि इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि अज्ञातत्व को ग्रहण करने की शक्ति चक्षुरादि इन्द्रियों की नहीं है। [जैसे सूर्य अन्धकार को प्रकाशित नहीं कर सकता है अर्थात् जहाँ सूर्य है वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता है उसी प्रकार चक्षुः (आँख) इत्यादि इन्द्रियाँ विषय को ज्ञात करने में ही समर्थ है किन्तु विषय के अज्ञातत्व को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं]। क्योंकि घट आदि विषयों का अज्ञातत्व आँख के द्वारा गृहीत होने से उस अज्ञान की अनुभूति बाद में भी रहेगी अर्थात् वह अज्ञातत्व नष्ट न होकर बाद में भी रह जायगा। अतः घट आदि विषय अज्ञान से आवृत रहने के कारण वह कभी भी ज्ञान का विषय नहीं होगा (घट आदि को कभी भी प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकेगा)। (ग) अनुमान के द्वारा भी घट आदि विषयों के अज्ञातत्व को ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि उस अनुमान का साधक कोई लिंग या हेतु नहीं है। वर्तमान ज्ञातत्वरूप (अब जान रहा हूँ, ऐसी) हेतु के द्वारा प्रागज्ञातत्व (पहले नहीं जानता था) अनुमित नहीं हो सकता है क्योंकि धारावाहिक रूप से अनेक ज्ञान के विषय में (बहुत देरतक एक विषय का जो ज्ञान होता रहता है उसमें) इस हेतु का व्यभिचार दिखता है [पहले नहीं जानता था, ऐसा अनुभव बाद में ज्ञान की धारा में नहीं रह सकता है क्योंकि घट को जानने से 'अब जान रहा हूँ' ऐसे ज्ञातत्व (ज्ञान) की धारा ही तब चलती रहती है]। (घ) और यदि कहो कि "इदानीमेव ज्ञातत्वम्" (अभी जान रहा हूँ) के द्वारा यही समझा जा रहा है कि पहले इसका ज्ञान नहीं था किन्तु अब इसका ज्ञान हुआ है एवं यही घट आदि पदार्थ के अज्ञान का हेतु है; तब हम कहेंगे कि तुम्हारा हेतु तथा साध्य एक ही है (साध्यसम)। अतः

हेतु असिद्ध है। (ङ) घट आदि की अज्ञात अवस्था का ज्ञान (मैं पहले घट को नहीं जानता था, यह ज्ञान) यदि न हो तब घट आदि जो उन उन विषयों के ज्ञान का हेतु है, ऐसी युक्ति ग्रहण योग्य नहीं है। जो जिसका हेतु है वह उसका पूर्ववर्ती ही होता है। घट आदि पदार्थ के ज्ञान का हेतु कहने से उस ज्ञान के पूर्ववर्ती घटादि पदार्थ की प्रतीति होना चाहिए। किन्तु ज्ञान के पहले अज्ञान ही रहता है अर्थात् 'घट आदि पहले अज्ञात नहीं था' ऐसा कहने से 'मैं घट को नहीं जानता हूँ' ऐसा जो प्रसिद्ध अनुभव है, उससे विरोध उपस्थि होगा। किन्तु अज्ञान ज्ञानवृत्ति का विषय नहीं हो सकता है। अतः वह अज्ञान (घट आदि अज्ञात था इस प्रकार का अनुभव) साक्षी का ही प्रत्यक्ष विषय होने के कारण जो स्फुरण (प्रकाशात्मक सद् वस्तु) अज्ञात था वह प्रकाशक होकर उस स्फुरण में अध्यस्त (आरोपित) घट आदि विषय को प्रकाशित करता है। इससे घट आदि पदार्थ जो अज्ञान के द्वारा सद्वस्तु में (आत्मा में) कल्पित है, इसकी सिद्धि होती है। ऐसा नहीं होने से घट आदि पदार्थ जड़ होने के कारण उसका अज्ञातत्व तथा प्रकाश दोनों ही अनुपपन्न (असंगत) हैं। [घट आदि जड़ है; जड़ का कई आवरण नहीं है, प्रकाश का ही आवरण रहता है क्योंकि प्रकाशमान वस्तु को अप्रकाश करना ही आवरण का परिणाम है। जड़वस्तु स्वयं प्रकाशहीन है। अतः उसे अप्रकाश करने के लिये आवरण का कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए जड़ अज्ञान का आश्रय या विषय नहीं है। जड़ चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होता है। चैतन्य अखंड होने पर भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने से उसे साक्षी चैतन्य और विषय से अवच्छिन्न होने से उसे विषयचैतन्य कहा जाता है। अज्ञान के द्वारा जब विषयचैतन्य आवृत रहता है तब घट आदि विषय, जो कि उस चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होता था, वह और प्रकाशित नहीं हो सकता है अर्थात् घट आदि विषय तब आवृत है ऐसा प्रतीत होता है। विषयचैतन्य का आवरक जो अज्ञान है, वह साक्षीचैतन्य के द्वारा गृहीत होता है। घट जब अज्ञात रहता है तब समझना पड़ेगा कि घट से अवच्छिन्न चैतन्य अज्ञान के द्वारा आवृत है और जब उस चैतन्य की आवरण-वृत्ति ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाती है तब चैतन्य ही प्रकाशित होता है एवं तब हमलोग कहते हैं कि "घट अज्ञात था, अब उसका ज्ञान हुआ है" घट आदि विषय उस चैतन्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त होकर प्रकाशित होता है। पुनः अध्यास के बिना तादात्म्य नहीं हो सकता है। अतः घट आदि विषय (जड़ तथा सद्भिन्न सब ही

विषय) सद्वस्तु आत्मा में (शुद्ध चैतन्य में) अध्यस्त (कल्पित) है अतः भूत–भविष्यत् तथा वर्तमान में एक ही रूप में स्थायी नहीं रहने के कारण मिथ्या है। इस प्रकार घट आदि विश्वप्रपंच दृश्य है, चित् से भिन्न है, परिच्छिन्न है, (सीमित) है, सत् तथा असत् से भिन्न है एवं इसलिये अनिर्वचनीय है। अतः ये सब ही मिथ्या हैं, यही सिद्ध हुआ]।

स्फुरण अर्थात् प्रकाशात्मक सद्वस्तु भी फिर स्वाध्यस्त (अपने ऊपर अध्यस्त) अज्ञान के निमित्त अज्ञात रहता है, इसे भगवान् स्वयं बाद में बतलायेंगे—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (५।१५) अर्थात् अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत रहने के कारण सभी प्राणी मोहग्रस्त होते हैं। [इसके द्वारा नित्यचैतन्य-स्वरूप आत्मा ही जो अज्ञान का आश्रय तथा विषय है, यह कहा गया। अज्ञान चिदात्मा में अध्यस्त होकर उसमें ही प्रतिष्ठित होकर उस चिदात्मा को ही अपना विषय कर उसे आवृत करके रहता है। इसलिए नित्यमुक्त आत्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप होते हुये भी अज्ञात मालूम होता है]। इसके द्वारा स्फुरणरूप वस्तु जो विभु (सर्वव्यापी) है, यह भी सिद्ध हुआ है। [विश्वप्रपंच अज्ञान या भ्रम के कारण सदात्मा में कल्पित है, यह पहले ही कहा गया है। कोई एक अकल्पित सत् अधिष्ठान को आश्रय नहीं करके भ्रम नहीं हो सकता है अर्थात् शून्य का आश्रय कर भ्रम नहीं हो सकता है। अतः शून्यवाद अयौक्तिक है। पुनः चूँकि अवधि के (अन्तिम सीमा) विना बाध नहीं हो सकता है इसलिए समस्त कल्पित वस्तु बाधित होने से जो अन्त में रह जाता है अर्थात् जो अन्तिम अवधि (विश्रान्ति) है, जिसका और बाध असम्भव है वही है अधिष्ठान। आकाश को विभु या सर्वव्यापी कहा जाता है, यह आकाश जिसमें कल्पित है एवं यह आकाश भी बाधित होने से जो सत्वस्तु अवशिष्ट रहती है, वह भी जो विभु होगा इसमें संशय की और क्या बात हो सकती है? अतः एक अविनाशी अकल्पित सभी प्रकार परिच्छेद से रहित तत्त्व नित्य सत्य के रूप में विद्यमान है, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा]। आत्मा के विभुत्व के सम्बन्ध में श्रुति में भी कहा गया है 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' इति (बृह० २।४।१२), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१); अर्थात् यह पारमार्थिक सद्वस्तु महत् है, अनन्त है, अपार तथा विज्ञानघन ही है; ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त स्वरूप हैं। महत्त्व या विभुत्व शब्द का अर्थ है अपने ऊपर जो पदार्थ

अध्यस्त हैं उन सबके साथ सम्बन्ध विशिष्टत्व (क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता तथा प्रकाश के द्वारा ही सभी अध्यस्त वस्तुओं की सत्ता तथा प्रकाश प्राप्त होता है)। और अनन्तत्व शब्द का अर्थ है देश काल तथा वस्तु इन तीन प्रकार के परिच्छेद से शून्यत्व। इन विभु तथा अनन्त सद्वस्तु को ही श्रुति में अन्तिम अवधि कहा गया है। 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० उ० ३।११) अर्थात् इस पुरुष के बाद और कुछ नहीं रह सकता है। यह पुरुष ही काष्ठा (सभी की शेष सीमा) है, यह ही चरम गति है। भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य ने भी कहा है 'सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यतीति' अर्थात् विनाशशील (दृश्य) वस्तुएँ (द्रष्टा) पुरुष को अवशिष्ट रखकर विनष्ट हो जाती हैं। पुरुष विनष्ट नहीं होता है क्योंकि उसके विनाश का कोई हेतु नहीं है। इसके द्वारा क्षणिकवाद (अर्थात् जिनके मन में आत्मा का प्रत्येक क्षण ही विनाश होता है तथा उसी समय एक नये आत्मा का जन्म होता है उनका अर्थात् बौद्धों का मत) निराकृत हुआ क्योंकि अबाधित प्रत्यभिज्ञा ही (जो मैंने कल देखा है, वही मैं आज स्पर्श कर रहा हूँ ऐसा अनुभव ही) आत्मा के क्षणिकत्व का विरोध करता है।

[अथवा पहले मुहूर्त में जिस आत्मा ने दर्शन किया था वही आत्मा इस समय स्पर्श कर रही है, अतः आत्मा क्षण-क्षण में विनष्ट नहीं होती है, यही प्रमाणित होता है।] अतः सभी पदार्थों में वर्तमान एक, स्वयंप्रकाश, स्फुरणरूप, सत्पदार्थ (आत्मा) सभी प्रकार के परिच्छेद से शून्य होने के कारण "नाभावो विद्यते सतः" अर्थात् सत्वस्तु का अभाव होना असम्भव है, ऐसा जो कुछ कहा गया है, यह युक्तिसिद्ध हुई।

(२) श्रीधर—[पहले के श्लोक में जो अविनाशी हैं उनका साधारण-रूप से विश्लेषण कर अब विशेषरूप से विश्लेषण कर रहे हैं]। येन—जिस सद्वस्तु के द्वारा सर्वम् इदम्—आगम तथा अपायी (उत्पत्ति तथा विनाश-शील) देह आदि समस्त वस्तु ही ततं—साक्षित्व के द्वारा व्याप्त है [आत्मा में कल्पित (उत्पत्ति तथा विनाशशील) दृश्य जगत् प्रपंच को आत्मा द्रष्टा या साक्षी के रूप में व्याप्त करके विद्यमान हैं]। तत् तु अविनाशि विद्धि—उस आत्मा को स्वरूपतः अविनाशी (विनाशशून्य) जानो। अस्य अव्ययस्य—इस क्षय-वृद्धिहीन सद्वस्तु को कश्चित्—कोई विनाशं कर्तुम्—विनाश करने में न अर्हति—समर्थ नहीं होता है। [आत्मा सर्वरूप है इसलिए

सर्वव्यापी भी है। जो सर्वरूप तथा सर्वव्यापी है वह अवश्य ही अद्वय (द्वैतहीन) होगी। अतः आत्मा से अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु जब नहीं है तब आत्मा का विनाश कौन करेगा ? अर्थात् कोई भी उसका विनाश नहीं कर सकता है। अतः आत्मा अविनाशी तथा अव्यय (क्षयवृद्धिहीन) है)]।

(३) शंकरानन्द—[पहले के श्लोक में जिसे सद्वस्तु कहा गया है वह सामान्य रूप से सत् है या स्वरूप से सत् है ? अर्थात् सत् शब्द के द्वारा सत् सामान्य या सत्स्वरूप को समझा जा रहा है ? यदि सत् सामान्य हो तब वह विशेष की अपेक्षा करेगा। अतः प्रलय की दशा में जब सभी विशेष पदार्थों का विनाश होगा तब उस सद्वस्तु का भी नाश होगा। विशेष वस्तु कार्य है इसलिए प्रलय की अवस्था में सभी विशेष का नाश हो जाता है। पुनः सामान्य विशेष का धर्म होने के कारण उसका भी नाश हो जायगा। यदि सत्स्वरूप हो तब वह (दूसरे से) पृथक् होने के कारण कल्पित होगा एवं विनाशयुक्त होगा। और यदि सभी वस्तु में वह अनुवृत्त (व्याप्त) हो तब सामान्य के सम्बन्ध में जो विनाशित्व दोष कहा गया है वह प्रसंग आ जायगा। इस प्रकार की आशंका के उत्तर में सद्वस्तु (जिसके सम्बन्ध में पूर्वश्लोक में कहा गया है वह) जो सामान्य तथा विशेष दोनों भावों से शून्य है, अतः उसका विनाश किसी भी प्रकार से होना असम्भव है, यह कहने के लिए यह श्लोक आरम्भ किया गया है]। येन सर्वमिदं ततं तत् अविनाशि विद्धि—जैसे सूर्य के किरण के द्वारा जलप्रवाह व्याप्त रहता है उस प्रकार अविद्या का कार्यरूप से भासित यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् अति सूक्ष्म व्यापक सत्स्वरूप के द्वारा बाहर तथा अन्दर में व्याप्त रहता है। उस सत् शब्द के द्वारा अभिहित वस्तु अविनाशी है अर्थात् असत्वस्तु जैसे विनाशशील (विनाश क्रिया के अधीन) है उसी प्रकार वह सद्वस्तु विनाशशील नहीं है। (विनाश अर्थात् विकारी अवस्था प्राप्त होना जिसका शील अर्थात् स्वभाव नहीं है उसको अविनाशी कहा जाता है)। अभिप्राय यह है कि सद्वस्तु अति सूक्ष्म और महत् होने के कारण स्वयं विनाश क्रिया से अतीत रहता है अर्थात् नित्य विद्यमान रहता है। इस विषय में अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—आत्मा नित्य है, चूँकि वह परिपूर्ण है, जैसे आकाश। अर्थापत्ति प्रमाण—एक देह नष्ट होने से भी सभी पदार्थ सर्वत्र सभी को उपलब्ध होते हैं। इन पदार्थों की उपलब्धि सूर्य के समान सर्वप्रकाशक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने से ही सम्भव है–आत्मा का नित्यत्व नहीं मानने से वह सम्भव नहीं है। इस प्रकार अर्थापत्ति से भी आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

जो लोग आत्मा की विनाशशीलता को मानते हैं उनके निकट प्रश्न यह है कि—(१) आत्मा का नाश क्या स्वतः ही होता है अर्थात् आत्मा क्या अपने से ही नष्ट हो जाता है ? ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सावयव पदार्थ अवयव का नाश होने से ही स्वतः नष्ट हो जाता है किन्तु आत्मा निरवयव है अतः उसके अवयव का नाश नहीं होता है। इसलिए आत्मा का स्वतः नाश होना असम्भव है। (२) आत्मा क्या दूसरे के द्वारा नष्ट होता है ? ऐसी शंका भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि दूसरे के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह भी आत्मा ही है। इसलिए अपने प्रति आत्मा का कर्तृत्व तथा कर्मत्व होता है (अर्थात् आत्मा नाशक है एवं आत्मा ही नष्ट होता है) ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है। इस कारण से दूसरे के द्वारा आत्मा का नाश सम्भव नहीं है। (३) आत्मा का नाश क्या आत्मा के आश्रय के नाश के कारण होता है ? 'कस्मिन् भगवः प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इति अर्थात् भगवन् ! वह आत्मा किसमें स्थित रहता है ? (उत्तर) अपनी महिमा में। अतः श्रुति कह रही है कि आत्मा का आश्रय आत्मा ही है, आत्मा के अतिरिक्त उसका कोई आश्रय नहीं है। अतः आश्रय का नाश होने से आत्मा का नाश होता है ऐसी कल्पना करना भी युक्तियुक्त नहीं है। (४) आत्मा का नाश क्या आत्मसम्बन्धी वस्तु के नाश से होता है ? आत्मा निरवयव है अतः उसमें द्रव्य, गुण, क्रिया आदि का संयोगजनित सम्बन्ध निरूपण नहीं किया जाता है। अतः किसी सम्बन्धयुक्त वस्तु के विच्छेद से आत्मा का नाश होता है, ऐसी कल्पना करना भी अनुचित है। (५) आत्मा का नाश क्या आत्मा के कारण के नाश से होता है ? आत्मा का कोई जनयिता (उत्पत्तिकारी) नहीं है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'न चास्य कश्चिज्जनिता।' अतः ब्रह्मस्वरूप आत्मा का कोई कारण नहीं रहने के कारण, कारण के नाश से आत्मा का नाश होगा ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। (६) तब क्या आत्मा के कार्य का नाश होने से आत्मा का नाश होता है ? श्रुति में कहा गया है 'न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते' अर्थात् आत्मा का कार्य या कारण कुछ भी नहीं है। अतः (आत्मा का कोई कार्य न रहने के कारण) कार्य का नाश होने से आत्मा का नाश होगा, ऐसी कल्पना अनुचित है।

अतः किसी प्रकार से ही जब सत्वस्तु का (ब्रह्म का) नाश होना सम्भव नहीं है तब सद्वस्तु अवश्य अव्यय होगी। इस लिए भगवान् कह रहे हैं अस्य अव्ययस्य विनाशं कश्चित् न कर्तुम् अर्हति—इस अव्यय

पुरुष का अर्थात् जिसकी सत्ता नित्य सिद्ध है ऐसे ब्रह्म का विनाश करने में (अथवा विनाश होता है, ऐसा कहने में) कोई व्यक्ति (अर्थात् कोई विशेष मतवादी) समर्थ नहीं होता है। यदि इस सत् ब्रह्म का विनाश सम्भव हो तब 'मैं नहीं हूँ' ऐसे अपने के ही अभाव के बोध का प्रसंग उपस्थित होगा किन्तु ऐसा प्रसंग (प्रस्ताव) श्रुतिवाक्यों के तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण के विरुद्ध होगा। अतः सत् वस्तु अर्थात् आत्मा अविनाशी है।

(४) नारायणी टीका (१) येन सर्वमिदं ततं—(क) इदं शब्द का अर्थ है अविद्या का कार्य यह परिदृश्यमान दृश्य प्रपंच। दृश्य प्रपञ्च मिथ्या मरीचिका के जल की तरह असत् है अर्थात् उसकी प्रतीति होती है किन्तु उसकी कोई वास्तविक (पारमार्थिक) सत्ता नहीं है। मिथ्या कल्पित वस्तु किसी सत्य वस्तु का अवलम्बन (अधिष्ठान) करके ही रहता है। यह सत्य वस्तु ही आत्मा है। जैसे रज्जु (रस्सी) रूप अधिष्ठान में भ्रान्तिवश सर्प की प्रतीति होती है अथवा शुक्ति रूप अधिष्ठान में भ्रान्ति वश रजत की प्रतीति होती है उस प्रकार सर्वात्मा ब्रह्मरूप अधिष्ठान में भ्रान्ति (अविद्या) के कारण जगत् की प्रतीति होती है। जैसे मिथ्या सर्प के प्रति कण में रस्सी ही वर्तमान रहती है अथवा मिथ्या रजत के प्रति कण में शुक्ति ही विद्यमान रहती है उस प्रकार जगत् में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म या आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतः इदं (दृश्य) रूप में जो कुछ प्रतीत होता है वह ब्रह्म या आत्मा के द्वारा ही बाहर एवं भीतर व्याप्त रहते हैं। अतः दृश्य या ज्ञेय वस्तुमात्र ही आत्मा है। (ख) सूक्ष्म रूप से विचार करने से देखा जायगा कि सभी वस्तुओं के मूल में ज्ञान स्वरूप (चेतन) आत्मा है। उसकी ही सत्ता में इस कल्पित जगत् का स्फुरण हो रहा है। जब तक तुम किसी वस्तु को न जानो तब तक उसका अस्तित्व भी तुम्हारे पास नहीं है इसलिए सभी वस्तुओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में 'जानना (knowing)' रूप क्रिया होनी चाहिए अर्थात् उसका एक ज्ञाता या अनुभव कर्ता आवश्यक है। निर्जन गुहा में कोई कीट चल रहा है उसका भी अन्तर में एक ज्ञाता है। पुनः किसी के अन्तर में जो किसी वासना या भावना का आविर्भाव तथा तिरोभाव हो रहा है उसका भी एक ज्ञाता है। इसप्रकार जो सभी प्राणियों में चिरंतन ज्ञाता हैं, वह ही है आत्मा। अतः जहाँ किसी वस्तु का अस्तित्व है वहीं ही ज्ञाता आत्मा भी विराजमान है (क्योंकि पहले ही कहा गया है कि ज्ञान के बिना वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है)। इसलिए आत्मा सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी एवं सर्वव्यापी है अर्थात् बाहर अन्दर सब कुछ व्याप्त कर आत्मा विराजमान हैं।

अतः द्रष्टा या ज्ञाता मात्र ही आत्मा है। पुनः सर्वव्यापी द्रष्टा आत्मा में सारे दृश्य कल्पित होने के कारण द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन सब ही जो आत्मा है यह सिद्ध होता है क्योंकि कल्पित वस्तु के अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त और कोई पृथक् सत्ता नहीं रह सकती है। 'येन सर्वमिदं ततं' वाक्य का यही तात्पर्य है।

(२) तत् अविनाशि विद्धि—(क) ऊपर में उल्लिखित यह विज्ञात-स्वरूप (चित्स्वरूप) आत्मा ही प्रति जीवों का प्रकृत अहं (मैं) है। 'मैं नहीं हूँ' इसकी अनुभूति किसी को भी नहीं होती है क्योंकि जो अपना अभाव अनुभव करेंगे वे ही प्रकृत अहं या आत्मा है। हमलोगों के हरेक में दो 'मैं' है—मैं जानता हूँ कि कल रात को मैंने ऐसा स्वप्न देखा था, मैं जानता हूँ कि मैं अब भ्रमण कर रहा हूँ, मैं जानता हूँ कि कल मैं जन्माष्टमीका व्रत करूँगा। भूतकाल में जिसने स्वप्न देखा था, जो अब (वर्तमानकाल में) भ्रमण कर रहा है एवं कल (भविष्यत् में) जो जन्माष्टमी का व्रत करेगा वही अज्ञानी 'मैं' अर्थात् जीव है क्योंकि देहेन्द्रियादि के संघात में तादात्म्य बुद्धि कर वह कर्ता, भोक्ता बनकर 'मैं' मैं कर रहा है। देहेन्द्रियादि के कार्य तथा अवस्था के साथ-साथ इस 'मैं' का परिवर्तन होता है परन्तु जो जानता है अर्थात् जो उन सभी अवस्थाओं के ज्ञाता (विज्ञाता) या द्रष्टा हैं वे सर्वदा एक रूप में ही रहता है क्योंकि सभी अवस्था में ही अर्थात् भूत, भविष्य तथा वर्तमान में 'मैं जानता हूँ' इस ज्ञान का कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'यो वेद अहं शृणोमीति स आत्मा, यो वेद अहं पश्यामीति स आत्मा, 'यो वेद अहं विजानामीति स आत्मा' ' न हि द्रष्टुर्दृष्टे-र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' अर्थात् जो जानता है कि मैं सुन रहा हूँ वह आत्मा है; जो जानता है कि मैं देख रहा हूँ वह आत्मा है; जो जानता है कि मैं जान रहा हूँ वह आत्मा है। द्रष्टा की दृष्टि का या विज्ञाता के विज्ञाति का (जानने का) कभी भी लोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है। इसलिए सर्वभूत के प्राणिओं के 'मैं' पद का लक्ष्य वस्तु जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसका कोई भी विनाश सम्भव नहीं है क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव कभी भी किसी को नहीं होता है। (ख) श्रुति में कहा गया है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ०) अर्थात् ब्रह्म (आत्मा) सत्यस्वरूप, ज्ञान स्वरूप तथा अनन्तस्वरूप है। अनन्त का कोई अंश नहीं होता है क्योंकि वह पूर्ण है। इसलिए किसी अवस्था में भी देश, काल या वस्तु आत्मा को परिच्छिन्न नहीं कर सकता है। इस कारण से भी अव्यय (अक्षय) एकमात्र

सद्वस्तु आत्मा का विनाश (लोप) कभी भी सम्भव नहीं है। (ग) साधारणतः विनाश दो प्रकार से होता है। (१)अदर्शन होने से अर्थात् अग्नि के द्वारा देह नष्ट होकर अदृश्य होने से कहा जाता है कि देह विनष्ट (विनाश प्राप्त) हो गया है और (२) परिवर्तन होने से अर्थात् रोग आदि के द्वारा देह का परिवर्तन होने से कहा जाता है कि देह विनष्ट हो गया है। ज्ञानस्वरूप आत्मा सद्वस्तु है अर्थात् जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, कौमार-यौवन-जरा सभी अवस्था में सदा ही वर्तमान है। इसलिए उसका अदर्शन कभी भी नहीं होता है और नित्य एक रूप (अविकारी) होने के कारण इसमें कोई परिवर्तन होना भी सम्भव नहीं है। अतः वह अविनाशी है। **येन सर्वम् इदं ततम्**—इदम् (दृश्य प्रपंच) रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह व्याप्य है और आत्मा व्यापक है। व्याप्य व्यापक को कभी भी नाश नहीं कर सकता है। अतः आत्मा के नाशक के रूप में कोई भी वस्तु इस विश्व में नहीं है। व्याप्य वस्तु देश, काल तथा वस्तु के द्वारा अवश्य ही परिच्छिन्न होगा, अतः विनाशी भी होगा। जो विनाशी है अर्थात् पहले नहीं था बाद में भी नहीं रहेगा वह असत् या मिथ्या है। अतः जगत् मिथ्या है एवं ब्रह्म (आत्मा) एक मात्र सत्य वस्तु है, यही प्रतिपादित हो रहा है।

[पूर्वश्लोको में आत्माका अविनाशित्व निरूपण कर अत्र आत्मातिरिक्त सभी वस्तु असत् तथा विनाशी है यह श्रीभगवान् स्पष्ट कर रहे हैं]

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्वय—नित्यस्य अनाशिनः अप्रमेयस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः, हे भारत, तस्मात् युध्यस्व ।

अनुवाद—शरीरधारी सर्वदा एकरूप (नित्य) अविनाशी तथा प्रमाण के अतीत (अप्रमेय) आत्मा का यह समस्त शरीर (सकल स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह) विनाशशील है। अतः हे अर्जुन ! तुम युद्ध करो।

दीपिका। **नित्यस्य अनाशिनः**—नित्य तथा अविनाशी का। नित्य तथा अविनाशी इन दो शब्दों को एक साथ व्यवहार करने में पुनरुक्ति का दोष इसमें नहीं है। क्योंकि इस लोक में नित्यत्व द्विविध है। जैसे कि यह देह आग में जलकर अदर्शन प्राप्त होने से नष्ट हो जाता है तथा पुनः रोग इत्यादि के द्वारा भी अवस्थान्तर प्राप्त होने से देह नष्ट हो जाता है। आत्मा का

उक्त दो प्रकार के नाश के (अदर्शन प्राप्ति तथा अवस्थान्तर प्राप्ति के) साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । अर्थात् आत्मा सदा ही एकरूप में रहती है, इसे स्पष्ट करने के लिए ही नित्य तथा अविनाशी इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है । पृथ्वी प्रभृति वस्तु का भी आपेक्षिक नित्यत्व है अतः आत्मा का भी उस प्रकार का आपेक्षिक नित्यत्व रह सकता है, जिससे ऐसी बुद्धि न हो इसीलिए नित्य तथा अविनाशी इन दो शब्दों की ही सार्थकता है । **अप्रमेयस्य**—प्रमा शब्द का अर्थ है यथार्थ ज्ञान (अर्थात् वस्तुतत्त्व); प्रमाता शब्द का अर्थ है यथार्थ ज्ञान का ज्ञाता । प्रमेय शब्द का अर्थ है जिसके सम्बन्ध से यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है । और जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे कहते हैं **प्रमाण** । साधारणतः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ये तीन मुख्य प्रमाण कहे जाते हैं, (किसी किसी शास्त्र में इन तीनों से भी अधिक प्रमाण को माना जाता है), किन्तु आत्मतत्त्व इन प्रमाणों के बाहर है अर्थात् आत्मतत्त्व इन प्रमाणों के द्वारा परिच्छेद्य नहीं है । अब शंका हो सकती है कि, अच्छा "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३) इत्यादि सूत्रों के अनुसार ब्रह्म या आत्मा का शास्त्र (आगम) के द्वारा परिच्छेद्य मालूम होता है, और जब शास्त्र से ब्रह्मतत्त्व को जाना जाता है तब अवश्य ही पहले शास्त्रप्रणेता ऋषि लोगों ने प्रत्यक्ष-अनुमान इत्यादि प्रमाणों के द्वारा आत्मतत्त्व को जाना है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्रमाणों के द्वारा आत्मा प्रमेय (परिच्छेद्य) हुआ है, ऐसा कहना पड़ेगा (उत्तर) नहीं, ऐसा संशय करना अनुचित है क्योंकि आत्मा स्वतःसिद्ध है । प्रमातारूप आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने के बाद ही प्रमाज्ञानेच्छु (यथार्थज्ञान प्राप्ति करने को इच्छुक) व्यक्ति का प्रमाण के सम्बन्ध में अन्वेषण होता है, [समस्त ज्ञान के आश्रय रूप में आत्मज्ञान की ही सिद्धि होती है । किसी विषय में जब सन्देह भ्रान्ति या विपर्यय नहीं रहते हैं तब मानना पड़ेगा कि उस विषय में हमारा यथार्थ ज्ञान है । आत्मा के विषय में हमलोगों में किसी में संशय, भ्रम अथवा विपर्यय नहीं रहते हैं । अतः सिद्ध होता है कि आत्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान है । घट पट इत्यादि जितने प्रकार का ज्ञान है उसमें 'मैं' हूँ एवं 'मेरा' ज्ञान हो रहा है, ऐसा बोध स्वतः ही रहता है अतः इस सम्बन्ध में किसी का भी संशय नहीं रहता है,] 'मैं इस प्रकार हूँ' इस प्रकार अपने बारे में पहले ज्ञान नहीं रहने से किसी भी प्रमाण के द्वारा दूसरी वस्तु का स्वरूप निर्णय करने में प्रवृत्ति नहीं होती है । आत्मा किसी व्यक्ति को भी अज्ञात नहीं है । शास्त्र को जो आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण माना गया है,

उसका अर्थ यह नहीं है कि शास्त्र अज्ञात आत्मतत्त्व का ज्ञापक है अर्थात् आत्मज्ञान (अपने स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान) अज्ञात था एवं शास्त्र उसे प्रमेय के रूप में (शास्त्ररूप प्रमाण के परिच्छेद्य के रूप में) प्रकाश करता है। शास्त्र में तो केवल आत्मा के ऊपर आरोपित मिथ्या धर्म का (मैं मनुष्य हूँ, मैं कर्ता हूँ इस प्रकार धर्म का अध्यारोप) निषेध कर आत्मा के विषय में प्रमाणत्व प्राप्त होता है। [आत्मा या ब्रह्म के अतिरिक्त सब ही कल्पित है। शास्त्र भी कल्पित है। कल्पित भ्रम को निवृत्ति के लिए ही कल्पित शास्त्र का प्रयोजन है। शास्त्र भ्रम को केवल मात्र निवृत्त करता है, तत्त्व की स्थापना नहीं करता है। शास्त्र केवल अनात्म भ्रम को (आत्मा में कल्पित संसार प्रपञ्च को) दूर करता है किन्तु आत्मा को प्रमाणित नहीं करता है। यह बात ही श्रुति कह रही है 'यत्साक्षादपरोक्षं ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' इति (बृह० उ०) अर्थात् जो वस्तु दूसरे विज्ञान की सहायता के बिना ही प्रकाशित होती है एवं जो वस्तु सभी के अन्तर (भितर) में विराजमान हैं, वही ब्रह्म हैं। श्रुति में और भी कहा गया है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जो सभी वस्तु का विज्ञाता है उसे कैसे जानोगे, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ उ० २।५।१५)॥ अर्थात् उस सद्वस्तु में सूर्य एवं चन्द्र अथवा तारा का प्रकाश नहीं है, विद्युत् का भी प्रकाश नहीं होता है। अग्नि की तो बात ही नहीं है। स्वयंप्रकाश इस ज्योतिर्मय का प्रकाश रहने के कारण ही ये समस्त पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं एवं उनकी दीप्ति के द्वारा ही यह जगत् उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप, सर्वावभासक आत्मा की अपनी सत्ता के प्रकाश के लिए अपने में भास्य पदार्थों की (इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शास्त्र इत्यादि की) आवश्यकता नहीं है, अर्थात् आत्मा स्वतः सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिये दूसरे की आवश्यकता नहीं है। तथापि कल्पित (मिथ्या) अज्ञान की एवं उस अज्ञान के परिणाम स्वरूप इस विश्वप्रपञ्च की निवृत्ति के लिए कल्पित वृत्ति की अपेक्षा है अर्थात् निर्विकल्पक वृत्ति ज्ञान के द्वारा ही शुद्ध ब्रह्म का आवरण जो अज्ञान है, उसका नाश होता है। वह नाश्य (नाश करने के योग्य) अज्ञान जिस प्रकार कल्पित है, उसका नाशक वृत्तिज्ञान भी उसी प्रकार कल्पित है। वह वृत्तिज्ञान अज्ञान को नष्ट करने के पश्चात् स्वयं भी विनष्ट हो जाता है जो कल्पित है वह ही दूसरे कल्पित का विरोधी होता है। इस कारण से समस्त कल्पित पदार्थ का जो निवर्तक

अर्थात् जिस वृत्ति के द्वारा समस्त कल्पित पदार्थों का नाश होता है उस वृत्ति विशेष की उत्पत्ति के लिए ही शास्त्र आरब्ध हुआ है। अतः शास्त्र व्यर्थ नहीं है। 'तत्त्वमसि' प्रभृति वाक्य से ही वैसी वृत्ति विशेष की उत्पत्ति होती है। पारमार्थिक दृष्टि से शास्त्र की भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जीव, ईश्वर, जगत्, शास्त्र प्रभृति विभाग तबतक ही रहता है जबतक ज्ञान का उदय न हो। 'अत्र वेदाः अवेदाः भवन्ति (बृह० उ० ४।३।२२) अर्थात् उस तुरीया अवस्था में वेद भी अवेद (मिथ्या) हो जाता है, इत्यादि वचनों से स्वयं वेद ही पारमार्थिक अवस्था में अपने असत्त्व की घोषणा कर रहे हैं, क्योंकि जो कल्पित है वह कभी भी अकल्पित का परिच्छेदक नहीं हो सकता है अर्थात् अकल्पित नित्य सत्य आत्मा को सीमित करके 'यह इस प्रकार है' इस प्रकार ज्ञान का विषय (प्रमेय) करने में समर्थ नहीं होता है। यही 'अप्रमेयस्य' शब्द का तात्पर्य है।] शरीरिणः—शरीराभिमानी आत्मा का इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः—यह समस्त देह अन्तवान् (विनाश शील) हैं, विवेकी लोग ऐसा कहते हैं। 'अन्त' शब्द का अर्थ है विनाश, यह जिनमें है वे ही 'अन्तवन्तः' हैं। जैसे मृगतृष्णिका के जल में अनुगत सद्बुद्धि प्रमाण के द्वारा वस्तु का निरूपण करने के बाद (अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा मृगतृष्णिका के जल का अभाव निर्धारण करने के बाद) वह सद्बुद्धि (जल है, ऐसी बुद्धि) और नहीं रहती है एवं उस सद्बुद्धि के विच्छेद से ही उसका अन्त (विनाश) होता है। उस प्रकार यह देह भी स्वप्न में अनुभूत या ऐन्द्रजालिक देह आदि की तरह अन्तवान् (विनाशशील) है। ["इमे देहाः" पद का अर्थ है देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के संघातरूप यह शरीर जो कर्मफल के भोग के लिए संसार चक्र में भ्रमण कर रहा है। 'देहाः' इसप्रकार बहुवचन के द्वारा (क) स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह तथा कारण देह (ख) विराट् देह। व सूत्र (हिरण्यगर्भ) देह एवं ईश्वर देह अर्थात् समष्टि तथा व्यष्टिरूप समस्त देह को लक्ष्य करके कहा गया है। ये सभी नाशवान् हैं। मनुष्य के शरीर में नाश तीन प्रकार का है (१) अदर्शन अर्थात् मृत्यु होने से (२) व्याधि इत्यादि के परिणाम स्वरूप (३) आत्यन्तिक नाश अर्थात् मुक्ति जिसे प्राप्त करने से और शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। देह रहने से ही इन समस्त नाशों के अधीन होना पड़ेगा। मरुमरीचिका में जलभ्रम जैसा केवल कल्पनामात्र है, उपर्युक्त स्थूल, सूक्ष्म आदि देह भी उसी प्रकार सत् आत्मा में केवल कल्पित होकर ही भासता है। सत्य-संकल्प पुरुष एक होकर भी, (सर्वदा अपने स्वरूप में रहकर भी) अपनी माया के

द्वारा बहुदेह धारण किये हैं ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए श्रुति कहती हैं 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० उ०) अर्थात् एक ही देव (स्वयं प्रकाश पुरुष) सभी प्राणी में गुप्त रूप से वर्तमान है, तथापि वे सर्वव्यापी हैं एवं सभी प्राणी के अन्तरात्मा अर्थात् अहं पद का ('मैं' इस पद का) लक्ष्यवस्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा है उस आत्मा का स्वरूप अवगत होने से सभी देहों का आत्यन्तिक नाश (अन्त) होता है जैसे सत्य रज्जु का ज्ञान होने से मिथ्या सर्प, धारा, दंड, माला इत्यादि जो कुछ उसमें कल्पित था वह एक साथ विलुप्त हो जाता है]। तस्मात् युद्धस्व, भारत—हे अर्जुन ! चूँकि आत्मा नित्य तथा निर्विकार है इसलिए तुम युद्ध करो अर्थात् युद्ध से विरत मत होओ। [आत्मा का नित्यत्व आदि स्वरूप का प्रतिपादन कर भगवान् ने अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश दिया। पुनः साथ-साथ उपदेश दे रहे हैं 'तस्मात् युध्यस्व' अर्थात् चूँकि आत्मा नित्य तथा विक्रियाहीन है इसलिए तुम युद्ध करो। इससे मालूम होता है ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय ही (इन दोनों का एक साथ अनुष्ठान ही) भगवान् का अभिमत है। इसके उत्तर में भाष्यकार अब कह रहे हैं (आनन्द गिरि)—] इस वाक्य में युद्ध कर्तव्य रूप से विहित नहीं हुआ है क्योंकि अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त ही थे, (बीच में केवल) शोक मोह आदि के द्वारा प्रतिबद्ध होकर (अभिभूत होकर) चुप हो गये थे अर्थात् युद्धकार्य से विरत हुए थे। भगवान्, अर्जुन के कर्त्तव्य पालन के विषय में जो प्रतिबन्धक (विघ्न) उपस्थित हो गया था, उसका ही केवल अपनयन (दूर) कर रहे हैं। इसलिए 'युद्ध करो' ऐसा विधान नहीं किया जा रहा है अर्थात् वह कर्मविधि नहीं है, किन्तु पूर्वसिद्ध अर्थ का अनुवाद मात्र किया जा रहा है अर्थात् अर्जुन पहले ही जो युद्धकार्य में प्रवृत्त हुये थे, उसका ही केवल भगवान् अनुमोदन कर रहे हैं।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—भूतचैतन्यवादी लौकायतिक लोगों का कहना है कि स्फुरणरूप (प्रकाशरूप) जो सत् पदार्थ है वह जब देह का ही धर्म है और देह का जब प्रतिक्षण में विनाश हो रहा है तब वह सत् पदार्थ विनाशशील नहीं है, यह कैसे कहा जाय ? ऐसी आशंका का निराकरण करने के लिए पहले जो कहा गया है 'नासतो विद्यते भावः' अर्थात् असत् की सत्ता नहीं हो सकती है, उसी को अब विस्तृत रूप से कह रहे हैं। इमे देहाः—यह सब अपरोक्ष देह अर्थात् जो देह सामने दिखाई पड़ती है। ['देहाः' यह शब्द बहुवचन में प्रयोग होने के कारण स्थूल,

सूक्ष्म तथा कारणरूप है एवं क्रमशः विराट्, सूत्र, अव्याकृत के नाम से प्रसिद्ध समष्टि व्यष्टिरूप समस्त देह को ही निर्दिष्ट करके कहा गया है]। अन्तवन्तः—विनाशशील है क्योंकि देहमात्र की ही क्षय-वृद्धि होती है। यह देह किसका है ? यह सब ही नित्यस्य—अविनाशी शरीरिणः—शरीरी का है। जो आध्यासिक सम्बन्ध में शरीरधारी हैं उनको समस्त शरीर आत्मा में अध्यस्त होने से आत्मा मानो उनके साथ सम्बन्धयुक्त होकर शरीरधारी हुई है, ऐसा प्रतीत होता है, [सभी शरीर आत्मा में अविद्या से या माया से कल्पित है। अतः कल्पित सभी शरीर के साथ आत्मा का कल्पित सम्बन्ध रहने के कारण उनको 'शरीरी' कहा जाता है]। इसप्रकार शरीरी आत्मा का ये सब विनाशशील देह भोग्य तथा दृश्य है, ऐसा उक्ताः—श्रुति तथा ब्रह्मवादि लोगों ने कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसलिए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं अन्त में आनन्दमय इन पाँच कोषों की कल्पना कर "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" अर्थात् उस आनन्दमय कोष के भी प्रतिष्ठास्वरूप पुच्छ है (अधिष्ठान या आधार) है ब्रह्म, यह कहकर ब्रह्म या आत्मा को अकल्पित (सद्वस्तु) कहा गया है एवं वही जो समस्त कल्पितवस्तु की प्रतिष्ठा या अधिष्ठान है, यह निर्देश किया गया है। अन्तवन्त देह के सम्बन्ध में शास्त्र में ऐसा निर्देश किया गया है। (१) विराट्—पंचीकृत पृथिवी आदि पंच महाभूत एवं उस महाभूत का कार्य जिनकी आत्मा अर्थात् स्वरूप है उनको विराट् कहा जाता है। इसलिए समस्तमूर्तिमत् (स्थूल) पदार्थों की समष्टि अन्नमय कोषको (स्थूल ब्रह्मांडको) अर्थात् समष्टि जीव के स्थूल देह में अभिमानी पुरुष को विराट् कहा जाता है। (२) हिरण्यगर्भ—समष्टि स्थूल शरीररूप विराट् का कारण है अमूर्तराशि अर्थात् सूक्ष्मसमष्टि जिसे सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ कहा जाता है। अपंचीकृत पंचमहाभूत एवं उनका कार्य है यह सूत्रात्मा का या हिरण्यगर्भ का स्वरूप। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसे ही लक्ष्य करके कहा गया है 'त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म' (बृह० उ० १।६।१) अर्थात् स्थूल या सूक्ष्म सभी नाम, रूप तथा कर्म इन तीनों का खेल है। यह हिरण्यगर्भ अर्थात् समष्टि अमूर्तराशिरूप सूक्ष्मशरीर में अभिमानी पुरुष कर्मात्मक है अर्थात् क्रियाशक्ति का आधार है, अतः क्रियाशक्ति मात्र को लक्ष्यकर इन्हें समष्टि प्राणमय कोष कहा जाता है। यह हिरण्यगर्भ पुनः नामात्मक है अर्थात् यह सभी नामों का समष्टिस्वरूप है (सभी नामों में ही सूक्ष्म रूप से सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ विद्यमान रहता है)। एवं

(नाम के द्वारा ही वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिए) ज्ञानशक्ति मात्र को लक्ष्य कर इसे मनोमय कोष भी कहा जाता है। पुनः यह रूपात्मक सभी वस्तुओं का रूप है अर्थात् अतीत, अनागत तथा वर्तमान सभी रूप सूक्ष्म रूप से इसी में निहित रहते हैं। चूँकि रूप के द्वारा ज्ञान तथा क्रिया दोनों ही होते हैं, इसलिए हिरण्यगर्भ सभी क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति का आधार (आश्रय) होने के कारण समष्टि-कर्तृत्व हिरण्यगर्भ में ही निहित रहता है क्योंकि क्रिया तथा ज्ञान ही कर्तृत्व का स्वरूप है। इस कारण से इस समष्टि कर्तृत्व को लक्ष्य करके हिरण्यगर्भ को (समष्टि) विज्ञानमय कोष कहा जाता है। जीव के प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय इन तीनों कोषों को एक साथ सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर अथवा लिङ्ग कोष कहा जाता है। उस प्रकार समष्टि प्राणमय मनोमय एवं विज्ञानमय कोष को एक साथ हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा) नामक समष्टि लिङ्ग शरीर या समष्टि लिङ्ग कोष कहा जाता है। (३) आनन्दमय कोष—व्यष्टि या समष्टि सूक्ष्म शरीर का भी जो कारण है एवं जिसमें समस्त संस्कार का शेष अर्थात् जगत् रूप कार्य की सभी अवस्था के संस्कार सूक्ष्म रूप से अव्यक्त—अवस्था में विद्यमान रहता है उसे अव्याकृत नामक आनन्दमय कोष कहा जाता है। माया से उपहित चैतन्य हैं उसकी आत्मा [स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का सुषुप्ति की अवस्था में उनके कारण रूप अविद्या में लय होता है एवं अविद्यारूप कारण शरीर के साथ जीव आत्मानन्द में (ब्रह्मानन्द में) निमग्न होता है किन्तु कारण शरीररूप कोष (अविद्या) तब जीव को आवृत करके रखता है। इसीलिए जीवत्व नष्ट नहीं होता है। अतः सुषुप्ति से पुनः जीवत्व का स्वभाव या संस्कार लेकर (जीव) उत्थित होता है। अतः आनन्दमय कोष का अर्थ है (क) व्यष्टि जीव का सुषुप्तिकालीन कारण शरीर (अविद्या) और (ख) समष्टि जगत् की कारणीभूत अव्यक्त अवस्था (माया)। माया शुद्ध सत्त्व स्वरूपा है इसलिए ब्रह्म चैतन्य (अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म) का आनन्द इससे प्रतिफलित होता है एवं आनन्द की प्रचुरता अभिव्यक्त होने के कारण इसे अर्थात् सभी की कारणीभूत अव्याकृत अवस्था को आनन्दमय कोष कहा जाता है। [मयट प्रत्यय का प्राचुर्य (अधिक) अर्थ में व्यवहार किया गया है]।

वेदान्ती के मत में सृष्टितत्त्व इस प्रकार है—शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा में एक अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति है जिससे जगत्

पहले अव्यक्त (अव्याकृत या अनभिव्यक्त) अवस्था में रहता है। यही जगत् की कारण अवस्था है। श्रुति में इसलिए कहा गया है 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृह० उ० १।४।१७) अर्थात् उस समय में (कारण अवस्था में) जगत् अव्याकृत था अर्थात् जिस जगत् की सृष्टि होगी उसका समस्त संस्कार इस माया में ही अनभिव्यक्त रूप में निहित था। फिर जीव के कर्मानुसार सूक्ष्म सृष्टि होती है। इस सूक्ष्म सृष्टि में पहले क्षिति, अप् (जल) तेज (अग्नि) मरुत् (वायु) एवं व्योम (आकाश) इस अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत की उत्पत्ति होती है।

[अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत शब्द का अर्थ है आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी, इनका किसी के साथ किसी का संमिश्रण नहीं है, प्रत्येक अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं]। इनसे सृष्टि इस प्रकार से होती है—

अव्याकृत माया (कारण)

अपंचीकृत पंच महाभूत

(१) सात्विकांश से पंचज्ञानेन्द्रिय	(२) राजसिकांश से पंचकर्मेन्द्रिय	(३) तामसिकांश से पंचीकृत (स्थूल) महाभूत । [इस अवस्था में हरेक भूत का आधा अंश दूसरे चार भूतों के आठवें अंश ($\frac{1}{8}$) के साथ मिश्रित रहता है]।
(क) आकाश से—कर्ण	(क) आकाश से—वाक्	(क) आकाश $\frac{1}{2}$ + वायु $\frac{1}{8}$ + तेजः $\frac{1}{8}$ + जल $\frac{1}{8}$ + पृथ्वी $\frac{1}{8}$ = १ आकाश ।
(ख) वायु से—त्वक्	(ख) वायु से—पाणि (हाथ)	(ख) आकाश $\frac{1}{8}$ + वायु $\frac{1}{2}$ + तेजः $\frac{1}{8}$ + जल $\frac{1}{8}$ + पृथ्वी $\frac{1}{8}$ = १ वायु ।
(ग) तेज से—चक्षु	(ग) तेज से—पाद	(ग) आकाश $\frac{1}{8}$ + वायु $\frac{1}{8}$ + तेजः $\frac{1}{2}$ + जल $\frac{1}{8}$ + पृथ्वी $\frac{1}{8}$ = १ तेजः ।
(घ) जल से—जिह्वा	(घ) जल से—पायू (मलद्वार)	(घ) आकाश $\frac{1}{8}$ + वायु $\frac{1}{8}$ + तेजः $\frac{1}{8}$ + जल $\frac{1}{2}$ + पृथ्वी $\frac{1}{8}$ = १ जल ।
(ङ) पृथ्वी से—नासिका	(ङ) पृथ्वी से—उपस्थ (जननेन्द्रिय)	(ङ) आकाश $\frac{1}{8}$ + वायु $\frac{1}{8}$ + तेजः $\frac{1}{8}$ + जल $\frac{1}{8}$ + पृथ्वी $\frac{1}{2}$ = १ पृथ्वी ।
(च) सभी के मिले हुए सात्विकांश से—अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त)	(च) सभी के मिलन हुए राजसिकांशसे—पंचप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) !	(च) पंचीकृत स्थूल महाभूत के परस्पर मिले होने से स्वेदज, उद्भिज्ज, अंडज, जरायुज ये चार प्रकार के प्राणी समूह की एवं विश्वब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है । यही है स्थूल सृष्टि ।

सृष्टि की पूर्वदर्शित तीन अवस्था से तीन प्रकार के व्यष्टि तथा समष्टि शरीर की उत्पत्ति होती है।

(१) कारण शरीर

(क) व्यष्टि शरीर (परमसूक्ष्म अवस्था अज्ञान जो सुषुप्ति की अवस्था में प्रकटित रहता है।) अभिमानी पुरुष = प्राज्ञ

(ख) समष्टि शरीर (अव्याकृत माया—जो प्रलय की अवस्था में रहती है।) अव्याकृत कारण शरीर का अधिष्ठाता पुरुष को मायाधीश अन्तर्यामी या परमेश्वर कहा जाता है।

(२) सूक्ष्म शरीर

(क) व्यष्टि शरीर [पंचप्राण, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय एवं अन्तःकरण (मनः, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त) इनका समष्टि है व्यष्टि जीव। इसलिए इसे 'षोडशकल' पुरुष अथवा मन तथा बुद्धि को पृथक् रूप से ग्रहण कर 'सप्तदश अवयव' अथवा मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त को पृथक् रूप से ग्रहण कर 'ऊनविंशतिमुख' कहा जाता है। सूक्ष्म व्यष्टि शरीर को लिंग शरीर भी कहा जाता है। यह स्वप्नावस्था में प्रकटित होता है एवं यही मृत्यु के समय स्थूल शरीर से उत्क्रमण करता है। यही प्रकृत जीव शरीर है। इस लिंग शरीर के अभिमानी पुरुष को तैजस कहा जाता है।]

(ख) समष्टि शरीर [अपंचीकृत महाभूत एवं उसका परिणाम सूक्ष्म जगत्‌रूप शरीर][इस शरीर में अधिष्ठाता चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ अथवा प्राण कहा जाता है।]

(३) स्थूल शरीर

(क) व्यष्टि शरीर अर्थात् प्रत्येक जीव का स्थूल शरीर जगत् की व्यक्त अवस्था में यह शरीर कार्य करता है। इसके अभिमानी पुरुष को विश्व कहा जाता है।

(ख) समष्टि शरीर (स्थूल जगत्), इसके अधिष्ठाता चैतन्य को विराट् कहा जाता है।

व्यष्टिरूप से यह विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ एवं समष्टिरूप से विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर एक ही चैतन्य के विभिन्न प्रकाश हैं। सभी के मूल में अधिष्ठान के रूप में है एक अखंड, अद्वय, निर्विशेष, शुद्धचैतन्य सत्ता जिसे आत्मा, ब्रह्म तथा भगवान् कहा जाता है। अतः जीव तथा परमात्मा में एक ही चैतन्य वर्तमान रहने के कारण स्वरूपतः वे सब एक ही हैं। तब भी जीव चैतन्य पंच आवरण या कोष के द्वारा आवृत रहने के कारण चैतन्य की अभिव्यक्ति का तारतम्य होता है। यह पंच कोष इस प्रकार है (क) अन्नमय कोष—स्थूल शरीर (ख) प्राणमय कोष—सूक्ष्म शरीर के पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच प्राण (एकसाथ) मिलकर प्राणमय कोष बनता है। प्राणमय कोष क्रियाशक्ति का आधार है। इसके प्रभाव से वचना, आदान, गमन रूप क्रिया होती है एवं क्षुधा पिपासा आदि क्रिया की उत्पत्ति होती है। निष्क्रिय आत्मा में यह सब क्रिया आरोपित होता है। (ग) मनोमय कोष—पंच-ज्ञानेन्द्रिय तथा मन एक साथ मिलकर मनोमय कोष होता है। यह इच्छा-शक्ति का आधार है। (घ) विज्ञानमय कोष—पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोष होता है। यह कोष ही ज्ञानशक्ति का आधार है एवं कर्तृत्वाभिमान का हेतु है क्योंकि इसके प्रभाव से ही अकर्ता आत्मा में कर्तृत्व आरोपित होता है। (ङ) आनन्दमय कोष—अज्ञान-प्रधान अन्तः-करण जिसमें सर्वसंस्कार अव्याकृत अवस्था में अवशिष्ट रहता है वह ही जीव का आनन्दमय कोष है। आत्मा अखंड है, असंग, पूर्ण, चिदानन्द होने से भी इस आनन्दमय कोष के प्रभाव से अर्थात् अज्ञान प्रधान अन्तःकरण के द्वारा उपाधियुक्त होकर जीव परिच्छिन्न, सुखविशिष्ट, अल्पज्ञानविशिष्ट एवं भोक्तृतादि धर्मविशिष्ट प्रतीत होता है। जीव जब इस पंचकोष के विवेक के द्वारा अपने नित्य शुद्ध मुक्त चैतन्यस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है तब वह ब्रह्मत्व प्राप्त करता है। समष्टि जगत् का स्थूल ब्रह्मांडात्मक शरीर के अभिमानी विराट् ही समष्टि अन्नमय कोष का अधिष्ठाता है। सूक्ष्म जगत् का अभिमानी सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ समष्टि क्रिया शक्ति का (प्राणमय कोष का), समष्टि इच्छाशक्ति का (मनोमय कोष का) (एवं) समष्टि ज्ञानशक्ति का (विज्ञानमय कोष का) अधिष्ठाता है। और कारण जगत् में (माया में) अभिमानी ईश्वर या अन्तर्यामी ही समष्टि आनन्दमय कोष का अधिष्ठाता है। इस प्रकार असंग उदासीन आत्मा भी अध्यास के वश से (उपाधियुक्त होकर) समष्टि तथा व्यष्टि रूप में स्थूल, सूक्ष्म, कारण यह त्रिविधशरीरविशिष्ट प्रतीत होता है किन्तु आत्मा परमार्थतः अशरीरी एवं

सर्वविकाररहित है। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सभी एक ही आत्मा का शरीर है, ऐसा ही श्रुति में कहा गया है यथा, "तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य" (तै० उ० २।२) अर्थात् जो पूर्वोक्त अन्नमय शरीर का अधिष्ठित आत्मा हैं वे ही प्राणमय शरीर का भी आत्मा है। सभी की हृदय गुहा में अवस्थित (अर्थात् जिन्हें श्रुति में सत्य ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप कहा गया है वे ही) प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष का अधिष्ठाता है ऐसा कहा गया है। [यह आत्मा ही ब्रह्म हैं, ये ही सभी की प्रतिष्ठा (अधिष्ठाता) हैं। इसीलिए उक्त श्रुति में अन्त में कहा गया है "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"]। अथवा श्लोक की व्याख्या ऐसे भी की जा सकती है इमे सर्वे देहाः—यह समस्त देह ही अर्थात् त्रिलोक में जितने भी प्राणी हैं उनके साथ सम्बन्ध विशिष्ट सभी देह एकही आत्मा की हैं। [देह पृथक्-पृथक् होने से भी सभी प्राणियों की आत्मा एक ही है]। इसलिए श्रुति में कहा गया है "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्व-भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेत० उ० ६।११)॥ अर्थात् एक देव (स्वयं प्रकाश आत्मा) सभी प्राणियों में गूढ़ अर्थात् गुप्त रूप से (अदृश्यरूप से) अवस्थित है। वह सर्वव्यापी तथा सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह धर्माधर्म रूप सभी कर्मों का अध्यक्ष (अधिष्ठाता) एवं सर्वजीवों के हृदय में रहकर सर्वसाक्षी है, सभी को चेतनयुक्त करते हैं परन्तु वे स्वयं सभी उपाधियों से रहित तथा निर्गुण हैं। इसप्रकार श्रुतिवाक्य से जाना जाता है कि समस्त देह के साथ सम्बन्धविशिष्ट प्रतीत होने पर भी आत्मा अद्वय, नित्य, तथा सर्वव्यापी है। अब प्रश्न है कि आत्मा का यह नित्यत्व क्या यावत्काल-स्थायित्व है अर्थात् जब तक काल की स्थिति वर्तमान रहे तब तक क्या आत्मा रहेगा ? यदि ऐसा ही हो तो अविद्यादि की तरह काल के साथ आत्मा का भी नाश होगा। अतः आत्मा की नित्यत्व सिद्धि नहीं हो सकती। उत्तर में कहा जायगा कि, नहीं, आत्मा का नित्यत्व वैसा नहीं है क्योंकि अनाशिनः—(अविद्या तथा अविद्या के सब कार्य देश काल या वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न है अर्थात् वे सब कल्पित तथा अनित्य है)। तब भी जबतक काल की स्थिति रहती है तबतक कल्पित अविद्यादि भी वर्तमान रहता है, इसलिए अविद्यादि को नित्य कहा जाता है। किन्तु वह नित्यत्व औपचारिक अर्थात् गौण है। वेदान्त सूत्र में कहा गया है कि 'यावद्विकारस्तु विभागो लोकवत्' (ब्रह्मसूत्र २।३।७) अर्थात् समस्त विकारजात पदार्थों में व्यावहारिक भेद की तरह परस्पर का विभाग दिखता है। अभिप्राय यह है कि जो दूसरी

वस्तु से विभक्त है वही अनित्य है। आकाश पृथ्वी आदि से विभक्त है तब भी जो आकाश को नित्य कहा जाता है वह नित्यत्व औपचारिक या गौण है क्योंकि वह नित्यत्व जबतक काल वर्तमान रहता है तब तक ही रहता है। (महाप्रलय में काल तथा आकाश लय हो जाता है) किन्तु आत्मा देशतः कालतः एवं वस्तुतः परिच्छेदशून्य है एवं आत्मा अविद्यादि की तरह कोई कल्पित वस्तु भी नहीं है, अतः आत्मा के विनाश का कोई हेतु नहीं है। इसलिए आत्मा का नित्यत्व है कूटस्थ (स्थिर, अपरिणामी) एवं मुख्य आत्मा का नित्यत्व सांख्य कल्पित प्रकृति की नित्यता की तरह परिणामि-नित्यत्व (प्रवाह—नित्यत्व) नहीं है अथवा अविद्या या आकाश आदि की तरह यावत्काल स्थायित्वरूप औपचारिक (गौण) नित्यत्व नहीं है। यही है श्लोक में 'अनाशिनः' शब्द का तात्पर्य। अब प्रश्न है कि देही आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में यदि कोई प्रमाण है तो यह अवश्य ही कहना पड़ेगा। यदि कोई प्रमाण न हो तब आत्मा निष्प्रमाण होने के कारण मिथ्या हो जाती है एवं उसके सम्बन्ध में सभी शास्त्रारम्भ भी व्यर्थ हो जायगा। पुनः यदि स्वीकार किया जाय कि आत्मा किसी प्रमाण का विषय (प्रमेय) है तब आत्मा में वस्तुपरिच्छेद है, यह भी मानना पड़ेगा। देश, काल तथा वस्तु इन तीनों में एक का भी परिच्छेद जिसमें हो वही अनित्य है। अतः आत्मामें वस्तुपरिच्छेद मानने से आत्मा भी अनित्य होगी। फिर 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) अर्थात् शास्त्र से ही आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है, ऐसा कहने से आत्मा का जो प्रमेयत्व है (अर्थात् आत्मा शास्त्र-प्रमाण का विषय है), यह बात वेदान्तदर्शन भी स्वीकार कर रहा है। अतः आत्मा अनित्य है। इसके उत्तर में कह रहे हैं—अप्रमेयस्य—श्रुति में कहा गया है 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवं' (बृह० उ० ४।४।२०) अर्थात् आत्मा को एक अद्वैत के रूप में ही देखना पड़ेगा, यह आत्मतत्त्व अप्रमेय एवं ध्रुव (नित्य शाश्वत) है। "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोहमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"॥ (कठ० उ० २।५।१५) अर्थात् इस आत्मा में सूर्य अथवा चन्द्रतारका का प्रकाश नहीं है, विद्युत का भी प्रकाश नहीं है और अग्नि की तो बात ही नहीं है। यह आत्मा स्वयंप्रकाश है, वह प्रकाशित होने पर ही सभी वस्तु (सूर्य, तारका, अग्नि इत्यादि) प्रकाशित होती है; उनकी दीप्ति से ही (प्रकाश से ही) यह जगत् प्रकाशित हो रहा है। इन श्रुति वचनों से ज्ञात होता है कि आत्मा स्वप्रकाश चैतन्य-

स्वरूप है। अतः सर्व प्रकाशक आत्मा को अपनी सत्ता के प्रकाश के लिए [आत्मा के द्वारा ही प्रकाशित अतः आत्मा से अतिरिक्त] किसी प्रकाशशील वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती है, अर्थात् आत्मा स्वतः सिद्ध है परतः सिद्ध नहीं है। तब भी कल्पित अज्ञान के एवं अज्ञान के कार्य की निवृत्ति के लिए कल्पित चित्तवृत्ति विशेष की अपेक्षा रहती है क्योंकि जो कल्पित है वही दूसरे कल्पित का विरोधी (नाशक) हो सकता है। [जैसे स्वप्न में क्षुधा की निवृत्ति स्वप्न में खायी गयी चीजों से ही होती है]। इसलिए कहा जाता है 'यक्षानुरूपो बलिः' अर्थात् जैसी देवता हैं उसके अनुरूप उनको बलि (भोग) भी देना चाहिए। अज्ञान तथा उससे उत्पन्न सभी कल्पित वस्तु की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे चित्तवृत्तिविशेष की उत्पत्ति के लिए ही शास्त्र का प्रारम्भ हुआ है। यह वृत्तिविशेष केवल मात्र "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों से ही उत्पन्न होता है। अतः स्वतःसिद्ध आत्मा सर्वदा प्रकाशमान रहने के कारण एवं सभी कल्पनाओं का अधिष्ठान एवं समस्त दृश्यपदार्थ का प्रकाशक होने के कारण आत्मा को तुच्छ या मिथ्या नहीं कहा जाता है। अतः 'एकमेवा-द्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) अर्थात् आत्मा एक है, अद्वितीय है एवं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१) अर्थात् आत्मा या ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप है इत्यादि वचनों के द्वारा आत्मा को अपना प्रमेय करने में प्रयत्न कर शास्त्र अपने कल्पितत्व का भी प्रतिपादन कर रहा है, [क्योंकि सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदशून्य एक अद्वितीय सत्पदार्थ को प्रमाण का विषय (प्रमेय) करने के उपयोगी दूसरा कोई परमार्थ सत्य वस्तु नहीं रह सकता है। शास्त्र व्यावहारिक सत्य वस्तु होने पर भी पारमार्थिक सत्य वस्तु नहीं है। इसलिए श्रुति में कहा गया है कि "अत्र वेदाः अवेदाः भवन्ति" (बृह० उ० ४।३।२२) अर्थात् तुरीयावस्था में (आत्मस्वरूप में) वेद भी अवेद (मिथ्या) हो जाता है]। जो कल्पित है वह कभी भी अकल्पित वस्तु का (आत्मा का) परिच्छेदक नहीं हो सकता है, यह पहले ही कहा गया है।

भगवत्पाद श्रीमत् शंकराचार्य ने युक्ति के द्वारा भी आत्मा के स्व-प्रकाशत्व का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि, जिस विषय में जिज्ञासु का संशय, विपर्यय अथवा व्यतिरेक प्रमा ('यह इस प्रकार का नहीं है' ऐसा ज्ञान) इन तीनों में से एक भी नहीं है वहाँ प्रमाज्ञान (अर्थात् वस्तुविषयक यथार्थज्ञान) रहता है। प्रमाज्ञान न रहने से ही या तो संशय, न तो विपर्यय और न तो व्यतिरेक प्रमा रहेगा ही। किन्तु आत्मा के सम्बन्ध में (क) "मैं हूँ या नहीं हूँ", ऐसा संशय किसी को भी नहीं होता है; (ख) 'मैं मैं

नहीं हूँ, दूसरा कोई हूँ' ऐसा विपर्यय किसी को भी नहीं होता है। और (ग) 'मैं नहीं हूँ' ऐसी व्यतिरेक प्रमा भी किसी को नहीं होती है। इससे प्रमाणित होता है कि सभी समय में ही सभी की आत्मा के सम्बन्ध में प्रमा (यथार्थ ज्ञान) विद्यमान है (क्योंकि यदि यथार्थ ज्ञान न रहता तब उपर्युक्त तीन मिथ्या ज्ञानों में एक अवश्य ही रहता)। द्वितीयतः आत्मा ही सभी प्रकार का संशय, विपर्यय प्रभृति का धर्मी (आश्रय या ग्रहीता) है। "धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः" अर्थात् धर्मी के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है वह भ्रान्तिशून्य है किन्तु उसके प्रकार में ही विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) होता है ऐसा नियम है। [किसी वस्तु के सम्बन्ध में भ्रम या संशय इत्यादि होने से उस भ्रम के अधिष्ठान सत्ता के (धर्मी के) सम्बन्ध में अर्थात् इद-मंश में ('यह' शब्द से जिस धर्मी को ग्रहण किया जाता है उसमें) भ्रान्ति नहीं रहती है जैसे रज्जु में सर्प भ्रान्ति में 'यह सर्प है', शुक्ति में रजत भ्रान्ति में 'यह रजत है' इत्यादि में रज्जु का या शुक्ति की सामान्य सत्ता को लक्ष्य कर जो 'यह' 'यह' कहा जाता है उस में कोई भ्रम नहीं है, किन्तु 'यह रज्जु है' इस ज्ञान के बदले में जो 'यह सर्प' ऐसा ज्ञान होता है वहाँ भ्रान्ति है अर्थात् रज्जु के सामान्य अंश का ग्रहण तो 'यह' के द्वारा ही हुआ है किन्तु 'यह किस प्रकार का है' इस सम्बन्ध में भ्रम होने के कारण ही अर्थात् विशेष अंश का अग्रहण या आवरण के कारण ही 'इसमें' अर्थात् रज्जु में सर्प अध्यस्त होकर 'यह सर्प है' ऐसा भ्रम होता है। पुनः जब भ्रम नाश होता है तब मात्र अध्यस्त पदार्थ (सर्प) अधिष्ठान में (रज्जु में) विलीन होकर इदमंश का यथार्थरूप 'यह रज्जु है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः इदमंश या धर्मी या अधिष्ठान सत्ता सभी अवस्था में ही अबाधित (एकरूप) रहता है। आत्मा सभी प्रकार से भ्रम का धर्मी या अधिष्ठान होने के कारण आत्मा के सम्बन्ध में भ्रमज्ञान सम्भव नहीं है]। इसीलिए कहा गया है "प्रमाणमप्रमाणञ्च प्रमाभासस्तथैव च। कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भावना कुतः।" इति अर्थात् प्रमाण (व्यतिरेक प्रमाण) अप्रमाण (विपर्यय) एवं प्रमाभास (संशय) करने से ही जिसके सम्बन्ध में (जो सर्वाधिष्ठान सत्ता या सभी वस्तुओं के धर्मी के सम्बन्ध में) प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसके अस्तित्व में असम्भावना किस प्रकार से हो? [अर्थात् उसके अस्तित्व को पहले ही 'यह' कहकर स्वीकार करके ही तो प्रमाण, अप्रमाण इत्यादि सब कुछ होता है। अतः यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह स्वप्रकाश सत्स्वरूप धर्मी के प्रकाश के विना जब प्रमाण या अप्रमाण कुछ भी प्रकाशित (गृहीत) नहीं हो सकता है तब प्रमाण या

अप्रमाण के द्वारा उस सद्वस्तु की (आत्मा की) कोई विशेषता नहीं हो सकती अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में भ्रम सम्भव नहीं होता है]।

आत्मा यदि सर्वज्ञान में सर्वदा प्रकाशमान नहीं रहती तब ही मुझमें ही क्या घटज्ञान हुआ है अथवा मुझमें नहीं हुआ है ऐसा संशय होता किन्तु ऐसा संशय किसी में भी नहीं दिखाई पड़ता है। [क्योंकि सभी के हृदय में ही सभी समय में ज्ञान के विरोधी 'अहम्' मैं हूँ इस आकार का प्रमाज्ञान (यथार्थ ज्ञान) विद्यमान है। बाह्य पदार्थ के सम्बन्ध में यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि जब घट आदि विषयों का (संशय या विपर्यय ज्ञान का विरोधी) यथार्थ ज्ञान विद्यमान रहता है तब और घट आदि के विषय में संशय या विपर्यय ज्ञान नहीं हो सकता है। आत्मा के सम्बन्ध में भी संशय आदि ज्ञान का विरोधी होता है अभ्रान्ति ज्ञान ('अहम्' अर्थात् मैं का यथार्थ ज्ञान) वह सर्वदा वर्तमान रहने के कारण ऐसे संशय का उदय कभी भी नहीं हो सकता है कि 'घटज्ञान मुझमें हुआ है या नहीं']। और यदि कहा जाता है कि बाह्य विषय में (भ्रमका) विरोधी प्रमा (यथार्थ) ज्ञान संशय आदि के प्रतिबन्धक का हेतु (अर्थात् नाशक) होने पर भी आभ्यन्तरीय पदार्थों में सुख दुःखादि रूप विषय आत्मविषयक संशयज्ञान का विरोधी होता है अर्थात् सुख दुःख आदि के द्वारा ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, आत्मविषयक अभ्रान्तज्ञान संशय आदि का विरोधी नहीं होता है। अतः सभी ज्ञान में आत्मा सर्वदा प्रकाशमान है यह बात नहीं। इसके उत्तर में कहना पड़ेगा कि कारण के बिना स्वभाव भेद की कल्पना नहीं करना चाहिए। बाह्य पदार्थ विषयक संशय का विरोधी है प्रमाज्ञान (उस वस्तु के विषय में यथार्थ ज्ञान) और आभ्यन्तरीय विषयक संशय का विरोधी है आत्मविषयक प्रमाज्ञान, इन्हें स्वीकार न कर यदि आभ्यन्तरीय विषयक संशय ज्ञान के विरोधी रूप में सुख दुःख आदि विषयों को स्वीकार किया जाय तब प्रत्येक विषय में ही पृथक् पृथक् नियम कल्पना करने से विप्लव उपस्थित होगा। अतः आभ्यन्तरीय विषयों में भी संशय आदि का विरोधी आत्मविषयक अभ्रान्तज्ञान सर्वदा रहने के लिए ही ऐसा संशय नहीं होता है कि 'घटज्ञान मुझमें उत्पन्न हुआ है या नहीं'। आत्मा यदि सर्वदा वर्तमान न रहता तब ऐसा संशय अवश्य ही उपस्थित होता। तार्किक लोग केवल मात्र आत्मा तथा मन के संयोग को ही आत्मसाक्षात्कार का हेतु मानते हैं। फिर उनके मत में वस्तु के प्रकाशमात्र में भी उस आत्मा तथा मनः संयोग ही हेतु है अर्थात् उस संयोग से ही सभी प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः जब

घट आदि किसी विषय का ज्ञान (अर्थात् मैं घट को जान रहा हूँ या दूसरा कुछ जान रहा हूँ यह ज्ञान) उत्पन्न होगा तभी ही समूहालम्वनज्ञान के नियम के अनुसार आत्मा भी जो प्रकाशित होगा, इसे बड़े बड़े तार्किको को भी मानना पड़ेगा। ऐसा मानने से जो चाक्षुषत्व (घट का रूप) तथा मानसत्वादि का (मैं जान रहा हूँ। ऐसे मानसबोध का) मिलन होगा यह बात भी वे लोग सिद्ध करने में असमर्थ होंगे क्योंकि 'सुरभि चन्दन देख रहाहूँ' इस ज्ञान में जैसे अंश भेद के अनुसार लौकिक सन्निकर्षजन्यत्व तथा अलौकिक सन्निकर्षजन्यत्व स्वीकार किया जाता है उस प्रकार इस स्थल में अंश भेद के अनुसार चाक्षुषत्व तथा मानसत्व भी होता है। [नैयायिकों के मतानुसार विषय तथा इन्द्रिय का सन्निकर्ष (संयोग विशेष) होने से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है] सन्निकर्ष दो प्रकार का होता है (क) लौकिक सन्निकर्ष अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय है वही उस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है, जैसे आँख के द्वारा रूप ही गृहीत होता है, शब्द आदि दूसरे विषय नहो। इसलिए आँख तथा रूप का संयोग होने से रूप के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। (ख) अलौकिक सन्निकर्ष अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय नहीं है वह उस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने से उसे अलौकिक सन्निकर्ष कहा जाता है। अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है—

(१) सामान्य लक्षण—एक ही घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से, यदि अन्य सारे घटों के साथ आँख का सन्निकर्ष नहीं भी हो तो भी घटत्व जाति के साथ सन्निकर्षक के कारण जगत के समस्त घटों का ज्ञान होता है। उस सन्निकर्ष को सामान्य लक्षण अलौकिक सन्निकर्ष कहा जाता है। सामान्य का अर्थ है जाति अतः एक वस्तु को देखकर उसके जातित्व के साथ परिचित होने से उस जाति की सभी वस्तुओं के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न रहने पर भी उन सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसका कारण है सामान्यलक्षण सन्निकर्ष।

(२) ज्ञानलक्षण—यदि कोई कहे कि 'मैं सुरभि (सुगन्धित) चन्दन देख रहा हूँ', यदि अब उसे पूछो कि तुमने चन्दन की सुगन्ध को कैसे देखा ? क्योंकि सुगन्ध तो आँख के द्वारा दिखाई देने वाला विषय नहीं है। तब उस प्रश्न के उत्तर में वह कहता है कि मैंने एक समय में चन्दन का काष्ठ (लकड़ी) देखा था एवं नाक के द्वारा उसका सुगन्ध भी ग्रहण किया था। इसलिए गन्ध न लेकर ही जो 'सुगन्धित चन्दन देख रहा हूँ' कहा जा रहा है इससे यह प्रतिपादित होता हैं कि चन्दन काष्ठ की तरह चन्दन

काष्ठ का सुरभित्व भी आँख के द्वारा प्रत्यक्ष किया जा रहा है अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा पहले जो चन्दन की सुगन्ध का ज्ञान हुआ था अब चक्षुरिन्द्रिय के साथ चन्दन काष्ठ के सन्निकर्ष के साथ–साथ उसका वह गन्ध भी आँख का विषय हो गया है। इसे ही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष कहा जाता है। चन्दन काष्ठ के रूप का ज्ञान आँख के सन्निकर्ष के कारण होता है यह है लौकिक सन्निकर्ष किन्तु चन्दन का गन्ध आँख को प्रत्यक्ष होता है ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष अर्थात् अलौकिक सन्निकर्ष से। इस प्रकार एक ही ज्ञान में अंश भेद के कारण लौकिक सन्निकर्ष एवं अलौकिक सन्निकर्ष का सांकर्य (मिश्रण) सम्भव है इसे तार्किक लोग स्वीकार करते हैं।

मधुसूदन सरस्वती इसीलिए कहते हैं कि, यदि ऐसा सांकर्य स्वीकृत हो तब घट आदि का ज्ञान विषयक चाक्षुषत्व एवं आत्मविषयक ज्ञानरूप मानसत्व का सांकर्य (मिलन) क्यों नहीं माना जायगा? अथवा चाक्षुषादि का जातित्व स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि नित्यत्व तथा अनेक समवेतत्व धर्म का नाम है जाति। चाक्षुषत्व तथा मानसत्वादि का मिलन होने से उसे जाति नहीं कहा जाता है क्योंकि व्याप्य व्यापक के विना दो जाति एक साथ नहीं रह सकती है अर्थात् यदि दो वस्तुएँ एक साथ रहे परन्तु उनमें व्याप्यव्यापक भाव न रहे तब इनमें कोई भी जाति नहीं कहा जायगा। चाक्षुषत्व जहाँ नहीं है (अर्थात् चाक्षुषत्वादि का अत्यन्ताभावाधिकरण में) सुख आदि को प्रत्यक्ष करते हुए मानसत्व रह सकता है तथा मानसत्व जहाँ नहीं है वहाँ चाक्षुषत्वादि रह सकते हैं। अतः दोनों की जाति एक ही आधार में नहीं भी रह सकती है इसलिए उनका सांकर्य का जातित्व स्वीकार नहीं करने से कोई अनर्थ नहीं होता है।

(३) **योगज सन्निकर्ष**—योगी लोगों का जो भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान के सम्बन्ध में प्रत्यक्षज्ञान होता है वह आँख इत्यादि सन्निकर्ष अर्थात् लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं हो सकता है—यह ज्ञान योगज सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है।

वेदान्तिलोग आत्मा को स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप स्वीकार करते हैं परन्तु नैयायिक लोग कहते हैं कि विषय के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है,—आत्मा ज्ञानधर्मी या ज्ञानवान् है। उनके मतानुसार विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होकर जो ज्ञान होता है उसे व्यवसाय या विषय ज्ञान कहा जाता है।

इस ज्ञान को प्रकाश करने के लिए और एक ज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसका विषय घटादि पदार्थ नहीं है किन्तु घटादि के विषय में जो ज्ञान पहले उत्पन्न हुआ है वह इसलिये द्वितीय ज्ञान को अनुव्यवसाय (अर्थात् ज्ञान-विषयक-ज्ञान) कहा जाता है। नैयायिक लोग कहते हैं कोई विषयज्ञान आत्मा तथा मन के संयोग के विना नहीं होता है एवं आत्मसाक्षात्कार के लिए भी उस आत्मा तथा मन का संयोग अनिवार्य है। वेदान्तीलोग कहते हैं कि यदि यही बात है तब ज्ञानमात्र से ही आत्मसाक्षात्कार होगा, यह बात नैयायिकों को स्वीकार करनी पड़ेगी अर्थात् किसी विषय का ज्ञान होने से ही उस विषय का ज्ञान एवं आत्मा का ज्ञान ये दोनों ही एक साथ उत्पन्न होंगे चूँकि आत्मा के संयोग के विना कोई ज्ञान होना असम्भव है। एक साथ एक से अधिक विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है यह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि नैयायिक लोग "समूहालम्बन ज्ञान" स्वीकार करते हैं। [एक ही समय में एक से अधिक (अनेक) विषय का जो ज्ञान होता है उसे समूहालम्बन ज्ञान कहा जाता है]। और यदि सब विषयों के ज्ञान के साथ-साथ आत्मज्ञान विद्यमान रहे तब आत्मा स्वयंप्रकाश है, वह भी सिद्ध होता है। [स्वयंप्रकाश शब्द का अर्थ है कि जो ज्ञानान्तर की अपेक्षा न रख कर स्वयं प्रकाशित होता है एवं सब कुछ प्रकाश करता है] अतः आत्म-ज्ञान के लिए जो अनुव्यवसायरूप दूसरा ज्ञान नैयायिक लोग स्वीकार करते हैं, वेदान्तीलोग उसे व्यर्थ कहते हैं। इसके अतिरिक्त भी विषय ज्ञानरूप व्यवसाय के प्रकाश के लिए अनुव्यवसायरूप द्वितीय ज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा यह बात ठीक नहीं है क्योंकि प्रदीप के व्यवहार के लिए जैसे दूसरे प्रदीप की आवश्यकता नहीं है अर्थात् प्रदीप को उसके अपने प्रकाश से ही एक स्थान से दूसरे स्थान में लिया जाता है उस प्रकार विषय का ज्ञान होने से भी स्वयं ही "मैं घट ज्ञानवान् हूँ" ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके लिए विषय ज्ञान का ज्ञान तथा आत्मज्ञान के लिए सजातीय ज्ञानान्तर की (दूसरे किसी ज्ञान की) अर्थात् अनुव्यवसाय की आवश्यकता नहीं है। घट अप्रकाश-स्वरूप एवं घट ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, अतः दोनों ही विजातीय है। पुनः, घट है विषय एवं घटज्ञान है विषयी अर्थात् दोनों ही विजातीय है। किन्तु व्यवसाय तथा अनुव्यवसाय में ऐसा कोई वैधर्म्य विभेद नहीं है क्योंकि दोनों हो ज्ञान है। अतः उनमें विषय-विषयित्वभाव (अर्थात् एक विषय और दूसरा विषयी ऐसा) होना असम्भव हैं क्योंकि दोनों में व्यक्तिभेद के अतिरिक्त कोई दूसरा वैधर्म्य (भेद) नहीं है।

[विषयी ज्ञानात्मक (प्रकाशस्वरूप) होगा ही, यह बात न मानकर यदि विषयत्वावच्छेदकत्व के रूप में ही विषयित्व को स्वीकार किया जाय तब समस्त विषयों में अनुगत जो अप्रकाशत्व है वह ही विषयी का भी विशेषण हो जायगा। विषयी को अप्रकाशत्व विशिष्टरूप में स्वीकार करने से दो घट में एक विषय एवं दूसरा विषयी होना चाहिए क्योंकि व्यवसाय तथा अनुव्यवसाय दोनों ही ज्ञान होने से उनमें जैसे कोई वैधर्म्य (विभेद) नहीं है, वैसे दोनों घट में अप्रकाशत्व (अर्थात् ज्ञानभिन्नत्व) समान रहने के कारण दोनों में कोई भेद नहीं हैं अर्थात् व्यवसाय तथा अनुव्यवसाय का तरह अवच्छेदवाद में भी अप्रकाशत्व विशिष्ट विषयी से (एक घट से) अप्रकाश स्वरूप विषय का (दूसरे घट का) कोई वैधर्म्य नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी जगह ही ज्ञान विषयी होता है तथा ज्ञान से भिन्न है विषय अर्थात् ज्ञानत्व तथा ज्ञानभिन्नत्व क्रमशः विषयित्व तथा विषयत्व के व्यवस्थापक (नियामक) होता है। किन्तु नैयायिकों के मत के अनुसार व्यवसाय तथा अनुव्यवसाय दोनों ही ज्ञान है। अतः उनमें एक को विषयी एवं दूसरे को विषय मानने से विषयत्व तथा विषयित्व का व्यवस्थापक अर्थात् नियामक कुछ भी नहीं रहता है]। और यदि कहो कि जिस विषय का व्यवहार किया जाता है उस के सम्बन्ध में ज्ञान भी रहना आवश्यक है एवं इसलिए घट के व्यवहार के लिए घट का ज्ञान जैसे प्रयोजनीय है उस प्रकार घट ज्ञान के व्यवहार के लिए भी घट का ज्ञान विषयक ज्ञान स्वीकार करना आवश्यक है। अतः अनुव्यवसाय की सिद्धि होती है (क्योंकि किसी ज्ञान के विषय में जो ज्ञान है उसे ही अनुव्यवसाय कहा जाता है)। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसे युक्ति मूर्खता की ही परिचायक है क्योंकि हमलोग ज्ञान को स्वप्रकाश ही कहते हैं, अतः उसे प्रकाशित करने के लिए दूसरे ज्ञान को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। और तुम्हारे मतानुसार विषय ज्ञान (घट का ज्ञान अर्थात् व्यवसाय) एवं विषय ज्ञान के ज्ञानरूप जो अनुव्यवसाय (घट ज्ञान के ज्ञानरूप अनुव्यसायी अर्थात् विषयी), इन दोनों में भिन्नत्व (विषयत्व तथा विषयित्वरूप भेद) स्वीकार कर अनुव्यवसाय-को (ज्ञान विषयक ज्ञान को) यदि व्यवहार का हेतु या कारण का अवच्छेदक अर्थात् नियामक किया जाय तब उसमें गौरव दोष आ जाता हैं। (अर्थात् अधिक कल्पना करनी होगी)। ईश्वर की सर्वज्ञता (सभी विषयों का युगपत् अर्थात् एक साथ ज्ञान) अथवा योगियों के ध्येय विषय का ज्ञान अथवा मीमांसकों का प्रमेयज्ञान (सभी पदार्थ ही प्रमेय है इसप्रकार का ज्ञान)

ज्ञान), ये सब जैसे अनुव्यवसाय की अपेक्षा नहीं करते हैं फिर भी वे जैसे अपने व्यवहार के प्रयोजक हो जाते हैं उसीप्रकार घट आदि के ज्ञान के द्वारा यदि घट आदि के व्यवहार की निष्पत्ति हो सकती है तब उसके लिए अनुव्यवायरूप दूसरे ज्ञान की कल्पना का अवकाश नहीं रहता है अर्थात् प्रमाणरहित अनुव्यवसाय की कल्पना तार्किक लोग वृथा ही (बेकार ही) करते हैं। तार्किकों से और भी पूछना है कि तुम लोग जो अनुव्यवसाय को घटज्ञान के व्यवहार का हेतु कहते हो अर्थात् "मैं घटज्ञान को जानता हूँ" अथवा मेरा घट के ज्ञान का ज्ञान है ऐसा ज्ञान होने से घटज्ञान का व्यवहार होता है, यदि ऐसा ही कहते हो तब क्या 'घटज्ञानज्ञानत्व' के रूप में उक्त व्यवहार का हेतु होता है अथवा 'घटज्ञानत्व' के रूप में उक्त व्यवहार का हेतु है, इसे देखना पड़ेगा क्योंकि दोनों ही व्यवहार का हेतु हो सकते हैं। इसमें यह मानना ही पड़ेगा कि घट के व्यवहार में घट का ज्ञान भी अवश्य रहेगा। अतः उस घट ज्ञानत्व जब घट के ज्ञान के व्यवहार में भी हेतु हो सकता है तब और घट ज्ञान ज्ञानत्व को अर्थात् घट के ज्ञान के ज्ञान को हेतुतावच्छेदक (हेतुताविशिष्ट अर्थात् हेतु) क्यों कहता हूँ क्योंकि उससे उसमें गौरव दोष (प्रयोजन के बिना अधिक कल्पनारूप दोष) उपस्थित हो जायगा। इसके अतिरिक्त घट के ज्ञान के ज्ञानत्व का कोई प्रमाण नहीं है। एकमात्र व्यवसाय (विषय के ज्ञान) के द्वारा ही व्यवसाता—(व्यवसाय कर्ता अर्थात् निश्चय कर्ता या प्रमाता), व्यवसेय (विषय) एवं व्यवसाय का (विषय ज्ञान का) व्यवहार हो सकता है, इस प्रकार की त्रिपुटी के प्रत्यक्ष-वादी (अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का प्रत्यक्ष एक ही समय में होता है, ऐसा जो लोग मानते हैं वे) मीमांसक लोग ज्ञान की स्वयंप्रकाशता प्रतिपादन करते हैं। अतः उस ज्ञान को प्रकाश करने के लिए दूसरे ज्ञान (अनुव्यव-साय) की कल्पना करना वृथा है, यही उन लोगों का मत है। औपनिषद लोग (वेदान्तिलोग) आत्मा स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं। प्रभाकर मीमांसक लोग ज्ञान को (संवित् को) स्वयंप्रकाश कहते हैं एवं आत्मा को उस ज्ञान का आश्रय या कर्ता एव उस ज्ञान का विषय या प्रकाश्य (अर्थात् आत्मा ज्ञान के कर्ता तथा ज्ञान का कर्म भी है ऐसा) कहते हैं किन्तु ऐसा कहने से कर्मकर्ता विरोध दोष होता है अर्थात् एक ही समय में आत्मा कर्ता तथा कर्म दोनों होने के कारण विरोध उपस्थित होता है। किन्तु वेदान्तियों के मतानुसार आत्मा स्वयं प्रकाश ज्ञान स्वरूप है। आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप न होने से ज्ञान से भिन्न होगा। अतः घट आदि की तरह ज्ञेय अर्थात् जड़

होने के कारण कल्पित (मिथ्या) एवं अनित्य होगा। [आत्मा अनित्य नहीं किन्तु नित्य (सत्) है, आत्मा जड़ नहीं है किन्तु चैतन्यस्वरूप है अर्थात् स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप (चित्) है, आत्मा कर्म या कर्ता नहीं है किन्तु अखंडैकरस अद्वितीय पदार्थ है, यही वेदान्तियों का अभिमत है]।

आत्मा केवल स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप होने पर भी अविद्या के द्वारा उपाधिविशिष्ट होने से उसे साक्षी कहा जाता है एवं जब वृत्तिविशिष्ट अन्तः-करण के द्वारा उपहित (उपाधिविशिष्ट) होता हैं तब उसे प्रमाता कहा जाता है। तब चक्षुः (आँख) इत्यादि इन्द्रियाँ प्रमाता रूपरसादि विषयों के ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए करण (साधन) हो जाती हैं। अर्थात् प्रमाता अन्तः-करण के परिणाम के अनुसार चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा बाह्य घट आदि विषयों को व्याप्त कर उस विषय के आकार में आकारित होता है। [अन्तः-करण विषय का आकार प्राप्त करने पर अन्तःकरणोपहित चैतन्य भी (प्रमाता भी) उस आकार में अकारित (परिणत) हो जाता है]। अन्तःकरण के परिणाम से घटावच्छिन्न चैतन्य (विषय चैतन्य) एवं अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (प्रमातृ चैतन्य) एक ही वृत्तिविशिष्ट हो जाता है एवं तब घटावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य के साथ एक हो जाने पर उस चैतन्य घट आदि विषय सम्बन्धी अज्ञान को नष्ट कर अपरोक्ष (साक्षात् ज्ञान का विषय) हो जाता है वह घटावच्छिन्न चैतन्य अपने ही अवच्छेदक घट को अपने तादात्म्याध्यास के द्वारा प्रकाशित करता है। [आकाश अखंड अनन्त होने से भी घटादिवस्तु जिस प्रकार आकाश को परिच्छेद कर घटाकाश इत्यादि के रूप में प्रतीत करता है, उस प्रकार आत्मा (चैतन्य) अखंड अनन्त होने से भी घटादि वस्तु आत्मचैतन्य की अवच्छेदक होती है। घट आदि वस्तु आत्म चैतन्य में अध्यस्त है इसलिए घट आदि वस्तु स्वयं जड़ होने से भी जिसमें वे अध्यस्त होती हैं उस अधिष्ठान चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं अर्थात् अधिष्ठान चैतन्य अन्तःकरण वृत्ति के द्वारा प्रमातृ चैतन्य के साथ अभिन्नता प्राप्त कर विषय से अवच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान का नाशकर विषय को (घटादि वस्तु को) प्रकाशित करता है]।

अन्तःकरण का परिणाम अर्थात् वृत्ति अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण वह उस वृत्ति के द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य के द्वारा ही प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकार अन्तःकरण (प्रमाता) अन्तःकरणवृत्ति (प्रमाण) एवं घट का (विषय का) अपरोक्ष ज्ञान होता है। अतः 'मैं घट को जान रहा हूँ' इस

प्रकार के ज्ञान में तीन आकार होते हैं। एक ही स्वयं प्रकाश चैतन्य जब घट आदि बाह्य विषय को प्रकाशित करता है, तब वह अन्तःकरण वृत्ति की अपेक्षा करता है, इस कारण से उसे प्रमाता या प्रमातृ चैतन्य कहा जाता है। और जब वह आभ्यन्तरीय अन्तःकरण की वृत्तियों को (सुख दुःख आदि विषयों को) प्रकाशित करता है, तब वह किसी अन्तःकरण वृत्ति की अपेक्षा नहीं करता है अर्थात् स्वयं ही सुख दुःखादि को प्रकाशित करता है एवं इस कारण उसे चैतन्य का साक्षी कहा जाता है। यही प्रमाता तथा साक्षी में पार्थक्य है। अद्वैतसिद्धि तथा सिद्धान्तविन्दु में इसका विस्तृतरूप से वर्णन किया गया है। चूँकि पूर्वोक्त युक्तियों से यह प्रमाणित हुआ है कि आत्मा नित्य, विभु, सर्वव्यापी असंसारी तथा सर्वदा ही एकरूप (अविकारी अव्यय) है। इसलिए तुम स्वधर्मरूप युद्ध में पहले ही प्रवृत्त होकर अब आत्मा के विनाश की आशंका कर उस युद्ध से विरत होना चाह रहे हो, यह तो अनुचित है, ऐसा कह कर भगवान् अर्जुन को युद्ध करने का आदेश दे रहे हैं। तस्मात् युध्यस्व भारत—अतः हे भारत तुम युद्ध करो। अर्जुन स्वधर्मरूप युद्ध में प्रवृत्त होकर पुनः उस युद्ध से जो विरत होना चाह रहे थे इसका कारण है शोक तथा मोह। वे शोक तथा मोह नित्य अविनाशी आत्मा के (देही का) स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से बाधित हो सकते हैं।

अतः आत्मा के विनाश के भय से शोक करना संगत नहीं है। दूसरी ओर यह देह अनित्य, अपरिणामी तथा विनाशशील है, अतः उसका नाश अवश्यम्भावी है। इस कारण देह के नाश के लिए शोक करना भी उचित नहीं है। इस शोक तथा मोह की उत्पत्ति आत्मानात्म-विवेकहीनता या अज्ञान से होती है। किन्तु आत्मा तथा अनात्मा के (देहादि के) स्वरूप का विचार करने पर ये शोक तथा मोह बाधित हो जाता है। अतः 'अपवादापवादे उत्सर्गस्य स्थितिः' (अपवाद का अपवाद होने से अर्थात् विशेष विधि या नियम के ऊपर यदि विशेष विधि या नियम प्रयुक्त हो। तब उत्सर्ग की स्थिति होती है अर्थात् जो सामान्य विधि या साधारण नियम है, वहीं रह जाता है। इसलिए 'युध्यस्व' (युद्ध करो) भगवान् की ऐसी उक्ति विधि नहीं है, किन्तु क्षत्रिय का जो साधारण धर्म है युद्ध करना, उसी का अनुवाद (पुनरुक्ति) कर भगवान् कह रहे हैं। जैसा कि पाणिनि सूत्र में है 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' अर्थात् कृत्प्रत्यय होने से कर्त्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होती है, यही सामान्य विधि है। पुनः उसके बाद ही कहा गया है 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' अर्थात् यदि कर्त्ता तथा कर्म दोनों में ही षष्ठी विभक्ति की सम्भावना हो तब

कर्म में ही षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होगी, कर्ता में नहीं, यह है अपवाद या विशेष विधि। पुनः कहा गया है 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे वेति वक्तव्यम्' अर्थात् अक् प्रत्ययान्त तथा आकारान्त कृत् प्रत्यय स्त्रीलिंग में विहित होने से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' यह विशेष नियम प्रयुक्त नहीं होगा। इसे कहा जाता है अपवाद का अपवाद अर्थात् विशेष नियम के ऊपर विशेष नियम। ऐसा होने से पहले कहा गया साधारण नियम ही ('कर्तृकर्मणोः कृतिः' यह साधारण नियम हो) रह जाता है अर्थात् शेष में कहा गया सूत्र कोई स्वतंत्र नियम नहीं है, वह पहले कहे गए नियम का ही अनुवाद अर्थात् पुनरुक्ति है। इस प्रकार 'मुमुक्षोर्ब्रह्मणो जिज्ञासा' इस स्थान में कहा गया अपवाद का अपवाद होने के कारण 'ब्रह्मणः' इस पद के उत्सर्ग की (साधारण नियम की) पुनः प्रवृत्ति होकर 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' इस नियम के अनुसार कर्म में षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। एवं इसलिए 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस नियम के अनुसार जिस स्थान में कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है उसका षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं होता है, यह नियम भी प्रयुक्त नहीं होने के कारण 'ब्रह्मजिज्ञासा' यह पद कर्म में षष्ठी होकर (ब्रह्मणः जिज्ञासा होकर) बाद में षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है। [इस प्रकार क्षत्रिय अर्जुन का युद्ध करना भी सामान्य विधि है। अतः 'तस्माद् युध्यस्व' यह उस सामान्य विधि का ही अनुवाद-मात्र है। भगवान् 'युध्यस्व' कहकर किसी स्वतंत्रविधि का निर्देश नहीं कर रहे हैं]। किन्हीं किन्हीं का कहना है कि आत्मज्ञान का उपदेश देते-देते 'युद्ध करो' ऐसी विधि के द्वारा भगवान् मानो यही कहते हैं कि मोक्ष के लिए ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय अवश्य होना चाहिए। ऐसी युक्ति असंगत है क्योंकि 'युध्यस्व' इस पद के द्वारा ऐसा नहीं मालूम हो रहा है कि ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से (एकत्र अनुष्ठान से) मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त भगवद्गीता के वचन के साथ इस प्रकार की व्याख्या का विरोध होता है, उसे आगे (बाद में) विस्तारपूर्वक दिखाकर हम लोग इस ज्ञान तथा कर्म के समुच्चयवाद को निरास करेंगे (व्यर्थ प्रमाणित करेंगे)।

(२) श्रीधर—[देहादि का 'आगमापाय धर्म, दिखा रहे हैं] **नित्यस्य**—सदा एक रूप में अवस्थित **शरीरिणः**—शरीरधारी की (शरीर जिसका उपाधि है, उसकी) अतः **अनाशिनः**—विनाशरहित **अप्रमेयस्य**—अपरिच्छिन्न आत्मा की **इमे देहाः**—यह सुखदुःखादि धर्मविशिष्ट सकल देह **अन्तवन्तः**—विनाशशील (नश्वर) है **उक्ताः**—तत्त्वदर्शीलोग ऐसा कहते हैं। **तस्मात्**—चूँकि आत्मा का विनाश नहीं है एवं आत्मा के साथ सुख

दुःखादि का सम्बन्ध नहीं है इसलिए तुम अपने मोहजनित शोक को त्याग कर युद्धस्व—युद्ध करो क्योंकि स्वधर्म त्याग करना उचित नहीं है।

(३) शंकरानन्द—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' ऐसा वाक्यार्थ (देहादि) जन्ममरण के अधीन है, अर्थात अनित्य है। अतः उसके लिए शोक करना उचित नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में नित्यत्वज्ञान तथा देह के सम्बन्ध में अनित्यत्वज्ञान रहने से ही आत्मा तथा देह के लिए शोक करने का कोई कारण नहीं रहता है इसे ही स्पष्ट रूप से कहने पर अर्जुन का शोक निवृत्त हुआ, यह देखकर अर्जुन जिस युद्ध को करने के लिए अपने से ही पहले प्रवृत्त हुआ था उस युद्ध को करने के लिए अर्जुन को उत्साह देने के उद्देश्य से भगवान् कहने लगे। अप्रमेयस्य—प्रत्यक्ष आदि (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इत्यादि) प्रमाणों के द्वारा कोई भी जिन्हें नापने में अर्थात् जानने में असमर्थ है। (क) आत्मा इन्द्रिय आदि के द्वारा प्रत्यक्ष करने का विषय नहीं है क्योंकि आत्मा शब्द आदि विषयों से रहित है। श्रुति में भी कहा गया है 'अशब्दमस्पर्शम्' (ख) पुनः आत्मा अनुमान का भी विषय नहीं है क्योंकि उसका लिंग नहीं है [लिंग अर्थात लक्षण (चिन्ह) को देखकर वस्तु का अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार धूम रूप चिन्ह को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, उस प्रकार आत्मा का कोई लिंग नहीं है]। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'नैव च तस्य लिंगम्' (ग) आत्मा उपमान प्रमाण का भी विषय नहीं है क्योंकि आत्मा किसी के भी सदृश (तुल्य) नहीं है। [गाय सदृश प्राणी को जिस प्रकार गवय कहा जाता है उस प्रकार] आत्मा उपमान प्रमाण का विषय नहीं है। श्रुति में इसलिए कहा गया है 'हेतुदृष्टान्तवर्जितम्' अर्थात् आत्मा का हेतु या दृष्टान्त नहीं है। (घ) आत्मा शब्द प्रमाण का भी (आगम का भी) विषय नहीं है क्योंकि जिसे अवलम्बन कर शब्द का प्रयोग होता है वह नाम, रूप तथा जाति आत्मा में नहीं है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रम्' अर्थात् आत्मा अदृश्य, अग्राह्य एवं अगोत्र है। यदि कहो कि श्रुति में जब कहा गया है 'तं त्वौपनिषदम्' (अर्थात् उपनिषद् में प्रतिपादित वह पुरुष ऐसा वाक्य जब श्रुति में कहा गया है) तब आत्मा शब्द का अगम्य किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि यद्यपि श्रुति में ऐसा कहा गया है तब भी आत्मा में शब्द के प्रवृत्ति का कोई कारण न रहने के कारण आत्मा में शब्द प्रवृत्त नहीं होता है अर्थात् आत्मा शब्द का विषय नहीं है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'यतो वाचो निवर्तन्ते' अर्थात् जिससे वाणी लौट आती है ऐसा होने पर भी 'तं

त्वौपनिषदम्' इत्यादि श्रुति का वचन प्रमाण रहित नहीं होता है क्योंकि आत्मा में अध्यस्त सम्पूर्ण विशेषको निषेध कर अधिष्ठानभूत सन्मात्र निर्विशेष आत्मा का प्रतिपादन श्रुति करती है अतः इसी से श्रुति का प्रामाण्य सिद्ध होता है। सविशेष आत्मा ज्ञात होने पर भी निर्विशेष आत्मा अज्ञात रहता है। अतः निर्विशेष आत्मा को ज्ञात कराने के कारण आत्मविषय में श्रुति के प्रमाण के लक्षण सम्भव होने पर भी 'इदं रूप में' अर्थात् 'यह आत्मा है' इस प्रकार साक्षात् रूप से कहने में असमर्थ होने के कारण आत्मा श्रुति का अविषय ही रह जाता है। (ङ) आत्मा सदा ही एकरूप है। अतः आत्मा में अन्यथा उपपत्ति (युक्ति) का अभाव रहने के कारण (अर्थात् 'आत्मा ऐसा नहीं होने पर दूसरे प्रकार का होगा' ऐसी युक्ति का विषय नहीं होने के कारण) आत्मा अर्थापत्ति प्रमाण का भी विषय नहीं है। (च) आत्मा भावरूप है अर्थात् सत् (सदा ही विद्यमान) है। अतः अनुपलब्धि प्रमाण का विषय नहीं है। (छ) और आत्मा जब वाणी का विषय नहीं है तब ऐतिह्य प्रमाण का भी विषय नहीं है। (वृद्ध पुरुष के वचन को ऐतिह्य प्रमाण कहा जाता है)। इस प्रकार आत्मा का अप्रमेयत्व सिद्ध होता है। जिससे समस्त प्रमाण तथा प्रमेयों का प्रामाण्य सिद्ध होता है उसका प्रमापक क्या हो सकता है ? इसलिए श्रुति में कहा गया है 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' अर्थात् जो विज्ञाता हैं, उन्हें किसके द्वारा जानोगे ? आत्मा अपने में अध्यस्त समस्त प्रमेयों का सद्भाव तथा असद्भाव प्रकाश करने के कारण आत्मा स्वप्रकाश स्वरूप है अतः आत्मा का प्रामाण्य स्वतः ही सिद्ध होता है। आत्मविषय में आत्मा के अतिरिक्त और किसी का प्रामाण्य नहीं रह सकता है। अतः आत्मा अप्रमेय है अर्थात् किसी प्रकार के (वाह्य) प्रमाण का विषय नहीं है। यह अप्रमेय होने के कारण अविनाशिनः—अविनाशी भी है। विनाश शब्द का अर्थ है सत्ता का अदर्शन। जो देश, काल तथा वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न है उसी का विनाश सम्भव है किन्तु आत्मा में परिच्छिन्नता नहीं है। अतः आत्मा की सत्ता का कभी भी अभाव नहीं होता है। अतः अविनाशी शब्द का अर्थ है अनन्त। श्रुति में भी कहा गया है 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' अर्थात् आत्मा ज्ञान-स्वरूप तथा अनन्तस्वरूप है। यहाँ कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मा अविनाशी, परिच्छिन्न, परिपूर्ण एवं नित्य है। प्रश्न है कि परमाणु परिच्छिन्न है तब भी नैयायिक लोग उसका नित्यत्व स्वीकार करते हैं, अतः आत्मा भी तो परिच्छिन्न होकर नित्य हो सकता है। इसके उत्तर में कहूँगा कि, नहीं, परमाणु के नित्यत्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। 'सर्वगतश्च नित्यः'

"यो वै भूमा तदमृतम्" इत्यादि श्रुतिवचनों से यही प्रमाणित होता है कि जो सर्वव्यापी, अपरिच्छिन्न, भूमा है (सबसे बड़ा है) वही नित्य हो सकता है—परिच्छिन्न वस्तु कभी भी नित्य नहीं हो सकती है क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'यदल्पं तदुमर्त्यं' (छा० उ०) अर्थात् जो अल्प है वह मर्त्य (मरणशील) है। शरीरिणः–ब्रह्मा से स्तम्भ तक समस्त शरीर ही आत्मा की उपलब्धि का (अर्थात् आत्मा को प्राप्त करने का या साक्षात्कार का) स्थान है। इसलिए समस्त प्राणियों का शरीर जिनकी उपाधि है ऐसे शरीरी आत्मा के। यहाँ शरीरी शब्द को एकवचन में प्रयोग करने का उद्देश्य यही है कि आत्मा समस्त शरीर में एक है किन्तु 'इमे देहाः' इस प्रकार देह शब्द को बहुवचन में प्रयोग कर यह स्पष्ट किया जा रहा है कि सम्मुख में निर्दिश्यमान देह अनेक हैं। अतः 'शरीरिणः' पद का अर्थ है सर्व शरीर में 'मैं' इस प्रकार उपलभ्यमान (अनुभूत) नित्य आत्मा के। इमे देहाः—ये समस्त देह अर्थात् दोनों सेनाओं में भीष्म आदि शब्दवाच्य सब देह अर्थात् जिनको लक्ष्य कर तुम (अर्जुन) 'आचार्य, पिता, पुत्र' इत्यादि शब्दों के द्वारा कहे हो उन सबों की देह अन्तवन्तः–अन्त अर्थात् अवसान या अदर्शन को प्राप्त होती है अर्थात् जन्म आदि से युक्त होने के कारण उनकी सत्ता अनियत है (कभी है तथा कभी नहीं भी है)। अतः उनकी वास्तविक सत्ता कुछ भी नहीं है, केवल उनकी प्रतीति मात्र होती है (वे मिथ्या हैं)। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा गृहीत होने पर भी शुक्ति में रजतभ्रम की तरह अधिष्ठान के (आत्मा के) स्वरूप को न जानने के कारण वह सब देहादि भ्रमवश आत्मा में कल्पित होकर प्रतीत हो रही हैं किन्तु उनकी वास्तविक सत्ता सम्भव नहीं हो सकती है क्योंकि 'नासतो विद्यते भावः' अर्थात् असत् का भाव (सत्ता) कभी भी नहीं होता है, यह पहले ही स्पष्टतः कहा गया है। तुम 'देहादि अन्तवन्त हो एवं देही आत्मा नित्य है' इसे सम्यक् प्रकार से न जानकर ही शोक कर रहे थे कि 'मेरे आत्मीय बन्धु सभी मर जायेंगे।' अब श्रुति, युक्ति एवं अनुभव से यही सिद्ध होता है कि आत्मा अथवा देह, किसी के भी लिए शोक करना नहीं चाहिए एवं तुम भी अब इसे अनुभव कर सक रहे हो। तस्मात्—अतएव युध्यस्व भारत !—हे विवेक विज्ञान सम्पन्न भारत (अर्जुन) तुम युद्ध करो (युद्ध के लिए प्रयत्न करो)। पहले ही युद्ध के लिए अर्जुन प्रवृत्त हुआ था किन्तु भ्रान्तिवश (आत्मीय स्वजनों के वध की सम्भावना देखकर) शोक कर रहा था। भगवान् ने उस शोक के मूलरूप अज्ञान को दूर कर अपना कार्य (अर्थात्

क्षत्रिय का स्वधर्म) पालन करने के लिए आदेश दिया। जिस प्रकार बुभुक्षित (भूखे) व्यक्ति को खाद्य के सम्बन्ध में कोई शंका उपस्थित होने से उस शंका को अपनोदन (दूर) कर 'आहार करो' ऐसा कहने से कोई नियुक्ति या विधि नहीं समझाई जाती है उसी प्रकार 'युद्ध करो' कहने में भगवान् अर्जुन को युद्ध करने में नियुक्त नहीं कर रहे हैं क्योंकि ज्ञानकांड प्रकरण में (अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञान के विषय में कहते कहते) कर्मविधि का उपयोग नहीं हो सकता है। जब एक कर्म में दूसरा कर्म उपयुक्त नहीं हो सकता है तब कर्म के विरोधी ज्ञान प्रकरण में कर्म विधिका जो उपयोग नहीं हो सकता है, इस विषय में कहने को और क्या है ? कोई व्यक्ति यदि चल रहा है और उसे कहा जाय 'चलो' तब इसका अभिप्राय (मतलब) यह नहीं है कि उसे चलनरूप क्रिया में नियुक्त किया जा रहा है क्योंकि उसे उसकी चलनक्रिया की केवलमात्र अनुमति दी जा रही है। उसप्रकार युद्ध में प्रवृत्त अर्जुन को 'युद्ध करो' कहकर भगवान् केवल उसे युद्ध करने की अनुमति दे रहे हैं—यही 'युध्यस्व' शब्दका तात्पर्य है। अथवा 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' अर्थात् उस आत्मा को जानकर ही ब्राह्मण विरक्त होकर भिक्षाचर्या करते हैं। इसप्रकार समस्त प्रकार की इच्छाओं से रहित ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण के लिए शरीरयात्रा निर्वाह के लिए भिक्षाविधि सुनी जाती है। श्रुति में जिस प्रकार ज्ञानी व्यक्तियों के लिए शरीरयात्रा निर्वाह करना अवश्यकर्त्तव्य कहा गया है, उसीप्रकार (गीता में भी) ब्रह्मज्ञानी होने पर भी प्राणरक्षा करना अवश्य कर्त्तव्य कहा गया है, इसे ही सूचित करने के लिये ज्ञान प्रकरण में भगवान् ने [अर्जुन के क्षत्रिय तथा युवक होने के कारण, संन्यास तथा वानप्रस्थाश्रम का अभी तक अनधिकारी होने के कारण 'राजा को राज्य से शरीर यात्रा का निर्वाह करना चाहिए' इस नियम के अनुसार, शत्रुलोगों ने जिस राज्य का अपहरण कर लिया है उस राज्य को (शत्रु को) जयकर उद्धार करने के लिए] अर्जुन को 'युद्ध करो' (स्वधर्म पालन करने के लिए उद्योग करो) यह कहकर यहाँ शरीरयात्रा का विधान किया। बाद में भी भगवान् कहेंगे 'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः' (गीता ३।८) अर्थात् कर्म के विना तुम्हारी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं होगी। इसलिए यहाँ 'युध्यस्व' पद के द्वारा किसी कर्मविधि को नहीं कहा गया है, ऐसा समझना पड़ेगा।

(४) नारायणी टीका—देह की सृष्टि कर्मफल का भोग करने के लिए होती है। भोग का अन्त हो जाने पर ही उसका अन्त हो जायगा। तुम

शत चेष्टा करके भी उसकी रक्षा नहीं कर सकोगे। पुनः जबतक भोग शेष नहीं होगा तबतक उसे कोई भी नाश नहीं कर सकेगा। सच्चिदानन्द अविनाशी, अविकारी सर्वव्यापी आत्मा ही तुम्हारा अथवा भीष्म, द्रोण आदि का प्रकृत स्वरूप है। देह आत्मा से पृथक् है, वह कल्पित (मिथ्या) एवं नाशवान् है। स्वकर्म करते करते (स्वधर्म पालन करते करते) यदि इस देह का (जिसका विनाश एक न एक दिन अवश्यम्भावी है) अन्त हो जाय तब उसके लिए शोक करने का क्या कारण है? तुम्हारे स्वरूप का तो कभी भी विनाश नहीं होगा। अतः अपने कर्त्तव्य कर्म (युद्ध) से विरत मत होओ। देह का क्या होगा, उसके सम्बन्ध में कोई चिन्ता मत करो क्योंकि वह प्रारब्ध के वश है। किन्तु तुम यदि स्वधर्म पालन न कर इस धर्मयुद्ध से विरत होओगे तब मनुष्यजीवन का चरम उद्देश्य जो मोक्ष है उसे प्राप्त नहीं कर सकोगे। निष्काम रूप से स्वधर्म पालन करने से चित्तशुद्धि होती है एवं चित्तशुद्धि होने से आत्मानात्मविवेक के द्वारा (देहादि से आत्मा को पृथक् कर) आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर परमानन्दरूप मोक्ष प्राप्त करोगे। अतः 'युध्यस्व' (युद्ध करो) क्योंकि युद्धरूप स्वधर्म पालन ही तुम्हारे लिए श्रेयः प्राप्ति का (मोक्ष प्राप्ति का) एकमात्र उपाय है। [यहाँ युद्ध शब्द का अर्थ कामरूपी दुर्योधन के साथ युद्ध है (गीता ३।४३) क्योंकि बाहर का युद्ध हो या अन्दर का, जबतक काम (वासना) रहता है तबतक चित्तशुद्धि की कोई सम्भावना नहीं रहती है]।

[पूर्ववर्ती श्लोक में आत्मा के अविनाशित्व को सिद्ध किया गया है। संसार का कारण है अज्ञान से उत्पन्न शोक तथा मोह। इस शोक तथा मोह की निवृत्ति के लिए ही गीताशास्त्र आरब्ध हुआ है। "गीताशास्त्र किसी कर्म का प्रवर्तक नहीं है" १९ तथा २० वें श्लोक में भगवान् कठोपनिषद् के दो मंत्रों का इसके साक्षीभूत अर्थात् प्रमाण स्वरूप में उदाहरण दे रहे हैं, भीष्म प्रभृति को 'मैं मारूँगा, मैं इनका हन्ता हूँ', ऐसी मिथ्या बुद्धि के द्वारा शोक तथा मोह से अर्जुन अभिभूत हुआ था। ऐसी भावना का कारण अज्ञान ही है—यही अब कहा जा रहा है]।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

अन्वय—य एनं हन्तारं वेत्ति यः च एनम् हतं मन्यते तौ उभौ न विजानीतः। अयम् न हन्ति न (वा) हन्यते।

अनुवाद—जो व्यक्ति इस आत्मा को हन्ता मानते हैं अथवा जो व्यक्ति इसे हत मानते हैं, वे दोनों ही आत्मतत्त्व को नहीं जानते हैं। क्यों कि आत्मा किसी का हनन (हत्या) भी नहीं करती है या किसी के द्वारा हत भी नहीं होती है।

दीपिका। यः—जो व्यक्ति एनं—देही को अर्थात् जिसके बारे में कहा जा रहा है उस अदृश्य, अप्रमेय, अनाशी आत्मा को हन्तारं—हन्ता अर्थात् हनन क्रिया का कर्त्ता वेत्ति—मानते हैं यः च—तथा जो एनम्—आत्मा को हतं—हनन क्रिया का कर्मभूत (विषयभूत) अर्थात् आत्मा हत होता है, मन्यते—इसप्रकार मानते हैं तौ उभौ—वे दोनों ही देहाभिमानी होने के कारण न विजानीतः—विशेषरूप से ज्ञानवान् नहीं हैं अर्थात् शास्त्र तथा गुरु से उपदेश प्राप्त कर, अनात्म वस्तु से अहं प्रत्यय के विषयीभूत आत्मा को पृथक् कर, आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान उन्हों ने प्राप्त नहीं किया है। देहादि ही हनन क्रिया का कर्त्ता है अर्थात् देहादि ही हन्ता है; पुनः देह में ही हनन क्रिया का कर्मत्व रहता है अर्थात् देहादि ही हत होता है; तो भी अविवेक के कारण अहं प्रत्यय के विषयभूत आत्मा में ('मैं' इस प्रकार ज्ञान के विषय जो प्रत्यक्चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसमें) हनन क्रिया का कर्तृत्व तथा कर्मत्व आरोपित कर जो लोग ऐसा सोचते हैं कि 'मैं हनन कर रहा हूँ' अथवा 'मैं हत हो रहा हूँ', वे दोनों ही आत्मा के स्वरूप के विषय में अनभिज्ञ (अज्ञ) हैं, यही कहने का अभिप्राय है। अयम्—यह आत्मा न हन्ति—किसी का भी हनन नहीं करती है अर्थात् हनन क्रिया का कर्ता नहीं है अथवा न हन्यते—आत्मा हत नहीं होती है अर्थात् हनन-क्रिया का कर्म भी नहीं है क्योंकि आत्मा स्वरूपतः अविक्रिय (परिणाम या विकाररहित) है, अतः अकारक है (कर्तृकर्म आदि कारक भावापन्न होना आत्मा का धर्म नहीं है अर्थात् आत्मा कभी भी किसी क्रिया का कर्ता या कर्म इत्यादि नहीं होती है)।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—श्लोक में इतना कहने से ही ठीक होता कि 'य एनं वेत्ति हन्तारं हतं च' अर्थात् जो आत्मा को हन्ता तथा हत मानते हैं, किन्तु तब भी 'यश्चैनं मन्यते' इस पद की पुनरुक्ति की गई है। मधुसूदन सरस्वती ने गूढार्थ दीपिका नामक टीका में, उसके तीन कारणों का उल्लेख किया है।

(क) यहाँ पुनरुक्ति वाक्य के अलंकार के लिए की गई है। (ख) परिणामवादी तार्किक लोग (नैयायिक लोग) आत्मा को हन्ता मानते हैं

क्योंकि वे आत्मा के कर्तृत्व आदि गुणों को स्वीकार करते हैं; पुनः निरीश्वर-वादी चार्वाक लोग देह को ही आत्मा मानकर, आत्मा के विनाशित्व को स्वीकार कर आत्मा हत होती है, यह मानते हैं। इन दो प्रकार के मतों का ही यहाँ निराकरण किया जा रहा है क्योंकि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, विनाशित्व इत्यादि सभी को ही निर्विकार आत्मा में औपचारिक रूप से व्यवहार किया जाता है अज्ञानवश वे सब आत्मा में आरोप किए गए हैं। वादियों में विभिन्नता (भेद) दिखाने के लिए 'यश्चैनं मन्यते' इस वाक्यांश की श्लोक में पुनरुक्ति की गई है अथवा (ग) अति वीर एवं अति कातर को लक्ष्य कर उस प्रकार की पुनरुक्ति हुई है अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा कर्तृत्वबोध माने 'मैंने निहत किया' एवं अति कातर व्यक्ति का ऐसा कर्मत्व बोध माने 'मैं निहत हुआ'—यह दोनों ही अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं, यह दिखाने के लिए 'यश्चैनं मन्यते' शब्द द्वारा पुनरुक्ति की गई है। 'हन्ता चेत् मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' इस श्रुति के (कठोपनिषद के) मंत्र की प्रतिध्वनि ही श्लोक के पूर्वार्द्ध में सुनी जा रही है न हन्ति न हन्यते—प्रथमअध्याय में 'हमलोगों को पाप होगा' (गीता १।३६); 'कुलनाशकारियों के वंश में वर्ण-संकर उत्पन्न होने से उनको नरक में गमन करना पड़ेगा' (गीता १।४१); 'भीष्म पितामह को एवं द्रोणाचार्य को मैं किस प्रकार युद्ध में मारूँगा' (गीता २।५); इत्यादि वाक्यों के द्वारा अर्जुन ने आत्मा को (अपने को) पाप क्रिया का विषय, पाप का फलभोक्ता एवं पाप कर्म का कर्ता माना है। आत्मस्वरूप के विषय में उनकी अज्ञानता ही ऐसी भावना का कारण है। अतः आत्मा आकाशवत् , कूटस्थ, असंग, चिद्रूप एवं सर्वत्र उदासीन है—इस प्रकृत तत्त्व को जानने से ही अर्जुन के मन में शोक, मोह का और कोई अवकाश नहीं रहेगा; इस उद्देश्य से ही आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट कर भगवान् अब कह रहे हैं। आत्मा निर्विकार, निष्क्रिय, साक्षीमात्र है; इसे श्रुति शत शत बार कह रही है। जो लोग आत्मा के परमार्थ स्वरूप को न जानकर देह को ही आत्मा मानते हैं वे देह के नाश को ही आत्मा का नाश मानते हैं। पुनः जो अज्ञानवश आत्मा को कर्तृत्वादि उपाधिविशिष्ट मानते हैं वे आत्मा को दूसरे का हन्ता (वधकारी) मानते हैं। पहले ही कहा गया है कि ये सभी भावनाएँ भ्रान्तिमूलक हैं। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नाश तथा जन्म सभी ही देहेन्द्रियादि के होते हैं। जिन्होंने विवेक विचार से यह निश्चय किया है कि देहेन्द्रियादि का व्यापार चलते रहने पर भी आत्मा

कूटस्थ, असंग एवं सर्वत्र उदासीन रूप में रहती है, वे ही ज्ञानी हैं। [शंकरानन्द की टीका का तात्पर्य भी इसप्रकार ही है]।

(२) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोकों में आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसके द्वारा, अर्जुन के मन में भीष्म आदि को मृत्यु के भय से जो शोक उत्पन्न हुआ था वह निवृत्त हुआ 'भीष्म आदि का हन्ता होऊँगा' यह सोचकर तथा 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' ऐसा कह कर अर्जुन जो दुःख कर रहा था उसे निमित्तशून्य (उसका कोई कारण नहीं है, यह) प्रतिपन्न करने के लिए भगवान कह रहे हैं—]

एनम्—यह आत्मा [आत्मा को हननक्रिया के कर्मत्ववत् आत्मा में हननक्रियारूप कर्तृत्व भी नहीं है; अर्थात् जिस प्रकार आत्मा किसी समय हत नहीं होती है उसी प्रकार आत्मा हन्ता भी (हननक्रिया का कर्त्ता भी) नहीं होती है। इसका कारण अब कह रहे हैं] नायं हन्ति न हन्यते—हनन भी नहीं करती है या हत भी नहीं होती है। [अतः जो आत्मा को हत या हन्ता मानते हैं वे आत्मा के यथार्थ तत्त्व को नहीं जानते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि भीष्म आदि हत होंगे और तुम भीष्मादि के हन्ता (हननकर्ता) होकर पाप के भागी होंगे, इस प्रकार अज्ञानी की तरह सोचकर तुमको शोक करना उचित नहीं है]।

(३) शंकरानन्द—'पापमेवाश्रयेदस्मान्' (हमलोगों को पाप ही होगा), 'संकरो नरकायैव कुलघ्नानाम्' (कुलनाश कारिओं के लिए वर्णसंकर नरक प्राप्ति का कारण होता है), 'कथं भीष्ममहं संख्ये' (रणक्षेत्र में भीष्म के साथ किस प्रकार युद्ध करूँगा), इस प्रकार की उक्ति के द्वारा तुम आत्मा को पापक्रिया का विषय, पाप के फल का भोक्ता तथा पापक्रिया का कर्त्ता मान रहे हो; उसका कारण यह है कि आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में तुममें यथार्थ ज्ञान का अभाव अर्थात् अज्ञान है। आत्मतत्त्व का ज्ञान होने से किसी प्रकार के विकल्प का अवकाश नहीं रहता है अतः आत्मा के यथार्थ तत्त्व को ज्ञात कराने के उद्देश्य से उस आत्मतत्त्व को प्रकाश करनेवाली श्रुति के दोनों मन्त्रों को (अर्थ के साथ) श्रीभगवान् यहां सुना रहे हैं। उसमें से प्रथम मंत्र के द्वारा यही सूचित किया जा रहा है कि यदि कोई आत्मा को क्रिया का आश्रय या विषय मानता है तब उसे वेदान्तश्रवण करने पर भी मूढ़ कहा जायगा। यः एनं हन्तारं वेत्ति—जो 'मैं इसे मार रहा हूँ', इस प्रकार सोच कर 'अहं प्रत्यय' का प्रकृत अर्थ जो आत्मा है उसका हन्ता अर्थात् हनन क्रिया का कर्त्ता मानता है एवं यः च एनं हतं मन्यते—जो 'दूसरे के द्वारा

मैं हत हुआ' ऐसा सोचकर आत्मा को हनन क्रिया का विषय मानता है तौ उभौ न विजानीतः—उन दोनों को ही (अर्थात् आत्मा को हनन क्रिया का आश्रय तथा विषय माननेवाले उभय पुरुषों को ही) आत्मा के यथार्थतत्त्व का साक्षात् ज्ञान नहीं है क्योंकि अयं न हन्ति, न हन्यते—यह आत्मा स्वयं किसी की हत्या नहीं करती है और न किसी के द्वारा हत होती है। जिस प्रकार वृक्ष चलते रहने पर भी उस वृक्ष के अन्तःस्थित आकाश स्थिर ही रहता है उसी प्रकार देह-इन्द्रिय-आदि कार्य में व्यावृत रहने पर भी आत्मा कूटस्थ, असंग, चित्स्वरूप में सर्वत्र उदासीन होकर चुप (स्थिर) रहता है क्योंकि श्रुति कहती हैं 'न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' (आत्मा कुछ नहीं खाती है और न उसे ही कोई खाता है)। आत्मा निष्क्रिय है (स्वपक्ष) क्योंकि आत्मा निरवयव (हेतु) है। आकाश की तरह (दृष्टान्त)—यह है युक्ति प्रमाण (अनुमान)। उसके अतिरिक्त श्रुति के अनेक वाक्य ही आत्मा के निष्क्रियत्व का साक्ष्य देते हैं, यथा—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [आत्मा निष्कल (निरवयव), निष्क्रिय तथा शान्त है], 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (आत्मा साक्षी, चेता, केवल तथा निर्गुण है)। इस प्रकार श्रुति तथा गुरुमुख से आत्मा की निष्क्रियता को सुनकर तथा मनन करने के उपरान्त भी जो पुरुष अपने को कर्ता, भोक्ता, सुखी तथा दुःखी मानता है, वह आत्मतत्त्व को नहीं जानता है। उसकी श्रवणादि क्रिया तो मृतप्रसवा स्त्री की प्रसवक्रिया की तरह केवल श्रमरूप फल ही प्रदान करती है, यही इस श्लोक में भगवद्वाक्य के द्वारा सूचित हो रहा है।

(४) **नारायणी टीका**—आत्मा किसी के द्वारा भी विनष्ट नहीं होती है अथवा किसी का भी विनाश नहीं करती है क्योंकि आत्मा अविकारी तथा निष्क्रिय है। तब भी इस जगत में जो लड़ाई, झगड़ा, सृष्टि तथा नाश हुआ करता है, वे सभी ही अज्ञान से (माया से) कल्पित है। जब तक मन में कल्पना है तब तक यह इन्द्रजाल दिखता है। मन शान्त होने से (चित्तवृत्ति का निरोध होने से) यह समस्त दृश्य जब लय होता है तब अनुभव होता है कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता ३।२८) अर्थात् माया के द्वारा रचित गुण (इन्द्रियाँ) माया रचित गुणों में (विषयों में) आसक्त होकर इस ऐन्द्रजालिक नाटक में अभिनय कर रहे हैं किन्तु आत्मा सदा ही निर्विकार तथा 'आगमापायी' 'नाटक का नित्य साक्षी' है। अज्ञानी व्यक्ति इन गुणों के कार्य को आत्मा में आरोपित कर 'मैं हन्ता हूँ, मैं हत हूँ' ऐसा सोचता है। जिस प्रकार स्थिर सूर्य का प्रतिबिम्ब चंचल पानी में पड़ने से जल में सूर्य चंचल दिखता

है उसी प्रकार अज्ञानी को, अनात्मदेहादि में आत्माभिमान रहने के कारण एवं चित्त विषय में आसक्त रहने के कारण, बुद्धि चञ्चल रहती है एवं उस चञ्चल बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्य भी चंचल (अर्थात् कर्तृत्वादि धर्म-विशिष्ट) प्रतीत होता है। चित्त शान्त होने से ही इस चञ्चल नाटक का अवसान हो जाता है—उस समय में एकमात्र शान्त, आनन्दस्वरूप अचल अद्वितीय आत्मा की ही अनुभूति होती है; और समस्त माया का खेल (अर्थात् हन्ता, हत, मैं, तुम इत्यादि) शून्य में विलीन हो जाता है। अतः आत्मस्वरूपानुभूति (ब्राह्मी स्थिति) ही अज्ञानजनित शोकमोह को नाश करने का एकमात्र उपाय है, इसे ही कई श्लोकों में भगवान् बार-बार अर्जुन को स्मरण करवा रहे हैं।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि आत्मा किसी क्रिया का कर्ता या कर्म नहीं है क्योंकि आत्मा अविक्रिय (विकाररहित) है। अब आत्मा किसलिए अविक्रिय है ? यह कहा जा रहा है]।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

अन्वय – अयं कदाचित् न जायते न वा म्रियते (यस्मात्), अयं भूत्वा न अभविता, न वा (अभूत्वा) भूयः (भविता)। अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः च, शरीरे हन्यमाने न हन्यते।

अनुवाद—इस आत्मा का कभी भी जन्म नहीं होता है एवं कभी भी मृत्यु नहीं होती है। देह आदि के संघात की तरह जन्म ग्रहण कर पुनः विनाश प्राप्त करना आत्मा के लिए सम्भव नहीं है, और न तो आत्मा विनाश प्राप्त कर पुनः जन्म लेती है। आत्मा का जन्म नहीं है, यह सर्वदा एकरूप में है, यह शाश्वत (सदा वर्तमान) है, यह पुराण (पूर्वकाल से विद्यमान रहने पर भी सदा ही नव अर्थात् नूतन) है, शरीर के विनाश होने पर भी आत्मा का विनाश नहीं होता है।

दीपिका—न जायते—आत्मा का जन्म नहीं होता है अर्थात् आत्मा उत्पन्न नहीं होती है। उत्पत्तिरूप वस्तुविकार आत्मा में नहीं होता है।

[देह में छः प्रकार का विकार होता है—(१) जायते—देह का जन्म हुआ है (२) अस्ति—पहले जो देह नहीं थी उसका अस्तित्व अब अनुभूत हो रहा है (३) वर्धते—क्रमशः देह की वृद्धि हो रही है (४) विपरिणमते–

देह परिणाम को प्राप्त हो रही है जैसे कि देह बालक, युवा, इत्यादि अवस्थाएँ एक के बाद एक प्राप्त करता है (५) अपक्षीयते—देह क्षय को प्राप्त हो रही है जिस प्रकार युवावस्था से देह वृद्धावस्था को प्राप्त कर रही है (६) नश्यति—विनाश (मृत्यु) को प्राप्त होती है। 'न जायते' शब्द के द्वारा आत्मा में प्रथम विकार को निषिद्ध किया गया है]। न वा म्रियते—आत्मा मृत्यु को प्राप्त नहीं करती है—आत्मा मरती नहीं है। 'वा' शब्द 'च' अर्थ में (समुच्चय अर्थ में) व्यवहृत हुआ है। 'न म्रियते' के द्वारा विनाशरूप शेष विकार निषिद्ध हुआ है। कदाचित्—किसी समय में भी (इस शब्द के द्वारा समस्त विकारों का निषेध किया गया है। अर्थात् आत्मा किसी भी समय में जन्म ग्रहण नहीं करती है और किसी भी समय में मरती नहीं है इत्यादि अर्थ ग्रहण करना पड़ेगा) (यस्मात्) अयं न भूत्वा न अभविता—चूँकि आत्मा उत्पत्ति क्रिया का अनुभव कर अर्थात् जन्म ग्रहण कर पुनः अभाव (विनाश) को प्राप्त नहीं होती है इस कारण से आत्मा का मरण नहीं है क्योंकि जो एकबार जन्म ग्रहण कर अदर्शन प्राप्त करता है उसे ही (लोक में) मृत कहा गया है। न वा (अभूत्वा) भूयः (भविता)—अथवा यह आत्मा पहले वर्तमान न रहकर बाद में देहादि की तरह उत्पन्न होती है ऐसी बात भी नहीं है अर्थात् आत्मा का जन्म नहीं होता है। श्लोक में 'वा न भूयः' पद का इस प्रकार अन्वय करना पड़ेगा। जो पहले नहीं रहता है, बाद में उत्पन्न होता है उसे ही लोग 'जन्मवान्' कहते हैं किन्तु आत्मा वैसी नहीं है। श्लोक में 'वा' एवं 'न' शब्द के द्वारा ऐसा अर्थ ही समझाया जा रहा है। [कदाचित्—किसी समय में भी] अयं—यह आत्मा न भूत्वा—अभूत्वा अर्थात् पहले न रहकर जो भूयः—पुनः भविता—उत्पन्न होगा न—ऐसी बात नहीं अर्थात् आत्मा चिरकाल ही वर्तमान रहती है। इसकी उत्पत्ति नहीं है। भूत्वा—पहले वर्तमान रहकर अर्थात् उत्पन्न होकर भूयः—पुनः न भविता—कभी भी नहीं रहेगी अर्थात् बाद में नहीं रहेगी ऐसी बात नहीं है अर्थात् आत्मा पहले विद्यमान थी एवं बाद में नहीं रहेगी (मर जायगी) ऐसी बात नहीं (मधुसूदन)] अजः नित्यः—चूँकि आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करती है इसलिए आत्मा अज है, पुनः आत्मा की मृत्यु नहीं है इसलिए आत्मा को नित्य कहा जाता है। यद्यपि ऊपर में कहे गये छः विकारों में प्रथम तथा शेष विकार का (जन्म तथा मृत्यु इन दोनों का) प्रतिषेध होने से सभी प्रकार के विकारों का प्रतिषेध (निषेध) हो जाता है तथापि बीच वाले विकारों का (अस्ति, वर्धते इत्यादि का) अपने

अपने शब्दों के द्वारा प्रतिषेध होना चाहिए, इसलिए मूल श्लोक में न कहे जाने पर भी यौवन आदि सभी विकारों का ताकि प्रतिषेध हो सके इसलिए भगवान् नित्य, शाश्वत इत्यादि शब्दों के द्वारा आत्मा के स्वरूप को निर्देश कर रहे हैं।

शाश्वतः—जो सर्वदा विद्यमान रहता है उसे शाश्वत कहा जाता है। इसके द्वारा 'अपक्षय' (ह्रास) रूप विकार प्रतिषिद्धि (निषिद्ध) हो रहा है। अपक्षय दो प्रकार के हैं (क) स्वरूप का अपक्षय (ख) गुण का अपक्षय (ह्रास)। देह की तरह आत्मा का कोई अवयव नहीं है इस कारण स्वरूपतः उसका अपचय (ह्रास) सम्भव नहीं है। द्वितीयतः आत्मा निर्गुण है इस कारण गुण के अपचय के (ह्रास के) कारण भी आत्मा का अपक्षय सम्भव नहीं है। पुराणः—(पुरा अपि अधुना च सर्वदा नवत्वात् पुराणः) प्रश्न है—अच्छा, यदि अपक्षय (ह्रास) न हो तब आत्मा की वृद्धि तो हो सकती है। इसके उत्तर में कह रहे हैं—नहीं, आत्मा निरवयव होने के कारण पहले भी जिस प्रकार नयी थी अब भी उसी प्रकार नयी (नूतन) है। साधारणतः पुराने अवयव के साथ कुछ युक्त होने से उस अवयव की वृद्धि होती है एवं उसे अभिनव या नूतन कहा जाता है किन्तु आत्मा निरवयव होने के कारण पहले भी जिस प्रकार नया था अब भी वैसा ही नया है अर्थात् आत्मा सर्वदा एकरूप होने के कारण उसमें कोई वृद्धि नहीं होती है। पुराने शब्द के द्वारा अपक्षय के विपरीत वृद्धिरूप विक्रिया का (तृतीय विकार का) प्रतिषेध (निषेध) किया जा रहा है। न हन्यते हन्यमाने शरीरे—शरीर का विशेष रूप से परिणाम प्राप्त होने पर भी आत्मा हत नहीं होती है अर्थात् विपरिणाम प्राप्त नहीं होता है (न हन्यते)। जिस प्रकार घट का कोई परिणाम होने पर भी घटाकाश का कोई परिणाम नहीं होता है (वह एक ही अवस्था में रहता है) उसी प्रकार शरीर आदि का अनेक प्रकार का परिणाम होने पर भी आत्मा सदा ही एकरूप में रहती है। हन् धातु को यहाँ परिणाम के अर्थ में व्यवहार किया गया है नहीं तो पूर्ववर्ती श्लोक में हन् धातु को हनन अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार यदि यहाँ भी हनन अर्थ ही ग्रहण किया जाय तो उससे पुनरुक्ति दोष होगा। पूर्वावस्था त्यागकर अवस्थान्तर (अर्थात् दूसरी अवस्था) की प्राप्ति को विपरिणाम कहा जाता है। 'न हन्यते' शब्द के द्वारा आत्मा में चतुर्थ विकार (विपरिणमते) प्रतिषिद्ध हुआ। ['अस्ति' यह द्वितीय विकार 'जायते' शब्द के अन्तर्भूत होने के कारण (अर्थात् जायते शब्द द्वारा ही अस्तित्व का निर्णय किया जाता है इसलिए) पृथक् रूप से

निषेध नहीं किया गया है। इस प्रकार आत्मा जो केवल अविक्रिय है अर्थात् सभी विकारों से शून्य है, ऐसी बात नहीं अपितु विकारशील देह से सम्पूर्ण रूप से विलक्षण (पृथक्) है क्योंकि शरीर के धर्म जन्म, मृत्यु, हानि, वृद्धि इत्यादि आत्मा को स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं। इसे ही यहाँ स्पष्ट किया गया है]। सभी लौकिक वस्तुओं में जो छः प्रकार के विकार देखे जाते हैं, उनका आत्मा में अभाव रहता है, उसे ही इस श्लोक में दिखाया गया है अर्थात् आत्मा सभी प्रकार के विकारों से रहित है, यही इस श्लोक का अर्थ है। इसलिए ही पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि जो लोग आत्मा को किसी का भी हन्ता (हननकारी) अथवा किसी के द्वारा भी हत मानते हैं वे दोनों ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते हैं।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—न भूत्वा—इस स्थान पर समास न होने पर भी 'नानुयाजेषु' इत्यादि की तरह यहाँ भी पाणिनि के अनुसार केवल तिङन्त पद के साथ ही नञ (न) का अन्वय होता है, ऐसी बात नहीं है क्योंकि कृदन्त के साथ भी नञ का अन्वय दिखता है। इस श्लोक में आत्मा के नित्यत्व को अनुमान किया जा रहा है। 'न जायते म्रियते वा', यह है प्रतिज्ञा, 'कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' यह अंश है उपपादन (अर्थात् युक्ति या हेतु है), एवं 'अजो नित्यः' इत्यादि अंश है उपसंहार।

(२) श्रीधर—आत्मा के षड्भाव विकाररहित अवस्था को (अर्थात् जायते, अस्ति इत्यादि छः विकारों से आत्मा रहित है इसे प्रतिपादन कर आत्मा हत नहीं होती है इसे दृढ़ किया जा रहा है।

(क) न जायते—आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करती है, यह कहकर जन्म का निषेध किया जा रहा है।

(ख) न म्रियते—आत्मा का मरण नहीं है, यह कहकर विनाशरूप विकार का प्रतिषेध किया जा रहा है। वा शब्द को 'च' अर्थ में व्यवहार किया गया है।

(ग) अयं भूत्वा—ये उत्पन्न होकर भूयः भविता—पुनः अस्तित्व प्राप्त करती है वा न—यह भी नहीं। किन्तु आत्मा पहले से ही स्वतः सत्-स्वरूप है। ऐसा कह कर जन्म के पश्चात् अस्तित्व लाभ रूप द्वितीय विकार का प्रतिषेध किया जा रहा है। उसका हेतु क्या है? चूँकि वह अजः—जन्म-रहित है। जो जन्म ग्रहण करता है वह ही जन्म के पश्चात् अस्तित्व प्राप्त करता है अर्थात् जन्मग्रहण कर अस्तित्व प्रकट करता है किन्तु जो स्वतः ही

विद्यमान है वह पुनः दूसरा अस्तित्व प्राप्त नहीं करता है, यही कहने का अभिप्राय है।

(घ) नित्यः—सर्वदा एकरूप है अर्थात् आत्मा वृद्धिरूप तृतीय विकार से रहित है।

(ङ) शाश्वतः—आत्मा सर्वदा विद्यमान हैं। अतः आत्मा के सम्बन्ध में अपक्षयरूप पंचम विकार का प्रतिषेध किया गया।

(च) पुराणः—पुरा अपि नव एव अर्थात् अनादि काल से विद्यमान रहने पर भी आत्मा सदा ही नव (नूतन) है अर्थात् आत्मा अपरिणामी है क्योंकि आत्मा दूसरे रूप को प्राप्त नहीं करती है। इसके द्वारा विपरिणामरूप चतुर्थ विकार का प्रतिषेध किया गया है। अथवा 'न भविता' इस पद के द्वारा अस्तित्व प्राप्तिरूप विकार प्रतिषेध कर वा न भूयः भविता—आत्मा अधिक नहीं होती है अर्थात् आत्मा की वृद्धि नहीं होती है, कह कर वृद्धिरूप विकार का प्रतिषेध किया गया है। यास्कादि के द्वारा, इस प्रकार जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा नाश इन छः विकारों का अभाव आत्मा में दिखाकर आत्मा की अविक्रियता को सिद्ध करने के लिए सांख्यवादी तथा अन्यमतवादिओं द्वारा उक्त उन षड्भावविकारों को (छः प्रकार के विकारों को) निरस्त कर अब 'आत्मा का कभी जो विनाश नहीं होता है' इसका उपसहार कर रहे हैं। न हन्यते हन्यमाने शरीरे—शरीर विनाश प्राप्त होने पर भी आत्मा कभी भी हत नहीं होती है। [आत्मा स्वभावतः सत्स्वरूप है अर्थात् सदा ही एक ही रूप में विद्यमान है। आत्मा का जन्म नहीं है, इसीलिए अज है। जन्म न रहने पर मृत्यु भी नहीं रह सकती है। आत्मा की कोई वृद्धि नहीं होती है इसलिए वह नित्य है। अपक्षय नहीं है, इसलिए वह शाश्वत है। परिणाम नहीं है इसलिए वह पुरानी है। इस प्रकार आत्मा में जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, नाश—इन षड्भावो का निषेध किया गया है। आत्मा के अतिरिक्त शरीर आदि सभी वस्तुओं को ही ये छः प्रकार के विकार प्राप्त होते हैं। अतः अद्वय आत्मा उन सबसे विलक्षण है, इसे भी इस श्लोक में सूचित करने के लिए कहा गया है कि शरीर हत होने पर भी अर्थात् शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है]।

(३) शंकरानन्द—तब आत्मतत्त्व क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर यास्कऋषि के द्वारा कहे गये जनन आदि षड्भावविकार आत्मा में नहीं है किन्तु आत्मा कूटस्थ, असंग चिद्रूप है; यही आत्मा का स्वाभाविक तत्त्व है;

इस प्रकार आत्मतत्त्व निर्णय करने के लिए श्रीभगवान् अब द्वितीय मन्त्र उच्चारण कर अर्जुन को सुना रहे हैं—

श्लोक में कदाचित् शब्द से यही अर्थ लगाया जा रहा है कि आत्मा कदाचित् (कभी भी) उत्पन्न नहीं होती है, कदाचित् (कभी भी) मरती भी नहीं है। श्लोक में दो बार 'वा' शब्द को 'च' अर्थ में व्यवहार किया गया है। यद्यपि श्लोक में केवल 'अजः' शब्द से ही आत्मा में सभी विकारों का अभाव सूचित हो रहा है तब भी श्रुति वाक्य के प्रमाण द्वारा आत्मा सम्पूर्णरूप से निर्विकार है यह सिद्धकर उस ज्ञान में जिससे किसी को संशय न हो इसलिए प्रत्येक विकार का पृथक् रूप से निषेध किया जा रहा है। अजः—जिनका साक्षात्कार होने पर विद्वान् पुरुष को पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है वे अज हैं अथवा जो स्वयं नहीं उत्पन्न होते हैं, वे अज हैं। यह आत्मा अज है क्योंकि—

कदाचित् न जायते—आत्मा अवयवरहित होने के कारण कभी भी उत्पन्न नहीं होता है (जन्म ग्रहण नहीं करती है)। 'निष्कलं निष्क्रियम्' (कलारहित, क्रियारहित है), 'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (उसका कोई जनक अर्थात् उत्पत्तिकारक नहीं है और न तो उसका कोई अधिपति है)—इस श्रुतिवाक्य से आत्मा का निरवयवत्व तथा निष्कारणत्व श्रुत हो रहा है। अतः आत्मा की जननक्रिया (उत्पत्ति) सम्भव नहीं है। इसप्रकार आत्मा में प्रथम भावविकार अर्थात् जन्म का निषेध किया गया है।

कदाचित् न म्रियते वा—चूँकि आत्मा का जन्म नहीं है अतः आत्मा मृत्यु (अर्थात् नाशक्रिया) को भी प्राप्त नहीं होती है। ऐसा कहने में आत्मा में षष्ठ विकार (अर्थात् नाश) का निषेध किया गया।

अयं भूत्वा भूयः भविता न—यह आत्मा उत्पन्न होकर पुनः अस्तित्वमान् नहीं होगी अर्थात् जिस प्रकार घट उत्पन्न होने के बाद 'घटः अस्ति' (घट है) इसप्रकार अस्तित्वमान् होता है उसप्रकार आत्मा अस्तित्व को नहीं प्राप्त होती है किन्तु घट में व्याप्त मृत्तिका जिस प्रकार उत्पन्न न होकर (जन्म की अपेक्षा न करके) पहले जिस प्रकार विद्यमान थी उसी प्रकार बाद में भी सत्तावान् रहती है, उसी प्रकार आत्मा भी जन्म की अपेक्षा न करके सदा सर्वत्र सत्तावान् रहती है। इसके द्वारा आत्मा में द्वितीय विकार का (जन्म के पश्चात् अस्तित्व का) निषेध किया गया है।

नित्यः—आत्मा निरवयव (देहादि अवयव से शून्य) होने के कारण सदा ही नित्य अर्थात् एकरूप है। इसके द्वारा आत्मा में विपरिणामरूप चतुर्थ विकार को निषिद्ध किया गया।

पुराणः—चूँकि आत्मा निरवयव है, अतः आत्मा पुरा (पूर्वकाल में) विद्यमान रहने पर भी वर्तमान में भी सर्वदा नव ही (नूतन ही) है। इसके द्वारा आत्मा में वृद्धिरूप तृतीय विकार का निषेध किया गया है। यद्यपि इस प्रकार से आत्मा नित्य, कूटस्थ, असंग, चिद्रूप, आदि—अन्तशून्य है एवं अद्वितीय है यह सूचित हो रहा है तब भी देह के नाश के द्वारा आत्मा का भी नाश होता है इस प्रकार श्रोता का भ्रम रह सकता है। जिस विषय में भ्रम रहता है उस विषय के बारे में पुरुष को (श्रोता को) सम्यक् बोध उत्पन्न होना चाहिए। अतः उस भ्रम को छेदन (दूर) करने के लिए भगवान् कह रहे हैं—

शरीरे हन्यमाने न हन्यते—इस शरीर को खड्गादि के द्वारा छेदन कर हत्या करने पर भी जिस प्रकार घट भग्न होने से (टूट जाने से) घटाकाश भिन्न नहीं होता है उसी प्रकार आत्मा निर्विकार होने के कारण हननरूप क्रिया का कर्म नहीं होती है अर्थात् जिस प्रकार घट नष्ट होने पर भी घटाकाश अपने स्वरूप में ही (आकाश के स्वरूप में ही) स्थित रहता है उसी प्रकार देह का नाश होने पर भी आत्मा अपने (निर्विकार) स्वरूप में ही स्थित रहती है। श्रुति भी यही कहती है—'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-धर्मा' (अरे मैत्रेयि, यह आत्मा अविनाशी है—नाशरहित सत्ता में स्थित रहना ही इसका धर्म अर्थात् स्वभाव है)।

(४) नारायणी टीका—१९ वें श्लोक में कहा गया है कि आत्मा किसी का भी हन्ता नहीं है एवं किसी के द्वारा हत भी नहीं होती है। २० वें श्लोक में उसे ही स्पष्ट कर कहा गया है कि आत्मा जब सभी विकारों से रहित है तब आत्मा के लिए हन्ता या हत होना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त विकारशील तथा नाशवान् शरीर से नित्य तथा अविकारी आत्मा की सम्पूर्ण विलक्षणता भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित की गई है।

अतः 'मैं इन लोगों को किस तरह मारूँ ?' ('हन्ता होऊँगा'), 'ये लोग यदि मेरी हत्या भी करें—' ऐसा सोचकर शोक करना जो अत्यन्त विचारहीनता का परिचायक है, इसी बात को दृढ़ करने के लिए भगवान् ने अर्जुन से कहा 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'

अर्थात् आत्मा का जन्म नहीं होता है; अतः उसमें वृद्धि, क्षय, नाश इत्यादि विकार भी नहीं है। आत्मा नित्य है (सर्वत्र एक ही रूप में विद्यमान रहती है), आत्मा शाश्वत हैं (आत्मा सर्वत्र एवं सदा ही विद्यमान है), आत्मा पुराण है (पूर्वकाल से विद्यमान रहने पर भी सदा ही नव अर्थात् नूतन है), किन्तु शरीर का धर्म आत्मा के स्वरूप से विपरीत है। अतः शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश (अर्थात् किसी प्रकार का परिवर्तन) नहीं होता है।

[१९ वें श्लोक में आत्मा हननक्रिया का कर्त्ता तथा कर्म नहीं है, ऐसा कहा गया है। २० वें श्लोक में उसका कारण क्या है ? यह स्पष्टरूप से वर्णित किया गया है अर्थात् आत्मा अविकारी होने के कारण किसी क्रिया का कर्त्ता या कर्म नहीं होती है, ऐसा कहा गया है। १९ वें श्लोक में जो प्रतिज्ञा की गई है (अर्थात् आत्मा में कर्तृत्व या कर्मत्व नहीं है) उसी को उपसंहार कर अब कहा जा रहा है]।—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! यः एनं (आत्मानं अजम् अव्ययम् नित्यम् अविनाशिनं वेद, सः पुरुषः कथं कं घातयति कं (वा) हन्ति।

अनुवाद—जो पुरुष इस आत्मा को अज (जन्मरहित), अव्यय (अपक्षयरहित), नित्य (परिणामरहित) एवं अविनाशी (मृत्युरहित) मानते हैं वे विद्वान् पुरुष किस प्रकार किसी की हत्या करेंगे अथवा हत्या करवायेंगे।

दीपिका हे पार्थ—हे अर्जुन ! यः—जो विद्वान पुरुष एनं—(पूर्ववर्ती श्लोक में जिसके लक्षण वर्णित हुये हैं ऐसी) आत्मा को अजम्—जन्मरहित अव्ययम्—जिसका व्यय (क्षय) नहीं है अर्थात् अपक्षय रूप विकार से रहित नित्यम्—परिणामरहित अर्थात् सदा एकरूप में ही विद्यमान है। अविनाशिनम्—अन्त्यविकार भाव शून्य अर्थात् मृत्यु या विनाशरहित [जो द्रव्य, गुण आदि के द्वारा परिच्छेदशून्य अर्थात् परिपूर्ण है (शंकरानंद)] वेद—जानते हैं अर्थात् साक्षात्कार करते है [जो शास्त्रोपदेश तथा आचार्योपदेश के अनुसार 'मैं समस्त विक्रियाशून्य सर्वप्रकाशक, सर्वद्वैतरहित एवं परमानन्द बोधस्वरूप हूँ' ऐसा आत्मसाक्षात्कार करते हैं। (मधुसूदन)] [ब्रह्मचर्य, अहिंसादि, विवेक, वैराग्य, शम, दमादि सम्पत्ति से युक्त होकर

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश से नित्य, एकरस, अद्वितीयात्मतत्त्व को जो 'वही मैं हूँ' ऐसा साक्षात्कार करते है (शंकरानन्द)] सः पुरुषः—वह विद्वान् आत्मतत्त्वज्ञाता अधिकारी पुरुष [पुरुषः—पूर्णरूप (मधुसूदन)] कथं कं घातयति—किस प्रकार से किसी को हनन करने के लिए प्रेरणा देंगे अर्थात् वध करायेंगे कं वा हन्ति—किस प्रकार से हननक्रिया करेंगे अर्थात् वध करेंगे ? जो आत्मतत्त्व को जान गये हैं वे विद्वान् (शरीरादि के द्वारा किसी प्रकार का कार्य किये जाते हुए भी उस शरीरादि में उनका अभिमान न रहने के कारण एवं उनके द्वारा सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन होने के कारण तात्त्विक दृष्टि से वे विद्वान् किसी प्रकार से किसी का विनाश नहीं करते है एवं किसी को विनाश करने के लिए प्रेरणा भी नहीं देते हैं, यही तात्पर्यार्थ है ।

'कथं' 'कं' शब्द के द्वारा दोनों स्थानों में (अर्थात् हनन कराना एवं हनन करना दोनों स्थानों में) आक्षेप अर्थात् निषेध किया गया है । 'कथं' या 'कं' शब्द को प्रश्न के रूप में व्यवहार नहीं किया गया है । श्लोक में हनन क्रिया का प्रतिषेध केवल उदाहरण के लिए कहा गया है किन्तु विद्वान् व्यक्ति के लिए सभी कर्मों का निषेध ही उस उदाहरण देने का अभिप्राय है क्योंकि निषेध का हेतु (आत्मा का अविकारित्व तथा अकर्तृत्व) सभी कार्य में ही समान रूप से रहता है ।

पूर्वपक्ष—किस विशेष हेतु के लिए विद्वान् के लिए कर्म असम्भव देखकर भगवान् 'कथं स पुरुषः' कहकर कर्म का निषेध कर रहे हैं ?

उत्तर—पहले ही कहा गया है कि आत्मा अविकारी है इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान जिसका हुआ है अर्थात् जिसने अपने को देहादि से विलक्षण सर्वविक्रियारहित आत्मा के रूप में अर्थात् 'वही मैं हूँ' ऐसा साक्षात्कार किया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी के लिए कोई कर्म करना सम्भव न होने के कारण उस अविक्रिय आत्मा का ज्ञान ही सर्वकर्मत्याग का विशेष हेतु होता है ।

पूर्वपक्ष—ठीक ही कहा है किन्तु अविक्रिय आत्मा से उसका ज्ञाता विद्वान् व्यक्ति (अर्थात् जो उस आत्मा को जानता है वह) तो भिन्न (पृथक्) होगा अतः ऊपर में तुमने जो कारण बताया वह उपयुक्त (संगत) नहीं है क्योंकि स्थाणु को जिसने अविक्रिय (स्थिर) जान लिया उसके लिए कर्म करना सम्भव नहीं है, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है । [वृक्ष को काटने के बाद जो अवशिष्ट खण्ड मूलसहित जमीन में रह जाता है उसको स्थाणु कहा जाता है] ।

उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि स्थाणु तथा स्थाणु का ज्ञाता पृथक् होने पर भी विद्वान् व्यक्ति से आत्मा पृथक् नहीं है क्योंकि वह तो उनका अपना ही स्वरूप है (और आत्मा ही एकमात्र चैतन्यस्वरूप होने के कारण आत्मा स्वयं ही अपने को जानता है)। देहादि संघात जड़ होने के कारण वह ज्ञाता नहीं हो सकता है इस कारण से देहादि संघात से भिन्न आत्मा ही अपने को अविक्रिय जानता है, अन्त में ऐसा ही मानना होगा। [वही आत्मा ही विज्ञाता (विद्वान) है एवं वही अविक्रिय रूप में ज्ञात होता है।] ऐसे विद्वान् के (ज्ञानी के) लिए कर्म होना असम्भव है। अतः 'कथं स पुरुषः' ऐसा आक्षेप (निषेध) उचित ही है। वास्तविक रूप से आत्मा निर्विकार होने पर भी बुद्धिवृत्ति तथा आत्मा का भेदज्ञान न रहने के कारण (अर्थात् बुद्धिवृत्ति के साथ आत्मा का तादात्म्याध्यास रहने के कारण) अज्ञानवश अपने को, बुद्धि एवं इन्द्रियादि के द्वारा गृहीत शब्दादि विषयों का ग्रहीता (उपलब्धा) मानता है ऐसी अवस्था में जिस बुद्धिवृत्ति के द्वारा आत्मा अज्ञानी या अविद्वान की तरह प्रतीत होता है उस बुद्धि वृत्ति को अविद्या कहा जाता है। आत्मा परमार्थतः (स्वरूपतः) नित्य अविकारी है तथापि उक्त अज्ञानावस्था में जिस बुद्धिवृत्तिद्वारा आत्मा को अनात्म वस्तु से विवेक (पार्थक्य) कर आत्मा का स्वरूप जाना जाता है उस बुद्धिवृत्ति को विद्या कहा जाता है यद्यपि वह बुद्धिवृत्ति असद्रूपा है तब भी उस विद्यारूपिणी बुद्धिवृत्ति के द्वारा जब अपने को अविकारी (अविक्रिय) रूप से साक्षात् अनुभव करता है तब उस आत्मा को विद्वान् कहा जाता है। ज्ञानी के लिए कर्म करना असम्भव है, ऐसा जब कहा गया है तब यही भगवान् का निश्चय है कि शास्त्र के द्वारा जिन कर्मों का विधान किया गया है वे सभी अज्ञानी के लिए ही विहित किए गये हैं।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा ही हो तब यदि कहूँ कि अज्ञानी के लिए विद्या को भी विहित किया गया है क्योंकि जिन्होंने विद्या को जान लिया है उनके लिए विद्या का विधान करना व्यर्थ ही होगा। अतः अज्ञानी व्यक्ति के लिए सर्व कर्म विहित किये गये हैं परन्तु ज्ञानी व्यक्ति के लिए नहीं, ऐसा विभाग करना युक्तिसंगत नहीं है।

उत्तर—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्त्तव्यबुद्धि का भाव तथा अभाव अर्थात् मुझे यह कर्म करना है—ऐसे बुद्धि के भाव तथा अभाव के ऊपर ही यह बात निर्धारित की जाती है कि किसके लिए अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है तथा किसके लिए नहीं। अभिप्राय यही है कि अग्निहोत्रादि कर्मों के

विधानकारी जो विधिवाक्य हैं उनके अर्थ जानने के बाद (क) अनेक साधन और उपसंहार के साथ अमुक अग्निहोत्रादि कर्म अनुष्ठान के योग्य है (ख) उस अनुष्ठान का कर्त्ता मैं हूँ (ग) मेरा यह कर्त्तव्य है—इस प्रकार जो अज्ञानी व्यक्ति सोचा करते हैं केवल उसके लिए ही अग्निहोत्रादि कर्म कर्त्तव्य (अनुष्ठेय) हो सकते हैं किन्तु 'न जायते' (आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करतो है) इत्यादि आत्मस्वरूप के विधिवाक्य का अर्थ (तात्पर्य) जो जान गये हैं, उनके लिए उस ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् कोई कर्त्तव्य अर्थात् अनुष्ठान करने के योग्य कोई कर्म नहीं रह सकता है क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति में आत्मा के एकत्व तथा अकर्त्तृत्वादि विषयक ज्ञान [अर्थात् 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ' (अर्थात् मेरी आत्मा तथा सर्वभूतों की आत्मा एक है एवं वह आत्मा निर्विकार निष्क्रिय होने के कारण उसमें कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व सम्भव नहीं है ऐसा ज्ञान)] के अतिरिक्त और कोई द्वैतबुद्धि नहीं रहती है अतः अज्ञानी व्यक्ति में ही कर्त्तव्यबुद्धि एवं उसका ही कर्म में अधिकार रहता है,ज्ञानी व्यक्ति का नहीं। इस प्रकार ज्ञानी तथा अज्ञानी में विशेषता है एवं इसलिये ही दोनों में कर्मविभाग हुआ करता है [अर्थात् उस प्रकार के भेद के कारण जो अज्ञानी व्यक्ति में कर्त्तव्य कर्म रहता है और ज्ञानी व्यक्ति में कर्त्तव्य कर्म नहीं रहता है ऐसा कर्म के विभाग उचित ही हुआ है। पुनः जो ऐसा सोचते हैं कि 'मैं कर्त्ता हूँ' उनमें भी यह बुद्धि अवश्य ही होगी कि 'मेरा यह कर्त्तव्य है' एवं इस बुद्धि की अपेक्षा रहने के कारण (बुद्धि का उस प्रकार निश्चय रहने के कारण) ही उसका कर्म में अधिकार रहता है। अतः ऐसे व्यक्ति के लिए कर्म विहित किया जाता है । और 'उभौ तौ न विजानीतः' (अर्थात् जो अपने को हन्ता मानते हैं एवं जो अपने को हत मानते हैं—ये दोनों ही आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञ हैं) इस वचन के अनुसार वैसे कर्त्तृत्वाभिमानी तथा कर्म में अधिकारी पुरुष को ही अविद्वान् या अज्ञानी कहा जाता है। और 'वेदाविनाशिनं' इत्यादि पूर्वोक्त विशेषण के द्वारा विशेषित ज्ञानी व्यक्ति के लिए 'कथं स पुरुषः' इत्यादि वचन के द्वारा कर्म का निषेध किया गया है। अतः यह सिद्ध होता है कि अविक्रिय (निर्विकार) आत्मा का जिन्होंने साक्षात्कार किया है वैसे विशिष्ट विद्वान् एवं मुमुक्षु का सर्वकर्मसंन्यास में ही अधिकार है। इसलिए भगवान् नारायण ने 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (गीता ३।३)—ऐसे वचन के द्वारा सांख्ययोगी ज्ञानी तथा कर्मयोगी अज्ञानी का विभाग कर (भिन्न प्रतिपादन कर) दोनों के लिये पृथक्-पृथक् निष्ठा

प्रतिपादित की है। इस प्रकार भगवान् वेदव्यास ने भी अपने पुत्र को कहा था 'द्वाविमावथ पन्थानौ' (महा० शा० २४१।६) इत्यादि अर्थात् दो मार्ग हैं एवं उसके बाद कहा 'क्रियापथश्चैव पुरस्तात् पश्चात् संन्यासश्च' अर्थात् पहले क्रिया (कर्म) मार्ग एवं बाद में संन्यास। भगवान् गीताशास्त्र में भी ज्ञानी तथा कर्मी का इस प्रकार विभाग बार-बार दिखाएंगे। यथा 'अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहम् इति मन्यते' (गीता ३।२७) अर्थात् जो अतत्त्ववित् (अज्ञानी) हैं वे अहंकार के द्वारा मोहित होकर अपने को कर्त्ता मानते हैं; किन्तु जो तत्त्व-वित् हैं वे कुछ भी नहीं करते हैं (गीता ५।१३)। पुनः 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी (गीता ५।१३) अर्थात् जिन्होंने इन्द्रियादि को वशीभूत किया है वे सभी कर्मों को मन के द्वारा त्याग कर सुख से रहते हैं इत्यादि। इस विषय में जो व्यक्ति अपने को पण्डित माना करते हैं वे कहते हैं कि जिस ज्ञान की उत्पत्ति होने पर सर्व कर्म संन्यास का उपदेश दिया जा सकता है वह ज्ञान "अर्थात् जन्म आदि छः विकार रहित, अकर्त्ता, एक (अद्वितीय) आत्मा मैं ही हूँ, ऐसा ज्ञान" किसी को भी नहीं होता है।

उत्तर—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मान लेने पर न जायते, (गीता २।२०) इत्यादि वचन के द्वारा शास्त्र में जो कुछ उपदेश दिए गए हैं, वे सब व्यर्थ हो जायेंगे; तथा ऐसे पांडित्य-अभिमानी व्यक्तियों के प्रति प्रश्न होगा कि जिस प्रकार शास्त्रोपदेश के सामर्थ्य से (प्रभाव से) कर्मानुष्ठानकारी पुरुष में धर्म के अस्तित्व का ज्ञान एवं देहान्तरप्राप्ति का ज्ञान होता है उसीप्रकार उस पुरुष में आत्मा की निर्विकारता, अकर्तृत्व एवं एकत्व प्रभृति का विशेष ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होगा ?

प्रश्न—आत्मा मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय प्रभृति का अगोचर (अविषय) होने के कारण उस पुरुष में वैसा ज्ञान सम्भव नहीं है।

उत्तर—नहीं, ऐसी युक्ति ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृह० उ० ४।४।१९) अर्थात् उस आत्मा को मन के द्वारा देखना पड़ेगा। अतः शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश के द्वारा एवं शम दम आदि साधनों के द्वारा संस्कृत अर्थात् शोधित मन आत्मदर्शन का करण (अर्थात् साधन या उपाय) हुआ करता है। अतः ज्ञानप्राप्ति के विषय में अनुमान तथा आगम (वेदादि शास्त्ररूप) प्रमाण विद्यमान रहते हुए भी यदि कोई कहे कि ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है तो वैसी उक्ति साहसमात्र अर्थात् युक्तिहीन है; और यह तो मानना ही पड़ेगा कि ज्ञान की उत्पत्ति

होने से ही ज्ञान के विपरीत 'अज्ञान' का नाश अवश्य ही हो जायगा। 'मैं हन्ता हूँ, मैं हत हूँ' ऐसा जो व्यक्ति सोचते हैं वे लोग भी (तत्त्व) नहीं जानते हैं, ऐसे वचनों के द्वारा भगवान् ने पहले ही अज्ञान का स्वरूप वर्णन किया है। तथापि यहाँ पर पुनः दिखा रहे हैं कि आत्मा में हनन क्रिया का कर्तृत्व, कर्मत्व, एवं हेतु कर्तृत्व अज्ञान से ही आरोपित होता है (तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान नष्ट होने से ऐसा भ्रम नहीं होता है)। इसप्रकार अज्ञान के निमित्त ही कर्म में निर्विकार आत्मा का कर्तृत्वादि बोध रहता है। विकारवान् पुरुष ही स्वयं कर्ता बनकर दूसरे को सहायक के रूप में ग्रहण कर, कर्म में नियुक्त कर कहते हैं कि 'तुम यह कर्म करो।' अतः ज्ञानी व्यक्ति का कर्म में अधिकार नहीं है इसे दिखाने के लिए भगवान् 'वेदाविनाशिनम्' 'कथं स पुरुषः' इत्यादि वाक्यों के द्वारा सभी कर्मों में समान रूप से विद्वान् व्यक्ति का (ज्ञानी व्यक्ति का) कर्तृत्व तथा हेतु कर्तृत्व (प्रयोजकत्व) प्रतिषेध (निषेध) कर रहे हैं अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति के लिए किसी कर्म का कर्त्ता या प्रयोजक होना सम्भव नहीं है, अर्थात् तत्त्वज्ञानी (ब्रह्मज्ञ पुरुष) न तो स्वयं कुछ करते हैं और न ही किसी से कुछ कराते हैं) इसे ही स्पष्ट कर रहे हैं।

पूर्वपक्ष—ज्ञानी व्यक्ति का किसमें अधिकार है ?

उत्तर—पहले ही 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' (गीता ३।३) इत्यादि भगवद्वचनों का उल्लेख कर इसका उत्तर दिया गया है। इसप्रकार बाद में भी 'सर्वकर्माणि मनसा' (गीता ५।१३) इत्यादि वाक्यों के द्वारा ज्ञानी व्यक्ति का सर्वकर्मसंन्यास होता है यही कहेंगे।

पूर्वपक्ष—उक्त श्लोक में (गीता ५।१३) मनसा (मन के द्वारा) यह शब्द व्यवहार किया गया है। अतः मानसिक कर्मों को त्याग करने के बारे में ही भगवान् ने कहा है—शरीर तथा वाणीसम्बन्धी कर्मों को त्याग करने के बारे में नहीं कहा है, ऐसा यदि कहूँ ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'सर्वकर्माणि संन्यस्य' कहने में अर्थात् कर्म के साथ 'सर्व' (सभी) विशेषण रहने के कारण सभी कर्मों के त्याग के बारे में ही कहा गया है।

पूर्वपक्ष—यदि कहूँ कि मनःसम्बन्धी सभी कर्मों के त्याग के बारे में कहा गया है, वाचिक या कायिक कर्म के बारे में नही ?

उत्तर—नही, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि वाणी तथा शरीर में व्यापार (क्रिया) मन में व्यापार (क्रिया) होने से ही सम्भव है। मन की क्रिया का अभाव होने से वाणी और शरीर में क्रिया सम्भव नहीं होती है।

पूर्वपक्ष—यदि कहूँ कि वहाँ शास्त्रविहित कायिक तथा वाचिक कर्म के कारणरूप मानसिक कर्मों के अतिरिक्त समस्त कर्मों को मन द्वारा संन्यास (त्याग) करना चाहिए, ऐसा कहा गया है ?

उत्तर—नहीं, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'नैव कुर्वन् न कारयन्' अर्थात् वह न तो करता है और न तो कराता है ऐसा विशेषण रहने से यह सिद्ध होता है कि कायिक, वाचिक तथा मानसिक इन तीनों प्रकार के कर्मों का संन्यास (त्याग) ज्ञानी को होता है, यह उस श्लोक में कहा गया है।

पूर्वपक्ष—यदि कहूँ कि भगवान् ने जो सर्वकर्मों के संन्यास के बारे में कहा है वह केवल मुमूर्षु व्यक्तियों के लिए ही है, जीवित व्यक्ति के लिए नहीं ?

उत्तर—नहीं, यह भी नहीं कह सकते हो क्योंकि ऐसा कहने से 'नवद्वारे पुरे देही आस्ते' अर्थात् नवद्वारयुक्त शरीररूप पुरी में आत्मा का निवास है, (गीता ५।१३) ऐसे विशेषण की कोई उपयोगिता नहीं रहती है (अर्थात् ऐसा विशेषण जीवित व्यक्तियों के लिए ही उपयोगी है, मुमूर्षु व्यक्ति के लिए ऐसा विशेषण व्यर्थ ही है)। क्योंकि जो सभी कर्मों को त्याग कर मृत हो गया है उसके लिए कुछ करना या दूसरों के द्वारा कुछ करवाकर इस शरीर में अवस्थान करना सम्भव नहीं है [अर्थात् उक्त वाक्य का 'आस्ते' शब्द का कोई तात्पर्य नहीं रहता है]।

पूर्वपक्ष—किन्तु उक्त वाक्य में [अर्थात् 'नवद्वारे पुरे देहो नैव कुर्वन् न कारयन्' (गीता ५।१३) इस वाक्य में] 'शरीर में सभी कर्म को संन्यस्य (रखकर) आस्ते (रहता है)' ऐसा सम्बन्ध है—'शरीरे आस्ते अर्थात् रहता है' ऐसा सम्बन्ध नहीं है; ऐसा यदि कोई माने ?

उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि सर्वत्र (गीता तथा श्रुति प्रभृति में) आत्मा को निर्विकार रूप से अवधारित (निश्चित) किया गया है। 'आस्ते अर्थात् है' इस क्रिया को एक आधार की (आश्रय की) अपेक्षा रहती है क्योंकि आधार के बिना आसन नहीं होता है किन्तु संन्यास के लिए किसी आधार का प्रयोजन नहीं है। संपूर्वक न्यास शब्द का अर्थ यहाँ है सम्यक् प्रकार से त्याग करना—निक्षेप करना या रखना नहीं। अतः गीता शास्त्र के आत्मज्ञान के प्रकरण में स्थान स्थान में यही प्रदर्शित किया जायगा कि आत्मज्ञानी का (जीवितावस्था में ही) संन्यास में ही अधिकार है, कर्म में नहीं।

[कहने का अभिप्राय यह है कि विद्वान् शब्द का अर्थ यह नहीं कि उन्होंने केवल देहादि के समष्टि के सम्बन्ध में ज्ञानलाभ किया है किन्तु जो देहादि समष्टि से विलक्षण (पृथक्रूप में स्थित) असंहत आत्मा को जान गये हैं, वे ही विद्वान् (तत्त्वज्ञानी) हैं। विद्वान् तथा अविक्रिय आत्मा एक ही वस्तु है। श्रुति में कहा गया है—'यो ह वै परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो उस परमब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। इसलिए विद्वान् के लिए कर्म सम्भव नहीं है। अतः 'कथं सः पुरुष.' इत्यादि वाक्य के द्वारा विद्वान् के लिये सभी कर्मों का आक्षेप या निषेध उचित ही है। विद्वान् व्यक्ति के लिए कर्म असम्भव है ऐसा कहने का अर्थ यह है कि शास्त्र में जिन कर्मों को विहित किया गया है, वे सब ही अज्ञानी के लिए है। शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म के लिए अनेक साधन सामग्री की आवश्यकता है। 'मैं कर्त्ता हूँ, यह मेरा कर्त्तव्य है' ऐसा ज्ञान जिसमें है उस अविद्वान् के लिए उन साधन सामग्रियों को संग्रह कर अग्निहोत्रादि यज्ञरूप कर्म सम्पादन करना सम्भव है। किन्तु 'न जायते' इत्यादि (विशेषण विशिष्ट) आत्मा के स्वरूपज्ञापक (प्रकाशकारी) शास्त्र के अर्थज्ञान प्राप्त करने के बाद उन (अग्निहोत्रादि) कर्मों को अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है क्योंकि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, भोक्ता नहीं हूँ' इत्यादि आत्मा के एकत्व तथा अकर्तृत्वादि विषयक ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञान उसके मन में उदय नहीं हो सकता है। अतः कर्तृत्वाभिमानी अज्ञ व्यक्ति से विद्वान् का स्वभाव विलक्षण होने के कारण उसके लिए कर्म विहित नहीं हो सकता है।

'आत्मा विकारहीन है' ऐसा ज्ञान जिसमें है उस विद्वान् एवं मुमुक्षु व्यक्ति का सर्वकर्म संन्यास में ही अधिकार है। इसलिए भगवान् 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इस वचन के द्वारा विद्वान् के लिए ज्ञान-निष्ठा तथा अविद्वान् कर्मियों के लिए कर्मनिष्ठा का विधान तृतीय अध्याय में करेंगे]।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन (तात्पर्य)—कर्तृत्व भोक्तृत्व आत्मा में नहीं है। वास्तविक रूप से कोई कुछ करता भी नहीं है और न करवाता ही है क्योंकि स्वरूपतः प्रत्येक व्यक्ति हो समान विकारों से रहित है। स्वप्नावस्था में जिस प्रकार जीव स्वप्नदेह में अभिमान कर कर्ता, भोक्ता बनकर लीला करता रहता है उसी प्रकार अविद्यारूप मोह में आच्छन्न होकर देहादि-संघात के कर्तृत्वादि भावों को अपने में आरोपित कर कर्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप अभिमान कर जीव लौकिक व्यवहारों को सम्पादन करता रहता है

(अर्थात् स्वरूपतः शुद्ध निष्क्रिय चैतन्यात्मा होकर भी कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी सजकर इस संसार नाटक में अभिनय करता रहता है)। श्रुति में इसीलिए कहा गया है "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४।३।७) अर्थात् 'मानो ध्यान कर रहा है, मानो चल रहा है।' आत्मा में यथार्थ रूप से ध्यान-क्रिया चलनक्रिया नहीं है किन्तु भ्रान्ति के कारण ऐसा लगता है कि मानो आत्मा ऐसा कर रही है। इसलिए अविद्वान् पुरुष ही समस्त शास्त्रों का अधिकारी है अर्थात् अविद्यावश जिन लोगों का आत्मा में कर्तृत्वादि अभिमान है वे ही शास्त्रोक्त कर्म के अधिकारी हैं; किन्तु ज्ञानी व्यक्ति में अध्यास या मिथ्याज्ञान समूल नष्ट हो जाने के कारण वे आत्मा में कर्तृत्वादि का अभिमान उसी प्रकार नहीं करते हैं जिस प्रकार भ्रान्त व्यक्ति दूर से स्थाणु को देखकर चोर समझ कर भ्रम करने पर भी, जो व्यक्ति स्थाणु का स्वरूप जान गया है वह कभी भी भ्रम नहीं करता है। इसलिए कहने का अभिप्राय है यह कि विक्रियारहित एवं अद्वितीय आत्मा में स्थिति प्राप्त करने पर विद्वान् व्यक्ति कुछ करते भी नहीं हैं और न किसी के द्वारा करवाते ही हैं। श्रुति में भी इसीलिए कहा गया है 'विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २।९); अर्थात् तत्त्वज्ञानी किसी से भी डरते नहीं हैं। अर्जुन ने अपने ऊपर कर्तृत्व तथा भगवान् के ऊपर कारयितृत्व आरोप कर हिंसा के निमित्त दोनों में दोष की आशंका की थी। भगवान् ने भी उसका अभिप्राय जानकर 'कौन हनन करता है और कौन हनन कराता है', यह कहकर दोनों आशंकाओं का निषेध किया है। भगवान् का कहने का अभिप्राय यही है कि अपने ऊपर कर्तृत्व तथा मेरे ऊपर कारयितृत्व आरोपकर प्रत्यवाय की (पाप की) आशंका मत करो अर्थात् 'तुम वध कर रहे हो और मैं वध करा रहा हूँ इसलिए हम दोनों ही वध करने के कारण पाप के भागी हैं' ऐसी यदि तुम्हारी धारणा हो तब तो तुम तात्त्विक दृष्टि से भूल कर रहे हो।

इस श्लोक में आत्मा के अविकारित्व का दर्शन कराकर तथा आत्मा के कर्तृत्व का निषेध कर विद्वान के लिए सभी प्रकार के कर्मों का ही आक्षेप (निषेध) किया गया है। यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। हन्ति (हनन करना) सभी कर्मों के उपलक्षण के अर्थ में व्यवहार किया गया है क्योंकि युद्ध क्षेत्र में शत्रु का वध करना ही प्रधान है इसलिए अर्जुन की बुद्धि में हननक्रिया ही उस समय प्रकाशमान थी। आत्मा में कर्तृत्व का अभाव रहने के कारण जिस प्रकार आत्मा हनन नहीं कर सकती है उसी प्रकार दूसरे कोई कर्म भी आत्मा के लिए सम्भव नहीं हैं। इसीलिए

गीता में भी (३।१७) कहा जायगा—'तस्य कार्यं न विद्यते' अर्थात् उसका (आत्मज्ञानी का) कोई कार्य नहीं है। जो मूढ़ व्यक्ति ऐसा कहता है कि यहाँ केवल हनन क्रिया को ही निषेध किया गया है किन्तु दूसरे कर्मों का भगवान् ने अनुमोदन किया है, उसकी इस प्रकार की प्रलापोक्ति को भी (उक्त युक्तियों से) निराकृत किया गया है। पुनः जब भगवान् ने अर्जुन को कहा 'युध्यस्व' (युद्ध करो) तब तो भगवान् युद्ध में हत्या करने का (हनन करने का) अनुमोदन कर रहे हैं। अतः यह कैसे कहा जाय कि भगवान् केवल हनन क्रिया का ही निषेध कर रहे हैं ? अतः आत्मा में वास्तव में कर्त्तृत्व का अभाव सभी कर्मों में ही समान (बराबर) है अर्थात् परमार्थतः किसी कर्म में भी (हनन कार्य अथवा दूसरे किसी कार्य में) आत्मा का कर्त्तृत्व नहीं है। किन्तु जब तक तत्त्वज्ञान का उदय न हो तब तक चित्तशुद्धि के लिए अपने-अपने आश्रमाधिकार के अनुसार सभी को कर्त्तव्य कर्मों को करना चाहिए एवं क्षत्रिय के लिए स्वधर्मरूप युद्ध करना भी कर्त्तव्य है। इसलिए अर्जुन को भगवान् ने उपदेश दिया 'युध्यस्व (युद्ध करो)', किन्तु तत्त्वज्ञानी के लिए किसी कर्म का विधान करना उन का अभिप्राय नहीं है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

(२) श्रीधर—[१९वें तथा २०वें श्लोक में कहा गया है कि आत्मा हत नहीं होती है। १९वें श्लोक में पुनः कहा गया है कि आत्मा 'न हन्ति' अर्थात् आत्मा हन्ता (हनन क्रिया का कर्त्ता) भी नहीं होती है। अतः आत्मा में हन्तृत्व का अभाव सिद्ध करने के लिये अब कह रहे हैं—] एनं—इस आत्मा को नित्यम्—वृद्धि शून्य अव्ययम्—अपक्षय शून्य अजम्—जन्म रहित अविनाशिनं—विनाश शून्य यः वेद—जो जानते हैं सः पुरुषः—वह पुरुष कं हन्ति—किसे वध करेंगे एवं कथं हन्ति—किस प्रकार से वध करेंगे चूँकि एवम्भूत (अर्थात् नित्य, अव्यय, अज, अविनाशी आत्मा को) वध करने का कोई साधन (उपाय) नहीं है, कं घातयति—वह प्रयोजक होकर अर्थात् दूसरे किसी के द्वारा किसे ही वध करायेंगे ? एवं कथं वा घातयति—किस प्रकार से ही वध करायेंगे ? कं शब्द के द्वारा 'न किञ्चिदपि' अर्थात् कुछ भी नहीं एवं कथं शब्द के द्वारा 'न कथञ्चिदपि' अर्थात् किसी प्रकार से भी नहीं, ऐसा अर्थ समझाया जा रहा है। कं घातयति पद के द्वारा मुझे (भगवान् को भी) प्रयोजक मानकर दोष दृष्टि (अर्थात् सर्वात्मस्वरूप मैं तुम्हें युद्ध में प्रवर्त्तित कर रहा हूँ ऐसा समझकर मुझमें दोषदृष्टि) न रखो, यह कहा गया है।

(३) शंकरानन्द—इसप्रकार अहमर्थ आत्मा ('अहम्' इस शब्द का लक्ष्यवस्तु आत्मा) निर्विकार, नित्य, कूटस्थ, असंग तथा चिद्रूप है; इस पारमार्थिक तत्त्व का प्रतिपादन कर उस आत्मतत्त्व जो जान गया है (अर्थात् आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव जिसने किया है) ऐसे विद्वान् पुरुष का सर्वकर्मों को त्याग करने में ही अधिकार है—दूसरे किसी में अधिकार नहीं है; इसे सूचित करने के लिए कह रहे हैं—यः—जो (अर्थात् ब्रह्मचर्य, अहिंसादि, विवेकवैराग्य, शमदमादि से सम्पन्न होकर श्रुति, आचार्य तथा ईश्वर के प्रसादादि (कृपादि) प्राप्त कर नियत श्रवणादि साधन सम्पत्ति से युक्त होकर एकमात्र मोक्ष को ही जीवन का चरम प्रयोजन मानकर मोक्ष का अधिकारी होकर ब्रह्मविद् गुरु के पास श्रद्धा तथा भक्ति के साथ अनेक बार श्रवण जनित ज्ञान के द्वारा अनुभूत) एनं—(अहं पद का लक्ष्यार्थ प्रत्यग्रूप) आत्मा को अजं—जन्मादि सर्वविकार से शून्य अतः अव्ययं—अव्यय (किसी भी प्रकार से जिसका व्यय (क्षय) नहीं होता है) एवं अविनाशिनम्—अविनाशी—[जो द्रव्य गुणादि के द्वारा परिच्छिन्न है (सीमित है) अथवा रज्जु में सर्पादि के समान जिसके अस्तित्व का बोध होता है (अर्थात् जिस वस्तु की प्रतीति होनेपर भी जिसकी वास्तविक सत्ता का अभाव रहता है) उसे विनाशी कहा जाता है। ऐसी परिच्छिन्नता जिसमें नहीं है वह अविनाशी है] इसप्रकार परिपूर्ण, नित्य, एकरस, अद्वितीय आत्मतत्त्व को वेद—'यह मैं ही हूँ' इसप्रकार साक्षात् रूप से जानता है अर्थात् ऐसी अपरोक्ष अनुभूति जिसकी हुई है सः पुरुषः—वह पुरुष अर्थात् सर्वात्मभावप्राप्त (सर्वत्र तथा सबकी आत्मा के रूप में मैं ही विद्यमान हूँ, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभवसम्पन्न) विद्वान् कथं—किस प्रकार से कं—किसे (अर्थात् किसे विषय बनाकर) हन्ति—हनन करेंगे एवं कं घातयति—किसे हनन क्रिया में प्रवर्तित करेंगे ? [किं शब्द को आक्षेप के अर्थ में अर्थात् वह होना सम्भव नहीं इस अर्थ में व्यवहार किया गया है—प्रश्न के लिए नहीं; क्योंकि प्रश्न होने से उसका प्रत्युत्तर भी होता ।। 'कथं' शब्द के द्वारा साधन का आक्षेप (प्रतिषेध) किया गया है अर्थात् यह समझाया जा रहा है कि किसी साधन के द्वारा भी (किसी प्रकार से भी) वह नहीं हो सकता है। 'किम्' शब्द के द्वारा विषय का आक्षेप (प्रतिषेध) किया गया है अर्थात् सर्वात्मभावसम्पन्न ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का भी अस्तित्व नहीं है। अतः किसे विषय कर हनन क्रिया होगी ? 'कं' शब्द के द्वारा प्रयोज्य का आक्षेप (प्रतिषेध) किया जा रहा है अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त ऐसा कोई

भी व्यक्ति नहीं है जिसके द्वारा हननरूप क्रिया करवाई जा सके, यह कहा जा रहा है। इसप्रकार क्रिया तथा क्रिया के साधनादि असम्भव होने के कारण निर्विकार ब्रह्म को जिसने अपनी आत्मा के रूपमें अनुभव किया है ऐसा ज्ञानी व्यक्ति का केवल सर्वकर्मसंन्यास में (सभी कर्मों के त्याग में ही) अधिकार रहता है—कर्म में नहीं, यह सिद्ध हुआ]।

प्रश्न—अच्छा, ऐसे निर्विकार ब्रह्मात्मदर्शी की केवल हनन क्रिया से ही निवृत्ति होती है, केवल इसी बात को ही इस श्लोक में सूचित किया गया है; ऐसा सूचित नहीं किया गया है कि उनके सभी कर्मों का त्याग होता है, ऐसा यदि कहूँ ?

उत्तर—नहीं, वैसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सभी क्रियाओं का हेतु एक ही (अज्ञान) है। अविक्रियात्मा का ज्ञान होने से (अज्ञान नष्ट होने के कारण) किसी कर्म के प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं रह सकती है अर्थात् आत्मज्ञान की प्रवृत्ति मात्र से ही कर्मों से निवृत्ति होती है। अतः केवल हननक्रिया की निवृत्ति ही उस आत्मज्ञान से होगी ऐसा नियम नहीं हो सकता है। जिसने अनुभव किया है कि मैं निर्विकार, अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप हूँ उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहो रह सकता है और उसके लिए दूसरे के द्वारा कुछ करवाने की आवश्यकता तथा प्रवृत्ति भी नहीं रहती है।

प्रश्न—गीता में 'न जायते म्रियते' इत्यादि के द्वारा 'ब्रह्म, जन्म आदि समस्त विकारों से रहित है' ऐसा कहा गया है। अतः निर्विकार ब्रह्म ज्ञेय है विकारी विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) ज्ञाता है॥ अतः ब्रह्म के निर्विकारित्व तथा विद्वान् पुरुष के सविकारित्व—इन दो धर्मों के परस्पर भिन्न (विरोधी) होने के कारण विकारी विद्वान् को अविकारी ब्रह्म का ज्ञान होना असम्भव है एवं इस कारण उनका सर्वकर्मसंन्यास उपपन्न (संगत) नहीं है। और यदि कहो कि अविक्रिय ब्रह्म का ज्ञान ही संन्यास का (सर्वकर्मत्याग का) कारण होता है तब कहूँगा कि चूँकि अविक्रिय ब्रह्म ज्ञान का विषय (ज्ञेय) है इसलिए ज्ञाता (विद्वान्) तथा ज्ञेय ब्रह्म कभी भी एक नहीं हो सकते हैं। विद्वान् ज्ञाता विकारी है एवं ज्ञेय ब्रह्म अविकारी है, अतः 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अतः विद्वान् के लिए कर्मसंन्यास उचित नहीं। जिसप्रकार 'पर्वत अचल है' ऐसा ज्ञान सभी क्रियायों के निवृत्ति का कारण नहीं है, उसीप्रकार विकारी विद्वान् को 'मैं अविकारी ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होने पर भी उनकी कर्म से निवृत्ति नहीं होती है, अतः उनके लिए सर्वकर्म-संन्यास भी सम्भव नहीं है।

उत्तर—अच्छा, मैं तुम्हें पूछना चाहता हूँ कि विद्वान् व्यक्ति जब ऐसा सोचते हैं कि इसे 'मैं' जानता हूँ तब अहम् (मैं) शब्द का अर्थ [ज्ञाता] क्या देह है अथवा प्राण अथवा इन्द्रियाँ अथवा मन अथवा अहंकार अथवा विश्व (स्थूल या जाग्रत अवस्था की जीवात्मा) अथवा तैजस (सूक्ष्म या स्वप्नावस्था की जीवात्मा) अथवा प्राज्ञ (सुषुप्ति अवस्था की जीवात्मा) अथवा आत्मा (शुद्धि चैतन्य) है ? यदि कहो अहंप्रत्यय का अर्थ देह है तब वह देह क्या स्वप्न देह है या जाग्रत देह, अथवा दोनों ? ज्ञाता स्वप्न देह नहीं हो सकता है क्योंकि तब जाग्रत अवस्था में अहंप्रत्यय का उदय नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्नदेह के नाश के साथ-साथ अहम् शब्द का अर्थ जो ज्ञाता है, उसका भी नाश हो जाता है किन्तु स्वप्न से जाग्रदवस्था में आने पर किसी को भी 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव नहीं होता है। अतः यह प्रत्यक्षविरुद्ध है। पुनः जाग्रत देह भी ज्ञाता नहीं है क्योंकि उससे किसी को भी स्वप्न में 'मैं हूँ' इस प्रकार के ज्ञान का उदय नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्यों ? 'मैं चल रहा हूँ' ऐसा जब कहा जाता है तब देह ही चलता है। इसलिए देह ही अहं शब्द का अर्थ है, ऐसा यदि कहूँ ?

उत्तर—(१) नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि 'देवताओं की पूजा कर मैं स्वर्ग में जा रहा हूँ'—ऐसा लोग कहते हैं किन्तु ऐसे स्थान पर जिस शरीर के द्वारा देवता की पूजा की थी वहतो मृत होकर (अहं प्रत्यय शून्य होकर) यहीं पड़ी रहती है। अतः वह कभी भी स्वर्ग में नहीं जा सकती है। इसलिये देह ही अहं प्रत्यय का अर्थ है ऐसा मानने पर स्वर्ग आदि में गमन व्यापार में व्यभिचार होगा अर्थात् देह (मृत देह) रहने पर भी अहं प्रत्यय नहीं रहता है पुनः स्वर्ग में अहं प्रत्यय रहने पर भी (मैं स्वर्ग में जा रहा हूँ ऐसा प्रत्यय रहने पर भी) जिस देह के द्वारा देवताओं का पूजन किया गया था उसका अभाव या अदर्शन होता है। पुनः 'स्वप्न तथा जाग्रतदेह' दोनों ही एकसाथ अहं प्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि उनका सामान्याधिकरण्य (एकसाथ रहना) सम्भव नहीं है। (२) अहं प्रत्यय का अर्थ प्राण भी नहीं है अर्थात् प्राण भी ज्ञाता नहीं है क्योंकि प्राण स्वभावतः ही जड़ है। प्राण जाग्रत या स्वप्न में अपने को या दूसरे को कभी भी नहीं जानता है। जो कुछ भी नहीं जानता है उसमें अहमर्थत्व या ज्ञातृत्व किस प्रकार सम्भव होगा ? (३) यदि कहो कि इन्द्रिय ही ज्ञाता है तब मैं पूछता हूँ कि कोई विशेष इन्द्रिय ज्ञाता है या सभी इन्द्रियाँ ? (क) कोई एक इन्द्रिय सभी विषयों की ज्ञाता नहीं हो सकती है अर्थात् अहं प्रत्यय का

अर्थ नहीं हो सकती है क्योंकि कान शब्द के अतिरिक्त दूसरे विषय को अथवा आँख रूप के अतिरिक्त दूसरे विषय को अनुभव नहीं कर सकती है किन्तु अहं प्रत्यय का अर्थ जो ज्ञाता है वह समस्त विषयों की ही उपलब्धि करता है। अतः किसी विशेष इन्द्रिय को ज्ञाता मानने पर प्रत्यक्ष के साथ विरोध होगा। (ख) पुनः, यदि सभी इन्द्रियाँ ही ज्ञाता हों तब 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा कहने पर श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण इत्यादि प्रत्येक इन्द्रिय ब्राह्मण शब्द का वाच्य होने पर ब्राह्मण में अनेकत्व सिद्ध हो जायगा किन्तु प्रत्यक्ष में हमें केवल 'एक का' अनुभव होता है। अतः सभी इन्द्रियों का ज्ञाता मानने पर उस प्रकार के प्रत्यक्ष के साथ विरोध उपस्थित होगा। जिस 'मैंने' आँख के द्वारा घट को देखा है उसी 'मैंने' हाथ के द्वारा उसे स्पर्श भी किया है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा (अनुभव) सर्वदा ही सभी को होती है। अतः नेत्र आदि से 'अहं' शब्द का अर्थ भिन्न हैं, यह सिद्ध होता है। इसलिए 'अहम् (मैं) शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ है' ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। (४) मन भी अहम् शब्द का अर्थ नहीं है क्योंकि श्रुति कहती है 'मनसा ह्येव पश्यन्ति' अर्थात् मन के द्वारा देखता है; इस प्रकार आँख की तरह मन भी करण ही है (कर्त्ता नहीं है)। (५) अहंकार भी अहमर्थ नहीं है क्योंकि अहंकार विकारी है, अतः (नित्य) ज्ञाता नहीं हो सकता है। और यदि कहो कि 'मैं जानता हूँ' इस प्रत्यय के द्वारा अहंकार में ज्ञातृत्व प्रतीत होता है तब कहूँगा कि अहंकार स्वयं जड़ है, अतः उसमें ज्ञातृत्व नहीं रह सकता है क्योंकि ज्ञातृत्व चेतन का धर्म है जिस प्रकार आग का धर्म है दाह करना (जलाना), तब जो अहंकार में ज्ञातृत्व प्रतीत होता है उसका कारण है अध्यास। जैसे 'मैं मनुष्य हूँ' यह वाक्य दूसरे के धर्म (मनुष्यत्व) के आत्मा में अध्यस्त (आरोपित) कर कहा जाता है उसी प्रकार 'मैं ज्ञाता हूँ' इस वाक्य में चेतन का धर्म (ज्ञातृत्व) अहंकार में आरोपित होता है। पुनः बाल्यावस्था में मैंने अंगूर खाया था इस प्रकार बाल्यादि अवस्था के भेद (अर्थात् विकार) के साथ साथ (उस उस अवस्था का) अहंकार भी नष्ट होते रहने पर बाल्यादि विविध अवस्थाओं की क्रियाओं के अनुभव की दीर्घ काल तक स्थायी स्मृति वृद्धावस्था में रहना सम्भव नहीं हो सकता। अभिप्राय यही है कि अहंकार ही यदि अहमर्थ होता तब अवस्था के भेद के साथ साथ विकारी अहंकार का नाश होने के कारण वह ज्ञातृत्व या अनुभव भी नष्ट हो जाता किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव में ऐसा नहीं होता है, अर्थात् यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त 'मेरा यह अहंकार दुष्ट है' ऐसी प्रतीति दिखती है;

अतः अहंकार ज्ञेय अर्थात् ज्ञाता से भिन्न होने के कारण अहंकार में ज्ञातृत्व (अहमर्थत्व) सिद्ध नहीं हो सकता है। (६) विश्व, तैजस या प्राज्ञ भी अहमर्थ नहीं है क्योंकि उनके केवल एक ही अवस्था में (जाग्रत्, या स्वप्न या सुषुप्ति में) अभिमान रहता है। तीनों अवस्थाओं का विज्ञाता उनमे से कोई भी नहीं है परन्तु जो अहम् या ज्ञाता है वह तीनों अवस्थाओं का ही ज्ञाता है। अतः विश्व, तैजस या प्राज्ञ प्रकृत ज्ञाता से भिन्न हैं। जिसने स्वप्न देखा था अथवा जो सुषुप्ति में सुख से सोया हुआ था वही मैं अब जगा हुआ हूँ। इस प्रकार विश्व आदि तीनों से ही ज्ञाता भिन्न है, नित्य है तथा अविकारी है, यही सिद्ध होता है। अतः अन्त में 'आत्मा ही ज्ञाता है' यह सिद्ध हुआ। इसलिए श्रुति में भी कहा गया है 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (इसके अतिरिक्त और कोई विज्ञाता नहीं है)।

प्रश्न—निरवयव आत्मा का जब बुद्धि, बुद्धिवृत्ति, इन्द्रिय एवं इन्द्रिय के विषय के साथ कोई सम्बन्ध रहना सम्भव नहीं है, तब आत्मा का ज्ञातृत्व किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है ?

उत्तर—चूँकि बुद्धि प्रभृति के साथ आत्मा का आध्यासिक सम्बन्ध है इसलिए अविक्रिय आत्मा का भी ज्ञातृत्व सिद्ध हो सकता है। चूँकि ऐसा सिद्ध होता है इस कारण विज्ञाता आत्मा ही अहं (मैं) शब्द का अर्थ है। 'अहं विजानामि विविक्तरूपः' अर्थात् मैं भिन्न भिन्न रूप को ग्रहण कर जानता हूँ, इस प्रकार के वचन के द्वारा अहं शब्द का अर्थ जो विज्ञाता आत्मा है, इसे ही श्रुति ने प्रतिपन्न किया है। अतः आत्मा ही विद्वान् है क्योंकि निरुक्त (ऊपर में वर्णित) विज्ञान विद्वान् में ही सम्भव है अर्थात् श्लोक में 'वेद' शब्द के द्वारा जिस विज्ञान (विशेष ज्ञान) का निर्देश किया है, वह केवल उन्हीं विद्वानों में सम्भव है जिन्होंने ब्रह्मस्वरूप के साथ आत्मा के ऐक्य का साक्षात् अनुभव किया है। इस प्रकार विद्वान तथा आत्मा के अभिन्न भाव (अभिन्नता) की सिद्धि होती है। 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्म के साथ आत्मा की अभिन्नता को प्रतिपादन करनेवाले श्रुति के वचनों को सुनकर विद्वान् पुरुष में 'मैं अविक्रिय (ब्रह्म) हूँ' ऐसा ज्ञान होने से, उसका अपना अविक्रियत्व एवं अद्वितीयत्व ज्ञान निरंकुश अर्थात् बाधाशून्यरूप से सिद्ध होता है। अतः यह सिद्ध किया जा रहा है कि 'अविक्रिय आत्मा ब्रह्म है' एवं 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ'। उस प्रकार के ज्ञानबल के द्वारा विद्वान का सर्वकर्म संन्यास (सर्व कर्म का त्याग) उपपन्न (संगत) होता है।

(४) नारायणी टीका—तुम सोच रहे हो कि तुम वध करने वाले कर्त्ता हो एवं 'युध्यस्व' (२।१८) कहने के कारण मैं 'घातयिता' हूँ अर्थात् तुम्हें वध करने की प्रेरणा दे रहा हूँ। लौकिक दृष्टि से यह सत्य होने पर भी अज्ञानावस्था में ही ऐसी प्रतीति होती है क्योंकि 'यत्र ही द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' अर्थात् जब तक द्वैत (दो-का बोध) रहता है तबतक ही भेद ज्ञान तथा क्रिया रहती है। जब तत्त्वज्ञान प्राप्त कर अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है तब और द्वैतप्रपंच नहीं रहता है कर्त्ता अथवा कारयिता नहीं रहता है,—सब एक हो जाता है अर्थात् सभी कारकों का (कर्त्ता, कर्म, करण इत्यादि कि भेद बुद्धि का) लोप हो जाता है। स्व स्व वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्मों को भगवदर्पणबुद्धि के द्वारा निष्कामरूप से करने पर ही ऐसा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तुममें अभी भी अज्ञान तथा उससे उत्पन्न भेदज्ञान है। इसीलिए तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी बनने के लिए मैं तुम्हें कह रहा हूँ, तस्मात् युध्यस्व (गीता २।१८) जब तत्त्वज्ञान या पारमार्थिक दृष्टि प्राप्त करोगे तब ही तुम देख पाओगे कि आत्मा ही कर्ता, कर्म प्रभृति सभी कारकों के रूप में विराजमान है एवं नाम, रूप तथा क्रिया सभी ही ऐन्द्रजालिक दृश्य के समान मिथ्या है (अर्थात् माया की लीला है)। जब उस दृष्टि को प्राप्त करोगे तब युद्ध करके भी न तो अपने को पापी सोचोगे और न तो तुम मुझे युद्ध के प्रेरयिता मानकर मेरे प्रति दोष दृष्टि रक्खोगे।

अब प्रकृत विषय के (अर्थात् जिस आत्मा का प्रसंग चल रहा है उसके) बारे में कहा जायगा। पहले आत्मा के अविनाशित्व को प्रतिज्ञात किया गया है, अब दृष्टान्त के द्वारा यह कहा जा रहा है कि वह अविनाशित्व किस प्रकार है। [अभिप्राय यह है कि पूर्ववर्ती श्लोक में, शरीरादि संघात के द्वारा कार्य होने पर भी आत्मा सदा ही अविक्रिय रहती है एवं आत्मा में कर्तृत्व नहीं है, यह सिद्ध किया गया है। शरीर का परिवर्तन होने पर भी (अर्थात् देह की मृत्यु होने पर भी) आत्मा किस प्रकार अविक्रिय (विकार रहित) रहती है इसे अब उपमा के द्वारा कहा जा रहा है]।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अन्वय—यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृह्णाति तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि संयाति।

अनुवाद—मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्रों को परित्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है (परिधान करता है) जीवात्मा भी उसी प्रकार जीर्ण देह को परित्याग कर नये देह को प्राप्त करता है, अर्थात् अंगीकार करता है।

दीपिका। यथा नरः—जिस प्रकार मनुष्य जीर्णानि वासांसि—वस्त्र जीर्ण होने से अर्थात् व्यवहार के अयोग्य हो जाने पर उन्हें विहाय—परित्याग कर अपराणि नवानि—दूसरे अभिनव (नये) वस्त्रों को गृह्णाति—ग्रहण करता है तथा देही—उसी प्रकार देही (सर्वदेह में अवस्थित) आत्मा अर्थात् सभी देहों में जो आत्मा अहंरूप से प्रतीत होती है वह (शंकरानन्द) जिर्णानि शरीराणि—वस्त्रादि के त्याग करते समय पुरुष जिस प्रकार अविक्रिय रहता है (एक ही रूप में स्थित रहता है) उसी प्रकार अविक्रिय (विकार-रहित) रहकर ही जीर्ण अर्थात् बूढ़ापे के कारण दोषयुक्त शरीर को विहाय—परित्याग कर अन्यानि नवानि—दूसरे नये शरीर को [अर्थात् पूर्ववर्ती शरीर से भिन्न दूसरे नाम, रूप, जाति और गुणविशिष्ट नये शरीर को (शंकरानन्द)] संयाति—परिग्रह अर्थात् ग्रहण करती है। [मनुष्य स्वयं अपरिवर्तित रहकर ही जिस प्रकार जीर्ण वस्त्रो को परित्याग कर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है—इतना कहने से ही ठीक होता। तब भी 'अपराणि' पदको 'नवानि वासांसि' पद के विशेषण के रूप में व्यवहार किया गया है। ऐसा कहकर नये वस्त्रों की अतिशय उत्कर्षता को प्रकाशित किया जा रहा है अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य निकृष्ट वस्त्रों को त्याग कर उससे भिन्न उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता है उसी प्रकार धार्मिक भीष्मादि भी वृद्ध तथा कृश शरीर को परित्याग कर चिर-कालार्जित पुण्य फल के भोग करने के उपयोगी उत्कृष्ट नवीन देवादि शरीर को ग्रहण करेंगे, इसे स्पष्ट करने के लिए ही श्लोक में अपराणि 'अन्यानि' तथा 'संयाति' इन तीनों पदो का प्रयोग किया गया है। संयाति शब्द का अर्थ है कि सम्यक् प्रकार से प्राप्त करते हैं अर्थात् गर्भवास आदि क्लेश के विना ही (पुण्यफल से देवादि देह) प्राप्त करते हैं। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—अर्जुन के मन में शंका हो सकती है कि आत्मा के स्वरूप को जानने पर उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं रहता है; इसे मैं यदि मान भी लूँ तथापि आत्मा से देह का वियोग होने पर उस वियोग से शोक तो उत्पन्न होगा ही। इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि नहीं, देह का परित्याग करने पर भी सभी प्राणियों की आत्मा विकाररहित ही रहती है। पुराने वस्त्रों को त्यागकर सभी नये वस्त्रों को ग्रहण करते हैं किन्तु

इससे क्या किसी के मन में विकार या परिवर्तन होता है ? उसी प्रकार भीष्मादि की देह भी वार्धक्य (बूढ़ापे) तथा तपः आदि के कारण कृश (जीर्ण) हो गई है। मृत्यु होने पर स्वर्ग के प्रतिबन्धक स्वरूप इस देह को त्यागकर सम्मुख युद्ध में मरने के कारण स्वर्ग के उपयोगी नई देह को धारण करेंगे, इसमें शोक करने का क्या कारण रह सकता है ? शास्त्र में कहा गया है—"अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा।" (बृह० उ० ४।४।४) अर्थात् इस जीवात्मा को पितृलोक में या गन्धर्वलोक में या देवलोक में या प्रजापति लोक में या ब्रह्मलोक में दूसरे नवतर कल्याणतर कलेवर (देह) की प्राप्ति होती है। सम्मुख युद्ध में मृत्यु को वरण कर वे लोग उत्कृष्ट देह को प्राप्त करेंगे, यह तो तुम्हारे लिए आनन्द की ही बात है। तथा तुम उनकी युद्ध में हत्याकर उस प्रकार के उत्कृष्ट देह की प्राप्ति में सहायक होओगे। इसलिए तुम उन लोगों का अत्यन्त उपकार ही करोगे। दुर्योधनादि भी युद्ध में देह त्यागकर स्वर्ग के भोग के उपयोगी देह को प्राप्त करेंगे अतः उनका भी तुमसे महान् उपकार ही होगा। अतः जो युद्ध सबके लिये उपकारक है उसमें अपकारकत्वभ्रम रखना तुम्हारे लिये अनुचित है।

(२) श्रीधर—[आत्मा अविनाशी होने पर भी उनके शरीर के नाश की पर्यालोचना कर मैं शोक कर रहा हूँ, ऐसा यदि कहूँ ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं] (मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र को त्याग कर दूसरे कपड़े को पहनता है उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण देह को त्याग कर दूसरे नये शरीर को प्राप्त करती है)। कर्मबन्धन के कारण नये शरीर को धारण करना अवश्यम्भावी है (अर्थात् प्रारब्ध कर्म के भोग समाप्त हो जाने पर वर्तमान देह अवश्य ही जीर्ण हो जायगा तथा संचित तथा क्रियमाण कर्मों में जो कर्म फलप्रदान करने के लिए उन्मुख हैं, उन्हें भोग करने के लिए नूतन शरीर को अवश्य ही धारण करना पड़ेगा)। अतः जीर्ण देह के नाश होने पर शोक करने का अवसर कहा है ? (सभी प्राणियों के लिए ही वर्तमान देह का नाश तथा नूतन देह का आगमन अवश्यम्भावी है, किन्तु आत्मा का किसी समय में भी परिवर्तन नहीं होता है। अतः भीष्मादि को मृत्यु के लिए तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए। यही कहने का अभिप्राय है)।

(३) शंकरानन्द—जिस प्रकार पूर्व तथा पश्चिम पर्वत के (उदयाचल तथा अस्ताचल के) साथ योग होने के कारण सूर्य विकारशील प्रतीत होता

है, उसी प्रकार पूर्वशरीर का ग्रहण एवं पश्चात् शरीर का (वृद्ध शरीर का) त्याग होने के कारण, आत्मा स्वतः विकारी न होने पर भी उसका औपाधिक विकारित्व सम्भव है, अतः आत्मा (पूर्णरूप से) अविकारी है, यह सिद्ध नहीं हो रहा है। इस प्रकार की शंका यदि हो तब इसके उत्तर में भगवान् यही कह रहे हैं कि जिस प्रकार पुरुष वस्त्र का त्याग तथा ग्रहण करने पर भी स्वयं अविकारी हो रहता है, उसी प्रकार देह का ग्रहण तथा त्याग करके भी आत्मा अविकारी ही रहती है क्योंकि आत्मा देहादि से भिन्न है एवं देहादि के धर्म, कर्म तथा अवस्था आत्मा में नहीं रहते हैं।

नरः—पुरुषः जीर्णानि वासांसि विहाय—जीर्ण वस्त्रों को परित्याग कर अपराणि—नाम, रूप तथा लक्षण के द्वारा पूर्ववस्त्र के विपरीत नवानि वासांसि—नवीन वस्त्रों को गृह्णाति—स्वयं अविक्रिय रहकर ही जिस प्रकार ग्रहण करता है तथा देही—उसी प्रकार देही अर्थात् देह में अहंरूप में प्रतीयमान आत्मा स्वयं अविकार स्वरूप में स्थित रहकर ही जिर्णानि—काल तथा कर्म के वशीभूत होकर जो त्याग करने के योग्य हुये हैं ऐसे शरीराणि विहाय—शरीर को त्यागकर अन्यानि—नाम, रूप, जाति तथा गुण के भेद के कारण पूर्व शरीर से विलक्षण शरीरों को संयाति—प्राप्त करता है किन्तु स्वयं विकृत नहीं होता है। वस्त्र का ही त्याग तथा ग्रहण किया जाता है (अर्थात् वस्त्र ही जाता आता है) एवं उसी के नाम तथा रूप को विचित्रता तथा शिथिलता दिख पड़ती है, किन्तु जो पुरुष उसे ग्रहण करता है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन (विकार) नहीं आता है, उसी प्रकार शरीर का ही जन्म तथा नाश होता है एवं शरीर के अवयवों में ही विकार दिख पड़ता है किन्तु निरवयव आत्मा में कोई विक्रिया नहीं होती है। अतः आत्मा देह इन्द्रियों आदि से भिन्न, अविकारी तथा नित्य है, यही इस श्लोक में सूचित किया जा रहा है।

(४) नारायणी टीका—वस्त्र यदि अत्यन्त मूल्यवान् हो तब मनुष्य उसे सिलाई वगैरह कर उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करता है किन्तु अत्यन्त जीर्ण हो जाने पर अर्थात् व्यवहार के अयोग्य हो जाने पर अन्त में उसे त्याग कर नये वस्त्रों को ही ग्रहण करता है। उसी प्रकार इस देह को भी साधारण मनुष्य जबतक सम्भव हो जोड़जाड़ कर रखने का प्रयत्न करता है। देह के प्रति अत्यन्त आसक्ति ही इसका कारण है। किन्तु एकदिन उस देह को त्यागकर नये देह को (कर्मवश) ग्रहण करना ही पड़ता है। निष्काम

कर्मयोग के द्वारा जितनी ही चित्तशुद्धि की वृद्धि होती रहती है उतनी ही देह के प्रति आसक्ति कम होती जाती है एवं आत्मा के प्रति संवेग की वृद्धि होती रहती है। तत्त्वज्ञान का उदय होने पर जीव समझ जाता है कि देही— अर्थात् आत्मा अजर, अमर तथा नित्य है एवं वही उसका यथार्थ स्वरूप है और देह उसका वसन (वस्त्र) है एवं उस देहरूप वसन का निरन्तर परिवर्तन (जीर्ण वस्त्र को त्यागकर नये वस्त्रों के ग्रहण के समान) अवश्यम्भावी है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा देहात्माभिमान का त्याग होने पर एवं जीव का सर्वत्र नित्य परमानन्दस्वरूप आत्मा के साथ एकत्व अनुभव होने के पश्चात् जीव सभी शोकों से मुक्त हो जाता है (ईश० उ०)। हे अर्जुन! तुम भी उस ज्ञानदृष्टि का अवलम्बन कर शोक, मोह से उद्धार हो जाओगे। यही कहने का अभिप्राय है।

[घर जल जाने पर जिस प्रकार उसके अन्दर में रहने वाले पुरुष जल जाते हैं उसी प्रकार देह का अन्त हो जाने पर देही आत्मा का नाश क्यों नहीं होगा अर्थात् देह का नाश होने पर भी आत्मा अविक्रिय ही रहती है, उसका कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में अब कहा जा रहा है]।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

अन्वय—एनम् शस्त्राणि न छिन्दन्ति, एनम् पावकः न दहति, एनम् आपः न च क्लेदयन्ति, मारुतः एनं न शोषयति।

अनुवाद—इस आत्मा को शस्त्र छेदन नहीं कर सकता है, आग इसे जला नहीं सकती है, पानी इसे गीला नहीं कर सकता है एवं वायु इसे सुखा नहीं सकती है।

दीपिका—एनम्—जिस देही के (अर्थात् प्रति प्राणी में 'अहं' के रूप में विद्यमान जिस आत्मा के) बारे में पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है उसे शस्त्राणि—कुल्हाड़ी तथा खड्ग प्रभृति तेज शस्त्र भी न छिन्दन्ति— छेदन नहीं कर सकते हैं क्योंकि आत्मा के अवयव नहीं है अर्थात् आत्मा आकाश की तरह निरवयव है। अतः अस्त्र के द्वारा आत्मा के अवयवों को भेदन (छेदन) करना सम्भव नहीं है पावकः न एनं दहति—उसी प्रकार पावक अर्थात् अग्नि भी (अत्यन्त प्रज्वलित होने पर भी) इसे जला नहीं सकती है आत्मा को भस्मीभूत करना सम्भव नहीं है। एनम् आपः न च

क्लेदयन्ति—उसी प्रकार जल भी इसे (आत्मा को) क्लिन्न अर्थात् आर्द्रीभूत नहीं कर सकता है क्योंकि जिस वस्तु के अवयव हों उसे ही आर्द्र (गीला) कर उसके अवयवों को शिथिल करना जल के लिए सम्भव है किन्तु निरवयव आत्मा में यह सम्भव नहीं है। मारुतः न एनं शोषयति—इसे अर्थात् आत्मा को वायु (अत्यन्त प्रवल होने पर) भी शुष्क करने में (नीरस करने में) समर्थ नहीं होती है क्योंकि स्नेहविशिष्ट द्रव्य से स्नेह को शोषण कर वायु उसे नष्ट कर देती है किन्तु आत्मा जल की तरह स्नेहयुक्त द्रव्य नहीं है। [जगत् की कोई भी नाशक वस्तु आत्मा को नाश नहीं कर सकती है, यह कहने का उद्देश्य होने पर भी युद्ध के समय शस्त्रादि ही प्राप्त होते हैं, इसलिए उनके अनुवाद (नामोल्लेख) कर यहाँ पृथक् रूप से दिखाया गया है और पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—इन चार भूतों का नाशकत्व प्रसिद्ध है, इसलिए उनका नाम भी उल्लेख किया गया है, किन्तु आकाश किसी का भी नाशक नहीं है, इसलिए आकाश का नाम उल्लेख नहीं किया गया है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[आत्मा को वध करने में समर्थ हो ऐसा कोई भी साधन नहीं है, इसे दिखाकर आत्मा के अविनाशित्व को अब स्पष्टरूप से वर्णन कर रहे हैं—]

आत्मा को शस्त्र छेदन नहीं कर सकता है, अग्नि आत्मा को जला नहीं सकती है, जल इसे मृदु कर शिथिल (सराने) नहीं कर सकता है एवं वायु इसे शोषण (नीरस) या शुष्क नहीं कर सकता है।

(२) शंकरानन्द—[जिस प्रकार घट के जल का नाश होने से उस जल में स्थित प्रतिबिम्ब का नाश हो जाता है—उसी प्रकार अस्त्र आदि के द्वारा देह विनष्ट हो जाने से देह में जिस आत्मा की उपलब्धि होती है उसके भी चरमविकार (अर्थात् नाश) होगा। अतः आत्मा अविकारी नहीं है, यही सिद्ध होता है। ऐसी यदि शंका हो तब इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं—]।

शस्त्राणि—शस्त्र सकल ['शस्यन्ते पदार्था एभिरिति शस्त्राणि' अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों को काटा जा सकता है या भिन्न किया जा सकता है उसको शस्त्र कहा जाता है यथा असि, गदा इत्यादि। ये सभी ही पृथ्वी के विकार पदार्थ हैं। ऐसे शस्त्र आदि] एनं न छिन्दन्ति—[जिस प्रकार देह आदि को छिन्न कर देता है उस प्रकार] इस आत्मा को, (जिसके सम्बन्ध में प्रकरण चल रहा है उसे) छेदन नहीं कर सकता है क्योंकि आत्मा के अवयवों का

विश्लेषण (अंगों को पृथक करना) सम्भव नहीं है क्योंकि आत्मा आकाश की तरह अवयवशून्य है। इस कारण से आत्मा शस्त्रादियों के विशसन क्रिया का (छेदन क्रिया का) विषय नहीं हो सकती है। आपः च एनं न क्लेदयन्ति—पानी इस आत्मा को देह की तरह क्लिन्न (सिक्त) नहीं कर सकता है अर्थात् जिस प्रकार सावयव देह को पानी भिगाकर शिथिल कर देता है उस प्रकार निरवयव आत्मा में शिथिलता सम्पादन करना पानी के लिए सम्भव नहीं है। न एनं पावकः दहति—अग्नि भी देह की तरह आत्माको जला नहीं सकती है ; आत्मा निरवयव होने के कारण दहन क्रिया का विषय नहीं हो सकती है। इसलिए आत्मा को अग्नि भस्मीभूत नहीं कर सकती है। मारुतः न शोषयति—वायु इस आत्मा का शोषण नहीं कर सकता है (सुखा नहीं सकता है) क्योंकि निरवयव आत्मा शोषणक्रिया का विषय नहीं हो सकती है। जिस प्रकार घट को पानी भिगा देता है, शस्त्र आदि उसे ताड़न कर (तोड़-फोड़) कर सकता है, वायु उसे शोषण कर लेता है एवं आग उसे जला देती है किन्तु घट में स्थित निरवयव आकाश को पानी भी भिगा नहीं सकता है, शस्त्र भी ताड़न नहीं कर सकता है, और न तो वायु ही उसे शोषित कर सकता है, उसी प्रकार देहस्थित आत्मा को भी ये सब अपनी अपनी क्रियाओंका विषय नहीं बना सकते हैं। अतः आत्मा अविक्रिय (विकाररहित अविनाशी) है, यही सिद्ध हो रहा है।

[जब तक अज्ञान रहता है तब तक ही शरीरका नाश होने से आत्मा का नाश मालूम होता है किन्तु आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने से यह समझ में आ जाता है कि आत्मा निरवयव एवं विकाररहित है]।

जरा, रोग इत्यादि भौतिक अथवा दैविक उपद्रव शरीर में ही हुआ करते हैं—अहं शब्द का अर्थ जो आत्मा है, उसे ये जरादि स्पर्श नहीं कर सकते हैं। आत्मा देहादि से विलक्षण (भिन्न) है, अतः आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखादि देह को प्राप्त होने पर भी ब्रह्मवित् पुरुष सदा ही आत्मा में स्थितप्रज्ञ हो के रहेंगे, यह भी सूचित किया गया है।

(३) नारायणी टीका—आत्मा के अविनाशित्व के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में कहा गया है। अब दो श्लोकों में (२३ वें तथा २४ वें श्लोक में) दृष्टान्त के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा रहा है। आत्मा निरवयव आकाश का भी अधिष्ठान (आधार) है। जब शस्त्र, अग्नि, जल, तथा वायु आकाश को ही किसी प्रकार से विकृत नहीं कर सकते हैं तब सर्वव्यापी

आत्मा को वे किसी प्रकार से अपनी क्रिया का विषय नहीं बना सकेंगे, इस विषय में क्या संदेह रह सकता है ?

श्लोक में 'एनम्' शब्द का अर्थ है—'इस देही को अर्थात् देह में अवस्थित आत्मा को' प्रश्न हो सकता है—देही शब्द का अर्थ परमात्मा है या जीवात्मा ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि हमलोग जिसे 'जीव' समझते हैं उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है अतः जीवभाव (जीवत्व) भ्रान्तिमूलक है। स्वरूपतः प्रत्येक जीव ही परमात्मस्वरूप है [निर्गुण निरवयव निष्क्रिय साक्षीचेता (चैतन्यस्वरूप) एवं केवल (अद्वितीय) है] । किन्तु वह आत्मा अपने स्वरूप को विस्मृत कर तथा त्रिगुण का आश्रय कर, देहादि में आत्माभिमान कर, देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के धर्म को आत्मा में आरोप कर जीव सजकर संसार चक्र में भ्रमण करता रहता है; और जब परमात्मा में ही (अभिन्नरूप से) आत्मबुद्धि करता है तब वह संसार से मुक्ति प्राप्त कर लेता है (महाभारत शान्ति पर्व १८७ एवं ३१९ अध्याय)। वास्तविक रूप से जीव ही शाश्वत ब्रह्म है परन्तु अज्ञानवश अपने को सगुण एवं देहादियुक्त मानकर जीव भाव को प्राप्त करता है। जीवत्व अज्ञान के द्वारा ही कल्पित है यह सर्वशास्त्र का ही सिद्धान्त है। इस विषय में अध्यात्मरामायण में इस प्रकार कहा गया है—'जीवश्च परमात्मा च पर्यायो पात्रभेदधीः'। (अ० रा० ४।३१) अर्थात् जीव तथा परमात्मा स्वरूपतः एक ही है, उनके सम्बन्ध में भेदबुद्धि रहना नहीं चाहिए। पुनः 'तस्मात् कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः' (उत्तर ७।८०) अर्थात् जीव तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं देखना चाहिए। इसलिए श्लोक में 'एनम्' शब्द के द्वारा परमात्मस्वरूप को लक्ष्य किया है।

[शस्त्रादि जो आत्मा के नाश करने में असमर्थ है एवं आत्मा भी जो शस्त्रादि के द्वारा नाश के अयोग्य है उसका हेतु अब कह रहे हैं]

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अन्वय—अयम् (आत्मा) अच्छेद्यः, अयम् अदाह्यः, अयम् अक्लेद्यः, (तथा) अशोष्यः एव च, अयम् (आत्मा) नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, (तथा) सनातनः ॥ २४ ॥ अयम् (आत्मा) अव्यक्तः, अयम् अचिन्त्यः, अयम्

अविकार्यः उच्यते । तस्मात् (त्वम्) एनम् (आत्मानम्) एवं विदित्वा अनुशोचितुं न अर्हसि ॥ २५ ॥

अनुवाद—यह आत्मा अच्छेद्य (छेदन के अयोग्य) है, अदाह्य (दहनरूप क्रिया के अयोग्य) है, अक्लेद्य [जल के द्वारा आर्द्र (गीला) होने के अयोग्य] है, अशोष्य (वायु के द्वारा शुष्क होने के अयोग्य) है। यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थाणु की तरह स्थिरस्वभाव, अचल (अकम्पित) एवं सनातन (बराबर एक ही रूप में रहनेवाला) है। यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रिय के द्वारा अग्राह्य), अचिन्त्य (मन के चिन्तन के अगोचर), अविकार्य (छः प्रकार के विकारों से शून्य) माना जाता है। अतः आत्मा का इस प्रकार का स्वरूप जानकर तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए।

दीपिका—अयम् अच्छेद्यः—यह आत्मा छेदन के अयोग्य है। अर्थात् शस्त्र आदि इसे छेदन नहीं कर सकते हैं, अयम् अदाह्यः—यह आत्मा दग्ध होने के योग्य नहीं है अर्थात् अग्नि इसे जला नहीं सकती है। अयम् अक्लेद्यः—यह आत्मा जल के द्वारा आर्द्रीभूत (गीला) होने के योग्य नहीं है—पानी इसे शिथिल नहीं कर सकता है. अशोष्यः एव च—वायु इसे शुष्क नहीं कर सकती। ["एव" शब्द को अवधारणार्थ में (निश्चयार्थ में) व्यवहृत किया गया है। इसे प्रत्येक हेतु के साथ सम्बन्धित कर अर्थ करना पड़ेगा अर्थात् आत्मा अच्छेद्य ही है, अक्लेद्य तथा अशोष्य है—इस अर्थ में 'एव' शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा समझना पड़ेगा। 'च' शब्द को समुच्चयार्थ में (अर्थात् 'एवं' के अर्थ में) प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् 'आत्मा अच्छेद्य ही एवं अक्लेद्य ही एवं अदाह्य ही एवं अशोष्य ही है—ऐसे समुच्चय अर्थ में 'च' शब्द की व्याख्या करनी पड़ेगी अथवा 'च' शब्द को हेतु के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है अर्थात् 'चूँ कि आत्मा अच्छेद्य, अक्लेद्य तथा अदाह्य तथा अशोष्य है अतः'—ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है (मधुसूदन)]।

अयम् (आत्मा) नित्यः—जिस कारण से परस्पर विनाश के कारण पृथ्वी आदि भूत अर्थात् वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी (पार्थिव शस्त्रादि) इस आत्मा का विनाश करने में समर्थ नहीं होते हैं उस कारण से ही आत्मा नित्य है। सर्वगतः—चूँ कि नित्य है उस कारण ही आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापी है। जो सर्वगत नहीं है वह परिच्छिन्न (सीमित) होने के कारण नित्य नहीं है। स्थाणुः—चूँ कि नित्य तथा सर्वगत है उस कारण आत्मा स्थाणु की तरह अर्थात् शुष्क वृक्ष की तरह स्थिर है। अचलः—स्थिरत्व रहने के कारण ही यह आत्मा अचल है अर्थात् किसी कारण से भी कम्पायमान

नहीं है। **सनातनः**—चूँकि आत्मा अचल है उस कारण से ही आत्मा सनातन अर्थात् चिरन्तन (सर्वकाल में विद्यमान) है अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न अभिनव (नूतन) पदार्थ नहीं है। शंका हो सकती है—'न जायते म्रियते वा' इत्यादि श्लोक के द्वारा ही, आत्मा का नित्यत्व तथा अविक्रियत्व प्रतिपादन किया गया है। उस श्लोक में आत्मा के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे अतिरिक्त कुछ नया अर्थ इस श्लोक से प्रकाशित हो रहा है ऐसा प्रतीत नहीं हो रहा है। तथा किसी-किसी स्थान में शब्दों के अंश की पुनरुक्ति है किन्तु यह पुनरुक्ति तो दोषपूर्ण है। (उत्तर) नहीं, इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मवस्तु अत्यन्त दुर्बोध (अर्थात् आत्मतत्त्व का ज्ञान-लाभ करना अत्यन्त कठिन) है। इसलिए किस प्रकार से संसारासक्त व्यक्तियों के निकट यह आत्मतत्त्व बुद्धिगम्य होकर संसार की निवृत्ति का कारण होगा उसके प्रति लक्ष्य रखकर ही वासुदेव (श्रीकृष्ण) शब्दान्तर के द्वारा आत्मतत्त्व के प्रसंग की बार-बार अवतारणा कर निरूपण कर रहे हैं।

अयम् आत्मा अव्यक्तः—यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियादि का अविषय होने के कारण, इन्द्रियादि कोई करण भी आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता है।

अयम् अचिन्त्यः—यह आत्मा अचिन्त्य है, (किसी इन्द्रिय का विषय नहीं होने के कारण); मनोबुद्धि रूप इन्द्रिय का (अन्तःकरण का) भी विषय नहीं है अर्थात् बुद्धि चिन्तन के द्वारा आत्मा को ग्रहण नहीं कर सकती है। जो इन्द्रिय का विषय है वही चिन्तन का विषय भी है किन्तु आत्मा वैसा नहीं होने के कारण अचिन्त्य है। **अयम् अविकार्यः**—दही इत्यादि के द्वारा जिस प्रकार दूध विकार को प्राप्त हो जाता है उस प्रकार आत्मा विकारी नहीं है क्योंकि आत्मा निरवयव है (आत्मा का कोई अवयव या अंग नहीं है)। जिसका कोई अवयव नहीं है वह कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होता है, आत्मा जो छः प्रकार के विकारों से रहित है वह २०वें श्लोक में पहले ही कहा गया है। **उच्यते**—श्रुति में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसा ही कहा गया है। **तस्मात्**—उसलिए **एनम्**—(इस आत्मा को) **एवम्**—जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार [अर्थात् आत्मा का अव्यक्तत्व, अचिन्तत्व, अविकार्यत्व, नित्यत्व, सर्वगतत्वादि जिस प्रकार निर्धारित किया गया है उस प्रकार (आनन्दगिरि)]। **विदित्वा**—जानकर **अनुशोचितुम्**—अनुशोचनी अर्थात् शोक करना **न अर्हसि**—(तुम्हारे लिए) उचित नहीं है अर्थात् मैं हन्ता (हननरूप क्रिया का कर्ता)

हूँ, ये लोग मेरे द्वारा हत (हनन क्रिया का कर्म) हैं, इस प्रकार स्वजनों के वियोग के भय से तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए।

टिप्पणी। (१) आनन्दगिरि—त्वं पदार्थ का शोधन ही इस श्लोक का तात्पर्य है। पूर्ववर्ती श्लोक में कहे गये नित्यत्व आदि लक्षणों से युक्त होने पर भी आत्मा अव्यक्त अर्थात् अप्रत्यक्ष है। आत्मा केवल प्रत्यक्षका विषय नहीं है, यही नहीं अपितु आत्मा अनुमान का भी विषय नहीं है क्योंकि वह अचिन्त्य (बुद्धि का अगोचर अर्थात् अविषय) है। अतीन्द्रिय होने पर भी सामान्यतः दृष्टविषय हो सकता है। ऐसी आशंका के उत्तर में कहा जा रहा है कि नहीं, कूटस्थ आत्मा के द्वारा व्याप्ति का लिंग (लक्षण) का अभाव रहने के कारण आत्मा वैसा भी नहीं है क्योंकि आत्मा अविकारी (अविकार्य) है। जो सावयव एवं सक्रिय है, जैसे कि क्षीर आदि, वह ही विकारी होकर दही इत्यादि में परिणत हो जाता है किन्तु आत्मा निरवयव तथा अक्रिया (क्रियाहीन) होने के कारण अविकारी है।

(२) मधुसूदन—[भाष्यकार के मत के अनुसार श्लोक से पूर्व अंशों में जो कहा गया है वह उत्तरोत्तर का हेतु है किन्तु मधुसूदन सरस्वतीने हेतु को विपरीत रूप से ग्रहण किया है। किन्तु उससे श्लोक के तात्पर्य में कोई पार्थक्य नहीं हुआ है]। श्लोक के पूर्ववर्ती अंश में आत्मा को छेदन आदि क्रियाओं के अयोग्य (अविषय) कहा गया है। आत्मा नित्यः—है अर्थात् आदि तथा अन्तरहित है इसलिए आत्मा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है [एवं इस कारण से ही आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य इत्यादि है]। आत्मा नित्य क्यों है ? क्योंकि वह सर्वगत है। जो सर्वव्यापी नहीं है अर्थात् जिसमें विभाग तथा परिच्छेद (सीमा) है, वह विकारी एवं अनित्य होगा। इसलिए वेदान्तदर्शन में कहा गया है 'यावद्विकारन्तु विभागः' नैयायिक लोग अति क्षुद्र (परिच्छिन्न) परमाणु को नित्य मानते हैं किन्तु उसे वेदान्ती लोग स्वीकार नहीं करते हैं। आत्मा सर्वव्यापी है, अतः नित्य है—ऐसा कहने में आत्मा की नित्यप्राप्तता स्वीकार की जाती है। आत्मा सर्वगत (सर्वव्यापी) है क्योंकि वह स्थाणु अविकारी (स्थिर) है। स्थाणु शब्द के द्वारा आत्मा के विकार्यत्व की शंका को निराकृत (दूर) किया जा रहा है। चलायमान अथवा क्रियावान् पदार्थ मात्र ही विकारी है, जैसे घटादि। इसलिए आत्मा क्यों स्थाणु (अविकारी) है वह स्पष्ट कर रहे हैं; आत्मा—अचलः—क्रियारहित है, इसलिए वह विकारी नहीं है। "अचलः" शब्द के द्वारा आत्मा के संस्कार्यत्व को निराकृत किया गया है (निषेध किया जा

रहा है) क्योंकि जो स्वयं क्रियारहित है, वह अविकारी है। आत्मा में गुणान्तर का (एक गुण छोड़कर अन्य गुण का) संस्काररूप विकार सम्भव नहीं है।

प्रश्न है, स्थाणु (अविकारी) तथा अचल (क्रियारहित), इन दोनों शब्दों का तब तो एक ही अर्थ है। इसके उत्तर में कहा जायगा कि, पूर्वावस्था को त्याग कर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति को विक्रिया (विकार) कहा जाता है। तथा अवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन न होकर जब किसी वस्तु में केवलमात्र चलनक्रिया रहती है तब उसे चल (चलायमान) कहा जाता है। अतः स्थाणु तथा अचल शब्द में भेद है। चूँकि आत्मा का स्वरूप इसप्रकार है इसलिए वह सनातन है—सर्वदा एकरूप है अर्थात् आत्मा किसी क्रिया का कर्म नहीं है क्योंकि जो वस्तु उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति तथा संस्कृति इन चार प्रकार के क्रियाफलों में किसी एक के साथ भी सम्बन्धित रहती है उस वस्तु में कर्मत्व अवश्य ही रहता है (अर्थात् वह कर्म का विषय होता है), ऐसा समझना पड़ेगा। किन्तु (क) आत्मा नित्य होने के कारण उत्पाद्य (उत्पन्न होने के योग्य) नहीं है, घट आदि की तरह अनित्य पदार्थों की ही उत्पत्ति सम्भव है। (ख) आत्मा सर्वगत (सर्वव्यापी) होने के कारण प्राप्य (प्राप्त करने के योग्य) नहीं है। परिच्छिन्न दुग्ध आदि वस्तुएँ ही प्राप्य हो सकती हैं। (ग) आत्मा स्थाणु (अविकारी) होने के कारण विकार्य नहीं हैं क्योंकि पूर्ववर्ती अवस्था को त्याग कर दूसरी अवस्था को प्राप्त करने के कारण माखनघृतादि विक्रियाशील वस्तुएँ ही विकार्य हैं। (घ) आत्मा अचल (क्रियारहित) है। अतः संस्कार्य भी नहीं क्योंकि सक्रिया (क्रिया के आधारभूत) वस्तुएँ ही (यथा दर्पण आदि वस्तुएँ ही) संस्कार्य होती हैं (अर्थात् क्रिया के द्वारा मलिनता से मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करने के उपयोगी होती है)। आत्मा जो सर्वगत (सर्वव्यापी) है, नित्य तथा अविकारी है उसे श्रुति में भी अनेक वाक्यों के द्वारा कहा गया है 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' (श्वे० उ० ३।९) अर्थात् आत्मा आकाश की तरह सर्वगत एवं नित्य है; निष्पन्द वृक्ष की तरह वह एक ही (आत्मा) दिवि अर्थात् स्वप्रकाश स्वरूप में विराजमान रहता है; 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि (श्वे० उ० ६।१९) अर्थात् वह ब्रह्म निष्कल (कला या अंशरहित एवं पूर्ण) क्रियारहित एवं शान्त है, पुनः श्रुति कह रही है—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरः' इत्यादि (बृह०

उ० ३।७।३) अर्थात् जो पृथ्वी में रहकर पृथ्वी का अन्तर्यामी हैं, जो जल में रहकर जल का अन्तर्यामी है, जो तेज में रहकर तेज का अन्तर्यामी है, जो वायु में रहकर वायु का अन्तर्यामी है इत्यादि। इन श्रुतिवाक्यों से यही दिखाया जा रहा है कि जो सर्वगत है वह सभी पदार्थों में विद्यमान रहने के कारण एवं सभी पदार्थों का ही अन्तर्यामी (प्रेरक) होने के कारण किसी पदार्थ के व्यापार के विषयीभूत नहीं हो सकता है। शस्त्रादि पदार्थ उसे ही छेदन कर सकता है जो शस्त्र आदि में नहीं रहता है अर्थात् जो शस्त्रादि से पृथक् है; किन्तु यह आत्मा उन शस्त्रादि पदार्थों में सत्ताप्रद तथा स्फूर्त्तिप्रद है अर्थात् शस्त्रादि पदार्थ आत्मा की सत्ता से ही सत् प्रतीत होते हैं एवं आत्मा के प्रकाश से ही वे प्रकाशित हैं। अतः आत्मा ही उनका प्रेरक तथा अन्तर्यामी (नियामक) है। अतः शस्त्रादि वस्तु किस प्रकार इस आत्मा को अपनी अपनी क्रियायों के (छेदन आदि क्रिया के) विषयीभूत करेंगे अर्थात् शस्त्रादि किस प्रकार अपने प्रेरक आत्मा का छेदन करेंगे ? यही कहने का अभिप्राय है। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इत्यादि अर्थात् जिनके तेज से सूर्य प्रदीप्त होकर ताप दे रहा है, इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इस विषय में प्रमाण के रूप में अनुसन्धेय हैं अर्थात् वे श्रुतिवाक्य भी उसे प्रमाणित कर रहे हैं। [बाद में सप्तम अध्याय में श्रीभगवान् इसे और स्पष्ट रूप से कहेंगे]।

अयम् अव्यक्तः—जो इन्द्रियगोचर है वह प्रत्यक्ष होने के कारण व्यक्त है। आत्मा रूप आदि से रहित होने के कारण प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है अर्थात् इन्द्रियादि से अगोचर है। अतः अप्रत्यक्ष आत्मा छेद्यत्वादि का ग्राहक नहीं हो सकता है अर्थात् आत्मा में शस्त्रादि की छेदनक्रिया सम्भव नहीं है। प्रश्न होगा—अच्छा ! आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अनुमेय तो है (अनुमान द्वारा प्रमाण के योग्य तो है)। ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—नहीं, आत्मा वैसी भी नहीं है क्योंकि अयम् अचिन्त्यः—वह अचिन्त्य है। जिसके सम्बन्ध में चिन्तन किया जा सकता है उसके सम्बन्ध में ही अनुमान किया जा सकता है। किन्तु आत्मा उससे विलक्षण है अर्थात् अचिन्त्य होने के कारण अनुमेय नहीं हैं। किसी स्थान में आग होने पर वहाँ आग के साथ धुआँ भी देखा जाता है। इससे अनुमान होती है कि जिधर धूम है उधर अग्नि अवश्य ही होगी। इस प्रकार आग तथा धूम के एकत्रावस्थिति या साहचर्यरूप नियम को व्याप्ति कहा जाता है। किन्तु जो स्वयं अव्यक्त या अप्रत्यक्ष है उसके सम्बन्ध में व्याप्ति ग्रहण करना असम्भव है। इसलिए वह पदार्थ अनुमेय भी नहीं है। अतः आत्मा अचिन्त्यः—

अर्थात् अननुमेय (अनुमेय नहीं) है। अब आशंका हो सकती है कि किसी सूक्ष्म वस्तु के इन्द्रियादि के द्वारा अप्रत्यक्ष होने पर भी, उसके कार्य को देखकर 'सामान्यतो दृष्ट' वह अनुमान का विषय होती है (कार्य देखकर कारण के अनुमान को 'सामान्यतो दृष्ट अनुमान, कहा जाता है)।

ऐसे अनुमान के द्वारा अप्रत्यक्ष सूक्ष्म वस्तु का कार्य देखकर उसके कारणरूप में कोई एक वस्तु अवश्य होगी यह अनुमित होता है। अतः आत्मा के सम्बन्ध में क्यों नहीं उस प्रकार अनुमान किया जा सकता ? इसके उत्तर में कह रहे हैं अयम् अविकार्यः—यह आत्मा क्रियाशील नहीं है। विक्रियाशील चक्षु प्रभृति का अस्तित्व न रहने पर उनका कार्य भी नहीं रह सकता है, वह कल्पित हुआ करता है एवं इस प्रकार से वह अर्थापत्ति नामक प्रमाण का अथवा 'सामान्यतोदृष्ट' नामक अनुमान का विषय हुआ करता है। किन्तु आत्मा विक्रियायुक्त नहीं है। अतः अर्थापत्ति अथवा 'सामान्यतोदृष्ट' नामक अनुमान का विषय नहीं है—यही कहने का अभिप्राय है। लोक में जिन विषयों को पहले प्रत्यक्ष किया गया है उनके सम्बन्ध में ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है किन्तु आत्मा अप्रत्यक्ष (अव्यक्त) होने के कारण लौकिक शब्द का अविषय है अर्थात् आत्मा के लिए लौकिक शब्दों का व्यवहार नहीं किया जा सकता है। शंका हो सकती है कि—जिस वेद को अलौकिक विषय में शब्द प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जाता है उस वेद के द्वारा आत्मा के छेद्यत्वादि (परिच्छिन्नत्व) को भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके उत्तर में कह रहे हैं—उच्यते—वेद के द्वारा यह आत्मा अच्छेद्य तथा अव्यक्त रूप में वर्णित हुआ है। वेद आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक होने पर भी आत्मा छेद्यत्वादि किसी क्रिया का विषय हो सकता है, यह वेद ने कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया।

यहाँ 'नैनं छिन्दन्ति' इत्यादि श्लोक के द्वारा यह कहा गया है कि शस्त्रादि आत्मा को नष्ट नहीं कर सकते हैं; 'अच्छेद्योऽयम्' इत्यादि श्लोक में 'आत्मा छेदनादि क्रिया का कर्म (विषय) नहीं हो सकती है' यह कहा गया है एवं 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि श्लोक में 'आत्मा के छेद्यत्व आदि के ग्राहक का भी प्रमाण नहीं है', यह कहा गया है। अतः इन श्लोकों में वे शब्दों का अर्थ एक प्रकार की प्रतीति होने पर भी उसमें तात्पर्यतः भिन्नता है। अतः उनमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। और पुनरुक्ति होने पर भी ये दोषणीय नहीं है, इस बात को भाष्यकार शंकराचार्य ने २१ वें श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट किया है। इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों के द्वारा आत्मा का नित्यत्व तथा निर्वि-

कारत्व सिद्ध हुआ है। अर्जुन को शोक करना नहीं चाहिए, यह कहने के लिए श्लोकार्ध का उपसंहार किया जा रहा है, तस्मात्—इस कारण से अर्थात् आत्मा का ऐसा स्वरूप-ज्ञान, जो शोक के कारण का (अज्ञान का) निवर्तक है, वह जब तुममें है तब एवं विदित्वा एनं न शोचितुम् अर्हसि—तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए, क्योंकि कारण का (अज्ञान का) अभाव होने पर कार्य का (शोक का) भी अभाव हो जाता है। अतः आत्मा के स्वरूप को नहीं जानकर तुम जो शोक कर रहे थे वह उस समय के लिए संगत होने पर भी, अब जब तुम आत्मतत्त्व को (मुझसे) जान गये हो तब और तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) श्रीधर—अयम् अच्छेद्यः—यह आत्मा अवयवरहित होने के कारण छेदन किये जाने के योग्य नहीं हैं और अक्लेद्यः च—गीला किये जाने के योग्य नहीं है। अयम् अदाह्यः—यह आत्मा निराकार होने के कारण जलाने के योग्य नहीं है। अयम् अशोष्यः—यह द्रवीभूत न होने के कारण इसका शोषण भी नहीं हो सकता। आगे बताये जानेवाले कारणों से भी यह छेदनादि क्रिया के योग्य नहीं है क्योंकि यह नित्य (अविनाशी) सर्वगत—(सर्वत्र व्याप्त) स्थाणु (स्थिरस्वभाववाला अर्थात् रूपान्तर को प्राप्त न होनेवाला) अचल (पहले स्वरूप का त्याग न करनेवाला अर्थात् बराबर एक ही प्रकार रहनेवाला) ओर सनातन (अनादि) है।

इसके सिवा यह अव्यक्त (चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय नहीं है), अचिन्त्य (मन का भी विषय नहीं है), अविकार्य (अविकारी अर्थात् कर्मेन्द्रियों का भी विषय नहीं है) उच्यते—ऐसा कहा जाता है [इस कथन से आत्मा का नित्यत्व आदि में श्रेष्ठ पुरुषों की उक्ति को प्रमाणरूप से ग्रहण किया है]। अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं कि तस्मात् इत्यादि—इसलिये इस आत्मा के यथार्थ स्वरूप को इस प्रकार जानकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं है।

(४) शंकरानन्द—२४ श्लोक—चूँकि 'वासांसि जीर्णानि' इत्यादि के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि देह आत्मा से भिन्न है, अतः दृश्य विषय को आश्रय कर जो समस्त छेदादिकर्म चलते रहते हैं वे समस्त देह के ही हैं, आत्मा के नहीं हैं क्योंकि आत्मा निरवयव है। अतः चारों भूतों के (पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के) कार्य छेदन, क्लेद, दहन तथा शोषण इत्यादि आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। इसी को और स्पष्ट कर रहे हैं—

सनातनः—अनादि 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (आत्मा का

कोई जनिता अर्थात् पिता नहीं है और न तो कोई अधिपति है) इस श्रुति-वाक्य से यही ज्ञात हो रहा है कि आत्मा निरवयव होने के कारण किसी कारण से इसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए आत्मा सनातन अर्थात् जनन आदि विकारों से रहित है। अतः नित्यः—सदा ही विद्यमान है। चूँकि आत्मा नित्य है, अतः आत्मा सर्वगतः—परिपूर्ण है। नित्य एवं सर्वव्यापी होने पर भी आत्मा में क्रियाशक्ति का आश्रय है अर्थात् आत्मा क्रियाशील है, ऐसी शंका करना नहीं चाहिए क्योंकि नित्यत्वादि धर्मविशिष्ट आकाश में कोई क्रिया नहीं दिखती है। अतः आत्मा स्थाणुः—स्थिरस्वभाव की है। पुनः, स्थिर होने के कारण आत्मा अचलः—अचल (अकम्पित) है। श्लोक में 'अयम् अयम्' (यह यह) इस प्रकार से आत्मा को अपरोक्षरूप से लक्ष्य कर कहने का उद्देश्य यही है कि आत्मा विद्वान् का प्रत्यक्ष विषय है। (अर्थात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के अभ्यास द्वारा विद्वान् पुरुष शुद्ध-चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रत्यक्षरूप से साक्षात्कार करता है)। चूँकि आत्मा सनातन, नित्य, स्थिर, अचल है अतः यह आत्मा अच्छेद्यः—अच्छेद्य है अर्थात् इसे किसी वस्तु से छेदन नहीं किया जा सकता है, अदाह्यः—(आत्मा) दहनक्रिया के अयोग्य है, अक्लेद्यः—जल इसे भिगा नहीं सकता है, अशोष्यः—वायु इसे शोषण नहीं कर सकती है।

सनातनत्व विशेषण के द्वारा आत्मा का निर्विकारत्व; नित्यत्व विशेषण के द्वारा अबाध्यत्व (अनन्तत्व अर्थात् दूसरे प्रमाणों का अविषयत्व); स्थाणुत्व (स्थिरत्व) एवं अचलत्व विशेषण के द्वारा क्रिया का अनाश्रयत्व या अविषयत्व (अर्थात् आत्मा किसी क्रिया का आश्रय या विषय नहीं है); एवं सर्वगतत्व (पूर्णत्व) विशेषण के द्वारा आत्मा के अद्वितीयत्व, नित्यशुद्धत्व, आनन्दैकरसत्व को सूचित किया जा रहा है।

२५ वाँ श्लोक—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ०) अर्थात् आत्मज्ञानी शोक से उत्तीर्ण हो जाते हैं, ऐसे श्रुतिवचन के द्वारा यही प्रमाणित हो रहा है कि आत्मतत्त्व के ज्ञान से (आत्मसाक्षात्कार होने से) शोक की निवृत्ति हो जाती है। किन्तु आत्मतत्त्व का विशेष ज्ञान आत्मा तथा अनात्मा के विवेक के बिना सिद्ध नहीं होता है। इसलिए प्रारम्भ में ही 'वासांसि' इत्यादि श्लोक के द्वारा यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न है 'नैनं छिन्दन्ति' श्लोक के द्वारा आत्मा छेदनादि क्रिया का विषय या आश्रय नहीं है, यह प्रतिपादित किया जा रहा है। किन्तु सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी तो शस्त्रादि का विषय नहीं है अतः उन दोनों प्रकार के

शरीर में आत्मबुद्धि का प्रसंग हो सकता है। इसे निवारण करने के लिए कहा गया है 'अव्यक्तोऽयम्' 'अचिन्त्योऽयम्'। इसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म तथा कारण शरीर से भिन्न है, यह प्रतिपादन कर 'अविकार्योऽयम्' पद के द्वारा आत्मा में सभी प्रकार की विकारशून्यता का प्रतिपादन कर रहे हैं। इसप्रकार आत्मा के स्वरूप को जब तुम (अर्जुन) जान गये हो तब तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए यह 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' कहकर जो उपक्रम किया था, उसका अब उपसंहार कर रहे हैं अयम् अव्यक्तः—अहंकार तथा ममकार के द्वारा (मैं तथा मेरे द्वारा) जो प्रकट होता है उसे व्यक्त अर्थात् लिंग शरीर कहा जाता है। आत्मा लिंग शरीर का धर्म है तथा उसकी समस्त अवस्थाओं का साक्षी है, इसलिए लिंग शरीर से भिन्न होने के कारण वह अव्यक्त है। अयम् अचिन्त्यः—कर्मफल को देखकर जिस प्रकार अदृष्ट आदि का (प्रारब्ध आदि का) अनुमान किया जाता है उसी प्रकार शोक मोहादि कार्यों के द्वारा जो अनुमान किया जाता है उसे चिन्त्य कहा जाता है अर्थात् शोक मोहादि रूप कार्यों से उनके कारण रूप अज्ञान के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, इसलिए अज्ञान या माया (अव्यक्त) या कारण शरीर को चिन्त्य कहा जाता है। आत्मा इस चिन्त्य से भिन्न है क्योंकि ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता से भिन्न हुआ करता है। 'मैं नहीं जानता हूँ', 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार अज्ञत्व (अज्ञान) जिस के द्वारा ज्ञात होता है उस अज्ञान का साक्षी आत्मा अज्ञानरूप 'चिन्त्य' से भिन्न है, अतः आत्मा अचिन्त्य है। अयम् अविकार्यः—यह आत्मा निरवयव है (अवयव से शून्य है)। अतः जन्म आदि विकारों का आश्रय नहीं है अतः यह अविकार्य है। अविकार्य शब्द के द्वारा आत्मा में उत्पाद्यत्व इत्यादि धर्मों को भी (अर्थात् जायते, अस्ति, वर्धते इत्यादि छः विकारों को भी) निराकृत किया गया है। 'पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म (आत्मा) प्रारम्भ से ही सिद्ध है इस प्रकार के श्रुति वाक्य से आत्मा अनादि रूप से प्रसिद्ध है यह प्रतीत होता है। [जिसका आदि अर्थात् उत्पत्ति नहीं है उसको अनादि कहा जाता है]। अतः आत्मा अनुत्पाद्य है। 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' अर्थात् इस आत्मा से भिन्न और कोई विज्ञाता नहीं है—इस श्रुति वचन के द्वारा यह प्रतीत होता है कि आत्मा ज्ञातृस्वरूप होने के कारण अनाप्य है (अर्थात् किसी कर्म के द्वारा प्राप्य नहीं है)। पुनः 'शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः सुखस्वरूपः' अर्थात् आत्मा शुद्ध, अबाध्यस्वरूप (अनन्तस्वरूप) बुद्ध (ज्ञानस्वरूप) एवं सुखस्वरूप है इत्यादि श्रुति वचन के द्वारा आत्मा नित्यशुद्ध होने के कारण असंस्कार्य है (क्योंकि जो मलिन या अशुद्ध है उसीका संस्कार होना सम्भव है)। [आत्मा अनुत्पाद्य, अनाप्य,

अविकार्य तथा असंस्कार्य है—यह कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा किसी भी कर्म का विषय नहीं है]। श्रुति और भी कहती हैं 'सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो निरंजनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरेतैरवगतः' अर्थात् यह आत्मा सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, निरंजन, विभु(सर्वव्यापी), अद्वय, पर (परम्), प्रत्यगेकरस, इन प्रमाणों के द्वारा ही आत्मा अवगत होती है। अतः उक्त लक्षणों से युक्त इस आत्मा को अस्थूल, अव्यक्त, अचिन्त्य, निष्क्रिय, कूटस्थ, असंग तथा चिद्रूप जानकर 'मैं ही इन लक्षणों से विशिष्ट आत्मा हूँ' ऐसा अनुभव कर तुम्हें (अर्जुन को) शोक करना नहीं चाहिए अर्थात् 'मैं हन्ता हूँ एवं वे मेरे द्वारा हत होंगे' इस प्रकार पहले की तरह तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। इसके द्वारा सूचित हो रहा है कि अद्वैत तत्त्वदर्शी ब्रह्मज्ञानियों के लिए कुछ भी शोचनीय नहीं है अर्थात् उनके लिए शोक करने को कुछ भी नहीं है।

यहाँ जो कुछ कहा गया है एवं २५ वें श्लोक के प्रथमार्ध में जो कुछ कहा गया है उन कारणों के लिए भी आत्मा छेदादि के योग्य नहीं है। अर्थात् आत्मा छेदन क्रिया का, दहन क्रियाका, शोषण क्रिया का तथा आर्द्रीकरण का विषय नहीं हो सकती है क्योंकि आत्मा नित्य—अविनाशी, सर्वगतः—सर्वव्यापी स्थाणुः—स्थिरस्वभाव (अर्थात् दूसरे किसी रूप को प्राप्त करना आत्मा के लिए असम्भव है) एवं अचलः—अचल (पूर्वरूप को भी परित्याग करना आत्मा के लिए सम्भव नहीं है) एवं सनातनः—अनादि है. अयम् अव्यक्तः—यह आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय है। अयम् अचिन्त्यः—यह आत्मा मन का भी अविषय है एवं अयम् अविकार्यः—यह आत्मा कर्मेन्द्रियों का भी अगोचर (अविषय) है उच्यते—यह (श्रुति में) कहा गया है। इसके द्वारा आत्मा नित्यत्वादि लक्षणों से विशिष्ट है, यह श्रुति प्रमाण से प्रमाणित होता है। तस्मात्—अतः आत्मा का स्वरूप जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार से एनम्—इस आत्मा को विदित्वा—जानकर न शोचितुम् अर्हसि—तुम्हें अनुशोचना करना नहीं चाहिए अर्थात् आत्मा में जन्म भी नहीं है तथा नाश भी नहीं है, अतः आत्मा के लिये शोक करने का कुछ भी कारण नहीं है।

(५) नारायणी टीका—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि (गीता २।११) श्लोक से २५ श्लोक तक त्वं पदार्थ को शोधन करने के लिए आत्मा के स्वरूप के बारे में कहा गया है। आत्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से विलक्षण है। अतः उन तीन प्रकार के शरीर के नाश से आत्मा का

नाश नहीं होता है। किसी क्रिया के द्वारा आत्मा की उत्पत्ति, प्राप्ति तथा संस्कार या विकार नहीं होता है। अर्थात् आत्मा किसो क्रिया का (कर्म का) आश्रय या विषय नहीं हो सकती है। अतः आत्मा स्वरूपतः, नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है। इस प्रकार अव्यक्त (इन्द्रियातीत) अचिन्त्य (मन तथा बुद्धि से अतीत) एवं अविकार्य (निरवयव अतः सभी विकारों से रहित) आत्मा को जो अपना तथा सभी भूतों का स्वरूप मानते हैं वे किसके लिए शोक करेंगे या क्यों शोक करेंगे ? अतः भगवान् ने अर्जुन को उपलक्षण मान कर सभी जीवों के उद्देश्य से कहा कि इन १५ श्लोकों में आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में जैसा कहा गया है उसे जो लोग जानते हैं (साक्षात् अनुभव करते हैं) वे 'मैं इनका हन्ता हूँ, ये लोग मेरे द्वारा मारे जायेंगे' ऐसा सोचकर कभी भी शोक नहीं करेंगे अर्थात् सभी प्रकार के शोकों से उत्तीर्ण हो जायेंगे। [क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुति वाक्यां के अनुसार 'मैं ब्रह्म हो हूँ'—इस प्रकार आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर जो सर्वत्र एकत्व दर्शन करते हैं वे ही शोक से मुक्त हो जाते हैं]।

[पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में आत्मा के नित्यत्व तथा अविकारित्व को स्थापित किया गया है किन्तु चित्त पूर्णरूप से शुद्ध नहीं होने पर, वारवार श्रवण करने पर भी दुर्ज्ञेय आत्मा के यथार्थ स्वरूप को हृदय में अवधारण करना कठिन है। इसलिए साधारण बुद्धि, शरीर के साथ आत्मा के तादात्म्य को स्वीकार कर, आत्मा का जन्म होता है तथा मृत्यु होती है एवं यह आत्मा अनित्य है ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेती है। उस पक्ष को (अर्थात् आत्मा के अनित्य पक्ष को) युक्ति के बल पर स्वीकार करने पर भी किसी के लिए भी शोक करना उचित नहीं है, वही अब कहा जा रहा है]—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अन्वय—अथ च एनम् नित्यजातं मन्यसे नित्यं मृतं वा (मन्यसे) तथापि हे महाबाहो। त्वं एनम् शोचितुम् न अर्हसि।

अनुवाद—दूसरी ओर यदि तुम आत्मा को नित्यजात (सर्वदा उत्पन्न अर्थात् प्रति देह की उत्पत्ति से उत्पन्न) एवं नित्यमृत (अर्थात् प्रति देह की मृत्यु से मृत) मानते हो, तब भी हे महाबाहो! (जन्म मृत्यु अवश्यम्भावी होने के कारण) तुम्हें इस आत्मा के लिए किसी की भी मृत्यु के लिए शोक करना नहीं चाहिए।

दीपिका—अथ च—स्वीकार करना या मान लेना—इस अर्थ में 'अथ च' पद का व्यवहार किया गया है। अतः 'अथ च' पद का अर्थ है कि यदि दूसरा पक्ष मान भी लो कि एवं—यह प्रकृत आत्मा, नित्यजातं—लोगों में जैसी प्रसिद्धि है उसी के अनुसार (अर्थात् साधारण अज्ञानी लोगों में जैसी धारणा होती है कि आत्मा नित्यजात है अर्थात् प्रति शरीर की उत्पत्ति के साथ आत्मा का भी जन्म होता है) आत्मा को नित्यजात मन्यसे—मानो एवं नित्यं मृतं वा (मन्यसे)—उस प्रकार प्रति देह के विनाश के साथ साथ ऐसा मानो कि उस आत्मा की भी मृत्यु हो गई है तथापि—तब भी हे महाबाहो—हे शक्तिशाली अर्जुन ! [तुमने अपनी भुजाओं के द्वारा भगवान् शंकर को भी पराजित किया था। तुम तो महापराक्रमशाली हो। अतः तुम्हारी बुद्धि भी अवश्य ही प्रखर होगी। तुममें ऐसी भ्रान्त धारणा कि आत्मा भी जन्म लेती है तथा उसकी मृत्यु होती है, ऐसा अशास्त्रीय मत नहीं रहना चाहिए, यह प्रकाश करने के लिए भगवान् ने यहाँ 'महाबाहो' कहकर अर्जुन को सम्बोधन किया]। त्वं—तुम (तुम्हें) एनम्—इस आत्मा के लिए अर्थात् किसी के भी जन्म मृत्यु के लिए शोचितुम् न अर्हसि—शोक करना नहीं चाहिए क्योंकि जिस पदार्थ का जन्म होता है उसका नाश भी अवश्यम्भावी है एवं जो पदार्थ नाशवान् है उसका पुनः जन्म होना भी अवश्यम्भावी है। अतः जो स्वाभाविक है एवं जिसे प्रतिकार करने का कुछ उपाय नहीं है उसके लिए शोक करना वृथा है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—चूँकि आत्मा निर्विकार है इसलिए आत्मा के लिए शोक करना नहीं चाहिए, यह पहले ही कहा गया है। अब दो श्लोकों में भगवान् प्रतिपादन कर रहे हैं कि यदि स्वीकार कर भी लिया जाय कि आत्मा विकारशील (जन्ममरणशील) है तब भी आत्मा के लिए शोक करना नहीं चाहिए। जो लोग आत्मा को विकारशील मानते हैं उन लोगों को निम्नलिखित सम्प्रदायों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) सौगत बौद्ध लोग—इन लोगों के मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप है किन्तु प्रतिक्षण विनाशी है अर्थात् प्रतिक्षण विशेष विशेष ज्ञान के नाश के साथ साथ आत्मा भी नाश को प्राप्त होती है। (क्षण क्षण में आत्मा विनाश को प्राप्त होती है)।

(ख) लौकायतिक (चार्वाक) लोग—इनके मत में देह ही आत्मा है। आत्मा स्थिर (स्थायी) होने पर भी क्षण क्षण में इसका परिणाम होता

है। एवं यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि आत्मा की उत्पत्ति (जन्म) तथा विनाश (मृत्यु) होती है।

(ग) दूसरे चार्वाकवादी लोग—(क) कोई कोई कहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न होने पर भी देह के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है। (ख) कोई कोई कहते हैं कि आकाश आदि की तरह सृष्टि के पहले आत्मा की उत्पत्ति होती है एवं देह के भेद के अनुसार (मृत्यु के बाद भी) आत्मा का अस्तित्व रहता है (अर्थात् दूसरे देह का आश्रय कर आत्मा विद्यमान रहती है।) इस प्रकार आत्मा कल्प तक स्थायी रहकर प्रलय के समय में नाश को प्राप्त हो जाती है।

(घ) तार्किक लोग—इनके मत में आत्मा नित्य ही है किन्तु इसका भी जन्म होता है तथा मृत्यु होती है। इन लोगों के मतानुसार प्रेत्यभाव ही जन्म है (अपूर्व देह तथा इन्द्रियादि के साथ अर्थात् पहले जो विद्यमान नहीं था ऐसे देहेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध ही जन्म है) एवं पूर्व देह तथा इन्द्रियादि के साथ विच्छेद या सम्बन्ध का अभाव ही मृत्यु है। धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट ही जन्म तथा मरण का कारण है, एवं यह जन्म तथा मरण उनका आधार जो नित्य आत्मा है उसका ही मुख्यतः (वस्तुतः) हुआ करता है, अर्थात् तार्किकों के मत में जन्म तथा मरण आत्मा में आरोपित नहीं हैं, बल्कि वास्तविक हैं। आत्मा यदि अनित्य हो एवं अनित्य आत्मा को यदि धर्म तथा अधर्म का आधार माना जाय तब कृतहानि तथा अकृताभ्यागम नामक दोष का प्रसंग उपस्थित होगा (क्योंकि जिस आत्मा ने पूर्व देह में कर्म किए हैं उसका अस्तित्व अब न रहने के कारण उसे कृतकर्म के फल का भोग करना नहीं पड़ेगा तथा नवीन आत्मा में जो शुभाशुभ भोग दिखाई देते हैं वे बिना कुछ कर्म किए ही प्राप्त होगा कारण इस मतानुसार पूर्वदेह के कृत किसी कर्म के साथ नवीन आत्मा का सम्बन्ध नहीं है)। इसलिए तार्किक लोग आत्मा को नित्य मानते हैं।

(ङ) दूसरा मत इसप्रकार का है—कर्णशंकुली (कर्णछिद्र) जन्म लेने पर जिस प्रकार कहा जाता है कि कर्णशंकुली से परिच्छिन्न (सीमित) आकाश का भी जन्म हुआ है, (किन्तु वास्तविक रूप से आकाश का जन्म नहीं होता है) उसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि देह के जन्म के साथ आत्मा का जन्म होता है और देह की मृत्यु के साथ आत्मा की मृत्यु होती है तो इसका अर्थ यही है कि आत्मा का जन्म तथा मृत्यु औपाधिक हैं (अमुख्य अथवा गौण या आरोपित कहा जाता है—वस्तुतः आत्मा का जन्म तथा मृत्यु नहीं होते हैं)।

इन मतों के अनुसार आत्मा के अनित्यत्व पक्ष को स्वीकार कर लेने पर भी आत्मा शोच्य नहीं है अर्थात् आत्मा के लिए शोक करना नहीं चाहिए, इस बात का वर्तमान श्लोक में निर्देश कर रहे हैं। अथ च—'अथ' शब्द का अर्थ दूसरे पक्ष का मत मान लेने पर भी तथा 'च' शब्द को 'अपि' अर्थ में व्यवहृत किया गया है अर्थात् 'अथ च' शब्दों का अर्थ है—दूसरी ओर से विचार करने पर भी। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मवस्तु दुर्ज्ञेय है। अतः बारबार श्रवण करने पर भी आत्मतत्त्व को निश्चयरूप से अवधारण करने की सामर्थ्य न रहने के कारण, मैंने अब तक जो कहा उस प्रकार आत्मा को नित्यत्व सर्वगतत्वादि पक्ष को स्वीकार न कर यदि दूसरे पक्ष को स्वीकार करो एवं दूसरे पक्ष में जैसा आत्मा को अनित्य मानते हैं ऐसे मत का तुम भी अवलम्बन कर (अर्थात् मान लो) और एनं—इस आत्मा को नित्यजातं—नित्यजात मानो (आत्मा का क्षणिकत्व स्वीकार करो [अर्थात् (क) जैसा सौगत बौद्ध लोग वे उनके समान नित्य (अर्थात् प्रतिक्षण में) आत्मा उत्पन्न होती है, ऐसा मानो—अथवा (ख) दूसरी ओर नित्य अर्थात् नियत (नियमित भाव से) अर्थात् नियमानुसार आत्मा उत्पन्न होती है, ऐसा स्वीकार करो]।

वा एनं नित्यमृतं—(क) प्रतिक्षण में मृत्यु होती हैं अथवा (ख) नियमानुसार मृत्यु होती है, इस प्रकार लौकिक प्रतीति के अनुसार आत्मा के जन्म तथा मृत्यु की कल्पना करो तब भी हे महाबाहो—ऐसा सम्बोधन कर भगवान् अर्जुन का परिहास कर रहे हैं क्योंकि आत्मा के अनित्यत्व को स्वीकार करने से यह स्पष्ट होता है कि अर्जुन कुमत (दुष्टमत) का आश्रय कर रहे हैं अथवा—इस प्रकार के सम्बोधन का अभिप्राय यह है कि भगवान् अर्जुन के प्रति दया प्रकाश कर कह रहे हैं कि तुम्हारे लिए वैसी कुदृष्टि शोभा नहीं देती है। एवं–[मधुसूदन सरस्वती ने 'नैनं' पाठ को ग्रहण न कर 'नैवं' पाठ को ग्रहण कर व्याख्या की है]। इस प्रकार से। 'अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्' अर्थात् हाय! हमलोग महान् पाप करने में उद्यत हुए हैं—इसप्रकार तुम जो शोक कर रहे हो उसप्रकार न शोचितुम् अर्हसि—शोक करना उचित नहीं है। न अर्हसि पद का अर्थ है कि तुम योग्य नहीं हो अर्थात् तुम्हारे जैसे महाबाहु के लिए यह (इसप्रकार की कातरता) शोभनीय नहीं है। क्योंकि (१) जो लोग आत्मा को क्षण-क्षण में विनाशी मानते हैं उन क्षणिकत्व पक्षवादी बौद्ध लोगों के मत में (२) जो लोग देह को ही आत्मा मानते हैं (चार्वाक लोग) उनके देहात्मवाद पक्ष में

अथवा (३) जो लोग देह के जन्म तथा मृत्यु के साथ आत्मा के भी जन्म तथा मृत्यु को स्वीकार करते हैं उनके पक्ष में—जन्मान्तर का अभाव रहने के कारण पाप का भय रहना सम्भव नहीं है। और उसी पाप के भय से तुम शोक प्रकाश कर रहे हो यह तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं है। [इन दार्शनिकों के मतों में जब जन्मान्तर ही नहीं है तब और पाप का भय किस प्रकार रह सकता है, यही कहने का अभिप्राय है]। पुनः क्षणिकत्व पक्ष में अर्थात् जिनके मत में आत्मा प्रतिक्षण नाश को प्राप्त होता है उनके लिए बन्धुओं की मृत्यु से भी दुःख होना सम्भव नहीं है क्योंकि जिस क्षण में बन्धु का विनाश होता है उस समय जो आत्मा उस विनाश को देखती है वही ठीक उसी के बाद ही स्वयं भी विनाश को प्राप्त होती है। अतः उस आत्मा का (किसी के लिये) शोक करना सम्भव नहीं है। तथा बाद में जिस आत्मा की उत्पत्ति होती है वह भी पहले विद्यमान् न रहने के कारण बन्धु के नाश को नहीं देख पाती है। इसलिए बन्धु के नाश के कारण उसमें (उस आत्मा में) शोक होना असम्भव है। अतः क्षणिकत्ववादियों का मत मान लेने पर किसी प्रकार से शोक करना और भी असम्भव होता है। दूसरों के मतानुसार अर्थात् जो लोग आत्मा को अनित्य मानते हैं उनके मतानुसार देह की जीवितावस्था में दृष्ट दुःख के लिए शोक होना सम्भव है, इसे अनुमोदन करने के लिए श्लोक में 'एवं' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु आत्मा के अनित्यत्व को मानने वाले के मतानुसार दृष्ट दुःख के लिए (अर्थात् इहलोक में बन्धुवियोग से मुझे दुःख होगा ऐसी चिन्ता कर) शोक सम्भव होने पर भी अदृष्ट दुःख के लिए (अर्थात् परलोक में दुःख भोग करना पड़ेगा, इसलिए) शोक करना किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं है (कारण उनके मतानुसार इस समय की आत्मा भविष्यत् में नहीं रहेगी) परन्तु तुम उस अदृष्ट दुःख के लिए हो शोक कर रहे हो, यह तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

(२) श्रीधर—[यदि देह के साथ आत्मा का जन्म एवं देह के नाश के साथ आत्मा के विनाश को स्वीकार किया जाय तब भी शोक करना नहीं चाहिए—इसलिए कह रहे हैं] अथ च—यद्यपि एनम्—इस आत्माको नित्यं—सर्वदा जातं—प्रति देह के जन्म के साथ उसका जन्म होता है एवं नित्यं—सर्वदा, मृतं—देह की मृत्यु के साथ उसकी भी मृत्यु होती है मन्यसे—ऐसा मानो अर्थात् पुण्य तथा पाप एवं उनके फलभूत जन्म तथा मृत्यु आत्मा के ही होते हैं ऐसा यदि मानो तथापि—तब भी महाबाहो—

हे महाबाहो त्वम् शोचितुम् न अर्हसि—इसके लिए तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए। [क्यों नहीं चाहिये, यह परवर्ती श्लोक में कहा जा रहा है]।

(३) शंकरानन्द—आत्मा का यथार्थ विज्ञान ही (आत्मा के स्वरूप का विशेष ज्ञान ही) संसार के समस्त भ्रम को नाश कर देता है। अतः श्रीभगवान् ने उस आत्मविज्ञान का उपदेश अर्जुन को दिया किन्तु यह विज्ञान आत्मा के प्रसाद के विना प्राप्त होना सम्भव नहीं है। अतः भगवान् ने जब देखा कि उनके उपदेश के द्वारा अर्जुन के हृदय में आत्मविज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई तब वे दूसरे प्रकार से अर्जुन के शोक को दूर करने के लिए कहने लगे।

महाबाहो—हे महाशक्तिशालिबाहुधारी—अर्जुन! [इस सम्बोधन के द्वारा अर्जुन के प्रति भगवान् की व्यंगोक्ति प्रकाशित हो रही है (क्योंकि अर्जुन महाशक्तिशाली होकर भी साधारण व्यक्ति के सदृश मानसिक दुर्बलता-वश शोक कर रहा है)]। च-अथवा यदि एनम्-पूर्वोक्त आत्मानं नित्यजातं-जब जब देह की उत्पत्ति होती है तब-तब ही देह के साथ आत्मा की उत्पत्ति होती है एवं नित्यमृतम्—देह की मृत्यु के साथ आत्मा की भी मृत्यु हो जाती है—ऐसा मूढ़व्यक्ति के समान (तरह) मन्यसे—तुम मानो तथापि—तब भी (अर्थात् उस पक्ष को मानने पर भी) न एनं शोचितुम् अर्हसि—इस आत्मा के लिए तुम्हें ['नाहीं वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्' (अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मुझे मारना नहीं चाहिए) ऐसा कहकर] शोक करना नहीं चाहिए।

(४) नारायणी टीका—आत्मा अज्ञ, नित्य, अविकारी एवं देहादि से भिन्न है—इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निर्णय कर आत्मा के लिए किसी प्रकार से भी शोक करना उचित नहीं है, यह श्लोक १२–२५ में कहा गया है। बुद्धि की विकलता के कारण यदि कोई ऐसा सोचे कि देह के जन्म के साथ आत्मा का जन्म तथा देह की मृत्यु के साथ आत्मा की मृत्यु होती है, तब भी उसे बन्धुओं की मृत्यु की आशंका कर शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि मृत्यु सबके लिये ही अवश्यम्भावी है। परवर्ती श्लोक में इसे ही स्पष्ट कर कहा गया है।

[आत्मा को जन्म मरणशील मानने पर भी शोक क्यों नहीं करना चाहिए, उसे ही अब स्पष्ट कर कहा जा रहा है]।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अन्वय—हि (यस्मात्) जातस्य मृत्युः ध्रुवः, मृतस्य च जन्म ध्रुवं, तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं न शोचितुम् अर्हसि ।

अनुवाद—चूँकि जन्मग्रहण करने पर भी मृत्यु निश्चित है एवं मृत व्यक्ति का पुनर्जन्म भी निश्चित है; अतः जन्म तथा मरणरूप अपरिहार्य विषय में (अर्थात् जिस जन्म मृत्युरूप विषय का किसी भी प्रकार से प्रतिरोध नहीं किया जा सकता है उस अवश्यम्भावी विषय में) तुम्हें किसी भी प्रकार से शोक करना नहीं चाहिए ।

दीपिका—हि—चूँकि जातस्य—जिनका जन्म हुआ है अर्थात् अपने ही कर्म के कारण जिन्हें शरीरादि के साथ संयोग प्राप्त हुआ है ऐसे स्थिर आत्मा का (मधुसूदन) मृत्युः—मरण (शरीरेन्द्रिय से वियोग) ध्रुवः—अव्यभिचारी अर्थात् निश्चित है क्योंकि शरीर के आरम्भक (प्रारब्ध) कर्म के क्षय (नाश) होने से मृत्यु अवश्य ही होगी । एवं मृतस्य च जन्म ध्रुवं—एवं मृत का भी जन्म ध्रुव (अव्यभिचारी) है अर्थात् निश्चित है [क्योंकि देह के द्वारा जो कर्म किया जाता है उसका फलभोग अवश्य ही करना पड़ेगा अतः उसे अवश्य ही जन्म लेना पड़ेगा (मधुसूदन)] । तस्मात्—अतः अपरिहार्ये अर्थे—अपरिहार्य विषय में अर्थात् जिसे परिहार या रोध नहीं किया जा सकता है उस जन्ममरणरूप अर्थ में (विषय में) त्वं—तुम न शोचितुमर्हसि—शोक नहीं कर सकते हो [क्योंकि तुम्हारे युद्ध से निवृत्त होने पर भी इन लोगों की मृत्यु प्रारब्ध कर्म के अन्त होने पर अवश्य ही होगी] । कहने का अभिप्राय यही है कि, जन्म तथा मृत्यु जब पूर्ववर्ती कर्मों के अनुसार अवश्यम्भावी (निश्चित) है, तब उसके लिए तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए ।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—पृथ्वी प्रभृति पंचभूतों का जब तक प्रलय नहीं होता है तब तक आत्मा स्थायी रहती है ऐसा मानकर (अर्थात् तार्किकों के अनुसार आत्मा प्रलय काल तक नित्य रहती है, ऐसा मानकर) दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकार के दुःखों के लिए मैं शोक कर रहा हूँ, अर्जुन यदि ऐसा कहे तो उसके उत्तर में श्रीभगवान् अब कह रहे हैं—

जातस्य हि मृत्युः ध्रुवः—स्वकृत धर्माधर्मादि के कारण शरीर तथा इन्द्रियादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्थापित होने पर अज्ञानी की दृष्टि से

आत्मा का जन्म माना जाता है एवं शरीर के आरम्भक कर्म क्षय होने पर उस शरीर से आत्मा के सम्बन्ध का विच्छेद होने को मृत्यु कहा जाता है। संयोग होने पर अन्त में वियोग अवश्य ही होगा। अतः जन्म होने पर मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। पुनः ध्रुवं जन्म मृतस्य च—मृतव्यक्ति का जन्म भी ध्रुव है क्योंकि पूर्ववर्ती देह में जो कर्म किया गया है उस का फलभोग अवश्य ही करना पड़ेगा अर्थात् मरण के बाद जन्म भी अवश्यम्भावी है। संस्काररूप वासना की उत्पत्ति कर्म से होती है एवं जब तक पुरुष में संस्काररूप वासना रहती है (अर्थात् शास्त्रीय भाषा में पुरुष 'अनुशय' के साथ वर्तमान रहता है) तब तक जन्म के बाद मरण तथा मरण के बाद जन्म का प्रवाह चलता रहता है; यहीं साधारण नियम है। किन्तु जीवन्मुक्त पुरुष के बारे में इस नियम का व्यभिचार रहता है अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष को मृत्यु के बाद जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता है क्योंकि ज्ञानाग्नि के द्वारा उसका समस्त कर्मसंस्कार नष्ट हो जाता है (अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष में 'अनुशय' नहीं रहता है)। कर्तृत्वाभिमान तथा कर्म में आसक्ति तथा कर्म करते हुये फल के लिये स्पृहा (कामना)–यह तीनों जब तक रहते हैं तब तक जन्म मृत्यु के चक्र से उद्धार पाने की सम्भावना नहीं है। आत्मस्वरूप में सदा स्थित जीवन्मुक्त पुरुष में ये तीनों वर्त्तमान नहीं रहते हैं; इसलिए उनलोगों को जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता है। वर्तमान देह को मृत्यु के बाद वे लोग विदेह कैवल्य प्राप्त करते हैं। तस्माद् अपरिहार्ये अर्थे–जिसे परित्याग नहीं किया जा सकता है उस जन्म तथा मृत्युरूप अर्थ में (विषय में) न त्वं शोचितुम् अर्हसि—तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए। बाद में भी भगवान् कहेंगे—'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' (गीता ११।३२) अर्थात् तुम्हारे युद्ध न करने पर भी इन लोगों में से कोई भी नहीं बचेगा। यदि तुम्हारे युद्ध न करने पर (तुमसे विहत न होने पर) ये लोग (भीष्म द्रोणादि) बच जाते तब तुम्हें दुःख करना उचित ही होता किन्तु इनलोगों के प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर ये लोग स्वयं ही मर जायेंगे। अतः इन लोगों की मृत्यु जब अपरिहार्य है अर्थात् तुम जब किसी प्रकार से ही निवारण करने में समर्थ नहीं हो तब तुम्हें दृष्ट दुःख के लिए शोक करना नहीं चाहिए। अब अर्जुन के मनमें प्रश्न हो सकता है—मान लिया कि भीष्म पितामह आदि की मृत्यु से उत्पन्न दृष्ट दुःख के लिए शोक करना नहीं चाहिए, किन्तु उन लोगों के साथ युद्ध कर उन लोगों के वध का अर्थात् मृत्यु का निमित्त (हेतु) होने पर हमें जो पाप होगा उस पाप के लिए तो अदृष्ट दुःख (परलोक में दुःख) भोग करना पड़ेगा। अतः अदृष्ट

दुःख के लिए क्यों नहीं शोक करूँगा ? इसके उत्तर में भगवान् पूर्ववत् कह रहे हैं कि तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए क्योंकि तुम क्षत्रिय हो एवं युद्ध तुम्हारे लिए अपरिहार्य अर्थ (विषय) है। अग्नि होत्रादि की तरह शास्त्रों के द्वारा युद्धरूप कर्म को क्षत्रिय के लिए कर्तव्य रूप में निर्दिष्ट किया हो अतः क्षत्रिय के लिये वह नियत (नित्य) कर्म अवश्य कर्त्तव्य है। युध् धातु से (सम्प्रहार अर्थ में) युद्ध शब्द को निष्पन्न किया गया है। अतः युद्ध शब्द का अर्थ है इस प्रकार से शस्त्र के द्वारा प्रहार करना ताकि वह शत्रु के प्राणवियोग के अनुकूल या सहायक हो; किन्तु वह क्षत्रियों के लिए विहित कर्म होने के कारण अग्निषोमीयादि की तरह अर्थात 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत (अग्निषोम देवता के उद्देश्य से पशुवध करेंगे, शास्त्र में ऐसा विहित रहने के कारण) अग्निषोमीयादि यज्ञ में पशुबलिरूप हिंसा से जिस प्रकार पाप नहीं है उसी प्रकार क्षत्रिय के लिए युद्ध में शत्रुवध करना भी पापजनक नहीं है। स्मृति संहिताकार गौतमने इसोलिए कहा है—'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र व्यश्वा-सारथ्यनायुधकृतांजलिप्रकीर्णकेशपरांगमुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवा - दिभ्यः' अर्थात् युद्ध में अश्वविहीन, सारथिहीन अस्त्ररहित कृतांजलि, प्रकीशी अर्थात् विक्षिप्त केश, युद्धविमुख, उपविष्ट, भूमि में स्थित, वृक्षारूढ़, दूत, गो यथा ब्राह्मण को अर्थात् अपनी रक्षा के लिए जो गो, ब्राह्मण इत्यादि कहकर प्रकाश करता है, ऐसे व्यक्ति के अतिरिक्त युद्ध में प्रवृत्त अन्य व्यक्तियों की हिंसा (वध) करने से कोई दोष (पाप) नहीं होता है। यहाँ ब्राह्मण शब्द का अर्थ है अयोधा ब्राह्मण (जो ब्राह्मण युद्ध में समागत नहीं हुआ है वह ब्राह्मण) क्योंकि अयुध्यमान (युद्ध नहीं कर रहा है ऐसा) गो प्रभृति अनेक शब्दों के साथ पठित होने के कारण ब्राह्मण-शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही ठीक है (किन्तु युद्ध करने में प्रवृत्त विपक्षी ब्राह्मण को यदि क्षत्रिय सन्मुख समर में मार भी दे, तव काई पाप नहीं होता है, यही कहने का अभिप्राय है)। 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (गीता २।३१) श्लोक की व्याख्या में इसे और स्पष्ट रूप से कहा जायगा। (क) अतः अग्नि-होत्रादि की तरह युद्धरूप विषय शास्त्र में विहित होने के कारण वह अपरिहार्य है (परिहार या त्याग करने के योग्य नहीं है) क्योंकि युद्ध न करने पर क्षत्रिय के लिए प्रत्यवाय (पाप) होता है। अतः अदृष्ट दुःख के भय से (हिंसा करने पर मृत्यु के बाद पापमति प्राप्त करना पड़ेगा इस प्रकारदु ख प्राप्ति के भय से) युद्ध विषय में (युद्ध का भावी फल कल्पना कर) तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए। [यहाँ 'अपरिहार्येऽर्थे' शब्द का अर्थ है-(क) जो युद्ध तुम्हारे

लिए परिहार करने के योग्य नहीं है (परिहार करने से पाप होगा) उस युद्ध के अर्थ में (विषय में)। (ख) 'य आहवेषु युध्यन्ते भूम्यर्थमपरांगमुखाः। अकूटैर्वायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा' (जो लोग युद्ध से विमुख न होकर एवं कूट अर्थात् छल कपटता के साथ गुप्त अस्त्रों को ग्रहण न कर देश की रक्षा के लिए युद्ध करते हैं वे लोग योगियों की तरह स्वर्ग में जाते हैं; याज्ञवल्क्य के इस वचन के अनुसार एवं 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (गीता २।३७) अर्थात् तुम यदि युद्ध में हत होओ तब अवश्य ही स्वर्ग को प्राप्त कर सकोगे और युद्ध में विजय प्राप्त करने पर पृथ्वी को भोग कर सकोगे, इसप्रकार भगवान् के वचन के अनुसार यदि युद्ध नामक कर्म को काम्यकर्म मानो तब भी (जो प्रारब्धकर्म शुरू हो गया है वह कर्म काम्य होने पर भी) उसकी समाप्ति अवश्य होनी चाहिए। अतः वैसा कर्म भी नित्यकर्म के ही तुल्य (समान) है। तुमने (क्षत्रिय होकर) जब युद्ध आरम्भ कर दिया है—तब उसे अवश्य ही समाप्त करना चाहिए (क्योंकि उसे न करने से पाप होगा)। अथवा आत्मा के नित्यत्व को स्वीकार कर इन दो श्लोकों की (२६-२७ श्लोक की) व्याख्या इस प्रकार करनी पड़ेगी। क्योंकि अर्जुन परम आस्तिक हैं, उसके लिए वेदविरुद्ध नास्तिक मत को (आत्मा अनित्य है, इत्यादि मत को) स्वीकार करना असम्भव है। आत्मा के नित्यत्व को मानने पर श्लोक के अक्षरों को इस प्रकार रक्खा जायगा—अथ च एनं—यदि इसे (आत्मा को) नित्यजातं—'नित्यश्चासौ देहेन्द्रियसम्बन्ध-वशात् जातश्चेति' अर्थात् वह आत्मा नित्य है, पुनः देह तथा इन्द्रियादि के साथ सम्बन्धित होने पर इसकी उत्पत्ति भी होती है, इसप्रकार नित्यजात अर्थात् आत्मा को नित्य होने पर भी यदि ऐसा मानों कि इसकी उत्पत्ति होती है एवं नित्यं वा मृतम् मन्यसे—वह (आत्मा) नित्य होने पर भी यदि उसे मृत मानों तथापि त्वं एनं न शोचितुम् अर्हसि—तब भी इस आत्मा के लिए शोक करना नहीं चाहिए, ऐसी प्रतिज्ञा कर जातस्य हि—इत्यादि कहकर २७ वें श्लोक में यह बता रहे हैं कि क्यों नहीं शोक करना चाहिए। नित्य आत्मा की जातत्व (जन्म) एवं मृतत्व (मृत्यु) किस प्रकार होती है, यह पहले ही कहा गया है। दूसरे पदों का भी अर्थ स्पष्ट है। भाष्य के (शंकरभाष्य के) अर्थ को भी इस पक्ष में योजित कर लेना पड़ेगा।

(२) श्रीधर—[किसलिए शोक नहीं करना चाहिए, अब कह रहे हैं] हि—चूँकि जातस्य—जात व्यक्ति की ध्रुवः मृत्युः—प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर मृत्यु निश्चित है एवं मृतस्य च जन्म ध्रुवं—मृत व्यक्ति का

भी देह के द्वारा किये गये कर्म के लिए (अर्थात् पूर्वकृत कर्म के फल भोग के लिए) जन्म निश्चित है। तस्मात्—अतः अपरिहार्यें अर्थे—जन्ममरणलक्षण-रूप अवश्यम्भावी विषय में त्वं—विद्वान् तुम शोचितुम् न अर्हसि—शोक करने के योग्य नहीं हो अर्थात इस प्रकार शोक करना अविवेको मूर्ख के लिए ही शोभनीय है किन्तु तुम विद्वान् हो, अतः तुम्हारे लिए इसप्रकार शोक करना शोभनीय नहीं है।

(३) शंकरानन्द—[यदि आत्मा को नित्यजात तथा नित्यमृत स्वीकार करो तब तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए] हि—क्योंकि जातस्य—जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु—मृत्यु ध्रुवः—अवश्यम्भावी है उस प्रकार मृतस्य च—मृतव्यक्ति का भी जन्म—पुनः जन्मग्रहण करना ध्रुवं—अवश्यम्भावी है अर्थात् जन्म के बाद मरण एवं मरण के बाद जन्म, यह नियम दिन-रात की तरह अव्यभिचारी है अर्थात् इस नियम अन्यथा नहीं हो सकता है। तस्मात्—अतः अपरिहार्यें अर्थे—जिस विषय को ब्रह्मा भी परिहार (अन्यथा) नहीं कर सकते हैं उस विषय में त्वं शोचितुम् न अर्हसि—मेरे आत्मीय बन्धु भीष्मादि की मृत्यु हो रही है, ऐसा सोचकर तुम्हे शोक करना नहीं चाहिए।

(४) नारायणी टीका—श्रीभगवान् ने अति स्पष्ट रूप से कहा कि तात्त्विक दृष्टि से आत्मा की जन्ममृत्यु नहीं है। किन्तु देहात्मज्ञानी जीव यह बात कभी भी मानना नहीं चाहते हैं कि देह का जन्म तथा मृत्यु होने पर भी आत्मा की जन्म मृत्यु नहीं होती है। किन्हों-किन्हीं के मत में ही (यथा मुसलमानों के मत में) आत्मा को मृत्यु के बाद दूसरे शरीर का ग्रहण नहीं करना पड़ता है। उनलोगों के मतानुसार यदि अपने जीवन में कोई अच्छे (शुभ) काम करे तब उसे अनन्तस्वर्ग की प्राप्ति होती है एवं बुरे (अशुभ या पाप) काम करने पर उसे अनन्त नरक की प्राप्ति होती है। किन्तु वैदिक मतानुसार पूर्ववर्ती जन्म में किये गये धर्माधर्मरूप कर्मों से जो प्रारब्ध कर्म फल प्रदान करने के लिए उन्मुख (तैयार) होता है उसी के अनुसार ही जन्म होता है तथा प्रारब्ध का क्षय होने पर मृत्यु होती है। पुनः नये प्रारब्ध के अनुसार कर्मफल भोग करने के लिए जन्म तथा मृत्यु होती है। इसप्रकार जब तक अज्ञानवश देह में आत्माभिमान रहता है (अर्थात् जब तक ऐसी अपरोक्षानुभूति नहीं होती है कि मैं देहादि दृश्य जड़वस्तु नहीं हूँ—मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही हूँ) तब तक जन्ममृत्यु का प्रवाह चलता रहता

है। अज्ञान जब तक रहता है तब तक देह का जन्म तथा मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतः किसी प्रकार से ही उसको परिहार करना सम्भव नहीं है। इसलिए भागवत में कहा गया है—'मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते। अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥' (भा० १०।१।३८) । अत एव इस प्रकार अपरिहार्य जन्म मृत्यु के विषय में शोक करना वृथा है। यद्यपि अज्ञानी लोग उसी विषय में शोक करते हैं किन्तु तुम तो अर्जुन अर्थात् विवेकबुद्धि सम्पन्न हो; आत्मा के यथार्थ स्वरूप को (अर्थात् आत्मा जन्ममरणरहित अविकारी नित्यवस्तु है, यह) अवधारण कर तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए।

[अच्छा, आत्मा अशोच्य होने पर भी कार्य-कारण संघातरूप अर्थात् पृथ्वी आदि पंचभूतों के समष्टिरूप इस शरीर के उद्देश्य से ही शोक कर रहा हूँ, अर्जुन ऐसा कह सकता है। श्रीभगवान् इस श्लोक में उसी शंका का अपनोदन (समाधान) कर रहे हैं]।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अन्वय—हे भारत ! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि तथा अव्यक्त-निधनानि एव, तत्र का परिदेवना ।

अनुवाद—इन पंचभूतों का समष्टिरूप देह पहले अव्यक्त था (जन्मके अव्यवहित पूर्व में अर्थात् पहले नामरूप न रहने के कारण इसकी उपलब्धि नहीं होती थी), जन्म के बाद एवं मृत्यु की पूर्वावस्था तक केवल यह व्यक्त रहता है (इसके नामरूप की उपलब्धि होती है) एवं मृत्यु के बाद भी यह अव्यक्त हो जायगा [अर्थात् उसकी अनुपलब्धि (अदर्शन) होगी]। अतः जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं था एवं बाद में भी कोई अस्तित्व नहीं रहेगा ऐसे देह के लिए शोक करने का क्या कारण हो सकता है ?

दीपिका। हे भारत—तुम शुद्ध भरत वंश में उत्पन्न हुए हो। अतः शास्त्रीय अर्थ को समझने की योग्यता तुममें है, यह स्मरण करा देने के लिए श्रीभगवान् अर्जुन को 'भारत' कह कर सम्बोधन कर रहे हैं। भूतानि—पुत्र मित्रादि के शरीरों। [कार्य तथा कारण के द्वारा (कार्य अर्थात् देह एवं करण अर्थात् इन्द्रियादि तथा अन्तःकरण के द्वारा) संहत शरीर अथवा पृथ्वी आदि पंचभूतों के विकाररूप शरीर को 'भूत' कहा जाता है। वे सब] अव्यक्तादीनि—आदि में (उत्पत्ति के पूर्व में) अव्यक्त अर्थात् अदर्शन प्राप्त

या अनुपलब्ध (अदृश्य) थे [क्योंकि उत्पत्ति के पहले शरीर का नाम तथा रूप नहीं था]। व्यक्तमध्यानि--बीच में अर्थात् जन्म के बाद से मरण के पूर्व तक व्यक्त अर्थात् उपलब्ध रहते हैं। अव्यक्तनिधनानि एव--पुनः अव्यक्त ही (अदर्शन ही) जिनका निधन (मरण) है उन्हें अव्यक्तनिधन कहा जाता है अर्थात् मृत्यु के बाद वे पुनः अव्यक्तभाव को प्राप्त होते हैं अर्थात् अदृश्य हो जाते हैं। तत्र--इस विषय में अर्थात् पहले अदृष्ट (जिसे देखा नहीं जा सकता है) बीच में केवल दृष्ट (देखा जा सकता है) एवं बाद में नष्ट हो जाते हैं ऐसे भ्रान्तिमय अर्थात् मिथ्याभूत (मायिक) तुच्छ भूतों के लिए का परिदेवना--परिदेवना अर्थात् प्रलाप करने का अवकाश कहाँ है अर्थात् इनके लिए दुःख बोध कर रोदन तथा आर्तनाद करने के लिए क्या युक्ति रह सकती है ?

[जिस प्रकार स्वप्नावस्था में अनुभूत पदार्थ अथवा इन्द्रजाल प्रभृति से प्रतीत वस्तुएँ शुक्ति में आरोपित रजत की तरह 'प्रतिभासमानजीवन' हैं अर्थात् जितने दिन तक उनकी प्रतीति है उतने दिन तक ही उनकी सत्ता रहती है प्रतीति के पहले भी नहीं या तथा बाद में भी उनकी सत्ता नहीं रहती है। जाग्रदवस्था की वस्तुएँ भी वैसी ही हैं अर्थात् यावत् दृष्टि तावत् सृष्टि (पुरुष अविद्या के कारण कल्पना कर जब तक जगत् के चित्र के प्रति दृष्टि रखता है तब तक ही वे पदार्थ प्रतीत होते हैं) किन्तु पहले तथा बाद में उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता है। इस प्रकार ये समस्त भूत भी आदि में तथा अन्त में नहीं रहते हैं केवल मध्यावस्था में ही वे दिखते हैं; अतः वे असत् हैं, उनकी कोई वास्तविक सत्ता या अस्तित्व नहीं है। इसीलिए भगवान् ने कहा है—"नासतो विद्यते भावः" (गीता २।१६) इत्यादि। महाभारत में भी कहा गया है—

"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना॥"

अर्थात् इस संसार की उत्पत्ति अदर्शन से हुई है एवं पुनः अदर्शन प्राप्त हो जाता है। अतः यह संसार तुम्हारा नहीं है, तुम भी इसके नहीं हो, तब क्यों वृथा यह परिदेवना (शोक) ? अत्यन्त ग्रामीण व्यक्ति भी स्वप्नावस्था में अनेक बन्धुओं से साक्षात्कार कर जाग्रदवस्था में उनके विरह में शोक करने नहीं लगता है अतः स्वप्न तथा इन्द्रजाल की तरह भीष्मादि के शरीर के लिए तुम्हें शोक करना नहीं चाहिए, यही भावार्थ है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक की व्याख्या भाष्यानुसार कर दूसरे प्रकार से भी व्याख्या (श्लोकों की आकाश आदि महाभूतों की उत्पत्ति के निर्देश के लिए योजना कर) की है अव्यक्तादीनि–अव्यक्त शब्द का अर्थ अव्याकृत अर्थात् अविद्या के द्वारा उपहित चैतन्य, यह है आदि अर्थात् जिनकी पूर्वावस्था एवं व्यक्तमध्यानि—जिनका मध्य अर्थात् स्थिति अवस्था व्यक्त अर्थात् अविद्याकल्पित नामरूप के द्वारा प्रकटीभूत हुआ है (किन्तु जो अपने परमार्थ सदात्मस्वरूप में प्रकाशित नहीं हुआ हैं), अतः जो सत् (सत्य) वस्तु नहीं हैं, ऐसे आकाशादि सभी भूत अव्यक्तनिधनानि एव—अव्यक्त में ही निधन (लय) को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् घट आदि वस्तु जिस प्रकार अपने कारण मृत्तिका में ही लय हो जाती है उसी प्रकार ये समस्त महाभूत अपने कारण अव्यक्त में ही (अविद्या उपहित चैतन्य में ही) लय हो जाते हैं। तत्र का परिदेवना— अतः उनके लिए परिदेवना का (दुःख प्रलाप का) क्या हेतु रह सकता है ? श्रुति भी कहती है "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" (बृह० उ० १।४।७) अर्थात् यह जगत् उत्पत्ति के पूर्व अव्याकृत (कारण) स्वरूप में था। वह अव्याकृत नामरूप के द्वारा व्याकृत होकर प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार कहकर श्रुति ने 'अव्यक्त ही समस्त प्रपंच का उपादान है', यह दिखाया। चूँकि कारण में ही कार्य का लय होता है अतः उस अव्याकृत में ही प्रपंच का लय होता है; अतः अज्ञान द्वारा कल्पित होने के कारण आकाश आदि महाभूत तुच्छ हैं। इन महाभूतों के लिए शोक करना जब अनुचित है तब उनके कार्यरूप देह तथा इन्द्रिय के संघातरूप (समष्टिरूप) पुत्र मित्रादि के लिए शोक करना भी उचित नहीं है। इसमें और कहने को क्या है ? अथवा—अव्यक्त ही जब सभी का आदि (कारण) है, तब अव्यक्त ही (सभी की मृत्यु के बाद भी) विद्यमान रहेगा। अतः जब उनके अव्यक्त-स्वरूप का कभी भी विच्छेद या नाश नहीं होगा तब उनके लिए (पुत्र मित्रादि के विच्छेद या नाश के लिए) प्रलाप करना अनुचित है।

(२) श्रीधर—[देहादि के स्वभाव की पर्यालोचना कर (विचारकर) देह आदि उपाधियों से विशिष्ट आत्मा के जन्म-मरण में शोक करना नहीं चाहिए। इसलिए कह रहे हैं—] हे भारत ! अव्यक्तादीनि—अव्यक्त ही अर्थात् प्रधान ही जिनका आदि है अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व का रूप है, वे भूतानि—(प्राणियों के) शरीर। [कारण में जो स्थित रहता है उसी की ही उत्पत्ति सम्भव है। अतः सब प्राणी उत्पत्ति के पहले अव्यक्त या प्रधान में

स्थित रहते हैं एवं इसलिए प्रधान से ही उनकी उत्पत्ति (सृष्टि) होती है]। व्यक्तमध्यानि—जन्म तथा मरण के मध्यावस्था में प्रकटीभूत (प्रकाशित) रहते हैं। पुनः अव्यक्तनिधनानि एव—अव्यक्त में ही (स्वीयकरण प्रधान में ही) उनका निधन (लय) होता है। तत्र का परिदेवना—इन भूतों के लिए परिदेवना अर्थात् शोक के निमित्त विलाप क्यों करना है ? (अर्थात् ऐसे भूतवर्ग के लिए शोक अथवा विलाप करना अनुचित है क्योंकि जो पहले तथा अन्त में नहीं रहता है, केवल बीच में प्रतीत होता है, वह मिथ्या है।) जाग्रत व्यक्ति को जिसप्रकार स्वप्न में देखी गई वस्तु के लिए शोक करना नहीं चाहिए उसीप्रकार उन भूतों के लिए भी विद्वान् व्यक्ति को शोक करना अनुचित है।

(३) शंकरानन्द—भीष्मादिवाच्य समस्त देह माया का कार्य है। अतः 'वे मेरा' ऐसा सोचकर कभी भी इनके लिए शोक करना उचित नहीं है, यह सूचित करने के लिए भगवान् अव्यक्तादीनि इत्यादि कह रहे हैं।

भूतानि—[जो उत्पन्न होता है उसे भूत (भू+क्त प्रत्यय) कहा जाता है अर्थात्—] सब शरीर अव्यक्तादीनि—अव्यक्त से व्यक्त हुये हैं। [नाम, रूप तथा गुण आदि के द्वारा जिस को स्वरूप व्यक्त (प्रकट) नहीं होता है अर्थात् नाम रूप तथा गुण आदि में सत्यत्व बुद्धि जबतक रहती है तबतक सत्ताशून्य होते हुये भी जिसका स्वरूप (मिथ्यात्व) जीव के निकट व्यक्त (स्पष्ट) नहीं होता है वह अव्यक्त अर्थात् माया है। उस अव्यक्तरूप माया से जीव का आदि (अर्थात् शरीर आदि का जन्म) होने के कारण शरीर को 'अव्यक्तादि' कहा जाता है]। किन्तु वे सब व्यक्तमध्यानि—मध्यावस्था में व्यक्त रहते हैं। इस प्रकार से देव, तिर्यक् , मनुष्य, ब्राह्मण आदि सभी 'व्यक्तमध्य') हैं क्योंकि वे मध्यावस्था में (उत्पत्ति के बाद से मुक्ति के पूर्व तक) आभास के रूप में अपने-अपने (कल्पित) नाम तथा रूप को प्राप्त होते हैं। पुनः वे अव्यक्तनिधनानि एव—अव्यक्तरूप माया में ही निधन या लय को प्राप्त हो जाते हैं। तत्र का परिदेवना—ऐन्द्रजालिक निर्मित पदार्थ की तरह नामरूपक्रियात्मक समस्त दृष्ट जगत् नष्टस्वरूप ही है (अर्थात् देखते-देखते ही नाश को प्राप्त हो जाता है)। इसलिए समस्त शरीर ही माया का कार्य है। 'यथा स्वप्नप्रपंचोऽयं मयि मायाविजृम्भितः। तथा जाग्रत् प्रपंचोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ॥' इसप्रकार शास्त्र वचन के द्वारा यह पता चलता है कि स्वप्न पदार्थ की तरह यह समस्त जाग्रतकालीन पदार्थ भी

मायिक हैं। जो यह जान गया है कि ये समस्त ही माया का कार्य है, उस पुरुष का मायाकार्य में इसप्रकार का शोक कि 'ये मेरे द्वारा हत (नष्ट) हुए हैं,' कैसे हो सकता है अर्थात् मिथ्याभूत पदार्थों में किस प्रकार से परिताप या दुःख हो सकता है ? इसके द्वारा भगवान् यह सूचित कर रहे हैं कि विद्वान् व्यक्ति में (ज्ञानी में) जागतिक विषय के प्रति शोक होना सम्भव नहीं है।

अथवा श्लोक की व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है।

अव्यक्तादीनि—सभी प्रमाणों के द्वारा जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है वह अव्यक्त अर्थात् परम ब्रह्म है। उस ब्रह्म को ग्रहण न करने के कारण जिसकी आदि या उत्पत्ति होती है वह समस्त ही अव्यक्तादि है। वे ऐसे हैं भूतानि—समस्त भूत [शुक्ति को यथार्थ रूप से ग्रहण न करने के कारण जिस प्रकार रजतभ्रान्ति होती है उसी प्रकार दृश्य जगत् परब्रह्मरूपी आत्मा को ग्रहण न करने के कारण उसमें ही (परब्रह्म में ही) कल्पित होकर (भ्रान्तिवश) दृश्य जगत् प्रतिभासित होते हैं]। पुनः ये समस्त भूत व्यक्त-मध्यानि—मध्य में ही व्यक्त होते हैं (दिखते हैं)। [सभी को जो प्रकाशित (व्यक्त) करता है उसे व्यक्त कहा जाता है। अतः व्यक्त का अर्थ है अन्तः-करण। यह अन्तःकरण जिनके मध्य में (स्थितिकाल में) विद्यमान रहता है उन्हें (उन भूतों को) 'व्यक्तमध्यानि' कहा जाता है क्योंकि अन्तःकरण ही देव, तिर्यक् , मनुष्यादि के भेद, स्त्रीपुरुष के भेद, (पिता पुत्रादि के भेद तथा) मैं, मेरा इत्यादि सम्बन्ध के भेद की कल्पना कर जगत प्रपंच का निर्वाह कर रहा है। जब तक अधिष्ठान का दर्शन नहीं होता है तब तक वासनायुक्त अन्तःकरण के द्वारा ही इन भूतों की सत्ता, स्फूर्त्ति इत्यादि रहती है। इस कारण से भूत को 'व्यक्तमध्यानि' कहा जाता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है—'मनोवृत्तिमयं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' अर्थात् सभी द्वैत वस्तु ही मनो-वृत्तिमय है, अद्वैत वस्तु ही पारमार्थिक सत्य वस्तु है]। पुनः अव्यक्त-निधनानि एवं—अव्यक्त में अर्थात् अपने अधिष्ठानसत्तारूप ब्रह्म में निधन (अन्त या लय) हो जाता है। जब तक अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता है अर्थात् अधिष्ठान का साक्षात्कार नहीं होता है तब तक ये भूत (जागतिक दृश्यवस्तु) मरीचिका के जल की तरह स्वतः स्वरूपवान् प्रतीत होते हैं और अधिष्ठान के साक्षात्कार के बाद सब अधिष्ठानमात्र ही हो जाता है—अधिष्ठान से पृथक् और कुछ नहीं रहता है। तत्र का परिदेवना—ऐसे अधिष्ठान को न जानने के कारण मरीचिका के जल की तरह विस्तारित प्रति-

भासमान ऐसे देहादि सर्वप्रपंच में जब अधिष्ठान सत्ता का साक्षात्कार कर विद्वान् ऐसा जान जाते हैं कि 'सब ही ब्रह्म है' तब और उनको परिदेवना अर्थात् सन्ताप का अवकाश कैसे रह सकता है ?

(४) नारायणी टीका—वेद आदि सभी शास्त्रों का सिद्धान्त यह है कि एकमात्र सर्वभूतात्मा अखंडाद्वय पूर्ण ब्रह्म ही सत्य वस्तु है। इस ब्रह्म में एक स्पन्दन या कल्पनाशक्ति है, जिसे माया कहा जाता है। अग्नि की दाहिकाशक्ति की तरह ब्रह्म का यह स्वभाव है तथा कल्पना कोई वस्तु नहीं है इसलिए माया को स्वीकार करने पर भी ब्रह्म के अद्वैतस्वरूप की हानि नहीं होती है। जगत् की सृष्टि इस कल्पना या माया से होती है। अव्यक्त अर्थात् सभी प्रमाणों का अविषय जो ब्रह्म है वही जगत् प्रपंच का आदि (उत्पत्ति स्थान) है। माया के द्वारा रचा हुआ (अर्थात् कल्पित) नाम रूपात्मक प्रपंच ब्रह्मरूप अधिष्ठान में व्यक्त (प्रकट) होता है। पुनः चित्तस्पन्दन (कल्पना) जब एकदम नहीं रहती है तब यह प्रपंच ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। जैसे कि रज्जु में सर्पभ्रान्ति (यह सर्प है—ऐसी मिथ्या के द्वारा भ्रान्ति) तबतक रहती है जबतक अधिष्ठानरूप रज्जु का साक्षात्कार होकर उस भ्रान्त कल्पना का अन्त नहीं होता है; उसी प्रकार एकमात्र अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप परमात्मा में ही (अव्यक्त में ही) माया या कल्पनाशक्ति के द्वारा यह विश्व [सृष्टि के बाद एवं निधन (लय) के पहले अर्थात् मध्यावस्था में] व्यक्त (प्रकट) होता है तथा आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही विश्व प्रपंच अव्यक्त में (ब्रह्म में) निधन (निःशेष) को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए व्यासदेव ने कहा है 'मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले। रज्ज्वौ भुजंगवत् भ्रान्त्या विचारे नास्ति किंचन।' जिसकी सत्ता आदि या अन्त में प्रतीत नहीं होती है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा)। अतः यह शरीर आदि जब काल्पनिक तथा सत्ताहीन (मिथ्या) हैं तब इनके लिए परिदेवना (शोक) करने का क्या हेतु रह सकता है ? अर्थात् इनके लिए शोक करना मूर्खता का ही परिचय है।

[किन्तु अनेक विद्वान् व्यक्ति भी तो बन्धुजनों के वियोग में शोक करते हैं तब केवल क्यों मुझे ही बराबर तिरस्कार कर रहे हो ? 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते' अर्थात् जहाँ श्रोता में बोध नहीं होता वहाँ वक्ता की ही जड़ता (बुद्धिमान्द्य या अकौशल) प्रकाशित होती है। अतः तुम्हारी बात को यदि मैं समझ न पाऊँ तो इसमें मेरा दोष क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आत्मतत्त्व को न जानने के कारण जो शोक

होता है एवं अनेक लोग जो तुम्हारी ही तरह आत्म प्रतिपादक शास्त्र का अर्थबोध नहीं कर सकते हैं उसका कारण यह है कि सभी जीवों में आत्मा के 'मैं मैं' शब्द के लक्ष्य वस्तु (शुद्ध चैतन्य) के साक्षात्‌रूप से विद्यमान रहने पर भी, चित्तशुद्धि न रहने के कारण अर्थात् उनके अन्तःकरण में अविद्या से उत्पन्न काम आदि रूप दोष विद्यमान रहने के कारण, वे आत्मतत्त्व के यथार्थ रूप को अवधारण नहीं कर सकते हैं (मधुसूदन)। जिस आत्मा के बारे में कहा गया है वह दुर्विज्ञेय है क्योंकि सर्वसाधारणों में (प्रायः सभी व्यक्ति में) आत्मा के विषय में भ्रान्ति का हेतु अज्ञान विद्यमान है। अतः इस भ्रान्ति के लिए केवल तुम्हें ही तिरस्कार करके क्या लाभ है ? ऐसा कहने की इच्छा कर, आत्मा कैसा दुर्ज्ञेय है, वह अब भगवान् कह रहे हैं—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

अन्वय—कश्चिद् एनम् आश्चर्यवत् पश्यति, तथैव च अन्यः आश्चर्यवत् वदति अन्यः च एनम् आश्चर्यवत् शृणोति, श्रुत्वा अपि एनं कश्चित् वेद, (कश्चित्) च न एव (वेद)।

अनुवाद—कोई कोई इस आत्मा को आश्चर्यवत् देखते हैं, कोई कोई आत्मा के सम्बन्ध में जो उपदेश देते हैं वह आश्चर्यवत् है, कोई कोई आश्चर्यवत् इसे सुनते हैं, कोई कोई आत्मा के सम्बन्ध में (गुरु के मुख से) सुनकर आत्मा को जानते हैं अर्थात् साक्षात् करते हैं, तथा कोई सुनकर भी (बुद्धि की मलिनता के कारण) आत्मा के स्वरूप को नहीं जान पाते हैं।

दीपिका कश्चित्—पुण्य कर्म के आधिक्य के कारण जिनका पापक्षय हो गया है एवं जिन्होंने जो साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर चरम देह (जिस देह का और कभी जन्म नहीं होगा ऐसी देह) को प्राप्त किया है ऐसे कोई भाग्यवान् व्यक्ति (अर्थात् साधारण मनुष्य नहीं) एनम्—इस आत्मा को आश्चर्यवत् पश्यति—आश्चर्य की तरह देखते हैं [जो अद्‌भूत है एवं पहले अदृष्ट या (पहले जिसे देखा नहीं गया था) परन्तु जिसका दर्शन अचानक होता है वही आश्चर्य है। आश्चर्य की तरह (अर्थात् सदृश) इस अर्थ में आश्चर्यवत् शब्द का व्यवहार किया गया है। कोई महापुरुष इस आत्मा को आश्चर्य की तरह अर्थात् (अद्‌भूत पदार्थ के समान ही) देखते हैं]।

(१) आश्चर्यवत् एनं पश्यति—तत्त्वदर्शी पुरुष एक ओर आत्माको सर्वप्रपंचशून्य, सर्वोपाधिरहित, शुद्ध चैतन्य मात्र, अद्वय, अखंड, आनन्दघन के रूप में देखते हैं, तथा अन्य और आत्मा अविद्याकल्पित अनेक प्रकार के विरुद्ध धर्मों से युक्त होकर भासमान है ऐसा देखते हैं; यथा आत्मा सत् होने पर भी असत् के सदृश, स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप होने पर भी जड़ के सदृश, आनन्द स्वरूप होने पर भी दुःखी के सदृश, विकारहीन होने पर भी विकारयुक्त के सदृश, नित्य होने पर भी अनित्य के सदृश, प्रकाशमान होने पर भी अप्रकाशमान के सदृश, ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी उससे भिन्न के सदृश, मुक्त होने पर भी बद्ध के सदृश, अद्वितीय होने पर भी द्वैत के सदृश प्रतीयमान होती है। इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति कभी शुद्ध आत्मा को और कभी माया शबलित (माया से युक्त) आत्मा का दर्शन करते हैं अर्थात् जानते हैं। ['कश्चित् पश्यति'—कोई असाधारण व्यक्ति जानते हैं। जिस क्रम के अनुसार कोई पुरुष असाधारणत्व को प्राप्त कर सकता है, वह नीचे कहा गया है]

(क) जो निषिद्ध (पाप) कर्म से विरत होकर शास्त्रविहित कर्मों को निष्कामरूप से अर्थात् फल की कामना त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा अनुष्ठान करते हैं, उनके चित्त में जागतिक पदार्थ के प्रति वैराग्य की उत्पत्ति होती है, एवं जिज्ञासा का (आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा का) उदय होता है। श्रुति में कहा गया है 'तमेव ब्राह्मणः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन (बृह० उ०) अर्थात् (उन्हें ब्राह्मणलोग यज्ञ, दान, एवं ताकि द्वैतका नाश न हो ऐसी तपस्या के द्वारा जानना चाहते हैं)।

(ख) विविदिषा (आत्मा को) जानने की इच्छा का उदय होने पर वे विरक्त पुरुष साधनों से सम्पन्न होकर श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरणापन्न होकर संन्यास अवलम्बन कर वेदान्तोक्त आत्मतत्त्व एवं तत्त्वमस्यादि महावाक्य को श्रवण कर मनन तथा निदिध्यासन करते हैं। श्रुति में इसीलिए कहा गया है—'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणः निर्वेदमायान्नास्ति अकृतो कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुंडकोपनिषत्) अर्थात् ब्राह्मण सभी प्रकार के शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान कर जब समझे कि कर्म से अतीत (विलक्षण) आत्मा को कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है तब वह कर्म के प्रति वैराग्यवान् होकर आत्मतत्त्व को जानने के उद्देश्य से श्रद्धा के निदर्शनरूप समित् काष्ठ को (समिधा को) हाँथ में लेकर श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट गमन करता है। श्रुति

और भी कहती हैं—'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यां चरन्ति' (बृह० उ०) अर्थात् पुत्र, वित्त, मान, प्रतिष्ठा आदि की कामना को त्याग कर ब्राह्मण भिक्षाचर्या अवलम्बन कर (भिक्षावृत्ति से जीविका निर्वाह कर) विचरण करता है ।

(ग) अनेक जन्मों की सुकृति के फलस्वरूप गुरुमुख से 'तत्त्वमसि' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि शास्त्रवाक्य को श्रवण तथा मनन करने के पश्चात् अविद्यानाश होने से (तथा अन्तःकरण के पापमुक्त होने से) विशुद्ध परमात्मा के स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ होता है । निर्विकल्प समाधि के द्वारा शुद्धचित्त में ब्रह्म तथा आत्मा की अभिन्नता (एकत्व) को अनुभव करने को ही आत्मसाक्षात्कार कहा जाता है । आत्मसाक्षात्कार होने के पश्चात् पर ब्रह्म को (कारण ब्रह्म को) अर्थात् निर्विशेष शुद्धचैतन्यस्वरूप में अखंड अद्वय आत्मा को तथा अवर ब्रह्म को (कार्यब्रह्म को) अर्थात् वही आत्मा ही कल्पित सर्वप्रपञ्च का अधिष्ठान होने के कारण सर्व कार्यरूप में भ्रान्ति से प्रतीत हो रहा है, इसे जानकर विद्वान् समस्त अविद्याग्रन्थि से मुक्त हो जाता है (उसकी अविद्या ग्रन्थि छिन्न हो जाती है) एवं वह सर्वसंशय से मुक्त होकर पापपुण्य, शुभाशुभ, सर्वकर्म को त्याग कर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त करता है । श्रुति में भी यही कहा गया है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

(मु० उ०)

यही 'पश्यति' (आत्मा को जानते हैं) इस शब्द का तात्पर्य है ।

(२) एनं आश्चर्यवत् पश्यति—'आश्चर्यवत्' शब्द कर्ता, कर्म तथा क्रिया इन तीनों का ही विशेषण हो सकता है । कर्म अर्थात् आत्मा किस प्रकार आश्चर्यवत् है वह पहले ही कहा गया है । आश्चर्यवत् शब्द को 'पश्यति' क्रिया के विशेषण के रूप में ग्रहण कर अब व्याख्या की जा रही है । केवल आत्मा को ही आश्चर्य की तरह अनुभव किया जाता है ऐसा नहीं बल्कि उसकी दर्शन क्रिया भी आश्चर्यवत् (आश्चर्य के समान) होती है । समाधि में आत्मकारा या ब्रह्मकारा वृत्ति के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है किन्तु वह अन्तःकरणवृत्ति स्वरूपतः मिथ्या होने पर भी सत्य की (आत्मा की) व्यञ्जक (प्रकाशक) है; वह अविद्या का कार्य होने पर भी अविद्या की विघातक (नाशक) है एवं बाद में अविद्या को नष्टकर स्वयं भी नष्ट हो

जाती है क्योंकि अविद्यारूप कारण नष्ट हो जाने पर अन्तःकरणवृत्तिरूप अविद्या का कार्य नहीं रह सकता है। वस्तुतः अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा आत्मप्रकाश नहीं होता है क्योंकि आत्मा सदा ही स्वप्रकाश है, अतः उसके प्रकाश के लिए किसी की अपेक्षा नहीं है। केवल अविद्या से उत्पन्न जो आवरण आत्मा के ऊपर रहता है उसे ही ब्रह्माकारा अन्तःकरणवृत्ति दूर कर आत्मतत्त्व को प्रकट करने में सहायक होती है। बादल के हट जाने पर सूर्य जिस प्रकार स्वतः ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार अविद्या के नाश हो जाने पर नित्य स्वप्रकाश आत्मस्वरूप प्रकाशित होता है। इसलिए आत्मा की दर्शनरूप क्रिया भी आश्चर्यवत् है।

(३) आश्चर्यवत् कश्चित् एनं पश्यति—'आश्चर्यवत्' इस पद को कर्त्ता के विशेषण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् जो इस आत्मा को देख सकते हैं वे भी आश्चर्यवत् है (आश्चर्य की तरह हैं) कारण उनकी अविद्या तथा अविद्याजनित कार्य निवृत्त हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म की प्रबलता के कारण जो समय समय पर अविद्याग्रस्त व्यक्ति की तरह ही व्यवहार किया करते हैं। [जिस प्रकार बाण को छोड़ने पर उसका वेग तब तक समाप्त नहीं होता है जब तक वह अपने गन्तव्यस्थल पर पहुँचे अथवा जिस प्रकार कुम्हार का चक्र घड़ा तैयार हो जाने के बाद भी बिना प्रयोजन से ही घूमता रहता है उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति में ज्ञान का उदय हो जाने पर भी तबतक उसे भोग के द्वारा इस प्रारब्ध कर्म को (पाप ही हो या पुण्य ही हो) क्षय करना पड़ता है जब तक उसके देह का विनाश न हो जाए (अर्थात् विदेह कैवल्य की प्राप्ति न हो)। ज्ञानी (जीवन्मुक्त पुरुष) आत्मानन्द में सदा ही मग्न रहते हैं। अतः उनके लिए देह का सुख प्रतीत नहीं होता है, तब भी दूसरे व्यक्ति सोचते हैं कि वे भोग कर रहे हैं। इसप्रकार आत्मज्ञानी आश्चर्यवत् हैं। (क) वे समाधिनिष्ठ होने पर भी पुनः व्युत्थित होते हैं— व्युत्थित होने पर भी पुनः समाधि अनुभव करते हैं। (ख) प्रारब्ध कर्म की विचित्रता के कारण उनके आचार व्यवहार में भी विचित्रता दिखती है। (ग) उन्होंने जिस दुष्प्राप्य ज्ञान को प्राप्त किया है उसके लिए भी सभी लोग लालायित रहते हैं। अतः जिनको आत्मसाक्षात्कार हो गया है वे आश्चर्यवत् ही है।

बात यह है कि, आत्मा, आत्मज्ञान (आत्मा की दर्शनरूप क्रिया) एवं आत्मा का ज्ञाता—ये तीनों आश्चर्य ही हैं। अतः तुम परम दुर्विज्ञेय इस आत्मतत्त्व को अनायास से ही कैसे समझ जाओगे? यही कहने का अभिप्राय

है। (मधुसूदन)] तथैव—उस प्रकार अर्थात् जिस प्रकार कोई व्यक्ति इस आत्मा को आश्चर्यवत् देखते हैं उसी प्रकार आश्चर्यवत्—आश्चर्य की तरह अन्यः—दूसरे व्यक्ति अर्थात् अज्ञव्यक्ति से विलक्षण ज्ञानी व्यक्ति च (एनं)—इस आत्मतत्त्व का वदति—उपदेश देते हैं।

[श्लोक के प्रथम पाद में 'एनं' शब्द का व्यवहार किया गया है उसे अनुकर्षण करने के लिए अर्थात् 'वदति' इस क्रिया के कर्म के रूप में ('वदति एनं' इस प्रकार से) ग्रहण करने के लिए यहाँ 'च' शब्द का व्यवहार किया गया है। अन्यः—श्लोक के प्रथम पाद में 'पश्यति' शब्द के द्वारा आत्मतत्त्व के ज्ञाता का निर्देश किया गया है। यहाँ 'अन्यः' शब्द का अर्थ ऐसा नहीं है कि जो व्यक्ति आत्मस्वरूप को जान गये हैं उनसे भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति अर्थात् जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है वे उपदेश नहीं देते हैं किन्तु जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार नहीं किया है वे आत्मतत्त्व का उपदेश देते हैं। क्योंकि ऐसा कहने पर व्याघात दोष हो जायगा (विपरीत युक्ति होगी)। इसलिए 'अन्यः' शब्द का अर्थ है अज्ञ व्यक्ति से विलक्षण ज्ञानी व्यक्ति, आश्चर्यवत्—इस शब्द की पहले की तरह कर्ता, कर्म तथा क्रिया के साथ योजना करना पड़ेगा अर्थात् (क) कर्ता आश्चर्यवत्—जो कहते हैं (जो आत्मतत्त्व का उपदेश देते हैं) वे आश्चर्य की तरह (भाँति) है (ख) कर्म आश्चर्यवत्—वे आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं वह भी आश्चर्य की तरह है (ग) क्रिया आश्चर्यवत् है—उसका कहना अर्थात् आत्मा का उपदेश रूप क्रिया भी आश्चर्यवत् है।

(क) कर्त्ता का आश्चर्यवत्त्व—योग्य उपदेश देने वाले के अभाव के कारण भी आत्मा दुर्विज्ञेय है। अतः जो दुर्लभ पुरुष इस दुर्विज्ञेय आत्मतत्त्व का उपदेश देते हैं वे आश्चर्यवत् ही हैं। क्योंकि (i) जो आत्मस्वरूप को जानते हैं केवल वे ही दूसरे को निश्चितरूप से आत्मतत्त्व का उपदेश दे सकते हैं। अज्ञ व्यक्ति के लिए (जिन्होंने शास्त्रज्ञ होकर भी आत्मसाक्षात्कार नहीं किया है ऐसे व्यक्ति के लिए) उपदेश देना भी सम्भव नहीं है। और जो आत्मतत्त्व जानते हैं वे प्रायः समाहित चित्त (समाधिमग्न) रहते हैं इसलिए कैसे उपदेश देंगे ? (ii) जब वे व्युत्थानावस्था में रहते हैं उस समय उनका आचार व्यवहार साधारण व्यक्तियों की भाँति (तरह) ही हुआ करता है इसलिए दूसरे व्यक्ति उनको तत्त्वज्ञानी मानकर श्रद्धा से उनके उपदेश नहीं ले सकते हैं। (iii) यदि वे दूसरों के द्वारा आत्मज्ञानी माने भी जाँय तब भी तत्त्वदर्शी के लिए पूजा, ख्याति आदि की कोई आवश्यकता

नहीं रहने के कारण उनके लिए आत्मतत्त्व का उपदेश नहीं देना ही सम्भव है। (iv) और यदि किसी प्रकार करुणावश होकर वे उपदेश दे भी तब ऐसे उपदेष्टा अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति जिस प्रकार दुर्लभ है उसी प्रकार करुणाशील आत्मवित् उपदेष्टा व्यक्ति भी दुर्लभ है, अतः ऐसे उपदेष्टा आश्चर्यवत् ही हैं।

(ख) कर्म अर्थात् आत्मा का आश्चर्यवत्त्व—अखण्ड, अद्वय, चित् स्वरूप होकर परिच्छिन्न द्वैत तथा जड़ जागतिक वस्तु के रूप में प्रतिभात होना ही आत्मा का आश्चर्यवत्त्व है, यह पहले ही कहा गया है। ['एनं पश्यति' शब्द की व्याख्या द्रष्टव्य है]।

(ग) उपदेश प्रदान रूप क्रिया का आश्चर्यवत्त्व—(i) किसी शब्द को जाति के लिए, या गुण के लिए, या क्रिया के लिए, और या तो सम्बन्ध के लिए व्यवहार किया जाता है किन्तु आत्मा जाति, गुण, क्रिया, तथा सम्बन्ध से रहित होने के कारण किसी शब्द का वाच्य नहीं हो सकता है। श्रुति में भी है—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति० उ० २।९) अर्थात् वाक्य मन के साथ जिसे न पाकर (अर्थात् विषयीभूत करने में असमर्थ होकर) जिससे लौट आता है इत्यादि। अतः आत्मा मन तथा वाक्य से अगोचर है। ऐसे आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में उपदेश देना जो आश्चर्यवत् है, उसमें संदेह की और क्या बात हो सकती है ? शुद्ध आत्मा ही (अखंड, असंग, निर्विशेष, चित्पदार्थ ही) 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का प्रतिपाद्य विषय है किन्तु अखंड, असंग एवं सभी प्रकार के सम्बन्धों से विवर्जित आत्मा कभी भी विशिष्ट (अर्थात् विशेष्य तथा विशेषण से युक्त) नहीं हो सकती है। तथा वैसा न होने पर वह शब्द का भी वाच्य नहीं हो सकता है। परन्तु श्रुति में है 'त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' अर्थात् उपनिषत् (वेदान्त) के द्वारा प्रतिपादित उस पुरुष के विषय में ही मैं पूछ रहा हूँ। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति के साथ इस श्रुति का सामंजस्य करने के लिए ऐसा कहना पड़ेगा कि अविद्याकल्पित सम्बन्ध का अवलम्बन करके ही ये सब महावाक्य अखंड, अद्वय, निर्विशेष आत्मतत्त्व को प्रकाश करते हैं। केवल कल्पित सम्बन्ध अवलम्बन करने पर आत्मा के स्वरूप के बोध में कोई हानि नहीं होती है (अर्थात् उसके द्वारा आत्मा खंडित, द्वैत एवं विशेष भाव को प्राप्त नहीं होता है)। इसलिए समस्त महावाक्य से ही लक्ष्यता-वच्छेदक के विना ही (विशेष्य विशेषण के सम्बन्ध के विना ही) कल्पित सम्बन्ध के द्वारा जहदजहत् स्वार्थलक्षणा के बल से जिस बोध का उदय

होता है वह सर्वविशेषणरहित निर्विशेष आत्मा को ही विषय करता है, एवं वह भी जो पुनः निर्विकल्प साक्षात्कारस्वरूप होता है अर्थात् उस निर्विशेष आत्मा का जो निर्विकल्प समाधि के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है यही आश्चर्यजनक है। [जहद्जहत् स्वार्थ लक्षणा के बल से किस प्रकार आत्मतत्त्व का निर्विकल्पक साक्षात्कार हो सकता है, उसे टिप्पणी में कहा गया है]।

अथवा शक्ति (अभिधा शक्ति) के विना, लक्षण के विना एवं अन्य प्रकार के सम्बन्ध के विना सुप्त व्यक्ति जिस प्रकार शब्द के द्वारा उठ जाता है उस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के द्वारा जिस आत्मा के तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है एवं जिस आत्मतत्त्व के बोध होने पर अज्ञान से श्रोता का उत्थान होता है वह भी आश्चर्यवत् (आश्चर्य के समान) है क्योंकि शब्द की शक्ति अचिन्तनीय है (टिप्पणी (२) द्रष्टव्य)। वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी ऐसा ही कहा है—

"दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद्बोधरूपिणः।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद् विद्मस्तं मोहहानतः॥
अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः॥
जाग्रद्वन्न यतः शब्दं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन।
ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत् फलम्॥
अविद्याघातिनः शब्दाद् याहं ब्रह्मेति धीर्भवेत्।
नश्यत्यविद्यया सार्धं हत्वा रोगमिवौषधम्"॥

(बृह० वार्त्तिक १।४।८६०) अर्थात् अविद्या दुर्बल होने के कारण एवं आत्मा बोधस्वरूप पदार्थ होने के कारण एवं शब्दशक्ति अचिन्त्य होने के कारण (तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य के द्वारा) मोह का (अनादि अविद्या का) नाश कर हमलोग इस आत्मा को जान सकते हैं। सुषुप्ति में निमग्न पुरुष दूसरों के शब्द के द्वारा जब जाग जाते हैं तब वे अभिधान (वाचक शब्द) एवं अभिधेय (वाच्य अर्थ के) सम्बन्ध को ग्रहण न कर के ही निद्रात्याग करते हैं क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में कोई व्यक्ति भी जाग्रत काल की तरह शब्द के अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। अतः (सुषुप्ति व्यक्ति के अकस्मात् जागरण की तरह) महावाक्य से प्राप्त ज्ञान के द्वारा अज्ञान विध्वस्त (विनष्ट) होने पर 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा ज्ञान हो जाता है। महावाक्य आदि अविद्याघाती

है (अर्थात् अज्ञान को समूल नष्ट कर देते हैं) एवं उससे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा बोध अर्थात् ब्रह्मकारा वृत्ति की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार दवा रोग को नाश कर स्वयं भी विनष्ट हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्मकारा वृत्ति भी अविद्या के नाश के साथ ही नाश हो जाती है अर्थात् ब्रह्मकारा वृत्ति अविद्या को नाश कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है; तब सर्वप्रपंचरहित अखंड अद्वय चिदानन्दस्वरूप आत्मा पूर्णरूप से प्रकाशित होती है। इसलिए महावाक्य आदि उपदेष्टा का उपदेश भी अर्थात् महावाक्य आदि शब्द की शक्ति भी आश्चर्यवत् है।

इस प्रकार वचन का विषय (आत्मा), वक्ता, तथा वचनरूप क्रिया— ये सभी ही आश्चर्यवत् होने के कारण आत्मा दुर्विज्ञेय है,—यह कह कर अब आत्मतत्त्व का श्रोता भी दुर्लभ है यह उल्लेख कर आत्मतत्त्व के दुर्ज्ञेयत्व को और स्पष्ट कर रहे हैं। (मधुसूदन)। अन्यः च—दूसरे व्यक्ति ['अन्यः' शब्द का अर्थ है दूसरे व्यक्ति अर्थात् आत्मद्रष्टा एवं आत्मतत्त्व के वक्ता (सुनाने वाले) मुक्त पुरुष से विलक्षण (पृथक्) कोई मुमुक्षु व्यक्ति] एनम् आश्चर्यवत् शृणोति—इस आत्मा को (आत्मतत्त्व को) आश्चर्य की तरह श्रवण करते हैं—शास्त्रज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के निकट विधिपूर्वक गमन कर इस आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में श्रवण करते हैं अर्थात् आत्मा को श्रवण नामक विचार का विषय बना लेते हैं (वेदान्त वाक्य के तात्पर्य को निश्चय कर आत्मतत्त्व को हृदय में धारण करते हैं) एवं बाद में मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करते हैं; वे भी आश्चर्यतुल्य है। श्रुत्वापि एनं कश्चित् न चैव वेद—कोई (अर्थात् दुर्भाग्य के कारण चित्त की मलिनता जिसके ज्ञानोदय के पथ में प्रतिबन्धक के रूप में वर्त्तमान है वह व्यक्ति) श्रवण करके भी एवं देखकर भी या वर्णन करके भी इस आत्मा के प्रकृत तत्त्व को समझ नहीं पाता है।

[भाष्य में 'दृष्ट्वा' (देखकर भी) शब्द का तात्पर्य इस प्रकार है— श्रुति में कहा गया है 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ० उ०) अर्थात् अपने से पृथक् कर जो आत्मा को देखते हैं वे प्रकृत आत्मतत्त्व को नहीं जानते है। इसलिए ध्यान में मनः स्थिर कर आत्मा को दृश्य के रूप में देखने पर भी यथार्थ आत्मस्वरूप को ध्याता जान नहीं सकता है एकमात्र द्रष्टा ही चेतन है, दृश्य रूप में प्रतीत सब कुछ माया से रचित है अर्थात् जड़ है। अतः आत्मा या ईश्वर यदि दृश्य हो तब वह भी जड़ ही होगा। जब तक द्रष्टा,

दृश्य तथा दर्शन एक न हो जाय तब तक प्रकृत (यथार्थ) आत्मदर्शन सम्भव नहीं है। यही भाष्यकार के कहने का अभिप्राय है]।

[(१) श्लोक के इस अंश का इस प्रकार अन्वय तथा व्याख्या की जा सकती है। कश्चित् श्रुत्वा एनं वेद, कश्चित् च श्रुत्वा अपि नैव वेद, कश्चित् श्रुत्वा अपि एनं वेद—कोई आत्मा के विषय में सुनकर (एवं उसके बाद मनन तथा निदिध्यासन की परिपक्वता प्राप्तकर) आत्मा का वेदन करते हैं (अवगत होते हैं) अर्थात् आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करते हैं। यह भी आश्चर्य ही है (आश्चर्यवत्) क्योंकि अनेक जन्मों में अनुष्ठित पुण्य कर्म के द्वारा जिनके मन के मल का नाश हो गया है एवं जिन्होंने आत्मतत्त्व को अवधारण करने की योग्यता प्राप्त की है, ऐसे पुरुष दुर्लभ है। भगवान् आगे कहेंगे 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः' (गीता ७।३) अर्थात् हजार हजार मनुष्यों में कोई एक ही पुरुष सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, और प्रयत्न करने वाले पुरुषों में कोई एक ही मुझे तात्त्विक रूप से (यथार्थ रूप से) जान पाता है। श्रुति भी कहती है 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (कठ० उ० १।२।७) अर्थात् आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा होने पर भी अनेक व्यक्ति आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करने का भी सौभाग्य नहीं प्राप्त करते हैं तथा श्रवण करने पर भी अनेक मनुष्य (दुर्भाग्य के कारण) जिसके यथार्थ स्वरूपको अवगत (प्रत्यक्ष रूप से अनुभव) नहीं कर सकते हैं उसी आत्मा के तत्त्व को जो सुनाते हैं, वैसे व्यक्ति भी आश्चर्य तुल्य हैं; कुशल व्यक्ति ही इसे प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार कर सकते हैं तथा जो कुशलानुशिष्ट है अर्थात् युक्ति तथा अनुभव में कुशल (निपुण) आचार्य के द्वारा जो अनुशिष्ट (उपदिष्ट) हुये हैं वे इस आत्माको जानते हैं। वे भी आश्चर्य तुल्य हैं। किन्तु जो व्यक्ति श्रवण मनन आदि करते हैं वे आत्मा को अवश्य ही जान सकेंगे, ऐसा कोई निश्चय नहीं है। वही अब कहा जा रहा है न च एव कश्चित्—(कश्चित् च श्रुत्वापि नैव वेद) अर्थात् कोई सुनकर भी एवं मनन करके भी ('अपि' शब्द के द्वारा 'मनन करके भी' ऐसा अर्थ सूचित किया जा रहा है) आत्मा को नहीं जान पाते हैं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

अतः जो श्रवण आदि नहीं करते हैं उनकी अज्ञान से उत्पन्न असम्भावना तथा विपरीत भावना नष्ट न होने के कारण उनको जो और किसी भी

समय में आत्मतत्त्व को जानने का सुयोग नहीं मिलेगा, इसमें कहने को और क्या है ? 'वेद' इस क्रियापद के एवं 'एनं' इस कर्म पद के परवर्ती अंश में भी अनुषंग (सम्बन्ध) है; वह 'च' शब्द के द्वारा सूचित हो रहा है अर्थात् 'न एव कश्चित् (श्रुत्वापि एनं वेद)' ऐसा अन्वय करना पड़ेगा।

श्रवण करने पर भी जो आत्मज्ञान नहीं होता है उसका कारण है बुद्धि की मलिनता या चित्त की अशुद्धि। वह ही ज्ञानोदय के पथ में मुख्य प्रतिबन्धक है। जिस प्रकार मलिन वस्त्र रंग नहीं पकड़ता है उसी प्रकार अशुद्ध चित्त में आत्मा का स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है। इसलिए वेदान्त-सूत्र में ऐसा नियम सूचित किया गया है—'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' अर्थात् यदि कोई प्रतिबन्धक नहीं रहे तब इस जन्म में ही विद्या का उदय होता है, चूँकि श्रुति में ऐसी उक्ति पायी जाती है। इस विषय में वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य ने कहा है—"कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात्। असावपि च भूतो वा भावी वा वर्त्ततेऽथवा" (बृह० वार्त्तिक, सम्बन्ध वार्त्तिक २९४) अर्थात् यदि यह प्रश्न करो कि वह ज्ञान किस प्रकार होता है तब कहूँगा कि वैसा ज्ञान बन्धन के (चित्त के मलिनतारूप प्रतिबन्धक के) नाश होने पर ही होता है। किसी के उस बन्धन का क्षय हो गया है, किसी का भविष्यत् में होगा एवं किसी का हो रहा है अर्थात् श्रवणादि करते रहने पर प्रतिबन्ध का (चित्त के अशुद्धि आदि विघ्न का) क्षय होने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है—अन्यथा नहीं।

गीता में भी कहा गया है—'पुण्य कर्म के द्वारा पाप नष्ट होने से ही मुमुक्षु दृढ़ व्रत होकर मेरा भजन कर सकता है' (गीता ७।२८)। स्मृति में भी कहा गया है) 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः'। अर्थात् पाप कर्म का क्षय होने से ही पुरुष में ज्ञानोदय होता है। इसलिए आत्मा दुर्विज्ञेय है अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करना ईश्वर तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा के बिना सहजसाध्य नहीं है यह ही कहने का अभिप्राय है। किन्तु सहजसाध्य नहीं होने पर भी आत्मज्ञान प्राप्त होना असम्भव नहीं है। अतः 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' इस अंश का अर्थ इस प्रकार जो लोग करते हैं "कि इस आत्म-तत्त्व को श्रवण करके भी कोई आत्मा को नहीं जान सकता है" उनकी व्याख्या श्रुति तथा स्मृति के विरुद्ध ही होती है क्योंकि उल्लिखित श्रुति, स्मृति तथा गीतावाक्य से स्पष्ट ही पता चलता है कि जिनके प्रतिबन्धनरूप पाप कर्म का क्षय हो गया है अर्थात् चित्त की मलिनता नष्ट हो गई है वे लोग श्रवण मननादि परायण होकर आत्मतत्त्व को अवगत कर लेते हैं। अतः 'कोई

आत्मा को नहीं जान सकता है' ऐसा अर्थ करना भी समीचीन (युक्तियुक्त) नहीं है (मधुसूदन)। तात्पर्य यह है कि जो इस आत्मा को देखते हैं अथवा कहते हैं (आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं) एवं जो इस आत्म-तत्त्व को सुनते हैं—वे सभी ही आश्चर्यतुल्य हैं क्योंकि हजार हजार लोगों में ऐसे एक व्यक्ति को प्राप्त करना भी दुष्कर है। [आत्मा का द्रष्टा, वक्ता (उपदेष्टा), श्रोता सभी ही दुर्लभ है, यही 'आश्चर्यवत्' शब्द का तात्पर्य है। (आनन्दगिरि)]। तथा आत्मतत्त्व के ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय (आत्मतत्त्व) इत्यादि सभी ही आश्चर्यतुल्य है। प्रत्येक हृदय के साक्षी के रूप में सदा ही वर्तमान रहने पर भी आत्मा दुर्विज्ञेय है (अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करना अत्यन्त कठिन है) यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

(२) मधुसुदन सरस्वती ने 'न चैव कश्चित्' पद का अर्थ तीसरी प्रकार से भी किया है। वे कहते हैं कि इस अंश के सर्वत्र (अर्थात् श्लोक में कहे गये समस्त क्रियापद के साथ) योग करके भी इसका अर्थ किया जा सकता है अर्थात् 'कश्चिदेनं' न पश्यति, न वदति, न शृणोति श्रुत्वापि न वेद। इस प्रकार के सम्बन्ध मान लेने पर श्लोक के पाँच प्रकार का अर्थ 'न चैव कश्चित्' वाक्य के द्वारा सूचित हो रहा है, यथा—(क) कोई कोई आत्मा को देखते भी हैं एवं उसके बारे में कहते हैं (ख) तथा कोई कोई आत्मा को देखते हैं किन्तु कुछ कहते नहीं (ग) कोई कोई आत्मविषयक श्रुतिवाक्य को सुनते हैं एवं उसके अर्थ को जानते हैं (घ) कोई कोई सुनकर भी श्रुतिवाक्य के अर्थ को नहीं जानते हैं (ङ) तथा कोई कोई इन सबों से बहिर्भूत है अर्थात् कश्चिदेनं न पश्यति, न वदति, न शृणोति श्रुत्वापि न वेद (कोई कोई आत्माको देखते नहीं, उसके सम्बन्ध में कहते भी नहीं, आत्म-विषयक श्रुतिवाक्यको सुनते भी नहीं तथा सुनकर भी श्रुतिवाक्य के अर्थ को समझ नहीं पाते। अतः वे सबसे मूढ़ है, यह ही कहने का अभिप्राय है)।

(३) मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि इस श्लोक को अज्ञानी व्यक्तियों को लक्ष्य कर ही कहा गया है—ऐसा मानने पर भी उपरोक्त अर्थ में कोई विशेष अन्तर (पार्थक्य) नहीं होगा। (क) आत्मदर्शन, (ख) अत्मतत्त्व को कहना तथा (ग) आत्मतत्त्व को श्रवण करना यह तीन ही अज्ञानी व्यक्ति के पास आश्चर्य तुल्य ही है क्योंकि वे लोग असम्भावना तथा विपरीत भावना के द्वारा अभिभूत रहते हैं।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—मधुसूदन सरस्वती की—टीका का तात्पर्य भाष्यदीपिका में सन्निविष्ट हुआ है। (क) मधुसूदन सरस्वती की

टीका के अनुसार भाष्यदीपिका में कहा गया है कि महावाक्य से जहदजहत् स्वार्थलक्षणा के द्वारा जिस बोध का उदय होता है वह निर्विशेष आत्मा को विषय कर निर्विकल्प साक्षात्कार का स्वरूप होता है। प्रत्यक्ष या साक्षात्कार दो प्रकार का होता है।

(i) सविकल्प—इसमें वस्तु का विशेषांश, विशेषणांश एवं उनका सम्बन्ध-वे तीनों ही मिलितरूप से प्रत्यक्षज्ञान का विषय होते हैं। जिस प्रकार करचरणादिमत्त्व विशेषण न देखने पर हम यह निश्चित रूप से नहीं जान सकते हैं कि वह वस्तु मनुष्य है या अन्य कुछ। जब भी किसी मनुष्य को हम देखते हैं तब उसके आकार एवं करचरणत्वादि रूप विशेषण को मिलित-रूप से देखते हैं। (ii) निर्विकल्प—जब किसी वस्तु का विशेषांश अज्ञात रहता है किन्तु वस्तु के शुद्ध आकार का प्रत्यक्ष होता है अर्थात् केवल उस वस्तु के सत्तामात्र का ज्ञान प्रकाशित रहता है तब वैसे प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक साक्षात्कार कहा जाता है। शब्द ज्ञान से जो साक्षात्कार होता है वह जाति, गुण, क्रिया तथा सम्बन्ध विशिष्ट होने के कारण सविकल्पक के रूप में होता है—निर्विकल्पक नहीं। जैसे गो शब्द से गोत्वजातिविशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है। शुक्ल प्रभृति शब्द से गुण निमित्तक, पाचक प्रभृति शब्द से क्रिया निमित्तक एवं दंडी प्रभृति शब्द से दंड के साथ सम्बन्धित ज्ञान होता है [अर्थात् सम्बन्धनिमित्तक विशिष्ट अर्थ (विषय) प्रतीत होता है। किसी प्रकार सम्बन्ध जब निमित्त (हेतु) बनकर किसी अर्थ को (विषय को) विशिष्ट कर देता है तब उसको 'सम्बन्धनिमित्तक विशिष्ट अर्थ' कहा जाता है जैसा दंड के सम्बन्ध रहने के कारण दण्डधारी व्यक्ति विशिष्ट होकर (विशेषता प्राप्त कर) 'दण्डी संन्यासी' नाम से परिचित होता है।] विशिष्ट अर्थ ही शब्द का वाच्य है। यह भी शक्ति तथा लक्षण के भेद से दो प्रकार का है। (i) शब्द का जो मुख्य अर्थ होता है उसे शब्दार्थ कहा जाता है एवं उसके विशेषणों को शक्यतावच्छेदक कहा जाता है। जैसे घटत्वरूप विशेषणांश घटपद का शक्यतावच्छेदक है। (ii) शक्यार्थसम्बन्धयुक्ति अर्थान्तर को लक्ष्यार्थ कहा जाता है। जैसे 'गंगायां घोषः' गंगा में घोष (ग्वाले लोग) रहता है ऐसा कहने पर गंगा शब्द का अर्थ लक्षण के बल पर 'गंगातट' समझा जाता है। गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ है गंगातट एवं तटत्वरूप विशेषणांश को लक्ष्यतावच्छेदक कहा जाता है। इसप्रकार शब्द जब विशिष्ट अर्थ का ही बोध कराता है तब 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य से जो अर्थबोध होगा वह शक्यार्थ हो अथवा लक्ष्यार्थ हो, वह उक्त प्रकार से विशिष्ट—अर्थ

ही होगा। अतः प्रश्न है कि तत्त्वमसि इत्यादि सभी महावाक्य उनके प्रतिपाद्य विषय को अर्थात् अखंड, असंग (सभी प्रकार के सम्बन्धों से विवर्जित) निर्विशेष चित्पदार्थ को किस प्रकार से बोध करा सकते हैं? पहले ही कहा गया है कि विशिष्ट अर्थात् विशेष विशेषण सम्बन्ध युक्त वस्तु ही केवल शब्द का अभिधेय (विषय) हो सकता है किन्तु निर्विशेष परमात्मा या ब्रह्म शब्द का विषय नहीं है वह श्रुति ने पुनः पुनः कहा है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। पुनः, ब्रह्म किसी प्रकार से ही शब्द द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है, वैसी बात भी नहीं है, चूँकि श्रुति स्वयं ही कहता हैं—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' अर्थात् उपनिषद् (वेदान्त वाक्य) से प्रतिपादित उस पुरुष के विषय में मैं पूछ रहा हूँ। किन्तु विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध बिना, वेदान्त-वाक्य के द्वारा ब्रह्म को प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में दो प्रकार का श्रुतिवाक्य (अर्थात् 'यतो वाचो निवर्तन्ते' एवं 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' यह दो) परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है किन्तु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुतिवाक्य में कोई अवकाश न रहने के कारण, वह प्रबल है और 'तं त्वौपनिषदं' यह श्रुतिवाक्य सावकाश होने के कारण वह दुर्बल है। अतः शेषोक्त (अन्त में कहे गये) श्रुतिवाक्य का अर्थ इस प्रकार करना पड़ेगा ताकि पहले कहे गये श्रुतिवाक्य के साथ सामंजस्य रहे। इसलिये कहना पड़ेगा कि सभी उपनिषद् या वेदान्त-महावाक्य अविद्या से कल्पित सम्बन्ध के अवलम्बन करके ही अखंड, असंग, निर्विशेष आत्मतत्त्व को प्रकाश करते हैं किन्तु वैसे वाक्य से आत्मतत्त्व के स्वरूपांश का ही बोध होता है क्योंकि वे (उन सब वाक्य के आश्रित) विशेषण तथा समस्त सम्बन्ध भी कल्पित ही हैं एवं वे सब अविद्याप्रसूत होने के कारण उसके द्वारा अखंड, असंग, निर्विशेष, सत्ब्रह्म की अखंडता, संसर्गता एवं सविशेषता की प्रसक्ति (प्राप्ति) नहीं हो सकती है। [जैसे दस साल पहले देखे गये देवदत्त को कहा जाता है कि 'यही वह देवदत्त है'। यद्यपि दस साल पहले देवदत्त का आकार प्रकार (विशेषण) जो था वह अब नहीं है; अतः उन विशेषणादि को त्याग कर (जहत्) देवदत्त का अजहत् अर्थात् केवल सत्तांश को लक्ष्य कर वाक्यार्थ का ('यही वह देवदत्त है' इस वाक्य के अर्थ का) जो बोध होता है वह जहत्—अजहत् स्वार्थ लक्षणा बल से होता है—ऐसा कहा जाता है]। इस कारण महावाक्य से आत्मा या ब्रह्म के सम्बन्ध में जहदजहत्स्वार्थलक्षणाबल से जो बोध उदय होता है वह भी विशेषण रहित निर्विशेष वस्तुविषयक होने के कारण [वह बोध निर्विशेष अखंड, अद्वय ब्रह्मस्वरूप आत्मा को विषय करता

है, इसलिये वह] सविकल्प न होकर निर्विकल्प साक्षात्कारस्वरूप ही होता है। (ख) मधुसूदनी टीका का अवलम्बन कर भाष्यदीपिका में कहा गया है अथवा शक्ति (अभिधाशक्ति) बिना, लक्षण बिना, एवं अन्य किसी प्रकार के सम्बन्ध के बिना ही वाक्य के द्वारा जिस प्रकार सुप्त व्यक्ति जाग्रत हो जाता है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य शुद्धचित्त व्यक्तियों के हृदय में आत्मज्ञान उत्पन्न करते हैं। वह भी आश्चर्य तुल्य है। इस विषय में शंका होगी कि यदि सम्बन्ध के विना ही शब्द अर्थ का बोध करा सकता है तब अतिप्रसंगदोष होगा अर्थात् शब्द तथा अर्थ में जब वाच्य वाचक सम्बन्ध है तब ऐसे सम्बन्ध विना शक्यार्थ का बोध होने से (अर्थात् किसी शब्द का जो वाच्य (अर्थ) नहीं है उस शब्द के द्वारा यदि उस अर्थ का बोध होता है तब) किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध होगा एवं इस कारण से अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) का दोष होगा। अतः किसी सम्बन्ध के विना ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य आत्मतत्त्व को प्रकाश करता है यह कहना अयौक्तिक है (युक्तिसंगत नहीं है)।

सिद्धान्ती—नहीं ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि लक्षण के पक्ष में भी यह दोष समान रूप से रहेगा। शब्द के वाच्यार्थ से सम्बन्ध युक्त जो अर्थ है वही लक्षणाबल से प्रतीत होता है। लक्षणास्थल में भी जो शक्य सम्बन्ध रहता है वह सम्बन्ध अनेक वस्तुओं के साथ रह सकता है अर्थात् यह सम्बन्ध अनेक अर्थों में साधारणरूप से विद्यमान रहता है एवं इसलिए वे सभी ही उस स्थल में साधारणरूप से लक्षण के द्वारा प्रतीत हो सकते हैं। जैसे गंगारूप वाच्यार्थ के साथ तट की तरह मत्स्य तथा कुम्भीर आदि का भी सम्बन्ध (अर्थात् गंगा शब्द के द्वारा लक्षण कर केवल गंगातट ही समझा जायगा ऐसी बात नहीं है बल्कि गंगा में रहने वाले मत्स्य तथा कुम्भीर आदि को भी समझा जायगा)। अतः शब्द के द्वारा सम्बन्ध विना बोध होने से यदि अतिप्रसंग दोष हो तब लक्षणा कर बोध होने से वहाँ भी अतिप्रसंग का दोष उपस्थित होगा। और यदि कहो कि लक्षणाबल से जहाँ शब्द का बोध हो वहाँ।

(२) श्रीधर—[प्रश्न होगा—तब विद्वान् व्यक्ति शोक क्यों करते हैं ?

उत्तर—आत्मा को न जानने के कारण ऐसा शोक होता है। आत्मज्ञान होने से फिर शोक नहीं रहता है किन्तु यह आत्मा अत्यन्त दुर्विज्ञेय है (उसको जानना कठिन है)। इसलिये कह रहे हैं—] कश्चित् एनं आश्चर्य-

वत् पश्यति—कोई कोई शास्त्र तथा आचार्य उपदेश के अनुसार देखता हुआ इस आश्चर्यवत् (आश्चर्य की भाँति) देखते हैं अर्थात् सर्वगत नित्य-ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मा को ऐन्द्रजालिक (जादूगर के खेल में होनेवाली) अलौकिक घटना की तरह विश्वरूप में प्रकाशित देखकर असम्भावना द्वारा अभिभूत होकर वे विस्मययुक्तभाव के साथ देखते रहते हैं। आश्चर्यवत् एव अन्यः वदति च – उसी तरह कोई आश्चर्यवत् इसके सम्बन्ध में (अर्थात् इस आत्मा के सम्बन्ध में) कहते हैं (वर्णन करते हैं)। आश्चर्यवत् च एनम् अन्यः शृणोति–फिर दूसरा कोई आश्चर्यवत् इसको श्रवण करते हैं। श्रुत्वा अपि एनं कश्चित् न चैव वेद—फिर कोई विपरीत भावना के द्वारा अभिभूत रहने के कारण इस आत्मतत्त्व का श्रवण करके भी (वेदान्त महावाक्यादि श्रवण करके भी) आत्मा को यथार्थ रूप में नहीं जान सकते हैं। श्लोक में 'च' शब्द के द्वारा यही सूचित किया जा रहा है कि आत्मा के सम्बन्ध में लोग जितना भी वर्णन करें, चाहे जितना भी श्रवण करें, जब तक कि आत्म-तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार न हो, तब तक आत्मा के सम्बन्ध में पूर्णतया ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

(३) शंकरानन्द—कश्चित्—शत कोटी (करोड़ों) मनुष्यों में जो भाग्यवान् मेरे कृपापात्र होकर इस कूटस्थ, असंग, चिद्स्वरूप, अद्वय अखंडानन्दैकरस आत्मा को पश्यति—देखने की इच्छा करते हैं अर्थात् साक्षात् करने की इच्छा करते हैं [द्रष्टव्य—'पश्यति शब्द का साक्षात्कार करते हैं ऐसा अर्थ न कर शंकरानन्द ने साक्षात्कार की इच्छा करते हैं, ऐसा अर्थ किया है]। आश्चर्यवत्—वह आश्चर्य की तरह प्रतीत होता है। (साधारण) लोगों के द्वारा जो कर्म करना सम्भव नहीं होता है वह कर्म कर (अभ्यास के द्वारा) आत्मदर्शन के योग्य होते हैं, यही आश्चर्य है। जैसे हनुमान् जी का समुद्र लंघन कार्य (समुद्र को तैर जाना) आश्चर्य है उसी तरह सभी विषयों की आशा के बन्धन को दग्ध (जला) कर मोक्ष के लिये इच्छा करना ही आश्चर्य है। मोक्ष की इच्छा अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि बहुत जन्म के बाद यह मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है तथा बहुत से पुण्यों के परिपाक से ही यह साध्य है अर्थात् (पुण्यकर्म द्वारा उत्पन्न) चित्तशुद्धि ही मोक्षेच्छा का मूल (मुख्यकारण) है। अतः अशेष विषयों के आशारूप सिन्धु से (समुद्र से) जो उत्तीर्ण हुये हैं तथा मोक्ष ही जिनके जीवन का एकमात्र काम्य है ऐसा शुद्धात्मा मुमुक्षु अति दुर्लभ है। यही 'आश्चर्यवत्' शब्द के द्वारा कहने का अभिप्राय है।

एनम् अन्यः आश्चर्यवत् च शृणोति—अन्य व्यक्ति अर्थात् पूर्वोक्त (पहले कहे गये) आत्मदर्शनाभिलाषी पुरुष से भिन्न कोई इस आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करते हैं वह भी आश्चर्य की तरह है। जैसे आकाशगामी पुरुष आश्चर्य का पात्र है उसी तरह आत्मतत्त्व श्रवणकारी पुरुष भी अत्यन्त आश्चर्य के पात्र है। तात्पर्य यह है कि प्राणत्याग करना सम्भव होने से दुस्त्याज्य विषयों में वैराग्य होना अत्यन्त कठिन है। तथा किसी तरह से वैराग्य होने से भी साधनों के साथ कर्म समूह परित्याग करना और भी कठिन है। और अगर दैव इच्छा से कर्मों का संन्यास (परित्याग) हो भी, तब भी अमानित्वादि, अक्रोधत्वादि तथा ब्रह्मचर्यादि दैवी—साधन सम्पत्ति की प्राप्ति करना अत्यन्त दुर्लभ (अत्यन्त कठिन) है। और अगर भगवान् की कृपा से किसी भी प्रकार वह प्राप्त भी हो जाय तब भी 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (अर्थात् तत्त्वदर्शी के उपदेश के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती है; जो आचार्यवान् अर्थात् जिनको सद्‌गुरु प्राप्त हुये हैं वे ही आत्मा को जान सकते हैं) इस तरह श्रुति में उक्त (कहे गये) ब्रह्मज्ञानी आचार्य दुर्लभ है। अगर उक्त साधन तथा गुरु की प्राप्ति हो भी गई फिर भी मेरी (ईश्वर की) प्रसन्नता (कृपा) के द्वारा जो श्रवणादि निष्ठा प्राप्त की जा सकती है वह अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि जिनके ऊपर मेरा अनुग्रह है उन्ही को वेदान्त महावाक्य के श्रवण के द्वारा सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए आत्म-स्वरूप विषय में निरुक्त साधनसम्पन्न श्रोता अत्यन्त तथा एव च अन्यः आश्चर्यवत् वदति—निरुक्त सर्व साधनसम्पन्न, अद्वेष्टृत्वादि स्वधर्म-युक्त, मेरी कृपा के पात्र, (उपर्युक्त आत्मदर्शनाभिलाषी तथा मोक्ष कामेच्छु श्रोता से भिन्न अन्य) ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जो कि श्रवणादिनिष्ठा द्वारा आत्मतत्त्व को जान गये हैं वे ही इस आत्मा के अखंड, अद्वय, इत्यादि लक्षणयुक्त निर्विशेष आत्मा के) सम्बन्ध में कहने को सक्षम होते हैं अर्थात् शरणापन्न शुद्ध शिष्य को आत्मतत्त्व का उपदेश देते हैं, यह भी आश्चर्य की तरह प्रतीत होता है। श्रुति में कहा गया गया है 'ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याय मुनिरमौनं च मौनं निर्विद्याय ब्राह्मणः' अर्थात् ब्राह्मण श्रवण द्वारा पांडित्य को (परोक्ष ज्ञान को) प्राप्त होकर बाल्यरूप में स्थित होंगे अर्थात् मनन करेंगे, बाल्य तथा पांडित्य (मनन तथा श्रवण) प्राप्त होकर मुनि होंगे अर्थात् निदिध्यासन करेंगे। इस तरह अमौन तथा मौन को (श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को) प्राप्त होकर पश्चात्

ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) होंगे। इसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्धि के हेतु (उपाय) अति दुःसाध्य है उसका प्रतिपादन किया है। अतः उक्त लक्षण विशिष्ट तत्त्वोपदेष्टा ब्राह्मण अति दुर्लभ है, इसमें सन्देह की बात क्या है ?

इस प्रकार परमार्थ प्राप्ति का अभिलाषी, श्रोता, तथा तत्त्व का उपदेष्टा, ये तीनों अति दुर्लभ है यह प्रतिपादन कर उक्त साधनरहित तथा ईश्वरविमुख पुरुष को आत्मबोध नहीं हो सकता है उसे भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं—एनं श्रुत्वा अपि कश्चित् न चैव वेद—आचार्य (गुरु) तथा मेरे (ईश्वर के) प्रसाद से वंचित अमानित्वादिदैवीसम्पत्ति रहित कोई व्यक्ति अगर आत्मतत्त्व को जानने के लिए श्रवणादि करे तब भी चूँकि वह उक्त (शम दमादि अमानित्वादि) साधन सम्पत्ति रहित है इसलिए सैकड़ों बार, हजारों बार श्रवण करके भी तथा मनन करके भी [श्रुत्वा—श्रवण कर तथा अपि—मनन करके भी] प्रकृत (जिसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है वह) आत्मा को 'न एव' अर्थात् किसी भी प्रकार जान नहीं सकता है, तथा जानने का फल मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि "ये सब तथा मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ" इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्वविज्ञान दुर्लभ है।

(५) नारायणो टीका—आश्चर्यवत् पश्यति—श्रुति में कहा गया है 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' (क० उ० २।३।१२) अर्थात् परमात्मा को वाक्य द्वारा अथवा चक्षु द्वारा भी जाना नहीं जा सकता है (देखा नहीं जा सकता है)। फिर कहा गया है 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन० उ० १।७) अर्थात् चक्षुद्वारा जिन्हें कोई देख नहीं सकता है, जिनके प्रकाश से चक्षु की वृत्तियों को लोग देखते हैं उन्हीं को ब्रह्म जानो किन्तु जिन्हे लोग (आत्मा से भिन्न) इदं (यह अर्थात् दृश्य) रूप में उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। प्रश्न होगा तब आत्मा को कैसे देख सकते हैं ? आत्मदर्शनभिन्न मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है यही तो सर्वशास्त्र का सिद्धान्त है। श्रुति इसका उत्तर दे रही हैं—'न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृता भवन्ति ॥' (क० उ० २।३।९) अर्थात् आत्मा का रूप दृष्टि का विषय नहीं है। इसे कोई भी चक्षु द्वारा नहीं देख सकते हैं। यह आत्मा मननरूप सम्यग् दर्शन द्वारा अभिप्रकाशित होती है [जो दृश्य है वह मुझसे भिन्न है क्योंकि 'मैं' कहने से जो चैतन्यांश सर्वावस्था में

विद्यमान है वह सदा ही द्रष्टा है। (शुद्धचैतन्य स्वरूप) सदा स्थिर अविकारी तथा सर्वभूत में समान रूप से अवस्थित द्रष्टृस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ, इस तरह विचार के द्वारा जो सम्यक् दर्शन होता है उसके द्वारा आत्मा अभिप्रकाशित होती है]। इस तरह आत्मा का प्रकाश तब हृदय में अवस्थित मनीषा द्वारा (अर्थात् मन की नियन्त्रा विकल्पविहीन बुद्धि द्वारा) ज्ञात होता है [अर्थात् निर्विकल्प समाधि में जिस आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है उसी को आत्मदर्शन कहा जाता है। आत्मा विषयरूप में कभी ज्ञात नहीं होती हैं—अविद्यारूप कल्पित विषयसमूह (इतना कि देहेन्द्रिय का बोध तथा अन्तः करण का वृत्तिसमूह) जब बुद्धि के विकल्पशून्यावस्था में लय होता है तब स्वयं प्रकाश केवल (अकेली) आत्मा ही रहती है तथा अपने ही अपने को प्रकाश करती है (अर्थात् अपने ही अपने को जानती हैं) यही आत्मदर्शन है]। जिन लोगों के हृदय में आत्मा का प्रकाश होता है वे अमर होते हैं, अर्थात् मोक्षलाभ करते हैं। बुद्धि की विकल्पहीन-अवस्था में सर्वप्रपंच का उपशम होने से तथा जीवरूपी 'मैं' नष्ट होने से यथार्थ 'मैं को' (मुझको अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को) 'मैं' ही (शुद्ध चेतन्यस्वरूप आत्मा ही) देखता हैं। इससे ज्यादा आश्चर्य क्या है ? जो आत्मस्वरूप 'मैं' देखता है उसका स्वरूप भी आश्चर्य है क्योंकि पारमार्थिक 'मैं' दृश्य नहीं है (ज्ञेय नहीं है) फिर उसे देखता है यह भी आश्चर्य है निर्विकल्पावस्था में दृक्-दर्शन-दृश्य सब एक हो जाता है फिर भी आत्मा आत्मा को देखती है (जानती है) क्योंकि जानना या देखना चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वभाव है। अतः यह दर्शनरूप क्रिया भी आश्चर्यतुल्य है। आश्चर्यवत् वदति—आत्मा पूर्ण तथा सत् परन्तु असत् (झूठा) परिच्छिन्न जगत् के कण कण में वह अवस्थित है, आत्मा देहस्थ होकर भी देह से विलक्षण है तथा देह के धर्म के द्वारा पूर्णरूप में असंश्लिष्ट (अस्पृष्ट) है, आत्मा ही सभी के कर्मों का प्रेरक है परन्तु वह निष्क्रिय अर्थात् वह कुछ भी नहीं करती है जो कहते हैं कि आत्मा को जान गये हैं वह नहीं जानते हैं, इस तरह सैकड़ों विरुद्ध (विपरीत) वाक्य श्रुति स्मृति इत्यादि में कहे गये हैं (गीता ९।४-५, १९, ११।३७, १३।१२, ४।१४, ४।१३, १३।२९, केन० उ० २।३) आत्मतत्त्व वाणी या मन के अगोचर है (अर्थात् वाणी या मन आत्मा को विषय नहीं कर सकते हैं) इस प्रकार आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष दूसरे को समझाने के लिये वर्णन करते हैं वे वक्ता भी आश्चर्यतुल्य है। आत्मतत्त्व का वर्णन आश्चर्यतुल्य है (क्योंकि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष नित्य समाहित

रहकर कैसे कहते हैं तथा उनके निकट जब आत्मा भिन्न दूसरी वस्तु का अस्तित्व ही नही रहता है, तब क्यों कहते हैं तथा किसको कहते हैं, यह साधारण मनुष्य की बुद्धि के बाहर है। आत्मस्वरूप का वर्णन ब्रह्मज्ञानी को व्युत्थानावस्था में ही सम्भव होता है क्योंकि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कभी नित्यस्वरूप में रहते हैं फिर कभी लीला में भी रहते हैं किन्तु वह साधारण मनुष्य नहीं समझ सकता है। आश्चर्यवत् शृणोति—आत्मतत्त्व के श्रवण का अधिकारी होने के लिये अनेक जन्म की सुकृति के फलस्वरूप निष्काम रूप से स्वधर्मपालन में रुचिसम्पन्न होकर चित्तशुद्धि प्राप्त कर साधनचतुष्टयसम्पन्न होना पड़ता है तथा फिर सद्गुरु का (ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु का) आश्रय लेना पड़ता है। इस तरह श्रवण के अधिकारी अत्यन्त दुर्लभ है, अतः आश्चर्यतुल्य है। फिर सद्गुरु की प्राप्ति भी आश्चर्यतुल्य है। प्रत्यक्ष जगत् झूठा है, अप्रत्यक्ष ब्रह्म सत्य है और तुम ही वह ब्रह्म हो, इस तरह तत्त्वमस्यादि महावाक्य का तात्पर्य निर्णय कर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में श्रवणरूप क्रिया भी आश्चर्यतुल्य है। श्रुत्वाप्येनं इत्यादि—श्रवण करके ही अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ही इस आत्मा को जाना जा सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है (यही 'अपि' शब्द का तात्पर्य है)। फिर अधिकारी नहीं होने से सहस्रवार श्रवण करके भी आत्मा को जान नहीं सकता है। इसलिये कहा गया 'कश्चित् न च एनं वेद'।

[गीता के २।२८ श्लोक में अव्यक्तादीनि भूतानि इत्यादि कह कर भीष्मादि शब्द के वाच्यार्थ के लिये (अर्थात् देह के लिये) शोक करना उचित नहीं है यह कह कर अब भीष्मादि शब्द के लक्ष्यार्थ अर्थात् भीष्मादि को आत्मा के लिये भी शोक नहीं करना चाहिये यह कह कर श्रीभगवान् प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं]।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अन्वय—हे भारत! सर्वस्य देहे अयं देही (आत्मा) नित्यं अवध्यः तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि न शोचितुम् अर्हसि।

अनुवाद—हे भारत (देह विनश्वर होने से भी) सभी देहों में यह देहधारी आत्मा (देही) सभी अवस्थाओं में अवध्य है अर्थात् किसी भी समय में इस देही (आत्मा) का कोई नाश नहीं कर सकता है। इसलिये

सभी भूतों (प्राणियों) के लिये अर्थात् सभी का देह नाश होने से भी तुम्हें शोक (दुःख) नहीं करना चाहिये।

दीपिका—हे भारत !—(भा + रत) भा अर्थात् ब्रह्म या आत्मज्योतिः उसमें रत। अर्जुन आत्मज्ञान प्राप्ति के अधिकारी हैं तथा श्रीभगवान की कृपा से फिर आत्मनिष्ठ भी होंगे। अतः उन्हें साधारण व्यक्तियों की तरह अनात्म-देहादि के नाश के कारण शोक मोह में अभिभूत होना नहीं चाहिए, यह सूचित करने के लिये "भारत" शब्द से सम्बोधन किया।

सर्वस्य देहे—सभी के देह में (शरीर में) अवस्थित अयं देही—यह शरीरी अर्थात् शरीरधारी यह आत्मा। [सभी का देह आत्मा की उपलब्धि का स्थान है। अतः सभी का देह आत्मा की उपाधि है। इसलिये सर्वदेहोपाधिमान् होने के कारण आत्मा को देही कहा जाता है (शंकरानन्द)]। नित्यं—सदा सभी अवस्थाओं में अवध्यः—वध के अयोग्य है अर्थात् किसी भी अवस्था में विनाश प्राप्त नहीं होती है। आत्मा सर्वगत (सर्वव्यापी) है इसलिये सभी शरीरों में यहाँ तक कि स्थावरादि (प्रस्तर, मृतिका, वृक्षादि) वस्तु में भी समान रूप से स्थित है। देह सावयव है, अतः विनाशशील है किन्तु सभी देहों में अवस्थित एक ही समरस चैतन्य (चित्) स्वरूप आत्मा निरवयव तथा नित्य होने के कारण सभी देह अर्थात् ब्रह्मादि से लेकर स्तम्ब तक सभी भूत (सृष्ट पदार्थ) विनष्ट होने से भी किसी भी समय यह देही आत्मा वध्य नहीं होती हैं (विनाश प्राप्त नहीं होती है)। [जैसे घटसमूह नष्ट होने से भी उसके मध्यस्थित आकाश नष्ट नहीं होता है। (शंकरानन्द)]।

तस्मात्—उसी तरह भीष्मादि की आत्मा भी अविनश्वर है तथा नित्य है अतः त्वं—तुम्हें सर्वाणि भूतानि—भीष्म इत्यादि प्राणियों को उद्देश्य कर न शोचितुम् अर्हसि—कैसे भीष्म द्रोण आदि गुरुजन के विना जीवित रहेंगे इत्यादि रूप शोक नहीं करना चाहिये (अर्थात् इनमें किसी के लिये मूढ़ व्यक्तियों की तरह तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये)।

(१) मधुसूदन सरस्वती—देही—लिंगोपाधि आत्मा का (लिंग देह अर्थात् पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचप्राण तथा अन्तःकरण ये षोड़श कला जिसको उपाधि हैं उस आत्मा का) स्थूल देह का नाश अपरिहार्य है। अतः उसके लिये शोक करना उचित नहीं है। और लिंग देह के लिये भी शोक करना उचित नहीं है क्योंकि वह भी आत्मा की तरह अवध्य है अर्थात् मरता नहीं है। इस तरह स्थूल देह अथवा लिंगदेह अथवा आत्मा इनमें

किसी के लिये शोक करना अनुचित है। [आत्मा अवध्य है (नष्ट नहीं होती है) क्योंकि यह नित्यं—नियत (निश्चित) है—इस तरह मधुसूदन सरस्वती ने 'नित्यं' शब्द की व्याख्या की है]।

(२) श्रीधर—[आत्मा अवध्य है यह संक्षेप में कह कर आत्मा के अशोच्यत्व का उपसंहार कर रहे हैं] अर्थ स्पष्ट है।

(३) शंकरानन्द—[पहले 'अव्यक्तादीनि भूतानि' इत्यादि श्लोक में भीष्मादि शब्द के वाच्यार्थ के सम्बन्ध में (अर्थात् उनलोगों के देहेन्द्रियादि के संघात के विषय में) शोक करना उचित नहीं है यह कहा गया है। अब प्रतिपाद्य विषय को समाप्त करने के लिए भीष्मादि शब्द का लक्ष्यार्थ आत्मा के विषय में भी शोक करना अनुचित है यह कह कर उपसंहार कर रहे हैं] हे भारत !—आत्मज्ञान सम्पन्न अर्जुन ! अयम् देहो—सभी देह आत्मा की उपलब्धि करने का स्थान है क्योंकि आत्मा सभी देहों में समानरूप से विद्यमान है। इसलिये यह आत्मा सर्वस्य देहे—सभी देहों में नित्यम् अवध्यः—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सभी प्राणियों के देह का नाश होने से भी स्वयं सदा अवध्य ही रहती है। जैसे घट नष्ट होने से भी उसमें स्थित आकाश अविकारी होने के कारण नष्ट नहीं होता है, उसी तरह अविकारी आत्मा सभी देह नष्ट होने से भी स्वयं नष्ट नहीं होती है। तस्मात्—चूँकि ऐसा है इसलिये सर्वाणि भूतानि—सभी प्राणियों के लिये त्वं न शोचितुम् अर्हसि—आत्मा अनश्वर (अविनाशी) है यह जानकर, 'ते इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च' (ये सब प्राण तथा धन को त्याग कर युद्ध के लिये अवस्थान कर रहे हैं—गीता १।३३), ऐसा कहकर तुम भीष्मादि सभी प्राणियों के लिये अर्थात् उनलोगों के शरीर को लक्ष्य कर शोक कर रहे हो [ये मेरे स्वजन है, इन लोगों का शरीर नष्ट होगा ऐसा सोचकर शोक कर रहे हो] किन्तु तुम्हारे लिये इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है। ये सभी निहत (मृत) होने पर भी इनकी आत्मा कभी नाश को प्राप्त नहीं होगी कारण आत्मा अनश्वर (अविनाशी) है अतः जब आत्मा नित्य है तब आत्मा को लक्ष्य करके तुम्हें शोक तथा मोह नहीं करना चाहिये। इस संसार में देह तो नष्ट हो ही जाता है। यह देह मेरा है ऐसा देह में आत्माभिमान नहीं है तथा देह के सम्बन्ध में शोक मोह जिसका नहीं है, उस अप्रतिबद्ध—अपरोक्ष ज्ञान सम्पन्न विद्वान् के 'दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभावेन कर्मणा' [अर्थात् गुणमय कर्म के द्वारा सृष्ट होने के कारण यह शरीर दैवाधीन है] इस नियम के अनुसार शरीर प्रारब्धाधीन होने के कारण अपनी शरीर-

यात्रा के लिये भी कोई कर्म करना सम्भव नहीं है, दूसरे कर्म की बात तो दूर ही रहे। अतः 'सर्वभूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि' इस पद के द्वारा ब्रह्मज्ञानी को ही सर्व कर्मसंन्यास (त्याग) में अधिकार है, यह सूचित किया गया है।

[पहले कई श्लोकों में परमार्थ वस्तु का विचार करने से शोक या मोह सम्भव नहीं हो सकता है यह कहा गया है। केवल वही नहीं, अपने क्षात्रधर्म की ओर देखने से भी शोक या मोह का कोई कारण नहीं रह सकता है, वह अब कहा जा रहा है]।

टिप्पणी (४) नारायणी टीका—जीवदेह तीन प्रकार का है (क) स्थूल देह—जिसे जाग्रत अवस्था में हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इस देह में अभिमानकारी चैतन्य पुरुष को (आत्मा को) वैश्वानर कहा जाता है। (ख) सूक्ष्म देह या लिंग देह—[पंच प्राण, पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त) इन सोलह अंशों की समष्टि को लिंगदेह कहा जाता है]। ये स्थूल देह के बिना ही स्वप्नावस्था में स्वतन्त्र रूप से कर्म करते हैं। वह लिंग देह ही मृत्यु के समय देह को छोड़कर कर्मसंस्कार तथा वासना लेकर गमन करती है तथा दूसरी योनि में जन्मग्रहण करती है अर्थात् जन्म (स्थूल देह का ग्रहण) तथा मृत्यु (स्थूल देह का त्याग) लिंग देह के ही होते हैं। लिंग देह से उपहित चैतन्य जिसे आत्मा कहा जाता है उसका जन्ममृत्यु नहीं होता है। वह सदा ही एक ही तरह (एकरूप) रहती है। इस लिंग देह में अभिमानकारी चैतन्य को तैजस कहा जाता है। (ग) कारण देह—अर्थात् अविद्या या अज्ञान, जिसमें कर्मसंस्कार तथा वासना अव्यक्तावस्था में रहता है। सुषुप्ति में देही (आत्मा) इस अव्यक्तावस्था में अभिमान कर अवस्थान करते हैं। तब इसको प्राज्ञ कहा जाता है।

वैश्वानर तैजस तथा प्राज्ञ—ये व्यष्टि देह के (पृथक् पृथक् देह में) अभिमानी पुरुष की तीन अवस्थाएँ हैं। समष्टि देह की इन तीन अवस्थाओं को यथाक्रम से विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहा जाता है।

स्थूल देह का नाश अवश्यम्भावी है (गीता २।१८ देखो), अतः वह अशोच्य है अर्थात् स्थूल देह के लिये शोक करना नहीं चाहिये। जब तक जन्म तथा मृत्यु है अर्थात् जब तक प्रत्येक जीव का अविद्याकल्पित यह संसार-चक्र चलता रहेगा तब तक लिंग देह का नाश नहीं होता है। अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं चाहिये। जब तक अज्ञान नष्ट होकर तत्त्वज्ञान

के द्वारा मोक्ष की अवस्था प्राप्त नहीं होगी तब तब कारण देह का भी विनाश नहीं है। अतः उसके लिये भी शोक नहीं किया जा सकता है। और आत्मा (देही) जो इन तीनों देहों में अवस्थान कर विभिन्न नामों को प्राप्त होती हैं वह इन तीनों देहों से विलक्षण है (क्योंकि आत्मा साक्षी है तथा ये सब साक्ष्य या दृश्य हैं)। यह आत्मा स्वरूपतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् आत्मा सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्त (अपरिछिन्न) स्वरूप ब्रह्म (सबसे बृहत्) है। अनन्त वस्तु का कोई अन्त नहीं हो सकता है, अतः आत्मा अविनाशी तथा अव्यक्त है। इस कारण उनके लिये शोक तो हो ही नहीं सकता है। एक सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा सभी प्राणियों में विराजमान हैं, अतः सभी देहों का विनाश होने से भी आत्मा का कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता है [जिस तरह घट समूह का नाश होने से भी घटाकाश का नाश या किसी प्रकार विकार नहीं होता है]। इसलिये श्री भगवान् आत्मा के अविनाशित्व को स्मरण कराकर भीष्मादि के देह के नाश को लक्ष्य कर अर्जुन को शोक करने को मना कर रहे हैं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अन्वय—अपि च स्वधर्मम् अवेक्ष्य त्वं न विकम्पितुम् अर्हसि, हि (यस्मात्) धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयः न विद्यते।

अनुवाद—अपना धर्म विचार करके भी तुम्हें विचलित होना अर्थात् युद्ध से निवृत्त होना नहीं चाहिये क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध की अपेक्षा दूसरा कोई श्रेयः (कल्याण का) साधन नहीं है।

दीपिका—अपि च स्वधर्मम् अवेक्ष्य—अधिकन्तु (अपि च) क्षत्रिय के युद्धरूप स्वधर्म [क्षत्रिय के स्वाभाविक (स्वभावप्रयुक्त वर्णाश्रमोचित) धर्म अर्थात् युद्धक्षेत्र से अपलायनरूप धर्म] अवेक्षण कर [शास्त्रोक्ति के अनुसार आलोचना कर (मधुसूदन)] न विकम्पितुम् अर्हसि—विकम्पित (अर्थात अपने स्वाभाविक धर्म से विचलित) होना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। हि धर्म्यात् युद्धात्—क्योंकि (हि) क्षत्रिय का स्वधर्म युद्ध है। वह पृथ्वी की जय के द्वारा धर्मरक्षा तथा प्रजा की रक्षा करते हैं। अतः उस युद्ध के हिंसात्मक होने पर भी तथा भीष्म, द्रोण आदि के बध की सम्भावना रहने पर भी इसे 'धर्मयुद्ध' ही कहा जायगा। [अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय के

लिये युद्ध से विमुख होकर पलायन करना ही अधर्म है अर्थात् इससे विमुख न होकर युद्ध करना ही क्षत्रिय के लिये धर्म है। इस प्रकार शास्त्रविहित धर्म से अनपेत (अस्खलित अर्थात् सर्वतोभाव से युक्त) यह युद्ध है। अतः यह युद्ध धर्म्ययुद्ध ही है]। क्योंकि मनु ने कहा है 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे। जिघान्सन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्'। अर्थात् वेदान्त-शास्त्रज्ञ ब्राह्मण भी अगर आततायी होकर वध करने के लिए आता है तब उसका वध करने से ब्रह्मघाती नहीं होता है (अर्थात् ब्रह्महत्या का पाप उस घातक को स्पर्श नहीं करता है)। फिर कहा गया है—

उद्यतेषुं रणे दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् यो हन्यात् समरे क्रुद्धं युध्यन्तम-पलायिनम्। ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निर्णयः ॥ (मनु ५।१७८।५१) अर्थात् ब्राह्मण अगर युद्ध में धनूर्बाण उद्यत कर (उठाकर) क्रुद्ध होकर युद्ध करने को आता है तथा रणभूमि से पलायन नहीं करता है तव उसे क्षत्रिय के धर्म के अनुसार वध करने से भी ब्रह्महत्यारूप पाप उसे स्पर्श नहीं करेगा, यही धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है। अतः कहा गया यह युद्ध धर्म से युक्त है (धर्म्यं) अर्थात् धर्मशास्त्र—संगत—अधर्म का लेश मात्र भी इसमें नहीं है (मधुसूदन)। अतः इस धर्म युद्ध से अन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयः न विद्यते—अन्य श्रेयः अर्थात् कल्याण का दूसरा कोई साधन क्षत्रिय के लिए नहीं है। बाद में भी गीता में १८।२३ श्लोक में 'युद्धे चाप्यपलायनम्' (युद्ध से पलायन न करने को) क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म कहा गया है। अग्नि का गुण है तपाना दग्ध करना (जलाना) तथा प्रकाश देना (रोशनी देना)। ये सभी गुण अगर वर्त्तमान न रहे तब अग्नि को अग्नि नहीं कहा जायगा क्योंकि यह सब अग्नि का स्वाभाविक धर्म है। [उसी तरह क्षत्रिय का जो विशेषत्व है, उसके नहीं रहने से क्षत्रिय को क्षत्रिय नहीं कहा जायगा वही राज्यरक्षा तथा प्रजापालन के लिये युद्ध ही क्षत्रिय का कर्तव्य कर्म है अर्थात् वही क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है। जगत् के प्रत्येक जीव का (मनुष्य, कीट, पतंग प्रत्येक का) स्वभाव अलग-अलग है इसलिये धर्म भी अलग-अलग है, इसलिये विश्वनाट्य में सभी जीवों की भूमिका अलग अलग है अपनी अपनी भूमिका में स्थित रहकर ईश्वरार्पण बुद्धि से स्वाभाविक कर्म करने से ही नटराज की लीला के छन्द का भंग नहीं होता है। इसलिये भगवान् अर्जुन को इस सनातन धर्म का स्मरण कराकर युद्ध से निवृत्त होने के लिये मना कर रहे हैं।]

(१) मधुसूदन—(क) न विकम्पितुम् अर्हसि—अर्जुन 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' (गीता १।३८) (यद्यपि ये लोग देख नहीं सकते हैं) इत्यादि श्लोक से आरम्भ कर 'नरके नियतं वासः' (गीता १।४४) अर्थात् अवश्य ही नरक में सारा जीवन वास करना पड़ता है। इतने श्लोकों में युद्ध करने से पाप ही होगा ऐसा अर्जुन ने जो कहा तथा 'कथं भीष्ममहं संख्ये' (गीता २।४) अर्थात् युद्ध में मैं किस तरह भीष्म के साथ वाण के द्वारा युद्ध करूँगा इत्यादि श्लोक में गुरुवध (गुरु हत्या) तथा ब्रह्म वध (ब्रह्महत्या) नहीं करूँगा ये कहकर जो अभिसन्धि (मन का भाव) प्रकाशित, किया वह सब ही धर्मशास्त्र के तात्पर्य की सम्यक् रूप से पर्यालोचना न करके ही कहा था। श्रीभगवान इसीलिये कह रहे है कि धर्मशास्त्र की तात्पर्य आलोचना न कर, स्वधर्म में अधर्म की बुद्धि रखकर तुम अगर युद्ध से हट जाओ (मुख मोड़ लो) या विकम्पित हो जाओ तब वह तुम्हारे लिये बहुत ही असंगत (अनुचित) होगा।

(ख) श्रेयः—अर्जुन ने पहले कहा है 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' (गीता १।३१) अर्थात् स्वजनों की युद्ध में हत्या करने से आत्मा को उसमें कोई श्रेयः (कल्याण) लाभ होगा यह हम नहीं देख रहे हैं। भगवान अर्जुन को आश्वासन देकर अब कह रहें हैं—इस तरह यदृच्छाप्राप्त युद्ध करना केवल तुम्हारा कर्त्तव्य ही नहीं है, इसकी अपेक्षा श्रेयस्कर अर्थात् जीवन को कल्याण का साधन क्षत्रिय के लिये और नहीं है क्योंकि जिसका जो धर्म या कर्त्तव्य है वही उसके लिये श्रेयः या कल्याण का साधन होता है। क्षत्रिय का प्रजापालन, ब्राह्मण का सेवा इत्यादि कर्त्तव्य कर्म है। दुष्ट का दमन नहीं करने से प्रजापालन नही होता है और युद्ध नहीं करने से दुष्ट का दमन नहीं होता है। इसी कारण से तथा धर्मशास्त्र में विहित होने से युद्ध ही क्षत्रिय का धर्म है तथा वह युद्धरूप धर्म पालन करने से ही क्षत्रिय का श्रेयः (कल्याण) होता है। अत्र शंका होगी, शास्त्र में तो जो भूमिपाल (राजा) है वह ब्राह्मण ही हों या क्षत्रिय हों या दूसरे कोई वर्ण के हो उन्हीं को युद्ध कर प्रजापालन इत्यादि कर्म करना धर्म है। अतः युद्ध सर्व साधारण धर्म है—केवल क्षत्रिय का धर्म नहीं है। इसके उत्तर में कहा जायगा—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते है क्योंकि पराशर ने कहा है क्षत्रिय प्रजापालन करके तथा हस्त में शस्त्रधारण-पूर्वक दुष्ट के दमन में तत्पर रहकर शत्रुपक्ष के सैन्य को पराजित कर धर्म के अनुसार पृथ्वी की रक्षा करेंगे। मनु ने भी कहा है राजा प्रजापालन करते करते अगर अपने तुल्य अथवा उत्कृष्ट अथवा अधम व्यक्ति के द्वारा युद्ध में आहूत होंगे तब क्षत्रिय धर्म को स्मरण करके युद्ध से निवृत्त नहीं होंगे। युद्ध

से निवृत्ति न होना, प्रजापालन तथा ब्राह्मणो की सेवा—ये सभी क्षत्रिय के लिये परम श्रेयस्कर हैं। उक्त पराशर वचन में 'क्षत्रियः हि' अर्थात् क्षत्रिय ही तथा मनु के वचन में 'क्षात्रं धर्म' ऐसा स्पष्ट निर्देश रहते के कारण युद्ध आदि सभी क्षत्रिय का साधारण-धर्म है यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। फिर 'राजा' शब्द केवल क्षत्रिय के लिये ही है (ब्राह्मण या दूसरी किसी जाति के लिये नहीं है) वह 'अवेष्टि' अधिकरण में (मीमांसादर्शन के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के द्वितीयाधिकरण में) निर्णीत हुआ है अर्थात् राजसूय प्रकरणान्तर्गत जो अवेष्टि नामक इष्टि (यज्ञ) का उल्लेख किया गया है उसमें राज्य-प्राप्त ब्राह्मण तथा वैश्य को अधिकार नहीं है इसप्रकार निर्णीत हुआ है। अतः मनु के वचन में जो 'राजा' शब्द का उल्लेख किया गया है वह क्षत्रिय का ही वाचक है। अब शंका होगी युद्ध से क्षत्रिय का जब दूसरा कोई श्रेयः नहीं है तब तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि क्षत्रिय को युद्ध करना ही उचित है— प्रजापालन, ब्राह्मण सेवा इत्यादि दूसरा धर्म पालन नहीं करने से कोई हानि नहीं होती है। ऐसा इसके उत्तर में कहा जा सकता है, नहीं ऐसी युक्ति ठीक नहीं है। 'अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गोत्वश्वाः' अर्थात् गो तथा अश्व के अलावा अन्य पशुसमूह अपशु (पशु नहीं) है किन्तु गो तथा अश्व ही पशु है—इस वचन में गो तथा अश्व की प्रशंसा ही की गयी है किन्तु अन्य पशुओं में पशुत्व नहीं है इस तरह का अर्थ प्रकाशित करने के लिये ऐसे वचन कहने का उद्देश्य नहीं है। उसी तरह 'क्षत्रिय के लिये' युद्ध के अलावा दूसरा कोई श्रेयः साधन नहीं है ऐसा कहने से क्षत्रिय के लिए युद्ध प्रशंसा के रूप में ही कहा गया है किन्तु क्षत्रीय इसके अतिरिक्त दूसरे धर्म का (प्रजापालन, ब्राह्मण सेवा इत्यादि धर्म) पालन नहीं करेंगे इस प्रकार की कोई बात कहने का यहाँ उद्देश्य नहीं है। 'न च श्रेयोऽनु-पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे, (गीता १।३१) अर्थात् स्वजन को युद्ध में वध करने से मेरा क्या श्रेयः होगा वह मैं नहीं देख सक रहा हूँ, ऐसा कहकर अर्जुन ने युद्ध क्षेत्र में दुःख प्रकाशित किया है। उनके इस तरह की उक्ति के उत्तर में भगवान् ने इसी श्लोक में क्षत्रिय का युद्ध करना ही श्रेयः लाभ का श्रेष्ठ साधन है उसका प्रतिपादन किया। दूसरे क्षात्रधर्म यथा (प्रजापालन, ब्राह्मण सेवा इत्यादि) से अर्जुन को निवृत्त करने का यहाँ कोई अभिप्राय नहीं है।

(२)श्रीधर—[अर्जुन ने जो कहा 'वेपथुश्च शरीरे मे' (गीता १।२९) (मेरा शरीर काँप रहा है), वह भी युक्तिहीन है यह भगवान अब कह रहें

हैं—] आत्मा का जब नाश नहीं है तब इनलोगों का वध करने में तुम्हें कम्पित होना उचित नहीं है अपि च—आत्मा अविनाशी है इस बात को छोड़कर भी स्वधर्मम् अपि अवेक्ष्य—स्वधर्म को (क्षत्रिय के धर्म की) ओर देखकर भी न विकम्पितुम् अर्हसि—तुम्हें ऐसा वि (विशेष रूप से) कम्पित होना शोभा नही देता है। और तुमने जो कहा 'न च श्रेयः अनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' (गीता १।३१) अर्थात् युद्ध में स्वजनों का वध कर मैं श्रेयः (लाभ) नहीं देख रहा हूँ, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि धर्म्यात् हि युद्धात्—धर्म्य (धर्म से ओतप्रोत न्याययुक्त) युद्ध के अतिरिक्त [युद्ध क्षत्रिय का धर्म्य है अर्थात् धर्मयुक्त है (कर्त्तव्य रूप में शास्त्र के द्वारा विहित है)। यह प्रसिद्धि प्रकट करने के लिये "हि" शब्द का प्रयोग किया गया है]।

अन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयः न विद्यते—और दूसरा कर्म क्षत्रिय के लिये श्रेयोजनक [श्रेयः अर्थात् पारमार्थिक कल्याण का साधन] नहीं है।

(३) शंकरानन्द—'वेदाविनाशिनम्' (गीता २।२१) इत्यादि श्लोक की व्याख्या में यह स्पष्टोक्त किया गया है कि जिनको 'ये सब (दृश्य) वस्तु तथा मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ' इस प्रकार आत्मा की कृपा के द्वारा सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्वविज्ञान उत्पन्न हुवा है उनके लिये कर्त्तव्य कुछ रह नही सकता है। इस तरह ज्ञानी भिन्न मुमुक्षु का (जिनका 'मैं' तथा 'मेरा' ऐसा अभिमान है उनका) ज्ञान सिद्धि के लिये चित्तशुद्धि का हेतुभूत शास्त्रविधिप्रदर्शित स्वधर्म का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। श्रुति भी ऐसा कहती हैं—"ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' अर्थात् ब्राह्मण यज्ञ तथा दान इत्यादि कर्म के द्वारा तत्त्व जानने की इच्छा करेंगे। चित्तशुद्धि के लिये स्वधर्मानुष्ठान करना होगा यह बोध अर्जुन के हृदय में उत्पन्न करने के लिये ही यह प्रकरण आरम्भ किया गया अर्थात् अर्जुन को अभी तक आत्मज्ञान नहीं हुवा है भगवान यह लक्ष्य कर अपने भक्त तथा मुमुक्षु अर्जुन को कर्त्तव्यरूप स्वधर्म में प्रवृत्त करने के लिये अब कह रहें हैं। स्वधर्मम् अपि च—[जब कर्ता, करण तथा कार्य 'सभी ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान होता है तब कोई कर्त्तव्यशेष नहीं रहता है। और अगर तुम्हें 'ये मेरे हैं तथा मुझसे ये निहत होंगे' ऐसा भेदज्ञान है] तब (अपि) किन्तु (च) स्वधर्म को [अर्थात् युद्धं स्वधर्मो नृपतेः प्रजानां प्रतिपालनम् (युद्ध तथा प्रजापालन राजा का धर्म है) इत्यादि शास्त्र में जो स्वधर्म क्षत्रिय के लिये कर्त्तव्यरूप में विहित है उस स्वधर्म को] अवेक्ष्य—बुद्धि के द्वारा विचार कर न विकम्पितुम् अर्हसि—उससे (स्वधर्म से) विचलित

होना उचित नहीं है। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि युद्ध स्वधर्मरूप से प्राप्त होने के कारण क्षत्रिय के लिये यागादि कर्म की तरह युद्धरूप कर्म में हिंसादि दोष का विचार कर विद्वान् व्यक्ति को शोक तथा मोह से अभिभूत होना उचित नहीं है। धर्म्यात् हि युद्धात्—धर्मशास्त्र से प्राप्त अर्थात् धर्मशास्त्र के द्वारा कर्त्तव्यरूप में विहित (अतः धर्म्य) युद्ध से अन्यत् श्रेयः क्षत्रियस्य न विद्यते—क्षत्रिय के लिये दूसरा कोई श्रेयः अर्थात् श्रेयः लाभ का कोई साधन नही है। युद्ध में जयलाभ कर (विजयी होकर) जो धन प्राप्त होता है उस धन के द्वारा ही याग, दान, व्रतादि कर्म अनुष्ठित होते हैं तथा उन कर्मों को निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर चित्तशुद्धि का लाभ होता है। चित्तशुद्धि से ज्ञान तथा ज्ञान से मोक्ष लाभ होता है। इसलिये युद्ध ही क्षत्रियों के लिये श्रेयः लाभ का श्रेष्ठ साधन है। अतः तुम्हारे लिये युद्ध ही कर्त्तव्य है यह सिद्ध हुआ। हि—'ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासः' अर्थात् जो वीर रणक्षेत्र में युद्ध करते हैं वे स्वर्गप्राप्त करते हैं, ऐसा प्रसिद्ध श्रुतिवाक्य है। इसे सूचित करने के लिये श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया।

टिप्पणी (४) नारायणी टीका—अपि च स्वधर्मम् अवेक्ष्य—भीष्म, द्रोण आदि तथा अपने स्वजनों की मृत्युभय से शोक तथा मोह में अभिभूत होकर अर्जुन अपने स्वाभाविक धर्म को त्यागकर परधर्म (भिक्षाटनादि वृत्ति) ग्रहण करने के लिये तैयार हुये। अविवेक से मोह उत्पन्न होता है। मोह से शोक होता है। शोक तमोगुण का लक्षण है, इसलिये कर्त्तव्य कर्म में प्रमाद (असावधानी) तथा आलस्य भी शोक के साथ साथ उपस्थित होता है एवं स्वाभाविक धर्म परित्याग कर परधर्म ग्रहण करने में प्रवृत्ति आती है। अर्जुन को भी वही हुआ। अर्जुन का शोक मोह के द्वारा अभिभूत होना सभी प्रकार से अनुचित है वह श्री भगवान् ने पहले आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का (अविनाशित्व, नित्यत्व, अविकारित्व) निर्णय कर समझाया कि अगर आत्मा की ओर दृष्टि डालो तब तुम्हें किसी के लिये शोक करना उचित नहीं है क्योंकि आत्मा की मृत्यु (नाश) नहीं है। बाद में देह के स्वभाव की आलोचना कर 'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २।१८) इत्यादि द्वारा देह का विनाश अवश्यम्भावी है तथा वह अपरिहार्य है यह कहकर समझाया कि अगर देह की मृत्यु होगी यह सोचकर शोक कर रहे हो तब वह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि जो अवश्यम्भावी है उसको रोका नहीं जा सकता है। अतः शोक का कोई कारण ही नहीं रह सकता है ऐसा समझाया। अब क्षत्रिय का स्वधर्म उल्लेख कर कह रहे हैं अगर इस तरफ से भी देखो तब भी तुम्हें

शोक करना उचित नहीं है। गुरुवध इत्यादि की सम्भावना रहने पर भी यह युद्ध धर्मसंगत है क्योंकि यह तुम्हारा स्वधर्म है। इससे अधिक श्रेयः लाभ का (मोक्ष लाभ का) उपाय तुम्हारे लिये और दूसरा कुछ नहीं है। इस धर्म-युद्ध से विचलित (स्खलित) होना तुम्हारे लिये उचित नहीं होगा अर्थात् यह युद्ध अर्जुन को करना चाहिये, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। [शास्त्रवाक्य में श्रद्धा रखकर निष्काम रूप से स्वधर्म पालन करने से चित्त-शुद्धि होती है। चित्तशुद्धि होने से श्रवण मननादि द्वारा ज्ञान लाभ कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण से क्षत्रिय का स्वधर्म (शास्त्रविहित युद्धादि कर्म) श्रेयः—लाभ का साधन है]।

[द्वितीय अध्याय के ११ श्लोक से लेकर ३८ श्लोक तक जो कहा गया है वह सांख्यबुद्धि का विषय है यह भगवान ने 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' ऐसा कहकर स्पष्ट किया। किन्तु ३१ श्लोक से लेकर ३७ श्लोक तक जो कहा गया वह परमार्थवस्तु (आत्मानात्म वस्तु) के विवेक का विषय नहीं है। अतः वह सांख्यबुद्धि का भी विषय नहीं है। तथापि वह क्यों प्रासंगिक रूप से कहा गया ? ऐसी शंका हो सकती है। इस शंका की निवृत्ति के लिये उन ७ श्लोकों की (३१ श्लोक से ३७ श्लोक तक) आध्यात्मिक व्याख्या प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में 'द्वितीय अध्याय के तात्पर्य' में दी गयी है। उसी व्याख्याओं पर ध्यान रखकर इन श्लोकों के तात्पर्य का निर्णय कर लें]।

[युद्ध में गुरु प्रभृति अनेक प्राणियों की हिंसा करनी होगी, अतः "अहिंसा परमो धर्मः" इस शास्त्र वचन के अनुसार परम धर्म के विरोधी होने पर भी युद्ध कर्त्तव्य है ऐसा क्यों कह रहे हो ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं]—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! यदृच्छया च उपपन्नम् अपावृतम् स्वर्गद्वारम् (इव) ईदृशम् युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते।

अनुवाद—अपने से उपस्थित खुले स्वर्गद्वार की तरह (अर्थात् अनायास स्वर्गलाभ का उपायभूत) ऐसा युद्ध भाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है।

दीपिका—हे पार्थ—अर्जुन ! तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती) भी अनेक विपदाओं से घिरी होते हुए भी कभी स्वधर्म से च्युत नहीं हुई। अतः तुम भी युद्धरूप स्वधर्म से निवृत्त नहीं होगे यह विश्वास मुझे है, ऐसा भाव सूचित करने के लिये भगवान् ने पार्थ कहकर सम्बोधन किया।

यदृच्छया च उपपन्नं—'यदृच्छा' का अर्थ अप्रार्थना है। विना प्रयत्न या प्रार्थना से अर्थात् अपने ही से उपपन्न अर्थात् आगत। ['च' शब्द अवधारण के अर्थ में (निश्चयार्थ में) प्रयुक्त हुआ है (मधुसूदन)]। **अपावृतम् स्वर्गद्वारम् इव**—उन्मुक्त या उद्घारित स्वर्गद्वार की तरह। [अर्थात् युद्ध अप्रतिबद्ध रूप से (प्रतिबन्धक विना तथा काल के व्यवधान के विना) ही स्वर्ग के जनक होते हैं]। ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञ आदि बहुत विलम्ब से स्वर्ग के जनक होते हैं क्योंकि देह के विद्यमान रहते हुए (मृत्यु न होने पर) स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है अर्थात् देह की स्थिति ही ज्योतिष्टोमादि के फलस्वरूप स्वर्ग प्राप्ति की प्रतिबन्धक होती है किन्तु सम्मुख युद्ध में क्षत्रिय की मृत्यु होने से ही साथ-साथ स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसलिए कहा गया है कि स्वर्गद्वार मानो इस प्रकार के धर्मसंगत युद्ध में जो क्षत्रिय प्राणत्याग करता है उसके लिए सदा ही उन्मुक्त रहता है। (मधुसूदन)। **ईदृशं युद्धं**—इस प्रकार का युद्ध अर्थात् जिस युद्ध में भीष्मद्रोणादि वीर-पुरुष प्रतिद्वन्द्वी हैं एवं जिस युद्ध में जयलाभ करने से दृष्टफल के रूप में (अर्थात् प्रत्यक्ष फल के रूप में) कीर्ति तथा राज्यप्राप्ति होगी, इस प्रकार का युद्ध **सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते**—भाग्यशाली क्षत्रिय लोग प्राप्त करते हैं। [क्योंकि यदि जय हो तब अनायास ही यश तथा राज्य की प्राप्ति होगी और यदि पराजय होने के कारण देह का नाश हो जाय तब अतिशीघ्र ही स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अतः दोनों दृष्टि से ही ऐसा युद्ध लाभदायक है और इसी कारण ही भाग्यवान् व्यक्तिलोग ऐसा युद्ध करने के लिए सौभाग्य प्राप्त करते हैं। (मधुसूदन)]।

(१) **मधुसूदन**—(क) **स्वर्गद्वारमपावृतम्**—'स्वर्गद्वारम्' शब्द रहने के कारण ऐसा सूचित हो रहा है कि श्येनादि याग की तरह युद्ध में पाप की आशंका नहीं है। श्येनादि याग भी शास्त्रविहित है, अतः स्वयं अनिष्ट-जनक न होने पर भी उसका परिणाम (यथा शत्रुवध) हिंसा दोष से दुष्ट होने के कारण प्रत्यवाय (पाप) जनक होता है क्योंकि 'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करोगे' 'ब्राह्मण का बध नहीं करोगे' इत्यादि शास्त्र-वाक्य के द्वारा हिंसा को निषिद्ध किया गया है एवं हिंसानिषिद्ध होने के

कारण वह प्रत्यवायजनक है अर्थात् पाप का हेतु है। शंका होगी, जब श्येन आदि यज्ञ शास्त्रविहित है तब वह प्रत्यवायजनक किस प्रकार से होगा ? इसका उत्तर यह है कि श्येनादि याग के फलविषय में (हिंसात्मक शत्रु-वध में) शास्त्र का कोई विधिविधान न रहने के कारण 'विधिस्पृष्ट में (शास्त्र-विहित विषय में) निषेध का अवकाश नहीं है' यह नियम प्रयुक्त (लागु) नहीं होता है। दूसरी ओर क्षत्रिय के लिए युद्ध शास्त्रविहित है। युद्ध का फल है स्वर्ग एवं शास्त्र में स्वर्गरूप फल का कहीं भी निषेध नहीं किया है। अतः युद्ध (हिंसात्मक होने पर भी) पापजनक नहीं है। इसलिए मनु कहते हैं—जो सब राजन्यवर्ग युद्ध में अपरांगमुख होकर (नहीं भागते हुए) अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार परस्पर के साथ युद्ध करते-करते परस्पर की हिंसा करते हैं (एक दूसरे के द्वारा हत होते हैं) वे लोग स्वर्ग में जाते हैं।

(ख) द्वितीयतः—अग्निषोमीयादि यज्ञ में जिसप्रकार पशु का आलम्भ (वध) शास्त्रविहित है उस प्रकार युद्ध में भी हिंसा विहित है। अतः षोडशी-नामक यज्ञपात्र विशेष के ग्रहण को तरह क्षत्रिय के लिए युद्ध भी कर्म है, वह निषेध के द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकता है। अभिप्राय यह है कि—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करोगे) यह सामान्य शास्त्र है और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' एक विशेष शास्त्र है। जिस प्रकार अतिरात्र यज्ञ में षोडशी रूप यज्ञपात्र विशेष का ग्रहण तथा अग्रहण दोनों ही शास्त्र में विकल्परूप से विहित है, अतः दोनों ही सम्बल (सहारा) होने के कारण किसी का भी इच्छानुसार अनुष्ठान किया जा सकता है। किस स्थल में ग्रहण करना चाहिए एवं किस स्थल में ग्रहण नहीं करना चाहिए उसे वाक्यान्तर (विधि के अन्तर्गत दूसरे वाक्य) पर्यालोचना कर समझ लेना चाहिए, उस प्रकार विशेष शास्त्र के द्वारा ही सामान्य शास्त्र का संकोच होना चाहिए। सामान्य शास्त्र तथा विशेष शास्त्र दोनों ही स्थलभेद के अनुसार प्रमाण है—कोई भी अप्रमाण नहीं है। इन दोनों में सामंजस्य करने के लिए यही कहना पड़ेगा कि अग्नीषोमीयादि विहित स्थल के अलावा दूसरे अविहित स्थल में ही हिंसा अनर्थजनक होने के कारण निषेध है। इसके अलावा 'सामान्यविशेषयोः विशेषविधिः बलवान्' अर्थात् सामान्यविधि (साधारण रूप से जिस विधि के बारे में कहा गया है उस विधि एवं विशेषविधि में विशेषविधि ही बलीयान् है। 'मा हिंस्यात्' (हिंसा नहीं करो) यह सामान्य विधि है एवं 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' (अग्निषोमीय यज्ञ में पशुवध) यह

विशेषविधि है। अतः विशेषविधि के द्वारा सामान्य विधि बाधित होने के कारण हिंसा साधारणतः अधर्म होने के कारण प्रत्यवायजनक होने पर भी विशेषस्थल में (जिस प्रकार अग्नीषोमीयादि यज्ञ में अथवा क्षत्रिय के लिए युद्धादि विषयों में) हिंसा धर्म के रूप में विहित होने के कारण वह प्रत्यवाय (पाप) जनक नहीं होता है। इसलिए वेदान्त दर्शन में कहा गया है 'अशुद्ध-मिति चेत् न शब्दात्' (वेदान्तदर्शन—३।१।२५) अर्थात् यज्ञादि कर्म हिंसा-बहुल होने के कारण अशुद्ध (पापजनक) है ऐसा नहीं कहा जा सकता है चूँकि वह शास्त्रविहित है।

(ग) तृतीयतः—भीष्म, द्रोण प्रभृति गुरुजनों का तथा ब्राह्मणों का वध करना भी तुम्हारे लिए पापजनक नहीं होगा क्योंकि शास्त्र के अनुसार वे लोग आततायी हैं। इसलिए मनु कहते हैं—'आक्रमणकारी आततायी गुरु ही हो या बालक ही हो, वृद्ध ही हो या शास्त्रज्ञ ब्राह्मण ही हो बिना विचार किये ही उसका वध करना चाहिए। आक्रमणकारी आततायी वेदांग पारंगत होने पर भी यदि वह हनन करने की इच्छा करे तब उसका वध करने के लिए अग्र-सर होओगे। उसका वध करने पर ब्रह्मघ्न (ब्राह्मणघाती) नहीं होना पड़ेगा क्योंकि आततायी का वध करने पर घातक का कोई दोष नहीं होगा इत्यादि।

अब शंका हो सकती है जब दो स्मृति वचनों में विरोध उपस्थित हो तब न्याय ही (युक्तियुक्त स्मृति वचन ही) बलवान् होता है। और 'ब्राह्मण का वध मत करो' अथवा 'मा हिंस्यात्' (किसी की भी हिंसा नहीं करोगे) यह धर्मशास्त्र है, क्योंकि इसमें दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि की कोई अपेक्षा नहीं है। दूसरी ओर 'जिघांसु (हनन करने के इच्छुक) व्यक्ति को हत्या करने की इच्छा कर अग्रसर होओगे' यह है अर्थशास्त्र, चूँकि यहाँ अपने जीवनरक्षारूप दृष्टप्रयोजन विद्यमान है। (शंका) धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र की अपेक्षा बलवान् है यही स्थिति (नियम) है—याज्ञवल्क्य के इस वचन के अनुसार आततायी ब्राह्मण का वध करने पर वह पाप तो अवश्य होगा ही अर्थात् इस नियम के अनुसार युद्ध में वध करना भी अधर्म होने के कारण पापजनक होगा ही ? इसके उत्तर में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' अर्थात् ब्रह्मा के उद्देश्य से ब्राह्मण का आलम्भन (वध) करेंगे इस शास्त्र की तरह ब्रह्मविषयक शास्त्र भी (जो शास्त्र स्वधर्म पालन का उपदेश देकर चित्त-शुद्धि के द्वारा आत्मतत्त्वज्ञान का अर्थात् ब्रह्मज्ञान का सहायक होता है ऐसा शास्त्र भी) धर्मशास्त्र ही है। भगवान् आगे कहेंगे 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततः युद्धाय युध्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि'। (गीता

२।३८) अर्थात् सुख तथा दुःख में, लाभ तथा हानि में, जय तथा पराजय में समबुद्धि रखकर केवल कर्त्तव्यबुद्धि से युद्ध के लिए सज्जित होओ; इसप्रकार से युद्ध करने पर पाप तुम्हें स्पर्श नहीं करेगा। अभिप्राय यह है कि यदि दृष्टप्रयोजन की अपेक्षा न कर युद्ध करो अर्थात् राज्यप्राप्ति के लिए युद्ध न कर केवलमात्र क्षात्रधर्म की रक्षा के लिए ही कर्तव्यबुद्धि से युद्ध करो तब वह धर्मशास्त्र के द्वारा अनुमोदित धर्म होने के कारण पापजनक सिद्ध नहीं होगा। उपर्युक्त वचन का तात्पर्य यह है कि दृष्ट (लौकिक) प्रयोजन की सिद्धि ही जिसका उद्देश्य है अर्थात् राज्य की प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है ऐसे कूटयुद्ध में यदि ब्राह्मण का वध किया जाय तब ब्राह्मण का वध करने से पाप होगा क्योंकि यह धर्मयुद्ध नहीं है। किन्तु यदि किसी फल की आकांक्षा न कर केवल कर्त्तव्य के बोध से युद्ध किया जाय तब उस प्रकार के युद्ध में यदि कोई ब्राह्मण आततायी के रूप में उपस्थित हो तब उसका वध करने से कोई पाप नहीं होगा क्योंकि ऐसा युद्ध क्षत्रिय के लिए धर्मशास्त्र द्वारा विहित है। इसप्रकार स्मृतिद्वय में (दो प्रकार के स्मृति वचनों में) जो विरोध है उसे परिहार किया गया। अतः धर्मयुद्ध करने पर स्वर्गसुख की प्राप्ति सम्भव है यह कहकर अर्जुन पहले जो कहते हैं—'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव' (गीता १।१७) अर्थात् हे माधव! हमलोग स्वजनों की हत्या कर किसप्रकार सुखी होंगे? अर्जुन की इस उक्ति का प्रत्युत्तर भगवान् ने दिया अर्थात् अर्जुन की इस प्रकार की उक्ति जो शास्त्रसंगत नहीं है उसे भगवान् ने स्पष्ट कर समझा दिया।

(२) श्रीधर—[किन्तु यह महाश्रेयः (महा कल्याणकारी कर्तव्य युद्ध) स्वयं उपस्थित है, अतः तुम कम्पित क्यों हो रहे हो? यह बात कहते हैं—] हे पार्थ—हे अर्जुन! यदृच्छया च उपपन्नं—अप्रार्थित होकर भी स्वयं उपस्थित अर्थात् प्राप्त अनावृतं स्वर्गद्वारम् एव—मुक्त (खुला हुआ) स्वर्गद्वार की तरह ईदृशम् युद्धं—इस प्रकार का युद्ध सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते—सौभाग्यवान् क्षत्रिय लोग प्राप्त करते हैं अथवा जो क्षत्रिय लोग इस प्रकार का युद्ध प्राप्त करते हैं वे ही सुखी (सौभाग्यवान्) हैं इसके द्वारा 'स्वजनों का वध कर हमलोग किस प्रकार से सुखी होंगे'—अर्जुन ने जो ऐसा कहा था वह निरस्त हुआ अर्थात् वह जो असंगत है वह दिखाया गया।

(३) शंकरानन्द—यदि युद्ध में जय हो तब युद्ध श्रेयः साधन होगा और यदि मरण हो तब तो कोई लाभ ही नहीं होगा? इस प्रकार की शंका के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—हे पार्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन! यदृच्छया च

उपपन्नम्—प्रयत्न के बिना प्राप्त एवं स्वर्गद्वारम् अपावृतम्—उन्मुक्त स्वर्ग के द्वारस्वरूप अर्थात् स्वर्गप्राप्ति के उन्मुक्त (प्रतिबन्धकरहित) द्वारस्वरूप ईदृशम् युद्धम्—इस प्रकार का युद्ध सुखिनः—स्वर्गसुख प्राप्त करने के इच्छुक धन्य (भाग्यवान्) क्षत्रियाः लभन्ते—क्षत्रिय लोग पुण्यफल से ही प्राप्त करते हैं अर्थात् अत्यन्त भाग्यवान् पुण्यशाली क्षत्रिय के निकट ही ऐसा युद्ध उपस्थित होता है क्योंकि युद्ध में मृत्यु होने पर स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है (और जय होने पर तो राज्यसुख की प्राप्ति होगी ही) । यह युद्ध दोनों प्रकार से फल की प्राप्ति का हेतु है, अतः युद्ध तुम्हें अवश्य ही करना चाहिये, यह अर्थ है ।

(४) नारायणी टीका—यदृच्छया च उपपन्नं युद्धम् ईदृशम्—इस विषय पर अर्जुन के मन में संशय हो सकता है—(क) अग्नीषोमीय यज्ञ में हिंसा की विधि है किन्तु यह यज्ञ करना ही पड़ेगा ऐसी कोई विधि नहीं है । इस प्रकार सामान्य शास्त्र में क्षत्रिय के हिंसापूर्ण युद्धादि विहित होने पर भी वैसा युद्ध करना ही पड़ेगा ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि विशेष शास्त्र में 'अहिंसा परमो धर्मः' ऐसा कहकर हिंसापूर्ण कर्म का प्रतिषेध किया गया है । (ख) जो लोग युद्ध में प्रवृत्त होते हैं उनलोगों को इहकाल तथा परकाल में स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् इहलोक के पृथ्वीव्यापी राज्य की प्राप्ति होने पर भी प्राणवियोग होने पर उस राज्यसुख से वंचित होना पड़ता है; पुनः (ग) मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति जो होगी ही उसमें ही निश्चयता क्या है ? अर्जुन के मन में तीन प्रकार का संशय हो सकता है, ऐसी आशंका कर श्रीभगवान् पहली शंका के निवारण के लिए कह रहे हैं कि 'यदृच्छया चोपपन्नम्'—यह युद्ध तुम्हारे निकट अपने से ही उपस्थित हुआ है एवं तुम्हें इसका परिहार भी नहीं करना चाहिए चूँकि तुमने स्वयं इसे आह्वान नहीं किया है इसलिए तुम्हें हिंसारूप पाप स्पर्श नहीं कर सकेगा क्योंकि ऐसा युद्ध क्षत्रिय के लिए शास्त्रविहित धर्म है । स्वतः प्राप्त युद्ध से परांगमुख होने पर ही [युद्ध से निवृत्त होने या पलायन करने से ही क्षत्रिय के लिए] पाप होता है । पाप और पुण्य को तो शास्त्र से ही जाना जा सकता है । इसे बुद्धि के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता है । कर्त्तृत्वाभिमान एवं सभी कर्म तथा कर्मफलों को त्याग के बिना अर्थात् पूर्ण संन्यास के बिना पूर्णरूप से अहिंसा की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है । अतः जबतक उस अवस्था की प्राप्ति न हो तबतक क्षत्रिय का धर्म पालन करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है ।

द्वितीय और तृतीय शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' (इस युद्ध के द्वारा स्वर्गद्वार उन्मुक्त होगा अर्थात् इस युद्ध के द्वारा अनायास ही स्वर्ग की प्राप्ति होगी)। शास्त्र में है कि वेदाध्ययन, महत् यश, तपः अनुष्ठान, युद्ध में मृत्यु यह सब ही स्वर्ग का हेतु है किन्तु नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन आदि कर्मों को नहीं करने पर स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। परन्तु सम्मुख युद्ध में प्राणत्याग करने से ही क्षत्रिय को स्वर्ग की प्राप्ति होगी इसमें बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है, क्योंकि यह शास्त्र का सिद्धान्त है। अतः (क) इस युद्ध में जयलाभ करने से इहलोक में राज्य-सुख की प्राप्ति होगी। (ख) और यदि युद्धादि स्वधर्म को निष्काम रूप से भगवदर्पण बुद्धि से अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर इस जन्म में ही ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होओ तब तो परम पुरुषार्थ की सिद्धि होगी। (ग) और यदि मोक्ष की प्राप्ति न हो तब भी मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होगी ही। महाभाग्य के फलस्वरूप ही इस प्रकार के धर्मयुद्ध की प्राप्ति होती है। अतः किसी प्रकार से ही तुम्हारे लिये युद्ध त्याग करना उचित नहीं होगा।

[स्वधर्मरूप युद्ध को श्रद्धा के साथ करने पर स्वर्ग आदि महाफल की प्राप्ति होती है इसे दिखाकर अब कह रहे हैं कि उसे न करने से क्या प्रत्यवाय (पाप होता है—]

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिंश्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अन्वय—अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि।

अनुवाद—दूसरी ओर तुम यदि इस धर्मयुद्ध को (न्याय युद्ध) नहीं करोगे तब स्वधर्म तथा कीर्ति त्याग (नष्ट) कर पाप को प्राप्त करोगे (पापी हो जाओगे)।

दीपिका—अथ चेत्—अथ शब्द का अर्थ है दूसरी ओर अर्थात् इस युद्ध को तुम्हारे कर्त्तव्य के रूप में प्राप्त किया है तब भी यदि त्वम्—तुम धर्म्यं संग्रामं—धर्म्य युद्ध अर्थात् धर्म से अनपेत (अस्खलित) अर्थात् शास्त्र के विधान के अनुसार क्षत्रिय धर्म संगत है इस युद्ध को न करिष्यसि—हिंसा के भय से या लोगों के भय से भीत होकर न करो अर्थात् युद्ध से

निवृत्त होओ ततः—तब शास्त्रविहित कर्म को (न्याय युद्ध को) न करने के कारणस्वधर्मं कीर्तिं च—स्वधर्म (क्षात्र धर्म) एवं भगवान् शंकर, इन्द्र प्रभृति के साथ युद्ध में जयलाभ कर पहले जिस कीर्ति को प्राप्त किये हो उस कीर्ति को भी हित्वा—त्याग कर अर्थात् स्वधर्म तथा कीर्ति से वंचित होकर पापम् अवाप्स्यसि—केवल पाप को ही प्राप्त करोगे। [क्योंकि स्मृति शास्त्र में है 'न निवर्तेत संग्रामात्' अर्थात् क्षत्रिय को कभी भी संग्राम से निवृत्त नहीं होना चाहिये]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—इमं—इस अर्थात् भीष्म, द्रोण प्रभृति वीर पुरुष लोग जो युद्ध में प्रतिद्वन्द्वी हैं इस धर्म्यं संग्रामं—धर्मसंगत संग्राम [जो शास्त्र के अनुसार हिंसादि दोषदुष्ट नहीं है अथवा जो सग्राम सत् पुरुषों के धर्म से अनपेत (अस्खलित) है इस प्रकार का संग्राम]। सत् पुरुषों के धर्म के सम्बन्ध में मनु इस प्रकार कहते हैं—'योद्धा युद्ध करने के समय सत् पुरुषोंके धर्म को स्मरण कर कूट युद्ध में कूट अस्त्र के द्वारा (गोपन अस्त्र के द्वारा) शत्रुओं को प्रहार नहीं करेंगे कर्णी (जिसका अग्रभाग कर्ण के सदृश है), दग्ध (विषाक्त) अथवा जिनका अग्रभाग अग्नि के द्वारा जला हुआ है ऐसे अस्त्र के द्वारा कभी भी युद्ध नहीं करोगे। स्थलारूढ़ (भूमि में दंडायमान), क्लीव, कृताञ्जलि, मुक्तकेश एवं उपविष्ट व्यक्तियों का वध नहीं करोगे एवं जो व्यक्ति 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार कहकर शरणागत होगा उसे, प्रसुप्त व्यक्ति को, विसन्नाह (जिसके पास युद्ध का पोषाक नहीं है उसे), नग्न (शिरस्त्राण आदि से शून्य), निरायुध (निरस्त्र) व्यक्तिको न मारोगे। जो व्यक्ति युद्ध नहीं कर रहा है, जो युद्ध देख रहा है, जो दूसरों के साथ युद्ध में व्यापृत है, जिसका अस्त्र टूट गया है (अर्थात् खड्ग टूट गया है अथवा जिसका धनु ज्या से शून्य है—अस्त्र सम्बन्धी ऐसा विपद जिनके पास उपस्थित हुआ है) उसे, अथवा आर्त्त, अत्यन्त परिक्षत (अत्यन्त क्षत विक्षत), भीत तथा परांगमुख (युद्ध क्षेत्र से पलायनपर) व्यक्ति का वध नहीं करोगे।' मनु के द्वारा कहे गये सत् पुरुषों के धर्मों को उलंघन कर जो व्यक्ति युद्ध करता है उसे पापी बनना पड़ता है। और तुम (अर्जुन) यदि प्रतिपक्ष के द्वारा आहूत होकर भी न करिष्यसि, ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि—इस सद् धर्म संयुक्त संग्राम को न करोगे अर्थात् यदि धर्मभय से अथवा प्रतिपक्ष के बल के भय से इस शास्त्रानुमोदित युद्ध से निवृत्त होओगे तब 'निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्' अर्थात् शत्रु को सेनाओं को परास्त कर धर्म के अनुसार पृथ्वी का पालन करोगे,

इस प्रकार शास्त्र में क्षत्रिय के लिए जो युद्ध विहित किया गया है उसे यदि न करो तब तुम स्वधर्म का परित्याग करते हुए माने जाओगे (स्वधर्मं हित्वा)। केवल यही नहीं महादेव, इन्द्र प्रभृतियों के साथ युद्ध कर तुम जिस कीर्ति को अर्जन (संग्रह) किये थे, उस कीर्ति को भी तुम्हें परित्याग करना पड़ेगा, (कीर्तिं च हित्वा) अर्थात् उस कीर्ति से भी तुम्हें वंचित होना पड़ेगा। इसके अलावा 'न निवर्तेत संग्रामात्' अर्थात् संग्राम से निवृत्त नहीं होओ इस प्रकार का जो संग्राम क्षत्रिय के लिए शास्त्र में विहित किया गया है उस संग्राम से विमुख होने के कारण तुम्हें केवल पाप को ही भोगना पड़ेगा (पापम् अवाप्स्यसि)।

अथवा 'पापम् अवाप्स्यसि' पद का अर्थ इस प्रकार से भी किया जा सकता है—इस प्रकार के धर्मयुद्ध को परित्याग करने के कारण तुमने जो इतने दिनों तक धर्मानुष्ठान का पालन किया है एवं उससे जिस सुकृति का संचय हुआ है उसे परित्याग कर (अर्थात् राजा उस पुण्य को प्राप्त करते हैं इसलिए उस पुण्य से स्वयं वंचित रह कर) तुम्हारे राजा के पाप को तुम प्राप्त करोगे क्योंकि शास्त्र में कहा है कि राजा के द्वारा युद्ध में नियुक्त होकर यदि कोई स्वेच्छा से उस युद्ध से निवृत्त हो तब राजा के समस्त पापों को उस युद्ध से परांगमुख व्यक्ति को प्राप्त करना पड़ता है। अतः युद्ध से विरत होने पर (क) तुम्हारे शत्रुलोग अवश्य ही तुम्हें निहत कर देंगें; (ख) स्वधर्म का त्याग करने के कारण अपनी सुकृति के द्वारा अर्जित पुण्य से वंचित होओगे, (ग) इतने दिनों तक अर्जित कीर्ति से भी वंचित होओगे; (घ) युद्ध से विमुखता के लिए दूसरों के अर्थात् राजा के द्वारा अर्जित पाप का भी तुम्हें भागी बनना पड़ेगा। मनु भी इसी प्रकार कहे हैं—'यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः। यत् भर्तुर्दुष्कृतं किञ्चित्तत् सर्वं प्रतिपद्यते। यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्। भर्ता तत् सर्वमादत्तं परावृत्तहतस्य तु।' अर्थात् जो व्यक्ति भीत होकर संग्राम से विमुख होकर शत्रु के द्वारा निहत होता है वह व्यक्ति उस प्रभु के समस्त पापों को भी प्राप्त करता है। और उस युद्ध से विमुख होकर निहत व्यक्ति का समस्त उपार्जित पुण्य जो कि परलोक के लिए संचित रहता है वे समस्त ही उसके प्रभु को प्राप्त हो जाता है। याज्ञवल्य भी कहते हैं 'राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्' अर्थात् भागे हुए तथा निहत व्यक्तियों के समस्त पुण्य राजा को प्राप्त होता है। सुतरां 'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः' (गीता १।३६) 'एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन' (गीता १।३५) अर्थात् इन (आचार्य द्रोण प्रभृति) आततायियों की

हत्या करने पर हमलोग निश्चय ही पाप का भागी होंगे। अतः ये लोग हम लोगों को मार दें फिर भी हम इनको मारने की इच्छा नहीं करते हैं, अर्जुन का यह कथन निराकृत हुआ अर्थात् ऐसी युक्ति जो असार तथा युक्तिहीन है (शास्त्रसम्मत नहीं है) वह प्रमाणित हुई।

(२) श्रीधर—[(पूर्ववर्ती श्लोक में यदृच्छा प्राप्त स्वधर्मरूप युद्ध करने के लिए भगवान् उपदेश दिये हैं)। उसके विपरीत आचरण करने से क्या दोष होता है उसे इस श्लोक में वर्णन कर रहे हैं—] और सब स्पष्ट है। [शब्द की व्याख्या भाष्यदीपिका में द्रष्टव्य है]।

(३) शंकरानन्द—[मोक्ष का साधन है शास्त्रविधि के द्वारा प्रतिपादित स्वधर्म का पालन अतः मुमुक्षु को स्वधर्म के पालन में कोई प्रमाद (असावधानता) नहीं रहना चाहिए इसे सूचित करने के लिए कर्त्तव्य के रूप में प्राप्त स्वधर्मरूप युद्ध के अकरण से प्रत्यवाय (पाप), अकीर्ति प्रभृति अनर्थ परम्परारूप से प्राप्त होगा इस प्रकार से नीति तथा भय दिखाकर भगवान् अर्जुन को अब पाँच श्लोकों में स्वधर्म में प्रवृत्त कर रहे हैं। उनमें प्रथम श्लोक में कह रहे हैं कि युद्ध हिंसात्मक होने के कारण यदि युद्ध को दोषयुक्त मानो अथवा भीष्मादि मेरे ही स्वजन हैं, इस स्वीयत्व बुद्धि से यदि स्वधर्मरूप युद्ध का त्याग करो तब उसके द्वारा प्रत्यवाय (पाप) होगा एवं कीर्ति का भी नाश हो जायगा] अथ—युद्ध के लिए तैयारी हो जाने के बाद चेत्—यदि धर्म्यं—धर्मरूप से दृष्ट अर्थात् शास्त्रविधि के द्वारा उक्त (प्रतिपादित) संग्रामं न करिष्यसि—संग्राम (युद्ध) न करो ततः—तब (उस कारण)। [यदि धर्म अर्थात् शास्त्र के द्वारा विहित क्षत्रिय धर्म के रूप में प्राप्त इस युद्ध को न करो तब अर्थात् उसके अकरण से स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा—स्वीय कीर्ति एवं स्वधर्म (अर्थात् (क) तुम महादेव आदि के साथ युद्ध करके जिस कीर्ति को अर्जन किये हो एवं (ख) तुम्हारी अस्खलित स्वधर्मनिष्ठा के कारण तुम्हारी जो कीर्ति लोगों में प्रसिद्ध है, उसे परित्याग करोगे (अर्थात् उस कीर्ति से वंचित होओगे) एवं साथ साथ अपना धर्म (क्षात्रधर्म अर्थात् जिसके द्वारा धर्म प्रतिपालित होता है उस वेदादि रूप स्वधर्म) तुम परित्याग करोगे क्योंकि वेदोक्त कर्म का परित्याग करने से वेद का भी परित्याग किया जाता है। अतः इस प्रकार स्वधर्म तथा कीर्ति को त्याग करने के कारण वेद तथा वेदोक्त कर्मों को त्याग करने के फलस्वरूप जो पाप होता है उसे तुम प्राप्त करोगे, संन्यास का (अर्थात् कर्मत्याग करने का) फल तुम नहीं प्राप्त करोगे, यही कहने का अभिप्राय है]।

(४) नारायणी टीका—इमं धर्म्यं संग्रामं इत्यादि—इस युद्ध को जिसे तुम (अर्जुन) प्राप्त हुए हो वह 'धर्म्यं' युद्ध है अर्थात् सम्पूर्णरूप से शास्त्रसम्मत है। शास्त्र में क्षत्रिय के लिए जो धर्मयुद्ध विहित हुआ है उसके साथ इस युद्ध के किसी अंश में एवं किसी प्रकार से ही विरोध नहीं है। अतः इस धर्म के द्वारा ओतप्रोतरूप युद्ध तुम्हारा स्वधर्म है। इस युद्ध को नहीं करने पर तुम स्वधर्म (क्षात्रधर्म) परित्याग कर पापी बन जाओगे। अतः स्वजनों का वध करने से तुम जिस पाप के (१।३६) तथा नरक के भय (२।४३) से भीत हो वह पाप तथा पाप का कारण नरक का भोग तुम्हें इस स्वधर्मरूप युद्ध न करने से ही होगा—युद्ध करने से नहीं होगा। केवल वही नहीं, तुमने महादेव आदियों के साथ युद्ध कर अद्भुत वीरता दिखाकर एवं इतने दिनों तक स्वधर्मनिष्ठ रहने के कारण इस जगत् में जिस कीर्ति को प्राप्त किये। उस कीर्ति को अगर तुम युद्ध से परांगमुख हो जाओ तब तुम्हें परित्याग करना पड़ेगा, अर्थात् तुम्हारे इतने दिनों के अर्जित महायश तथा कीर्ति का भी नाश हो जायगा। अतः जिस युद्ध में तुम अभी प्रवृत्त हुए हो उसे परित्याग करना तुम्हारे लिए किसी भी प्रकार से न्यायसंगत नहीं होगा।

[स्वधर्मरूप युद्ध परित्याग करने से केवल जो आनुषंगिक पाप ही होगा (अर्थात् परलोक में भोग करना पड़ेगा) ऐसी बात नहीं बल्कि शिष्ट जनों के द्वारा निन्दित होकर ऐहिक (जागतिक) अकीर्ति का भी भोग करना पड़ेगा। अर्थात् इस युद्ध को परित्याग करने से केवल स्वधर्म तथा पूर्वार्जित कीर्ति का ही परित्याग करना पड़ेगा ऐसी बात नहीं बल्कि सभी लोग तुम्हारी अकीर्ति की दीर्घकाल तक घोषणा करते रहेंगे। मान्य व्यक्तियों के लिए ऐसी अकीर्ति मृत्यु से भी अधिक असहनीय है, इसे ही अब कह रहे हैं—]

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अन्वय—अपि च भूतानि ते अव्ययाम् अकीर्तिं कथयिष्यन्ति। सम्भावितस्य अकीर्तिः मरणात् च अतिरिच्यते।

अनुवाद—पुनः लोग तुम्हारी चिरस्थायिनी (अनेक दिनों तक) अकीर्ति घोषणा करते रहेंगे। सम्मानित व्यक्तियों के लिए अकीर्ति मरण से भी अधिक है अर्थात् सम्मानित व्यक्ति के लिए अकीर्ति की अपेक्षा मरण ही श्रेयः है।

दीपिका। अपि च—अधिकन्तु भूतानि—प्राणी लोग [देवर्षि, मनुष्य प्रभृति लोग (मधुसूदन)] ते—तुम्हारे अव्ययाम्—दीर्घकाल तक एवं समस्त देशों में अकीर्ति—अर्जुन युद्ध से भाग गये थे अतः अर्जुन वीर या स्वधर्मपरायण नहीं माने जा सकते हैं—ऐसा अपयश या अकीर्ति कथयिष्यन्ति—घोषणा करेंगे अर्थात् परस्पर की बातों के सिलसिले में प्रचार करते रहेंगे। सम्भावितस्य—प्रतिष्ठित अर्थात् धर्मात्मा वीर इत्यादि गुण सम्पन्न होने के कारण जो लोग लोकसमाज में प्रतिष्ठा (सम्मान) प्राप्त किये हैं ऐसे व्यक्ति की अकीर्तिः—अकीर्ति मरणात् च—मरण से भी अधिक है अर्थात् ऐसी अकीर्ति की अपेक्षा मरण ही श्रेयः है। [युद्ध में मृत्यु होगी ऐसे भय से कातर होकर कापुरुष व्यक्ति प्राणरक्षा के लिए अकीर्ति को भी सहन कर सकते हैं किन्तु तुम मृत्युभय से भीत नहीं हो, तुम धर्मात्मा हो, महावीर आशुतोष को पराजित कर उनकी कृपा लाभ किये हो, स्वर्ग में इन्द्र के साथ अर्धसिंहासन में बैठने का सौभाग्य प्राप्त किया था, निवातकवच आदि असुर का वध कर तुम धराधाम में अपूर्व कीर्ति को प्राप्त किये हो, वही तुम अगर इस युद्ध से निवृत्त होओ तब तुम्हारा अपयश सर्वत्र अनेककाल तक घोषित होता रहेगा। मान्य (प्रतिष्ठित) व्यक्ति के लिए अकीर्ति (अपयश) मृत्यु से भी अधिक दुःसहनीय है। अतः अपयश या अकीर्ति की अपेक्षा तुम्हारी तरह के वीर व्यक्ति की अगर युद्धक्षेत्र में मृत्यु भी हो जाय तब भी वह मृत्यु शतगुण श्रेयस्कर होगी, यही कहने का अभिप्राय है]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—(क) अपि च—इन दोनों निपात (अव्यय शब्द) का प्रयोग कीर्ति तथा स्वधर्म के नाश का समुच्चय दिखाने के लिए (अर्थात् कीर्ति तथा स्वधर्म का नाश दोनों ही युद्ध का परित्याग करने के साथ साथ ही हो जायगा, इसे दिखाने के लिए) किया गया है। अतः यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि युद्ध से निवृत्त होने पर तुम कीर्ति तथा धर्म को त्याग कर केवल पाप को प्राप्त करोगे। अथवा केवल जो पाप तथा अकीर्ति को ही प्राप्त करोगे यही नहीं बल्कि समस्त प्राणी ही उसे दीर्घकाल तक घोषणा करते रहेंगे, इस अर्थ को एक साथ प्रकाश करने के लिए उन 'अपि' एवं 'च' निपातों (अव्यय) का प्रयोग किया गया है।

(ख) अकीर्ति भूतानि कथयिष्यन्ति इत्यादि—शंका होगी—युद्ध में जब अपनी मृत्यु भी हो जा सकती है ऐसा संशय है तब उसे (मृत्यु का) परिहार करने के लिए अकीर्ति होने से भी उसे सहना चाहिए क्योंकि आत्मरक्षा

अत्यन्त आवश्यक है। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है—'साम के द्वारा, दान के द्वारा, अथवा भेद के द्वारा पृथक् पृथक् रूप से किंवा एक साथ उन उपायों के द्वारा शत्रु को जय करने की चेष्टा करोगे किन्तु कभी भी युद्ध कर जयलाभ करने की कोशिश नहीं करोगे क्योंकि युध्यमान व्यक्तियों में किसकी जय होगी उसकी कोई स्थिरता नहीं है, पराजित होने की सम्भावना ही अधिक (ज्यादा) है। अतः (यथासम्भव) युद्ध को परित्याग करना चाहिए। किन्तु जब पूर्वोक्त तीनों उपाय हो असम्भव है तब सम्यक् प्रकार से यत्नशील होकर इस प्रकार से युद्ध करोगे ताकि शत्रु पराजित हो जाय।' मनु का कथन भी इसी प्रकार है (मनुस्मृति)। अतः जो व्यक्ति मरण की आशंका से भीत है उसके निकट अकीर्तिजनित दुःख और क्या हो सकता है ? ऐसी आशंका का अपनोदन करने के उद्देश्य से भगवान् कह रहे हैं—सम्भावितस्य—अर्थात् यह व्यक्ति धर्मात्मा, वीर है—इस प्रकार अनन्य लभ्य (असाधारण) गुणों के द्वारा जो व्यक्ति गौरवान्वित है, उसके लिए अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते—अकीर्ति मरण से भी अतिरिक्त (अधिक) होता है। च यहाँ 'व' शब्द का हेतु—अर्थ में प्रयोग किया गया है। कहने का अभिप्राय है कि चूँकि सम्भ्रान्त व्यक्ति के लिए अकीर्ति, मरण से भी अधिक है इस कारण अकीर्ति जितना दुःखप्रद है, मृत्यु उससे कम दुःखप्रद है। इस स्थान में भगवान् का कहने का अभिप्राय यह है कि तुम भी जब महादेव आदियों के साथ समागमवश अति सम्भावित हुए हो (सम्मानित हुए हो) तब तुम अकीर्तिरूप दुःख नहीं सह सकोगे क्योंकि वह मरण से भी अधिकतर दुःखदायक होगी।

महाभारत के शान्तिपर्व में जो युद्ध से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है वह अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है। अतः 'न निवर्तेत संग्रामात्' अर्थात् संग्राम से निवृत्त नहीं होओगे, इस धर्मशास्त्र से वह दुर्बल है। [धर्मशास्त्र की अपेक्षा अर्थशास्त्र जो दुर्बल है उसे याज्ञवल्क्य के वचन को उद्धृत कर २।२३ श्लोक की टिप्पणी में कहा गया है। याज्ञवल्क्य संहिता के टीकाकार मिताक्षर का कहना है—धर्मफलक (प्राणत्याग करके भी धर्म की रक्षा करना ही जिसका फल अर्थात् प्रयोजन है) तथा अर्थफलक (दृष्ट प्रयोजन ही, यथा अपने जीवन रक्षारूप दृष्टप्रयोजन हो जिसका प्रयोजन है), इन दोनों प्रकार की क्रिया की प्रवृत्ति जिस स्थल में होती है उस स्थल में यदि कोई धर्मफलक क्रिया का परित्याग कर, अर्थफलक क्रिया को ग्रहण

करे तब उसके लिये द्वादश वार्षिक प्रायश्चित विहित है। अतः क्षत्रिय के लिए कर्त्तव्यरूप में विहित युद्ध का कभी भी परित्याग करना नहीं चाहिए]।

(२) श्रीधर—और भी देखो—अव्ययां—शाश्वत काल (दीर्घकाल) तक (सभी लोग तुम्हारे अपयश गाते रहेंगे) सम्भावितस्य च अकीर्तिः—बहुमान्य व्यक्ति का अपयश मरणात् अतिरिच्यते—(मरण से भी) अधिकतर है।

(३) शंकरानन्द—[युद्ध परित्याग करने से केवल कीर्तिनाश तथा पाप ही होगा ऐसी बात नहीं इससे अधिक अनर्थ भी होगा]। भूतानि—यहाँ और दूसरी जगह जो लोग हैं वे लोग ते—तुम्हारे अव्ययाम्—(स्वधर्म का त्याग करने के लिए) चिरकाल स्थायिनी अकीर्तिं च अपि कथयिष्यन्ति—सभा के सभी लोगों में अर्जुन पापिष्ठ तथा स्वधर्मत्यागी है—इस प्रकार तुम्हारी अकीर्ति (दुष्कृति अर्थात् निन्दा) का प्रचार करेंगे। स्वजनों का वध करने से जो निन्दा होगी एवं युद्ध से विरत होने के लिए जो निन्दा होगी उसे सहने के लिए मैं सक्षम रहूँगा, ऐसा यदि कहूँ ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' (ब्रह्मा के लिए ब्राह्मण की बलि देंगे) इस स्थान में ब्राह्मण को बलि देना शास्त्रविहित होने के कारण जिस प्रकार दोषरूप नहीं माना गया है, उसी प्रकार युद्ध भी शास्त्रविहित है। अतएव युद्ध में स्वजनों का वध करने से कोई दोष नहीं है। किन्तु युद्ध से विरत होना अशास्त्रीय (शास्त्रविरुद्ध) है। अतः युद्ध न करने पर तुम्हारी अकीर्ति (दुष्कृति) प्रचारित होगी। 'च' शब्द को 'तु' (किन्तु) अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। सम्भावितस्य च अकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते—किन्तु यह अकीर्ति या दुष्कीर्ति तुम्हारी तरह सम्मानित पुरुष के लिए [अर्थात् अर्जुन धर्मात्मा, सत्यप्रतिज्ञ वीरों में श्रेष्ठ है—इसप्रकार सर्वत्र सभी के द्वारा कीर्तित (प्रशंसित) तुम्हारे समान पुण्यात्मा पुरुष के लिए] मरण से भी अधिक होगी। 'च' शब्द 'तु' अर्थात् किन्तु अर्थ में व्यवहृत किया गया है। (मधुसूदन के मत में 'च' शब्द को हेतु अर्थ में प्रयुक्त किया गया है) इस लोक में मृत्यु का दुःख कुछ समय के लिए ही रहता है किन्तु अकीर्ति से सत्पुरुष को (सम्मानित पुरुष को) जो दुःख होता है वह दीर्घकाल तक स्थायी रहता है, इसलिए मरण से वह दुःख महत्तर है (अर्थात् अधिक दुःखदायक है)। अतः दुष्कीर्ति या अकीर्ति से मरण श्रेष्ठ है।

(४) नारायणी टीका—अकीर्तिश्चापि अव्ययाम्—तुम यदि इस युद्ध को परित्याग कर स्वधर्मपालन से विमुख होओ तब देवता, ऋषि तथा

मनुष्य लोग दीर्घकाल तक एवं सभी जगह यह कहकर तुम्हारी अकीर्ति का परस्पर बातों के सिलसिले में प्रचार करते रहेंगे कि 'अर्जुन प्राणभय के कारण (अपनी प्राणरक्षा करने के लिए) युद्ध से भाग गया है'। तुम्हारे समान सम्भावित अर्थात् महामान्य एवं सुप्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए ऐसी अकीर्ति मरण से भी अधिक होगी अर्थात् युद्ध से मृत्यु होगी ऐसी आशंका कर कापुरुष व्यक्ति प्राणरक्षा के लिए युद्धभूमि परित्याग कर अकीर्ति सहन कर सकता है किन्तु शौर्य, वीर्य, धैर्य एवं स्वधर्मनिष्ठा के लिए इहलोक में तुम अपूर्व कीर्तिलाभ कर सुप्रतिष्ठित हुए हो। तुम्हारे लिए ऐसी अपकीर्ति (अपयश) की अपेक्षा मृत्यु शतगुण श्रेयस्कर है। अतः तुम्हारे लिए युद्धक्षेत्र में मृत्यु को वरण करना भी अच्छा है तब भी युद्ध से विरत होकर अकीर्ति का पात्र होना उचित नहीं है।

[इसके अतिरिक्त और भी कारण हैं जिसके लिए तुम्हें युद्ध करना ही चाहिए। क्योंकि युद्ध न करने से केवल तुम पाप का ही भोग करोगे या अकीर्ति प्राप्त करोगे ऐसी बात नहीं बल्कि बड़े बड़े वीरों की दृष्टि में भी तुम अति हीनता प्राप्त करोगे]।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

अन्वय—महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते, येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा (तेषाम्) लाघवं यास्यसि।

अनुवाद—दुर्योधन प्रभृति महारथगण ऐसा सोचेंगे कि तुम भय के कारण रण (युद्ध) से निवृत्त हुए हो। जिन व्यक्तियों के पास तुम अति सम्मानित व्यक्ति माने जाते थे (अर्थात् जिनके पास तुम पहले अनेक गुणों से युक्त होते हुए सम्मानित व्यक्ति माने जाते थे) उनके पास (अब) तुम लघुता को प्राप्त होओगे अर्थात् उपहास के पात्र बन जाओगे।

दीपिका—महारथा—दुर्योधन प्रभृति महारथी त्वां-तुम्हें भयात्-कर्ण प्रभृति वीरों के भय से उपरतं--युद्ध से विरत अर्थात् निवृत्त हुए हो मंस्यन्ते-ऐसा मानेंगे। [निश्चय करेंगे (शंकरानन्द)] आत्मीय स्वजनों के प्रति कृपा या दया कर तुम युद्ध से विरत हो रहे हो, विपक्षीय महारथी लोग ऐसा नहीं मानेंगे। वे लोग ऐसा ही सोचेंगे कि तुम अवश्य ही विपक्षीय वीरों के भय से भीत होकर युद्ध से निवृत्त हुए हो। येषां च—जिन द्रोण, भीष्म प्रभृति

गुरुजनों के निकट एवं दुर्योधन प्रभृति महारथों के निकट त्वं—तुम बहुमतः भूत्वा—बहुगुणों से युक्त (शौर्य, धैर्य, युद्ध, चातुर्यादि गुणों से उत्कृष्ट) माने गये हो (अर्थात् दुष्ट दुर्योधन आदि भी कि 'हमलोगों के शत्रु अर्जुन महा-बलवान्, अपूर्व युद्धनिपुण हैं', ऐसा सोचकर तुम्हें मन मन में बहुत ही सम्मान देते थे)। तेषां—उन सभी की दृष्टि में लाघवं यास्यसि—लघुता को प्राप्त होओगे अर्थात् सभी के निकट अनादर का विषय (पात्र) बन जाओगे। अतः दुर्योधन प्रभृति के उपहास से अपनी रक्षा करने के लिए भी संग्राम में प्रवृत्त होना तुम्हारा अवश्य ही कर्त्तव्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[दूसरे कारण से भी तुम्हें युद्ध करना ही चाहिए]।

येषां बहुमतः भूत्वा (आसीः)—जिनके निकट तुम पहले अनेक गुणों से संयक्त होने के कारण सम्मानित थे। महारथाः त्वं भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते—वे महारथी लोग ऐसा सोचेंगे कि तुम भय के कारण युद्ध से निवृत्त हुए हो।

(ततश्च पूर्वं) बहुमतः भूत्वा लाघवं यास्यसि—एवं इस कारण तुम अनेक गुणों से युक्त होने के कारण जिनके पास बहुत ही सम्मानित थे उन्हीं की दृष्टि में तुम लघुता (हेयता) को प्राप्त होओगे।

(२) शंकरानन्द—[केवल अकीर्ति ही होगी ऐसी बात नहीं, बल्कि बड़े-बड़े वीर तुम्हें लघु मानेंगे, तुम्हारा तिरस्कार करेंगे, यही कहा जा रहा है]

महारथाः—महारथी बाल्हीक, भगदत्त, सोमदत्ति, द्रुपद आदि वीर पुरुष तुम्हारे विपक्षी के प्रति दयावश युद्ध से उपरत होने पर भी त्वां—तुम्हें भयात् रणात् उपरतं—भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं दूसरे वीरों के साथ युद्ध करने में असमर्थता के कारण उनसे डरकर अर्जुन युद्ध से विरत हुआ है किन्तु दयावश विरत नहीं हुआ है ऐसा मन्स्यन्ते—मानेंगे अर्थात् निश्चय करेंगे। येषां च त्वं बहुमतःभूत्वा—पहले जिनके पास तुम अपने शौर्य, वीर्य, युद्ध चातुर्यादि गुणों के कारण उत्कृष्ट माने जाते थे, उन लोगों के पास वही तुम अब लाघवम् यास्यसि—लाघव अर्थात् अर्जुन के भय के कारण युद्ध क्षेत्र से भाग गया है, इस प्रकार लघुत्व (अपमान) प्राप्त करोगे। किसी के बारे में उसके पीछे तिरस्कार करने को अकीर्ति कहा जाता है एवं उसके सामने ही अपमान करने को, (तिरस्कार को) लघुकृति कहा जाता है। 'अकीर्ति' एवं 'लाघव' इन दोनों शब्दों में यही भेद है।

(३) नारायणी टीका—यह बात कोई भी नहीं मानने को प्रस्तुत होंगे कि तुम करुणावश (कृपाविष्ट होकर) युद्ध से विरत हुए हो। इतने दिनों तक स्वपक्ष तथा विपक्ष सभी के पास तुम अपने शौर्य, वीर्य, तथा कर्त्तव्य-निष्ठा के लिए अति सम्मानित थे परन्तु अब युद्ध क्षेत्र का परित्याग करने पर सभी मानेंगे कि अर्जुन कापुरुष है—विपत्तियो के भय से वह भाग गया है। अतः उन सभी की दृष्टि से ही तुम लाघव अर्थात् (हेयता) को प्राप्त करोगे। [स्वधर्म से एवं शास्त्रविहित आचरण तथा नीति से कोई व्यक्ति भ्रष्ट होने से केवल पाप का ही भागी होता है ऐसी बात नहीं बल्कि वह अनेक गुणों से युक्त होने पर भी गुरु की दृष्टि से, शास्त्र की दृष्टि से, लोगों की दृष्टि से एवं अपनी दृष्टि से भी लघुता (हेयता) को प्राप्त होगा अर्थात् वह सभी का ही अश्रद्धा तथा परिहास का पात्र बन जायेगा, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है]।

[भीष्म, द्रोण आदि का वध करने से जो क्लेश होगा उसकी अपेक्षा इन महारथियों के निन्दावाक्य से क्या अधिक क्लेश होगा ? अर्जुन की इस शंका के उत्तर में भगवान कह रहे हैं—]

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—तव अहिताः तव सामर्थ्यं निन्दन्तः बहून् अवाच्यवादान् च वदिष्यन्ति। ततः किं नु दुःखतरं (स्यात्)।

अनुवाद—तुम्हारे शत्रुलोग तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा कर अनेक अवाच्य (जो कहना नहीं चाहिए) वाक्य भी कहेंगे। उससे दुःखकर और क्या हो सकता है ?

दीपिका—तव अहिताः—दुर्योधन प्रभृति तुम्हारे शत्रुलोग, तव—तुम्हारे सामर्थ्यं निन्दन्तः—पहले निवात कवच आदि युद्धों में तुमने जो सामर्थ्य या पराक्रम का परिचय दिया था उस पराक्रम को निन्दा कर अर्थात् धिक् अर्जुन का सामर्थ्य ! कर्णादि के भय से अर्जुन युद्ध क्षेत्र से भाग गया, ऐसी निन्दा कर बहून् अवाच्यवादान् च वदिष्यन्ति—और भी अनेक प्रकार के अवाच्य शब्दों को कहेंगे अर्थात् जो कहना उचित नहीं है वैसे कठोर तथा मर्मघाती अनेक प्रकार के अनुचित शब्दों का (दुष्ट वचनों का) प्रयोग करेंगे। ततो—उससे अर्थात् उस निन्दा प्राप्तिरूप दुःख से किं नु दुःखतरं

स्यात्—क्षत्रियाभिमानी वीर के लिए दुःखतर और क्या हो सकता है ? अर्थात् उससे अधिक कष्टदायक दुःख और नहीं है। ["अच्छा, भीष्म, द्रोण आदि के भय से मुझे जो कष्टकर दुःख होगा उसे मैं सहन नहीं कर सकूँगा, युद्ध से निवृत्त होने पर लोग जो मेरे पराक्रम या सामर्थ्य की निन्दा करेंगे उसे वरं मैं सहन कर सकूँगा" अर्जुन का ऐसा मनोभाव लक्ष्य कर भगवान् कह रहे हैं (मधुसूदन)—क्षत्रिय की प्रकृति ही ऐसी है कि सब कुछ सहन कर सकता है किन्तु अपने सामर्थ्य के सम्बन्ध में लोगों की निन्दा नहीं सहन कर सकता है क्योंकि शौर्य, तेजः तथा ईश्वरभाव (प्रभुत्व भाव) क्षत्रिय का सहज (स्वाभाविक) कर्म है (गीता १८।४३)। अतः युद्ध से विरत होने पर शत्रुलोग जो तुम्हारे सम्बन्ध में अवाच्य शब्दों को कहेंगे उससे तुम्हें जो महान् दुःख उपस्थित होगा उस दुःख से अधिकतर कष्ट कर दुःख तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं हो सकता है। इसलिए तुम्हें युद्ध करना ही चाहिए]।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[इसलिए भी युद्ध करना चाहिए क्योंकि] तव अहिताः बहून् अवाच्यवादान् च वदिष्यन्ति—तुम्हारे शत्रुलोग अनेक प्रकार के अकथ्य शब्दों का भी अर्थात् जो कहना नहीं चाहिए ऐसे अनेक प्रकार के दुष्ट शब्दों का भी (तुम्हारे सामर्थ्य का निन्दा करते करते) प्रयोग करेंगें। और बाकी सब शब्द स्पष्ट है।

(२) शंकरानन्द—[विद्या, कुल, शील, धर्म तथा कर्म के द्वारा जो प्रतिष्ठित हुए हैं उनके लिए अकीर्ति दुःखदायक है। और उससे भी अपमान अधिकतर दुःखदायक है। पुनः अपमान से भी अधिक दुःखदायक है प्रत्यक्ष दूषण (निन्दा)। अतः भगवान् कह रहे हैं—] तव अहिताः—दुर्योधन, कर्ण, विकर्ण आदि तुम्हारे शत्रु लोग निन्दन्तः तव सामर्थ्यं—तुम्हारे सामर्थ्य की अर्थात् अदृश्यमान पौरुष की (पराक्रम की) निन्दा करते हुए—'युद्ध से जब अर्जुन भाग गया है तब उसमें और शौर्य (वीरत्व) क्या हो सकता है ? (अर्थात् अर्जुन में वीरत्व कुछ भी नहीं है)' इस प्रकार से निन्दा करते हुए बहून् अवाच्यवादान् च—जो कहने के योग्य नहीं हैं ऐसे बहु अवाच्य वचनों को (धिक्कारपूर्वक अनेक प्रकार के दुष्ट शब्दों को) वदिष्यन्ति—परस्पर कहते रहेंगे। ततः—उससे अर्थात् उन कर्णकठोर एवं मर्मघाती निन्दावाक्यों से दुःखतरं किं नु—क्षत्रियाभिमानी वीर के लिए और दुःखतर (अधिकतर दुःख दायक) क्या हो सकता है ? अर्थात् उससे बढ़कर और कुछ भी दुःखतर नहीं हो सकता है।

(३) नारायणी टीका—अर्जुन जो युद्ध में प्रवृत्त हुआ है वह विना प्रयत्न के ही आया है एवं शास्त्र में क्षत्रिय के लिए जिस धर्मयुद्ध के सम्बन्ध में निर्णय किया गया है उसके सारे लक्षण ही उस युद्ध में विद्यमान रहने के कारण इसे धर्म्ययुद्ध कहा जाता है (२।३२-३३)। अतः अर्जुन यदि यह युद्ध न करे तब एक ओर जैसे उसे स्वधर्म के पालन से विच्युत होने के लिए पाप का भागी बनना पड़ेगा उसी प्रकार दूसरी ओर जगत में कीर्ति से वंचित रह जायेंगे, यह भगवान् कहेंगे (२।३३)। पाप का फल या तो भविष्यत् जन्म में भोग करना पड़ेगा किन्तु अपकीर्ति या अपयश का दुःख इस जन्म में ही भोगना पड़ेगा। इसके अलावा जीव में जबतक अहंकार विद्यमान रहता है तबतक वह जो कुछ करता है उसे कीर्तिलाभ के लिए ही करता है। विशेष कर प्रतिष्ठित (बन्धुजनों के द्वारा सम्मानित) व्यक्ति प्राण देकर भी कीर्ति (सुयश) की रक्षा के लिए चेष्टा करता है। इसलिए उनके निकट अकीर्ति मरण से भी अधिकतर दुःखदायक होती है (२।३४)। तब भी अकीर्ति को सहन करना सम्भव है किन्तु पहले जो लोग सम्मान की दृष्टि से देखते थे वे लोग अगर हेयदृष्टि से देखना आरम्भ (शुरू) करे तब तो वह और भी मर्मान्तक हो जाता है। विशेषतः जब शत्रुपक्षीय लोग 'कापुरुष, वीर्यहीन, भय से कातर होकर युद्धक्षेत्र से भाग गया है' इस प्रकार किसी क्षत्रिय वीर के प्रति आक्षेप कर उपहास कर उसे लघु (हेय) प्रकट करता रहता है तब किसी भी क्षत्रिय के लिए वह सहनीय नहीं है (२।३५)। किन्तु उस लघुता से भी और असहनीय होता है जब कि शत्रुलोग प्रत्यक्षरूप से अनेक अपशब्दों को व्यवहार कर सामर्थ्य को निन्दा कर गाली देते रहते हैं। क्षत्रिय का धर्म है दुष्ट का दमन तथा शिष्ट का पालन; अतः श्रवणगोचर कर जो कहना उचित नहीं है वैसे अवाच्य शब्द के (दुर्वचन के) द्वारा शत्रुओं की निन्दा क्षत्रिय के लिए किसी प्रकार से भी सहनीय नहीं है (२।३६)। अतः तुम्हारे स्वभाववश तुम्हें अवश्य ही युद्ध करना पड़ेगा क्योंकि युद्धभूमि का परित्याग करने पर परम्पराक्रम से पाप, अकीर्ति, लघुता (हेयता) एवं प्रत्यक्ष निन्दा का भागी बनना पड़ेगा। तुम उसे किसी भी तरह से सहन नहीं कर सकोगे। किन्तु रणभूमि परित्याग न कर अभी ही यदि इस धर्मयुद्ध में प्रवृत्त होओगे तब पाप, अकीर्ति, हेयता या लोकनिन्दा प्राप्त न कर स्वधर्म के पालन के निमित्त पुण्य एवं इहलोक में महाकीर्ति, मान्यता तथा सभी की प्रशंसा को प्राप्त करोगे। अतः इस युद्ध से निवृत्त होना तुम्हारे लिए किसी भी प्रकार से उचित नहीं होगा—यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। [देहात्मबुद्धि से

उत्पन्न अहंकार (कर्तृत्वाभिमान) एवं बुद्धि के द्वारा कर्म एवं कर्मफल का विचार अज्ञान के निमित्त जबतक चलता रहता है तब तक लौकिक मान प्रतिष्ठा इत्यादि का त्याग करना असम्भव है। अर्जुन में अभी भी कर्तृत्वाभिमान है एवं अपनी बुद्धि तथा विचार के ऊपर विश्वास भी है। इसलिए भगवान् ने युद्ध त्याग करने से लौकिक दृष्टि से अर्जुन को क्या हानि होगी यह स्मरण करा दिया]।

[इसके अलावा भी युद्ध करना तुम्हारा कर्त्तव्य है क्योंकि कर्ण आदि के साथ युद्ध में जय होने से राज्य की प्राप्ति होगी एवं निहत होने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अतः दोनों ओर से युद्ध करना तुम्हारे लिए लाभप्रद है। 'न चैतद्विद्मः' इत्यादि गीता के २।६ श्लोक में अर्जुन को जो संशय हुआ था उसके उत्तर में कह रहे हैं]—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अन्वय—त्वं हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि, जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे; तस्मात् हे कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः (सन्) उत्तिष्ठ।

अनुवाद—युद्ध में यदि तुम निहत होओगे तब स्वर्गादि की प्राप्ति करोगे और यदि जयी हो सको तब पृथ्वी का भोग कर सकोगे। अतः हे कौन्तेय, युद्ध के लिए कृतनिश्चय होकर अर्थात् युद्ध ही करूँगा ऐसा निश्चय कर युद्ध के लिए उद्यत होओ।

दीपिका—त्वं—तुम हतः वा—कर्ण आदि के साथ युद्ध में हत होने से स्वर्गं प्राप्स्यसि—स्वर्ग की प्राप्ति करोगे जित्वा वा—और कर्ण आदि वीरों को जय करने से महीं भोक्ष्यसे—पृथ्वीव्यापी निष्कन्टक राज्य का भोग करोगे। अर्थात् युद्ध में हत होओ अथवा जयलाभ करो दोनों अवस्थाओं में ही तुम्हारा लाभ है। [जय होगी या पराजय होगी इस विषय में कोई नियम (निश्चय) नहीं रहने से भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि तुम्हारा जय हो या पराजय हो दोनों अवस्थाओं में ही लाभवान् होओगे, यही कहने का अभिप्राय है]।

अतः हे कौन्तेय—हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! युद्धाय कृतनिश्चयः—(सन्) युद्ध में या तो शत्रु को जय करूँगा या स्वयं मरूँगा ऐसा निश्चय कर अर्थात् युद्ध करने में दृढ़संकल्प होकर उत्तिष्ठ—उठो। [साध्वी कुन्ती तुम्हारी

माता है। अतः तुमने परिशुद्ध क्षत्रिय कुल में जन्म ग्रहण किया। युद्धक्षेत्र में उपस्थित होकर युद्ध के लिए तैयार होकर पुनः उस स्वधर्मरूप युद्ध से विरत होना तुम्हारे लिए अनुचित है। इसे ही स्मरण करा देने के लिए 'हे कौन्तेय' शब्द का व्यवहार किया गया है (आनन्दगिरि)]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन तथा आनन्दगिरि—पूर्ववर्ती श्लोक में कहे गये भगवान् के वचनों को सुनकर अर्जुन के मन में शंका हो सकती है कि मेरे द्वारा भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन यदि युद्ध में हत हो जायँ तब तो मध्यस्थ लोग मेरी निन्दा करने लगेंगे और पुनः युद्ध से निवृत्त होने से शत्रुलोग निन्दा करने लगेंगे। अतः मैं देख रहा हूँ 'उभयतः पाशारज्जुं' अर्थात् जिस ओर ही मैं क्यों न जाऊँ (निन्दालाभरूप बन्धन अवश्यम्भावी होने के कारण) दोनों संकटों में ही मैं पतित हो गया हूँ। इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—युद्ध से निवृत्त होने से ही निन्दा का भय रहेगा किन्तु यदि युद्ध में प्रवृत्त होओगे तब जय ही हो या पराजय ही हो दोनों ही ओर से तुम्हारा लाभ निश्चित है। अतः युद्ध के लिए कृतनिश्चय होकर (युद्ध करना अवश्य कर्त्तव्य है यह निश्चय कर) युद्ध के लिए उत्थित होना (उठना) ही तुम्हारे लिए उचित है। इस वचन के द्वारा 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' (गीता २।६) यह कहकर अर्जुन के मन में जिस शंका का उदय हुआ था उसका परिहार (समाधान) किया गया है।

(२) श्रीधर—[अर्जुन ने कहा था 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीय इति' (गीता २।६) अर्थात् मैं यदि विजयी होऊँ या ये लोग यदि मुझ पर विजय प्राप्त करें तो इनमें मेरे लिए कौन अधिकतर श्रेयः है यह भी तो मैं नहीं जानता हूँ। इसके उत्तर में भगवान् अब कह रहे हैं—] तुम युद्ध में मारे जाओ या विजय प्राप्त करो, दोनों ही तुम्हारे लिए लाभप्रद है। [क्योंकि धर्मयुद्ध में हत होने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी एवं जयलाभ करने से पृथ्वी का भोग करोगे। अतः युद्ध अवश्य कर्तव्य है] ऐसा कृतनिश्चय (दृढ़संकल्प) होकर युद्ध के लिए उठो।

(३) शंकरानन्द—[अच्छा, युद्ध में गुरु आदि का वध करने से शिष्ट पुरुष निन्दा करेंगे और युद्ध न करने से शत्रु लोग निन्दा करेंगे। अतः युद्ध करने से अथवा न करने पर दोनों ही ओर से निन्दाजनित दुःख की ही प्राप्ति होगी। इसके अलावा तो और कोई परिणाम नहीं दिख रहा है। ऐसी

आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—नहीं, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि युद्ध स्वधर्म होने के कारण यागादि क्रिया में पशुहिंसा की तरह युद्ध में गुरु की हत्या होने पर भी युद्ध को स्वधर्म ही मानना चाहिए। अतः युद्ध आदि के व्यापार में क्षत्रिय की न तो शिष्टजन द्वारा निन्दा हो सकता है और न तो शत्रुनिन्दा। अधिकन्तु जय ही हो या पराजय ही हो, युद्ध के द्वारा दोनों प्रकार के इष्टफल की ही प्राप्ति होती है क्योंकि हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि—युद्ध में अगर कर्ण आदि के द्वारा निहत होओगे तब तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी; जित्वा वा महीम् भोक्ष्यसे—और यदि शत्रु को पराजित कर सको तब निष्कण्टक पृथ्वी का भोग कर सकोगे। अतः क्षत्रिय के लिए दोनों ही ओर से युद्ध लाभदायक है किन्तु किसी भी प्रकार से विफल नहीं होता हैं। तस्मात्—उस कारण युद्धाय कृतनिश्चयः—युद्ध के लिए कृतनिश्चय होकर हे कौन्तेय!—हे अर्जुन! उत्तिष्ठ—ऊठो (तैयार होओ)।

(४) नारायणी टीका—इस श्लोक में भगवान् ने जो कुछ कहा वह सुनकर अर्जुन के मनमें शंका हो सकती है कि 'पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य' और 'स्वर्ग' दोनों ही तो अनित्य है। प्राणवियोग होने पर राज्यसुख का अस्तित्व और नहीं रहेगा एवं पुण्य के क्षय हो जाने पर स्वर्ग से च्युत होकर पुनः इस मृत्युधाम में आना पड़ता है (गीता ९।२१)। अतः ऐसी क्षणस्थायी वस्तु के लिए युद्ध न कर सभी वासनाओं का त्याग कर चिर शान्तिमय नित्य मोक्ष पद के लिए क्यों नहीं चेष्टा करूँगा? उत्तर में कहा जा रहा है, देखो, जो जिसका स्वभावसिद्ध कर्म है उसे स्वेच्छा से त्याग करना सम्भव नहीं है। क्षत्रिय में युद्ध के लिए वासना एवं यश को प्राप्ति के लिए वासना दोनों ही स्वभावसिद्ध है—और यही क्षत्रियत्व है। निष्कामरूप से अर्थात् फलाकांक्षा त्याग एवं कर्तृत्वाभिमान (मैं 'कर्ता' हूँ यह भाव) त्यागकर भगवान्की प्रसन्नता के लिए भगवदर्पण बुद्धि में अपने-अपने स्वभावसिद्ध कर्म करने से चित्तशुद्धि होती है (अर्थात् चित्त का वासनारूप मल निर्गत होता है)। चित्तशुद्धि न होने तक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर मोक्षपद को प्राप्त करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। अतः मोक्ष की प्राप्ति भी यदि तुम्हारे जीवन का उद्देश हो तब भी 'युद्धाय कृतनिश्चयः उत्तिष्ठ' अर्थात् युद्ध करनेका निश्चय कर—युद्ध के लिए ('मैं क्षत्रिय हूँ—युद्ध ही मेरा कर्त्तव्य है' इस विषय में संशयरहित होकर दृढ़संकल्पपूर्वक युद्ध करने के लिए) उद्योगी होओ। युद्ध त्याग करने की कल्पना त्याग करो क्योंकि तुम अभी भी कर्म के

ही अधिकारी हो। अतः युद्ध करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। निष्कामरूप से युद्ध कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकोगे एवं परमपुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त कर जीवन को कृतकृत्य कर सकोगे। यदि वे बातें नहीं भी हो तब भी यदि युद्ध में जयलाभ कर सको तब पृथ्वी के ऊपर राजत्व प्राप्त कर जागतिक सुख का भोग कर सकोगे एवं पुनः यदि हत भी होओ तब भी स्वर्गसुख की प्राप्ति कर सकोगे (क्योंकि पहले ही कहा गया है कि क्षत्रिय की मृत्यु अगर सम्मुख समर में हो तब वह स्वर्ग में गमन करता है)। अतः सभी ओर से तुम इस युद्ध के द्वारा लाभवान् हो सकोगे— अतः युद्ध करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है।

[युद्ध में जयलाभ न करने से पाप का भोग करना पड़ेगा यह बात तुम्हारे कहने पर भी मेरे मन में अभी तक पाप का भय विद्यमान है इस कारण मैं युद्ध के लिए कृत-निश्चय होकर उद्योग नहीं कर सक रहा हूँ। क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति के उद्देश्य से युद्ध करने से वह काम्य कर्म होगा। काम्य-कर्म नित्यकर्म नहीं है उसके अकरण (न करण) से पाप नहीं हो सकता है। और यदि राज्य प्राप्ति के (पृथ्वी के भोग के) लिए युद्ध करूँ तब वह भोग जीवन धारण के उपयोगी होने के कारण केवल दृष्टप्रयोजन को ही सिद्ध करता है। इसलिए ऐसा युद्ध अर्थशास्त्र की विधि के अन्तर्भूत होगा। 'मा हिंस्यात्' इत्यादि हिंसा निषेधक धर्मशास्त्र के 'पृथ्वी भोग के लिए युद्ध करो' (२।३७) ऐसी अर्थशास्त्र की विधि दुर्बल हो जाती है। ऐसे युद्ध में गुरु, ब्राह्मण प्रभृति को ऐहिक राज्य की प्राप्तिरूप दृष्टप्रयोजन की सिद्धि के लिए वध करना पड़ेगा। अतः ऐसे युद्ध के द्वारा हमलोगों को धर्म न होकर पाप ही होगा। अतः 'अथ चेत्' (गीता २।३३) इत्यादि श्लोक में जो कुछ कहा गया है वह युक्तिविरुद्ध ही मालूम होता है (मधुसूदन)। अर्जुन की ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए 'युद्ध मेरा स्वधर्म है' ऐसा जानकर जो व्यक्ति युद्ध करने में प्रवृत्त है उसके लिए किस प्रकार से युद्ध करना पड़ेगा—इसका उपदेश श्रीभगवान् अब दे रहे हैं—]

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वय—सुखदुःखे समे (तथा) लाभालाभौ जयाजयौ (च समौ कृत्वा) ततः युद्धाय युज्यस्व एवं (युद्धं कुर्वन्) पापम् न अवाप्स्यसि।

अनुवाद—पहले सुख तथा दुःख, लाभ तथा अलाभ, जय तथा पराजय की समान विवेचना कर उसके बाद युद्ध करने के लिए उद्योगी होओ। ऐसा करने से (समबुद्धि में युद्ध करने से) पाप को नहीं प्राप्त करोगे अर्थात् पाप के भागी नहीं होओगे।

दीपिका—सुखदुःखे समे कृत्वा—आत्मीय स्वजनों के जीवित रहते हुए अथवा शत्रुधन तथा राज्यप्राप्ति में सुख एवं उनके विपर्यय में (उल्टा होने से) दुःख होता है—इन दोनों अवस्थाओं को ही सम अर्थात् तुल्य मानकर अर्थात् सुख में अनुराग तथा दुःख में द्वेष न कर तथा लाभालाभौ जयाजयौ समौ कृत्वा—उस प्रकार सुख तथा दुःख के कारण लाभ तथा अलाभ में समान भाव रखकर ततः—उसके बाद अर्थात् युद्ध में मेरी जय होने से लाभ तथा सुख की प्राप्ति होगी एवं पराजय होने से अलाभ एवं दुःख होगा इस भावना को त्याग कर केवल 'यह युद्ध मेरा स्वधर्म है' [जो सर्वभूत के अन्तर्यामी होकर सभी कर्मों के प्रेरक हैं उस ईश्वर की प्रीति के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि में यह युद्ध करना मेरा कर्त्तव्य है (शंकरानन्द)] इसे ही निश्चय कर युद्धाय युज्यस्व—युद्ध के लिए तैयार (सज्जित) होओ। एवं न पापम् अवाप्स्यसि—इस प्रकार से सुख प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति की वासना को परित्याग कर स्वधर्म बुद्धि में युद्ध करने से पाप नहीं होगा। भगवान् का यह उपदेश प्रासंगिक है। [क्यों प्रासंगिक है उसे परवर्ती श्लोक की उपक्रमणिका में कहा जायगा]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—नैवं पापम् अवाप्स्यसि—श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि—युद्ध अनिवार्य होने से क्षत्रिय के लिए युद्ध अवश्यकर्त्तव्य है। 'मैं क्षत्रिय हूँ, मुझे युद्ध करना ही पड़ेगा, इससे जय ही हो या पराजय ही हो, सुख ही हो या दुःख ही हो, इसमें कोई बात नहीं है,' ऐसी बुद्धि से केवल मात्र कर्त्तव्यता के अनुरोध से यदि युद्ध करो तब तुम पर गुरुवध या ब्रह्महत्या का दोष नहीं लगेगा। युद्ध के जिन परिणामों के अर्थात् इहलोक में राज्यप्राप्ति तथा परलोक में स्वर्गप्राप्ति रूप जिन परिणामों के सम्बन्ध में कहा गया है (गीता २।३७) उनको कामनाएँ न रहने पर भी आनुषंगिक रूप से उनकी प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है।

आपस्तम्भ स्मृति में कहा गया है "जिस प्रकार आम की प्रत्याशा से आम के वृक्ष के रोपे जाने पर भी उससे हमें छाया तथा गंध स्वतः (आनुषंगिक रूप से) ही मिल जाती है उसी प्रकार धर्म का आचरण किये जाने पर काम

अर्थात् भोग की प्राप्ति उनसे आनुषंगिक रूप से (साथ-साथ) हो जाती है। और अगर उसकी प्राप्ति नहीं भी हो तब भी धर्म में कोई दोष नहीं आता है।" अतः युद्ध करना क्षत्रीय के लिए (स्वधर्मरूप) कोई काम्य कर्म नहीं है, वह क्षत्रिय के नित्यकर्म की तरह अवश्यकर्त्तव्य है। नित्य कर्मों को नहीं करने से पाप होता है किन्तु 'युद्ध मेरा स्वधर्म है' यह निश्चय कर युद्ध करने से किसी प्रकार से भी पाप का स्पर्श नहीं होगा। जो व्यक्ति फल की कामना से युद्ध करता है वह व्यक्ति गुरु तथा ब्राह्मणों का वध करने से पाप का भोग करता है। तथा जो क्षत्रिय होकर भी स्वेच्छा से स्वधर्मरूप युद्ध का परित्याग करता है वह भी पाप का भागी होता है। अतः फल की कामना से रहित होकर यदि कर्त्तव्य बुद्धि से धर्मयुद्ध का अनुष्ठान करो तब दोनों प्रकार के पापों में कोई भी तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकेगा, यही कहने का अभिप्राय है। अर्जुन पहले ही ऐसा कहकर पाप के भय से युद्धकार्य से विरत होने की इच्छा कर रहे थे। ['पापमेवाश्रयेदस्मान्' इत्यादि (गीता १।३६) अर्थात् हमलोगों को केवल पाप ही आश्रय करेगा]। युद्धशास्त्र दृष्ट-प्रयोजन की सिद्धि का हेतु न होने के कारण वह धर्मशास्त्र है (अर्थशास्त्र नहीं है) इसे इस श्लोक में प्रमाणित कर भगवान् ने अर्जुन के पाप की आशंका का निराकरण किया। ऐसे समत्वभावसम्पन्न होकर युद्ध में गुरु, पितामह प्रभृति का वध करने से भी क्यों पाप नहीं होता है उसका रहस्य यह है— देह के द्वारा ही युद्ध आदि कर्म साधित होते हैं। पुण्य तथा पाप का फल भी देहादि (देह इन्द्रिय आदि) ही भोग करता है। जबतक देह में आत्मबुद्धि रहे (देहादि में 'मैं' एवं 'मैं कर्त्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि अभिमान रहें) एवं ऐसी फलाकांक्षा रहे कि मैं ऐसे कर्म के द्वारा ऐसा फल भोग करूँगा तब तक पाप तथा पुण्य के साथ सम्बन्ध रहता है अर्थात् अहंकार (कर्तृत्वाभिमान) तथा कर्मफल की वासना ही पाप तथा पुण्य को भोग करने का हेतु है। जब कोई व्यक्ति निष्कामरूप से भगवान् के हाथ में यंत्र की तरह अहंकार तथा मन की कामना से शून्य होकर स्वधर्म का पालन करता है तब वह शुभ तथा अशुभ कर्म के बन्धन से मुक्त रहता है। गीता में दूसरी जगह पर भी यह बात कही गयी है (गीता ९।२७, २८,१८।१७)। प्रकृत भक्त में अपनी कोई सत्ता नहीं रहती है अर्थात् अपने 'अहं (मैं)' नाम को कोई चीज नहीं रहती है; भगवान् के 'अहं को ही 'मैं' मान कर, अपने अहंकार को बलिदान कर देता है अर्थात् अशरीरी शुद्ध चैतन्य में उनका मन निविष्ट रहता है–अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता बोध उनमें नहीं रहता है। इसलिए ही भगवान् ने अर्जुन को

यंत्र के रूप में (भगवान् का प्रेरणा के अनुसार) निष्काम रूप से अपना स्वधर्म युद्धरूप कर्म करने के लिए कहा एवं आश्वासन दिया कि इसप्रकार से कर्म करने पर सुखदुःख में, लाभालाभ में, जय पराजय में समभाव प्राप्त होओगे एवं युद्धादि कर्म में हिंसा होने पर भी तुम पाप के भागी नहीं होओगे।

(२) श्रीधर—[तुम (अर्जुन) कहे थे—'इन आततायीओं का वध करने पर हमलोगों को पाप होगा' (गीता १।३६) इसके उत्तर में कह रहा हूँ—] सुखदुःखे समे कृत्वा—सुख तथा दुःख में समभाव रखकर लाभालाभौ (समौ) कृत्वा—लाभ होने से सुख एवं अलाभ (नुकसान) होने से दुःख होता है। अतः सुख तथा दुःख के कारणभूत लाभ तथा अलाभ में भी समत्व बुद्धि (तुल्य दृष्टि) रखकर पुनः जयाजयौ (अपि समौ कृत्वा)—जय होने से लाभ एवं पराजय होने से अलाभ होता है, अतः उस लाभ तथा अलाभ के कारण भूतजय तथा अजय में (पराजय में) समज्ञान रखो। इनमें समत्व बुद्धि का कारण है हर्ष तथा विषादशून्यता अर्थात् हर्ष तथा विषाद-रहित होकर सुख दुःख, लाभालाभ, जयपराजय की तुल्य बुद्धि रखकर युद्धाय युज्यस्व—युद्ध के लिए सन्नद्ध (सज्जित अर्थात् उद्योगी) होओ। एवं—इस प्रकार से सुखादि की अभिलाषा त्याग कर स्वधर्म बुद्धि में युद्ध करते रहने से पापं न प्राप्स्यसि—पाप को प्राप्त नहीं करोगे।

(३) शंकरानन्द—[हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् (यदि विहत होओ तब स्वर्ग को प्राप्त करोगे) इत्यादि वाक्य के द्वारा युद्ध इहलोक तथा परलोक के सुख का साधन प्रतीत होता है किन्तु 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्' (क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से भिन्न श्रेयः प्राप्ति का दूसरा कोई साधन नहीं है) ऐसा कहने पर भी युद्ध श्रेयः साधन है अर्थात् मोक्षरूप श्रेयः प्राप्ति का साधन (उपाय) है, ऐसा नहीं माना जा सकता है।

अतः जो लोग इन्द्रियाराम हैं अर्थात् इन्द्रिय की तृप्तिसाधन में ही व्यस्त रहते हैं ऐसे लोगों के लिए युद्ध कर्त्तव्य है क्योंकि युद्ध स्वर्गादि सुखों का हेतु होता है—लेकिन वह भी (वह स्वर्ग सुख भी) बन्धन का ही कारण होता है। इसलिए जिन लोगों को परमार्थ की (मोक्ष की) अपेक्षा रहती है उनलोगों को युद्ध नहीं करना चाहिए, ऐसा यदि कहूँ ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—नहीं, ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि भावना के भेद के अनुसार युद्ध के फल में भी भेद होता है। जिस प्रकार ज्योतिष्टोम यज्ञ को यदि स्वर्ग की कामना के साथ किया जाय तब वह स्वर्ग का हेतु होता है किन्तु

यदि कामना से शून्य होकर उसे किया जाय तब वह ज्योतिष्टोम यज्ञ ही चित्त-शुद्धि का हेतु होता है। उस प्रकार युद्ध, प्रजापालन एवं दानरूप कर्म को (जो क्षत्रिय का विशेष धर्म है उसे) कामना के साथ करने से वह स्वर्ग जैसे फलों का हेतु होता है और उन कर्मों को निष्काम रूप से करने पर उससे चित्तशुद्धि की उत्पत्ति होती है। अतः यदि तुम श्रेयः की प्राप्ति के लिए अभिलाषी होओ तब अकामना के द्वारा (कामनाशून्य होकर) युद्ध करो। इसे ही इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं—] लाभालाभौ जयाजयौ—लाभ तथा अलाभ में, जय तथा पराजय में एवं उनके फलभूत [अर्थात् लाभ तथा जय से फल के रूप में जिस सुख की उत्पत्ति होती है एवं अलाभ तथा अजय (पराजय) से फल के रूप में जिस दुःख की उत्पत्ति होती है वह] सुखदुःखे च—सुख तथा दुःख में समे कृत्वा—समबुद्धि रख कर अर्थात् लाभ आदि के सिद्धि तथा असिद्धि में हर्ष विषाद न कर मेरे प्रति भक्ति के द्वारा विधि-विधेय (अर्थात् शास्त्रविधि के अधीन) होकर ततः—उसके बाद युद्धाय—विधिविहित स्वधर्मरूप युद्ध के अनुष्ठान के लिए युज्यस्व—प्रयत्नशील होओ। एवं—इस प्रकार से 'वर्णाश्रम के अनुसार जो कुछ शास्त्र में मेरे लिए विहित किया गया है उस कर्म को मैं ईश्वरार्पण बुद्धि से करूँगा' ऐसा निश्चय कर युद्ध करने पर पापं न अवाप्स्यसि—कोई पाप तुम्हें नहीं होगा। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' (ब्रह्मा के लिए ब्राह्मण को बलि दो) इस प्रकार श्रुति में, उक्त वाक्य के अनुसार नरमेध यज्ञ में ब्राह्मण का वध कर कर्ता जिस प्रकार पाप का भागी नहीं होता है उस प्रकार 'ये युध्यन्ते प्रधनेषु' (जो लोग समर क्षेत्र में युद्ध करते हैं) ऐसे श्रुतिवाक्य के अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध में गुरु प्रभृति का वध करके भी (नरमेध यज्ञकारी की तरह) क्षत्रिय पाप का भागी नहीं होता है।

(४) नारायणी टीका—श्रीभगवान् ने अर्जुन को सुख दुःख में, लाभालाभ में एवं जयपराजय में समभाव रख कर (निर्विकारचित्त होकर) युद्ध में उद्योगी होने के लिए कहा। एवं आश्वासन दिया कि इस प्रकार से युद्ध करने पर किसी प्रकार का पाप नहीं होगा। प्रश्न है (क) इस प्रकार से युद्ध करना कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि—सर्वभूत के अन्तर्यामी भगवान् की प्रेरणा से ही सभी प्राणी अवश होकर कर्म कर रहे हैं (गीता १८।५९-६१), इस सत्य को अवधारण कर अहंकार या कर्तृत्वाभिमान को त्याग कर एवं फलाकांक्षारहित होकर सभी कर्मों को ईश्वर की आराधना के रूप में करने से ही उक्त प्रकार के समभाव को (निर्विकारता को)

प्राप्त करना सम्भव है। जिस प्रकार यंत्र या कठपुतली के द्वारा काम करवाये जाने पर भी सभी अवस्था में वे निर्विकार रहती हैं उसी प्रकार मेरी आज्ञाओं का पालन करते हुए अगर केवल यंत्र के रूप से युद्ध करते रहो तब तुम लाभालाभ में, जय-पराजय में सुख दुःख का अनुभव नहीं करोगे, यही श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय है।

["स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" (गीता २।३१ श्लोक) से "नैवं पापमवाप्स्यसि" (गीता २।३८ श्लोक) तक जो कुछ कहा गया उसे श्रीभगवान् ने अर्जुन के स्वजनों की मृत्यु तथा गुरुप्रभृति की आशंका के निमित्त शोक तथा मोह को अपनयन (दूर) करने के लिए लौकिक युक्तियों को अवलम्बन कर कहा (क्योंकि यह शोक तथा मोह ही सम्यक् ज्ञानलाभ का प्रधान प्रतिबन्धक है। [आनन्दगिरि]) वास्तविकरूप से उन युक्तियों में कोई प्रकृत (पारमार्थिक) तात्पर्य नहीं है। परमार्थ का (परमात्मा का) दर्शन ही इस गीता शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है।

इस विषय के विभाग को प्रदर्शित करने के लिए 'एषा तेऽभिहिता' इत्यादि श्लोक की अवतारणा के द्वारा उस परमार्थ दर्शन का उपसंहार किया जा रहा है। ज्ञानयोग के द्वारा सांख्यों की तथा कर्मयोग के द्वारा योगियों की सिद्धि लाभ होती है—ये जो दो प्रकार की निष्ठायें हैं इनके सम्बन्ध में शास्त्र ताकि उपदेश के द्वारा अनायास ही मुमुक्षु में प्रवृत्ति उत्पन्न कर सके एवं जो लोग सुनेंगे (श्रोतृलोग) वे भी विषयों में विभाग रहने के कारण अनायास ही अपने अपने अधिकार के अनुसार सांख्ययोग या बुद्धियोग में (कर्मयोग में) किसी एक साधन का ग्रहण कर सके, इसलिए अब कहा जा रहा है—"एषा ते" इत्यादि]—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि। ३९॥

अन्वय—हे पार्थ! एषा सांख्ये बुद्धिः ते अभिहिता। यया बुद्ध्या युक्तः (सन्) कर्मबन्धं प्रहास्यसि (ताम्) इमां तु योगे (बुद्धिम्) शृणु।

अनुवाद—हे पार्थ, इस परमार्थ आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में तुम्हारे निकट बुद्धि (ज्ञान) अभिहित (कथित) की गयी। जिस बुद्धि की प्राप्ति से तुम सम्यक्रूप से कर्मबन्धन का परिहार कर सकोगे उस योग के विषय में (कर्मयोग के विषय में) तुम अब बुद्धि को श्रवण करो।

दीपिका। एषा सांख्ये बुद्धिः ते अभिहिता—अब तक जो कुछ कहा गया है अर्थात् 'न त्वेवाहं जातु' (२।१२ श्लोक) से 'सुखदुःखे समे कृत्वा' (२।३८ श्लोक) तक जो कहा गया है वह (एषा) सांख्यबुद्धि है अर्थात् अनात्म वस्तु से आत्मवस्तु को पृथक् कर सांख्य में (परमार्थतत्त्व के प्रकृत स्वरूप के सम्बन्ध में) जो बुद्धि (ज्ञान) है वह तुम्हें कहा गया है। शोक, मोह, राग, द्वेष, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि हो अनर्थ संसार के स्वरूप हैं। इसका कारण है अज्ञान। उस अज्ञान को दूसरी किसी चीज की अपेक्षा न रखकर अर्थात् निरपेक्षरूप से निवृत्त करने में एकमात्र सांख्यबुद्धि (तत्त्वज्ञान) ही सक्षम है। सभी अनर्थों की निवृत्ति के साक्षात् (कारण) इस ज्ञान के (तत्त्वज्ञान के) सम्बन्ध में तुम्हें कहा गया है।

यया बुद्ध्या युक्तः (सन्) तु—जिस बुद्धि के द्वारा युक्त होने पर कर्मबन्धं—धर्म तथा अधर्मरूप कर्म का बन्धन अर्थात् धर्माधर्मरूप कर्म के निमित्त संसाररूप जो बन्धन होता है उसे प्रहास्यसि—ईश्वर के प्रसाद के द्वारा ज्ञानप्राप्त कर प्रकृष्टरूप से त्याग कर सकोगे उस योगे–योग के सम्बन्ध में (उस निष्काम कर्मयोग के सम्बन्ध में) अर्थात् कर्मफल में आसक्ति को परित्याग कर तथा सुखदुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्व को त्याग कर (सहन कर) ईश्वर की आराधना के लिए शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान एवं बाद में उस कर्मानुष्ठान से प्राप्त होता है जो योग (चित्तवृत्ति का निरोधरूप समाधियोग) उसके सम्बन्ध में इमां बुद्धिं—इस बुद्धि को अर्थात् कर्मयोग का अनुष्ठान कर जिस बुद्धि के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की जाती है एवं जिसके सम्बन्ध में अभी आगे कहा जा रहा है उस बुद्धि को शृणु—श्रवण करो।

[निष्काम कर्मयोग के द्वारा जो कर्मबन्धन का त्याग किया जा सकता है उसे गीता ५।२७-२८ श्लोक में भी बाद में कहा जायगा]।

श्लोक में 'तु' शब्द को कर्माधिकारी से जो ज्ञानाधिकारी सम्पूर्ण विलक्षण (पृथक्) है, इसे सूचित करने के लिए प्रयोग किया गया है। 'बुद्ध्या युक्तः यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' ऐसा कहकर भगवान् कर्मयोग की स्तुति (प्रशंसा) कर रहे हैं ताकि कर्मयोग के प्रति श्रद्धायुक्त होकर लोग कर्मयोग में प्ररोचित (प्रवर्तित) हो सके। अब प्रश्न हो सकता है कि तत्त्वज्ञान के बिना, कर्मानुष्ठानविषय बुद्धि से अज्ञानजनित कर्मबन्धन की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ? [क्योंकि कर्मबन्धन का मूल जो अज्ञान है उसकी निवृत्ति तो एकमात्र तत्त्वज्ञान के द्वारा ही हो सकती है ? (आनन्दगिरि)।

इस शंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार ने कहा 'ईश्वरप्रसाद-निमित्त-ज्ञानप्राप्तेरित्यभिप्रायः' अर्थात् निष्काम कर्म के द्वारा ईश्वर की कृपा से ज्ञान प्राप्त कर कर्मबन्धन का मूल जो अज्ञान है उसकी निवृत्ति होती है अर्थात् निष्काम कर्म के द्वारा उत्पन्न चित्तशुद्धि से तथा ईश्वर की कृपा से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है; तत्त्वज्ञान से अज्ञान एवं अज्ञानमूलक कर्म से जो शुभ तथा अशुभ फ़ल की उत्पत्ति होती है उसकी निवृत्ति होती है एवं उसके बाद आत्म-साक्षात्कार (परमार्थदर्शन) कर मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है]।

(१) मधुसूदन--अच्छा जो व्यक्ति ऐसी बुद्धि के द्वारा युद्ध करता है कि 'युद्ध मेरा स्वधर्म है, अतः यह मेरा अवश्य कर्त्तव्य है' उसको कोई पाप नहीं होता है तब भी तुम्हें ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिए था कि युद्ध ही मेरा कर्त्तव्य है क्योंकि तुमने स्वयं ही कहा था कि 'जो व्यक्ति अपने को हन्ता' अथवा 'हत' मानता है वह तत्त्व नहीं जानता है इत्यादि (२।१९) पुनः जो आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज तथा अव्यय मानता है वह पुरुष किस प्रकार से एवं किसका वध कर सकता है या वध करा सकता है (गीता २।२१) ? अतः जब विद्वान् व्यक्तियों के लिए सभी कर्मों को निषिद्ध किया गया है तब एक ही व्यक्ति के लिये 'मैं एक ओर अकर्ता तथा अभोक्ता हूँ, पुनः युद्ध भी करूँगा एवं उसका फल भी भोग करूँगा,' इस प्रकार ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय (अंधकार तथा प्रकाश के एक साथ रहने की तरह) असम्भव है। अतः एक ही मेरे प्रति एक ही समय में ज्ञान तथा कर्म का उपदेश देना युक्तियुक्त नहीं है। अर्जुन की ऐसी शंका बाद में भी "ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन" (गीता ३।१) अर्थात् कर्म से यदि ज्ञान को श्रेष्ठ मानो—इत्यादि श्लोक में परिस्फुट (प्रकट) हुयी है। भगवान् अर्जुन की इस शंका को निवारण करने के लिए अब कह रहे हैं कि विद्वदवस्था में अवस्थित व्यक्ति (तत्त्वज्ञानी) के लिए ज्ञान का उपदेश तथा अविद्वदवस्था में अवस्थित व्यक्ति (अज्ञानी) के लिए कर्म का उपदेश देना ही उनका अभि-प्राय है, एषा—'न त्वेवाहं जातु' (गीता २।१२) अर्थात् मैं कभी भी नहीं था ऐसी बात नहीं, इत्यादि श्लोक से 'नैवं पापमवाप्स्यसि' (२।३३) श्लोक तक ते—तुम्हे अभिहिता—जो कहा गया है वह सांख्ये—सांख्य के सम्बन्ध में (कहा गया है)। जिसके द्वारा सर्व उपाधियों से वर्जित परमार्थतत्त्व सम्यक् रूप से (सम्) ख्यात अर्थात् प्रकाशित होता है (ख्यायते) उसे सांख्य कहा जाता है। सांख्य शब्द का अर्थ है उपनिषद्। इस उपनिषद् नामक

सांख्य का तात्पर्य जहाँ परिसमाप्त होता है उसे अर्थात् निर्विशेष अद्वैत आत्म-तत्त्वरूप औपनिषद् (उपनिषद् के द्वारा प्रतिपाद्य) पुरुष को सांख्य कहा जाता है। बुद्धिः—वह औपनिषद्पुरुष के विषय में जो बुद्धि (ज्ञान) है वह सभी प्रकार के (संसार बन्धनरूप) अनर्थ की निवृत्ति का हेतु होता है यह पहले ही कह चुका हूँ। जिन व्यक्तियों को इस औपनिषद् पुरुष के (अद्वैत आत्मतत्त्व के) विषय का ज्ञान है उनका कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है (गीता ३।३७)। अबतक उस आत्मतत्त्व का उपदेश देने पर भी यदि कलुषता (मलिनता) के कारण तुम में तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हो तब उस मलिनता को दूर कर अर्थात् चित्तशुद्धि को प्राप्त कर ताकि आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर सको इसलिए तुम्हें कर्मयोग का अनुष्ठान करना पड़ेगा। और योगे तु इमां बुद्धिं शृणु—इस योग के सम्बन्ध में तुम्हे बुद्धि (ज्ञान) दे रहा हूँ, उसे अब सुनो। कर्मयोग में जिस प्रकार बुद्धि फलाभिसन्धिरहित होकर सुखदुःख, लाभालाभ एवं जयपराजय इत्यादि विषयों में हर्षविषाद-शून्य होकर समत्व युक्त होकर कर्त्तव्य कर्म को करना पड़ता है—इस बात को पूर्ववर्ती श्लोक में (संक्षेप में) कहा गया है। उसे ही अब विस्तृतरूप से कहा जा रहा है, तुम सुनो। श्लोक में 'तु' शब्द का 'सांख्यबुद्धि' से 'योग-बुद्धि' की विलक्षणता (पार्थक्य) दिखाने के लिए व्यवहार किया गया है। अतः शुद्धान्तःकरण व्यक्ति के प्रति ज्ञान का उपदेश एवं अशुद्धान्तःकरण (जिसका चित्त शुद्ध नहीं हुआ है, ऐसे) व्यक्ति के प्रति कर्मयोग का उपदेश दिया गया है। अतः ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय की आशंका से (एक ही व्यक्ति के लिए एक ही समय में ज्ञान तथा कर्म को करने का उपदेश दिया जा रहा है, ऐसी आशंका का) कोई अवकाश नहीं है। [ज्ञान का अधिकारी कर्म के अधिकारी से पृथक् (भिन्न) है, अतः ज्ञान तथा कर्म एक ही व्यक्ति में अवस्थित नहीं रह सकते हैं। इसलिए विरोध की कोई आशंका नहीं है]। अब कर्मयोग का फल निर्देश कर योगविषयक बुद्धि की प्रशंसा कर रहे हैं—यया बुद्ध्या युक्तः—जो व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि से युक्त होकर अर्थात् जो बुद्धि के द्वारा कर्म में नियुक्त होकर भी तुम कर्मबन्धं—कर्मनिमित्तबन्धन, [कर्म से आशय उत्पन्न होता है अर्थात् चित्त संस्कार युक्त होता है। यही चित्त की अशुद्धि है एवं यही अशुद्धि ही ज्ञान का प्रति-बन्धक होकर अज्ञानजनित संसारबन्धन का कारण होता है। ऐसे कर्मनिमित्त बन्धन को (कर्म से उत्पन्न चित्त की अशुद्धि जो ज्ञान का प्रतिबन्धक है उसे) प्रहास्यसि—प्र (प्रकृष्टरूप से) अर्थात् वह पुनः ज्ञान का प्रतिबन्धक

न हो सके उस प्रकार से परित्याग करने में समर्थ होगा]। कर्म के निमित्त चित्त का दोष जो ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है उसका नाश धर्मनामक कर्म के द्वारा ही हो सकता है। शास्त्र में कहे गये सत्कर्म का अनुष्ठान करने से शुभादृष्टरूप धर्म की उत्पत्ति होती है एवं ऐसा धर्म ही अशुभ कर्म से उत्पन्न चित्त के दोष को नष्ट कर सकता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है—'धर्मेण पापमपनुदति' अर्थात् धर्म के द्वारा पाप को दूर करोगे। गीता में भी कहा जायगा—'येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्' (गीता ७।२८) अर्थात् पुण्यकर्म के द्वारा जिनलोगों का पाप नाश हो गया है वे लोग द्वन्द्व मोह से निर्मुक्त होकर दृढ़भाव से मेरी भजना कर सकते हैं। और आत्मतत्त्व के श्रवण-मनन आदि कर्मजनित प्रतिबन्धकशून्य शुद्धचित्त व्यक्ति के असम्भावना आदि प्रतिबन्धक को दृष्ट द्वार में (प्रत्यक्षतः) अर्थात् अदृष्ट को (अदृष्ट-कर्मफल को) द्वार न कर दूर कर देते हैं। इस कारण वेदान्त का श्रवण कर्मबन्धन को नाश करने के लिए अर्थात् कर्म से उत्पन्न चित्त के दोष को दूर करने के लिए उपदिष्ट नहीं हो सकता है क्योंकि श्रवण के द्वारा चित्त की अशुद्धि का नाश नहीं होता है। इसके लिए निष्काम कर्म का अनुष्ठान आवश्यक है। [निष्काम कर्म के अनुष्ठान के द्वारा धर्मनामक जिस शुभ अदृष्ट की उत्पत्ति होती है वही चित्तगत मलिनता अर्थात् चित्त की अशुद्धि को दूर करने में समर्थ होता है। चित्तशुद्धि न होने पर श्रवण-मनन आदि का अधिकारी होना सम्भव नहीं है अर्थात् अशुद्धचित्त व्यक्ति के लिए श्रवण आदि कोई विशेष फलदायक नहीं है जैसे मलिन वस्त्र में रंग लगाने से वह रंग नहीं पकड़ता है। कर्मयोग के द्वारा जिनका चित्त शुद्ध हो गया है उनके लिए श्रुति में कहा गया है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् आत्मा का दर्शन (प्रत्यक्ष अनुभव) करना पड़ेगा एवं इसके लिए आत्मा के विषय में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता है। आत्मा के विषय में वेदान्त—वाक्यादि के श्रवण के द्वारा प्रमाणगत असम्भावना की निवृत्ति होती है [परमात्मा या ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य (इन्द्रियों से प्रत्यक्ष) नहीं है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाणगत (प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त) नहीं है। जो प्रत्यक्ष नहीं है उसके सम्बन्ध में अनुमान प्रमाण भी प्रयुक्त नहीं हो सकता। अतः किसी प्रकार से ब्रह्म का अनुभव सम्भव नहीं है ऐसी भावना को प्रमाणगत असम्भावना कही जाती है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तमहावाक्यादि श्रवण से ब्रह्म का अस्तित्व सम्बन्ध में संसारनिवृत्ति होने पर प्रमाणगत असम्भावना की निवृत्ति होती है]। मनन के द्वारा प्रमेयगत असम्भावना ब्रह्म ही एकमात्र

सत्य वस्तु है, यह सम्भव नहीं है, ऐसी भावना दूर हो जाती है एवं निदिध्यासन से विपरीत भावना को ('जगत् सत्य है' इस प्रकार की भावना को) निवृत्ति होती है]। अतः भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि— तुम्हारा (अर्जुन का) अन्तःकरण अब भी मलिन है एवं उस मलिनता को नष्ट करने के लिए निष्काम कर्मरूप बहिरंग साधन का अनुष्ठान ही तुम्हें करना पड़ेगा क्योंकि तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का जो अन्तरङ्ग (साक्षात्) साधन अर्थात् श्रवण मननादि है उसमें तुम्हारा अभी तक अधिकार (योग्यता) नहीं है। इसलिए बाद में भी कहेंगे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता २।४७) अर्थात् केवल कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है। इसके द्वारा सांख्यबुद्धि का अन्तरङ्ग साधन जो श्रवण आदि है उसे परित्याग कर बहिरंग साधन (कर्मानुष्ठान) करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को क्यों उपदेश दिया— यह प्रश्न निराकृत हुआ अर्थात् वैसी शंका का उत्तर दिया गया। कर्मबन्धं प्रहास्यसि—'ईश्वर के प्रसाद से ज्ञान प्राप्त कर कर्मबन्धन का त्याग करोगे' भाष्यकार ने ऐसी व्याख्या की है किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने इसका समर्थन नहीं किया। वे कहते हैं कि ऐसी व्याख्या में (१) अध्याहार दोष होगा अर्थात् 'भगवान् की प्रसन्नता के बल से' इस अंश का अध्याहार करना पड़ेगा। (बाहर से लेकर वाक्यार्थ को पूर्ण करना पड़ेगा) (२) 'कर्मबन्ध' इस पद के कर्मशब्द की व्यर्थता सिद्ध होगी क्योंकि बन्धन शब्द द्वारा कर्म से उत्पन्न संसार बन्धन ही समझा जाता है। अतः श्लोक में 'कर्म' शब्द को निरर्थक मानना पड़ेगा। यह भी एक दोष है। इन दोनों दोषों का परिहार करने के लिए मधुसूदन सरस्वती ने 'कर्मबन्धन' पद का अर्थ इस प्रकार किया 'कर्म के निमित्त बन्धन अर्थात् फल की कामना सहित जो कर्म किया जाता है उससे आशय (चित्त का विषयसंस्कार रूप अशुद्धि) उत्पन्न होता है। वही तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्धक होने के कारण संसार बन्धन का हेतु होता है'।

(२) श्रीधर—[उपदिष्ट ज्ञानयोग का उपसंहार कर तत्त्वज्ञान का साधनभूत (उपायभूत) जो कर्मयोग है उसकी अब स्तुति कर रहे हैं—]. सांख्ये—जिसके द्वारा सम्यक् रूप से वस्तुतत्त्व ख्यायते अर्थात् प्रकाशित होता है उसको सांख्य अर्थात् सम्यग् ज्ञान कहा जाता है। उस सम्यक् ज्ञान के द्वारा जो प्रकाशित होता है उस आत्मतत्त्व को 'सांख्य' कहा जाता है। एषा बुद्धिः ते अभिहिता—उस आत्मतत्त्व के विषय में जो बुद्धि (ज्ञान) करणीय है वह तुम्हें अभिहित (कही) की गयी है। [अनात्मवस्तु से

पारमार्थिक सत्य आत्मवस्तु को विवेक (पृथक्) कर जिस बुद्धि की सहायता से उस आत्मा को जानना पड़ता है (साक्षात्कार करना पड़ता है) वह पहले ही कहा गया है]। इसप्रकार कहने से भी अगर तुममें आत्म-तत्त्व के विषय में अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात् ज्ञान) न हो तब अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा आत्मतत्त्व का अपरोक्ष अनुभव करने के लिए योगे तु इमां बुद्धिं शृणु—कर्मयोग की जिस बुद्धि का (या ज्ञान का) अब उपदेश दे रहा हूँ उसे सुनो। हे पार्थ—हे अर्जुन! यया बुद्ध्या युक्तः (सन्) कर्म-बन्धं प्रहास्यसि—जिस बुद्धि (ज्ञान) से युक्त होने पर परमेश्वर में अर्पित कर्मयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण होकर परमेश्वर के अनुग्रह से प्राप्त अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा कर्मात्मक बन्धन को (कर्मरूपबन्धन को) प्रकृष्टरूप से त्याग कर सकोगे।

(३) शंकरानन्द—'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (गीता २।२१) अर्थात् जो अविनाशी नित्य आत्मा को जानता है ऐसे ब्रह्मज्ञानी के लिए कोई भी कर्त्तव्य नहीं रहता है इसे प्रतिपादन कर भगवान् अब 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (गीता २।३१) इत्यादि वाक्य के द्वारा पुनः विधान कर रहे हैं कि तुम्हें (अर्जुन को) कर्म करना उचित है।

शंका होगी—कर्ता, कर्म तथा करण सब ही जब मिथ्या हैं तब अधिक दुःखदायक कर्मानुष्ठान की अपेक्षा सभी कर्मों का परित्याग कर चुपचाप बैठे रहना ही तो सुख प्राप्ति का उपाय है, ऐसा यदि कहूँ?

इसके उत्तर में कहा जायगा—यह सच है कि कर्ता, कर्म तथा करण सब मिथ्या है तथा ऐसा ज्ञान ही 'मैं,' 'मेरा' इत्यादि संसार बुद्धि का नाशक है किन्तु ऐसे ज्ञान में प्रतिष्ठित रहना आरुढ़ के लिए ही सम्भव है, आरुरुक्षु मुमुक्षु के लिए सम्भव नहीं है। मुमुक्षु ताकि कर्मानुष्ठान (कर्मयोग) तथा कर्मसंन्यास (ज्ञानयोग) इन दो मार्गों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सके इसलिए कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग के विभाग को सूचित करने के लिए एवं कर्मानुष्ठान किस प्रकार से करना चाहिए उसे समझाने के लिए भगवान् यहाँ एषा—इत्यादि कह रहे हैं। एषा बुद्धिः ते सांख्ये अभिहिता—'यया तदक्षरमधिगम्यते' (जिसके द्वारा उस अक्षर पुरुष को जाना जा सकता है उसे पराविद्या कहा जाता है) ऐसे श्रुति वाक्य हैं। ब्रह्मविद् ऋषि के द्वारा सम्यक् प्रकार से 'ख्यायते' अर्थात् पठित होता है (आलोचित होता है) इसलिए पराविद्या को 'सांख्य' कहा जाता है। इस सांख्य या पराविद्या के

द्वारा 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (अर्थात् वह देखने के योग्य नहीं है, ग्रहण करने के योग्य नहीं है) इत्यादि के रूप में जो प्रतिपन्न (स्थापित) हुआ है उसे सांख्य अर्थात् निर्विशेष पर ब्रह्म कहा जाता है। उस सांख्य के विषय में (परब्रह्म के विषय में) जो 'बुद्धि' यथा 'न जायते म्रियते' (वह न तो जन्म ग्रहण करता है और न तो मरता है) इत्यादि के रूप में जो ज्ञान तुम्हें पहले उपदिष्ट किया गया है उस बुद्धि या ज्ञान को आरुढ़योगी को ही आश्रय करना चाहिए (अर्थात् आरुढ़–योगी ही उस सांख्य बुद्धि के अधिकारी हैं— आरुरुक्षु योगी नहीं है। तुम आरुरुक्षु हो अतः चित्तशुद्धि के लिए श्रद्धा के साथ ईश्वरार्पण बुद्धि से निरभिमान तथा निष्काम होकर एवं सुख दुःख आदि में समबुद्धि रखकर तुम्हें कर्मयोग का अनुष्ठान करना ही चाहिए— ज्ञानयोग तुम्हारे लिए अभी करणीय नहीं है)। अतः योगे तु इमां बुद्धिं शृणु—तुम्हारे कर्त्तव्यरूप कर्मयोग के विषय में जैसे लक्षणविशिष्ट बुद्धि या ज्ञान उपदेश अभी तुम्हें दिया जा रहा है उसे सुनो। हे पार्थ! यया बुद्ध्या युक्तः—हे अर्जुन! जिस बुद्धि से युक्त (समन्वित) होकर अर्थात् जिस बुद्धि के सम्बन्ध में उपदेश दिया जा रहा है उसके अनुसार कर्मयोग में स्थित रहकर त्वं—तुम कर्मबन्धं—जो जन्म मृत्यु तथा जरा के द्वारा वारबार पुरुष को बन्धनग्रस्त करता है अर्थात् जरामृत्यु के द्वारा संयुक्त करता है उसे बन्धन कहते हैं। कर्म ही वह बन्धन है अतः उस कर्मरूपबन्धन का प्रहास्यसि—प्रकृष्ट रूप से (सम्पूर्ण रूप से) त्याग करोगे। वेदविहित कर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि एवं चित्तशुद्धि से उत्पन्न अकर्ता आत्मा के स्वरूप का विशेष ज्ञान प्राप्त कर सभी कर्मबन्धन से निष्क्रान्त (मुक्त) होओगे, यही कहने का अभिप्राय है।

अब प्रश्न है—अच्छा, ईश्वर ही कर्ता, कारयिता तथा कर्मफलभोक्ता है—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि रहने से ही जिस प्रकार कर्मबन्धन का त्याग किया जा सकता है उस प्रकार पुनः अकर्तारूप आत्मा का ज्ञान होने से कर्मबन्धन से मुक्त होओगे अर्थात् आत्मज्ञान ही कर्मबन्धन को निवृत्त करनेमें समर्थ है, ऐसी कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? (उत्तर)—तुम्हें पूछुँगा, (१) कर्मों को केवल ईश्वर में अर्पण करने से ही कर्मबन्धन की निवृत्ति होगी, ऐसा तुम कहना चाहते हो? यह सम्भव नहीं है क्योंकि ईश्वर में कर्म को समर्पण करने से ही नैष्कर्म्य (कर्मशून्यता) की सिद्धि नहीं होती है। गीता में भी कहा जायगा 'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतिं विभुः' (गीता ५।१५) अर्थात् परमेश्वर भक्त के द्वारा दिये गये सुकृत

या दुष्कृत आदि किसी को भी ग्रहण नहीं करते हैं। और यदि ऐसा भी माना जाय कि परमेश्वर उस सुकृत या दुष्कृत को ग्रहण करें तो भी शतकरोड़ ब्रह्मकल्प तक जिन कर्मों को पहले किया गया है, एवं जो परमेश्वर में अर्पित नहीं किये गये हैं उन कर्मों की निवृत्ति किस प्रकार सम्भव है ? ईश्वर के प्रति भक्ति तो अब (इस जन्म में) उत्पन्न हुई है, अतः पूर्वकृत कर्म सब असमर्पित ही रह जायेंगे। और यदि कहो कि जिस दिन से जन्म हुआ है उस दिन से ही ईश्वर के प्रति भक्ति थी अतः पूर्वजन्मकृत कर्म भी परमेश्वर में समर्पित हुआ है, तब कहूँगा—नहीं, तब तो प्रथम जन्म के बाद ही मुक्ति हो जाना चाहिए था। यदि कहो कि भक्तिशास्त्र में ऐसा कहा गया है—'लोकत्रयाधिपतिमप्रतिमप्रभावमीषत् प्रणम्य शिरसा प्रभविष्णुमीशम्। जन्मान्तरप्रलयकल्प-सहस्रजातमाशु प्रणाशमुपयाति नरस्य पापम्॥' अर्थात् त्रिलोकों के अधिपति अपरिमित प्रभावसम्पन्न प्रभु विष्णु ईश्वर को अल्पमात्रा में प्रणाम करने से हजार हजार प्रलय के सदृश जन्मान्तर में कृत पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। भक्तों के ऐसे वाक्य तो अप्रामाणिक नहीं हो सकते हैं। अतः इस जन्म में भी यदि ईश्वर में भक्तियुक्त प्रणाम के साथ सभी कर्मों को अर्पित किया जाय तब पूर्व जन्म में किये गये कर्मबन्धन का क्यों नहीं नाश होगा ? इसके उत्तर में कहूँगा कि इन वचनों से यही कहा जा रहा है कि पापों का नाश होने पर भी पुण्य का तो नाश नहीं होगा। अतः पुण्य कर्मरूप बन्धन तो रह ही जायगा। (२) और यदि कहो, ईश्वर ही कर्ता है, ईश्वर ही कारयिता है एवं ईश्वर ही कर्मफल का भोक्ता है—ऐसी उक्ति के द्वारा (अर्थात् ऐसा कहने पर ही) कर्म बन्धन से निवृत्त होओगे, तब कहूँगा कि ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—'अयुद्धेन हतो वाली तस्यैकं कर्मणः फलम्' अर्थात् व्याध के बाण से जो श्रीकृष्ण की मृत्यु हुई थी उसका कारण यह है कि युद्ध के बिना पूर्वजन्म में उन्होंने वाली की हत्या की एवं उस कर्म के फलस्वरूप ऐसी मृत्यु भगवान् की हुई थी। इसके द्वारा प्रमाणित होता है कि अपने कर्म का ही जब भगवान् स्वयं परिहार नहीं कर सके तब दूसरों की सुकृति तथा दुष्कृतिरूप कर्म का वे किस प्रकार परिहार (नाश) करेंगे ? अतः अविक्रिय आत्मतत्त्व का विशेष ज्ञान होने से ही (अपरोक्ष साक्षात्कार होने से ही) पुरुष के सर्वकर्मों की निवृत्ति होती है, ऐसा कहना पड़ेगा। श्रुति भी ऐसा ही कहती हैं—'सर्वं पाप्मानं तरन्ति' (अर्थात् आत्मज्ञानी सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं)। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (अर्थात् उस पर तथा अवर

ब्रह्म को आत्मा के रूप में साक्षात्कार करने पर ब्रह्मज्ञानी के सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि। प्रश्न होगा—तव 'बुद्धया युक्तो यया पार्थ' (अर्थात् कर्मयोग विषयक बुद्धि से युक्त होकर निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करने से कर्मबन्धन से निवृत्त होओगे) इस वचन की तव क्या गति होगी ? इसके उत्तर में कहूँगा कि फलाभिलाषा से रहित होकर जो कर्त्तव्य कर्म किया जाता है वह कर्मबन्धन का कारण नहीं होता है—यह बात जो कही गयी है वह निष्काम कर्म की स्तुति के लिए ही कही गयी है (ताकि मुमुक्षु लोग वैसे कर्म में प्रवृत्त हों)। मुमुक्षुओं की चित्तशुद्धि के लिए निष्काम रूप से कर्म करना आवश्यक है, यही कर्मविधि का तात्पर्य है। चित्तशुद्धि होने पर गुरुमुख से वेदान्तमहावाक्यों का श्रवण करने के फलस्वरूप जो अविक्रिय आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान होता है उससे ही कर्मबन्धन की निवृत्ति होती है, यही सिद्ध होता है। [निष्काम कर्म कर्मबन्धन की निवृत्ति का अंतरंग साधन नहीं है अर्थात् साक्षात् हेतु नहीं है। वह तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति कर मोक्ष का हेतु होने के कारण मोक्ष का बहिरंग साधन है। आत्मस्वरूप का विज्ञान या आत्मसाक्षात्कार ही कर्मबन्धन की निवृत्तिका (अर्थात् मोक्ष का) साक्षात्—हेतु है—यही यहाँ कहने का अभिप्राय है]।

(४) नारायणी टीका—कर्तृत्वाभिमान त्याग ('मैं कर्त्ता हूँ' यह वोध त्याग कर) एवं कर्म के फल की आकांक्षा न कर ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने अपने आश्रमविहित कर्मों को शास्त्र के अनुसार करने का नाम है निष्काम कर्मयोग। चित्त शुद्धि के लिए ही निष्काम कर्मयोग की आवश्यकता होती है। जिनका चित्त शुद्ध है वे कर्मयोग का अतिक्रमण कर ज्ञान के या सांख्य योग के अधिकारी हैं और जिनका अन्तःकरण अशुद्ध है (कामना, वासना एवं कर्तृत्वाभिमान से पूर्ण है) उनको चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्मयोग को अवलम्बन करना पड़ेगा क्योंकि मलिनवस्त्र में जिस प्रकार रंग नहीं चढ़ता है उस प्रकार अशुद्ध अन्तःकरण ज्ञान के उपदेश का स्थिर रूप से धारण नहीं कर सकता है। ज्ञान (सांख्य) तथा कर्म के अधिकारी भिन्न होने के कारण उनका समुच्चय (एक साथ अनुष्ठान) होना सम्भव नहीं है। इसलिए भगवान् ने पहले उत्तम अधिकारी के लिए सांख्य (ज्ञान) योग कहकर बाद में निम्नअधिकारिओं के लिए कर्मयोग का उपदेश देना प्रारम्भ किया। श्लोक में भी कर्मयोग को सांख्ययोग से भिन्न है (अर्थात् उनके अधिकारी एक दूसरे से पृथक् हैं) यह दिखाने के लिए 'तु' शब्द का व्यवहार किया गया है।

प्रश्न हो सकता है कि अच्छे चित्त में यदि कोई दोष या मलिनता रहे तब कर्मयोग का अनुष्ठान नहीं कर सांख्ययोग में विहित श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ही उस दोष को नष्ट कर आत्मदर्शन हो सकता है, क्योंकि श्रुति में कहा गया है—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० उ०) अर्थात् आत्मा ही दर्शनयोग्य है, इसलिए आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए ? उत्तर में कहा जायगा कि आत्मा के विषय में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा असम्भावना तथा विपरीत भावनाओं की निवृत्ति होती है [अर्थात् (क) सर्वभूतों में एक आत्मा या ब्रह्म नामक कोइ वस्तु रहना सम्भव नहीं है, यह प्रमेय (प्रमाण के विषय में) के सम्बन्ध में असम्भावना है। मनन के (विचार के) द्वारा प्रमेयगत (प्रमेय के सम्बन्ध में) असम्भावना दूर होती है। (ख) शास्त्र के द्वारा आत्मा या ब्रह्म को जानना सम्भव नहीं है, यह प्रमाण के सम्बन्ध में असम्भावना है। गुरुमुख से उपनिषदों के वाक्यों का श्रवण करने से यह प्रमाणगत असम्भावना दूर हो जाती है। (ग) ब्रह्म सत्य नहीं जगत् ही सत्य हैं—यह विपरीत भावना है। निदिध्यासन के द्वारा (नित्य सत्य आत्मा का साक्षात्कार कर) विपरीत भावनाओं का नाश होता है]। किन्तु चित्त की अशुद्धिरूप जो दोष है उसकी निवृत्ति श्रवण आदि के द्वारा नहीं होती है। उसके लिए निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक है, क्योंकि निष्काम कर्म के अनुष्ठान के फलस्वरूप धर्म नामक शुभ अदृष्ट की उत्पत्ति होती है एवं उसके फलस्वरूप चित्त की मलिनता का नाश हो जाता है। जो व्यक्ति निष्काम कर्म का अनुष्ठान नहीं करता है उसके चित्त की मलिनता किसी भी प्रकार से दूर नहीं होती है। चित्तशुद्धि न होने पर श्रवण आदि में अधिकार नहीं प्राप्त होता है। अतः निष्काम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर क्रमशः श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ज्ञान प्राप्त या आत्म-साक्षात्कार करना पड़ेगा यही शास्त्रोक्त विधान है। श्रवण, मनन तथा निदि-ध्यासन अर्थात् सांख्य या ज्ञानयोग साक्षात्रूप से आत्मज्ञान का जनक (हेतु) है। इसलिए वह आत्मज्ञान का अन्तरंग साधन है और कर्मयोग चित्तशुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान को उत्पादन करता है, इसलिए वह आत्म-ज्ञान का बहिरंग साधन है। इस कारण से जिन मुमुक्षु व्यक्तियों का अभी भी सांख्य या ज्ञानयोग में अधिकार नहीं प्राप्त हुआ है उन्हें अपने अपने आश्रम-विहित कर्मों को निष्काम रूप से अवश्य करना चाहिए। अर्जुन के अन्तः-करण में वासना, कामना एवं कर्तृत्वाभिमान इत्यादि मलिनता विद्यमान हैं, यह

लक्ष्य करके ही उनके प्रति कृपा कर निष्काम कर्मयोग का उपदेश भगवान् ने देना प्रारम्भ किया क्योंकि बाद में भी कहेंगे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता २।४७) अर्थात् केवल तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है। चित्त की मलिनता पूर्ववर्ती अशुभ कर्मों के संस्कार से उत्पन्न हुई है अतः शुभ कर्म के द्वारा ही उस अशुभ संस्कार का नाश करना पड़ेगा। पुनः भगवान् में उस अशुभ कर्म को अर्पण करने से वह शुभ संस्कार भी भुने हुए बीज की तरह परवर्ती जन्म का हेतु नहीं बन पाता है। इस प्रकार कर्मयोगी कर्मबन्धन अर्थात् शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के परिणामस्वरूप जो संसार गति (कर्म से उत्पन्न संसार बन्धन) है उससे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर अथवा आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति हो जाने पर मुक्त हो जाते हैं। इसलिए भगवान् ने कहा है 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'। भगवान् बाद में भी इसी बात को कहेंगे (गीता ९।२७-२८)। भागवत में भी नारद–वासुदेव के संवाद में ऐसा कहा गया है 'कर्मणा कर्मनिर्हारः एष साधु निरूपितः। यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः।' चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा। दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः। [भागवत १०।८४।३५–३६] अर्थात् विचक्षण व्यक्ति कहते हैं कि, जिस कर्म के द्वारा सर्व यज्ञेश्वर भगवान् विष्णु की आराधना की जाय वह कर्म कर्म को नष्ट ही कर देता है। शास्त्र की दृष्टि में इससे बढ़कर चित्त का उपशमकर एवं आत्म-कल्याणकारी धर्म और नहीं है।

[किन्तु कर्मानुष्ठान का फल अनित्य तथा अकिंचित्कर है एवं मेरा चित्त मलिनता तथा अनेक प्रकार के दोषों से युक्त होने के कारण कर्मयोग की क्या विशेषता है उस सम्बन्ध में मेरी बुद्धि में अभी भी संशय है। अर्जुन की ऐसी शंका के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि कर्मयोग मार्ग का और कुछ वैलक्षण्य (विशेषत्व) है जिसके लिए कर्मानुष्ठान आवश्यक है (आनन्दगिरि)]।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

अन्वय—इह अभिक्रमनाशः नास्ति (तथा) प्रत्यवायः न विद्यते। अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि महतः भयात् त्रायते।

अनुवाद—इस मोक्ष के साधनरूप कर्मयोग को यदि केवल आरम्भ किया जाय (परन्तु पूर्णरूप से सम्पन्न न भी हो) तब भी यह निष्फल नहीं

होता है (अर्थात् कृषि प्रभृति कर्म आरम्भ कर यदि वह समाप्त न हो तब जिसप्रकार शस्यादि रूप फल की प्राप्ति नहीं होती है उसप्रकार यह निष्काम कर्मयोग नहीं है क्योंकि इसका प्रारम्भ मात्र भी फलदायक होता है)। इससे पाप या अनिष्ट की प्राप्ति की भी कोई सम्भावना नहीं है। इस कर्मयोग के द्वारा स्वधर्म का अल्पमात्र अनुष्ठान भी जन्ममरणरूप महान् संसार भय से परित्राण (रक्षा) करता है।

दीपिका। इह—मोक्षमार्ग में (मोक्षप्राप्ति के लिए) इस निष्काम कर्मयोग में। अभिक्रमनाशः नास्ति—अभिक्रम शब्द का अर्थ है प्रारम्भ। कृषि प्रभृति कार्य प्रारम्भ करने से भी वह यदि अन्त तक ठीक से नहीं किया जाय तब जिस प्रकार वह प्रयत्न विफल हो जाता है, यह निष्काम कर्मयोग उस प्रकार नहीं है। निष्काम कर्मयोग को प्रारम्भ करने पर वह अगर पूर्ण न हो तब भी वह नष्ट (निष्फल) नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि—योगविषयक प्रारम्भ का (कर्म योगानुष्ठान आरम्भ करने से ही उसका) फल अनैकान्तिक है (अर्थात् उसका फल कुछ न कुछ होगा ही इस विषय में कोई संदेह नहीं है)। (टिप्पणी द्रष्टव्य है)

प्रत्यवायः—इससे प्रत्यवाय की (पाप या अनिष्ट की) प्राप्ति भी न विद्यते—नहीं होती है। चिकित्सक का चिकित्सा कार्य यदि असावधानता के कारण अंगहीन हो जाय तब रोगी के रोग की वृद्धि या उसकी मृत्यु हो जाती है। इसकारण चिकित्सक का प्रत्यवाय या पाप होता है, किन्तु निष्काम कर्मयोग में यदि किसी प्रकार की अंगहानि हो अर्थात् कर्म के सर्वांगसुन्दर रूप से न किये जाने पर भी कोई अनिष्ट (पाप) नहीं होता है (आनन्दगिरि)। मीमांसा दर्शन के ६।३।१ अधिकरण १-७ सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि काम्य कर्म नहीं करने से पाप नहीं होता है किन्तु काम्य कर्म को करने पर ताकि ज्ञानतः या अज्ञानतः उस कर्म की अंगहानि न हो (त्रुटि विच्युति के कारण कोई वैगुण्य न आ जाय) उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा परिणाम में न्यूनता आ जाती है (अर्थात् इष्टफल की प्राप्ति नहीं होती है) किन्तु जिस कर्म को निष्काम रूप से (फल को कामना न कर) भगवान् की तृप्ति के लिए किया जाय तब वह कर्म नित्य कर्म में गिना जाता है (मधुसूदन)। क्योंकि यह कर्म शास्त्र के द्वारा सभी के लिए विहित है तथा मोक्षप्राप्ति का साधन है। नित्यकर्म में यदि कोई यथाशक्ति चेष्टा करके भी सभी वस्तुओं को आहरण करने में समर्थ नहीं हो अथवा दूसरे किसी कारण से उस कर्म की

अंगहानि हो जाय तब भी उसमें कोई प्रत्यवाय (पाप) नहीं होता है क्योंकि शास्त्र में कहा गया है 'नित्येषु यथाशक्ति न्यायः'। अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि महतः भयात् त्रायते—यह कर्मयोगरूप धर्म का अर्थात् चित्तशुद्धि जिसका प्रयोजन है उस निष्काम कर्मयोगरूप धर्म का (अस्य धर्मस्य) अल्पमात्र अनुष्ठान भी [अर्थात् संख्या में अल्प हो अथवा कर्त्तव्यता में अल्प हो, भगवदाराधना के लिए यथाशक्ति किंचित् परिमाण में अनुष्ठित होने पर भी वह (स्वल्पम् अपि) (मधुसूदन) जन्ममरणादिरूप महत् संसार भय से (महतः भयात्) त्राण करता है (रक्षा करता है)। कर्मयोग के द्वारा भगवान् की प्रसन्नता सम्पादन करने से वह प्रसन्नता अनुष्ठाता पुरुष की जन्ममरणरूप भय से रक्षा करती है (त्रायते)। 'भगवान् की कृपा से रक्षा पा जाते हैं' इस सम्बन्ध में स्मृति शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है (मधुसूदन)]—

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥ (आनन्दगिरि)

[सभी पापों में आसक्त होकर भी कोई यदि निमेषमात्र भी नारायण का स्मरण करे तब वह व्यक्ति (भगवान् के अनुग्रह से) पवित्रपावन लोगों के भी अर्थात् जिनके साथ एक पंक्ति में बैठने से ही पवित्र होना सम्भव है ऐसे सुकृतिशाली व्यक्ति भी, पावन (पवित्रताकारी) होकर उत्कृष्ट तपस्वी होते हैं]। काम्यकर्म में सर्वांग पूर्ण न होने पर किसी फल की भी प्राप्ति नहीं होती है वरं विघ्नवश कर्म समाप्त न होने पर अथवा अंगहानि होने पर प्रत्यवाय (पाप) होता है। निष्काम कर्मयोग यदि स्वल्पतया भी किया जाय वह महाफल उत्पन्न करता है क्योंकि काल विशेष में वही सम्यग्ज्ञान उत्पादन कर संसार समुद्र से त्राण करता है। [टिप्पणी द्रष्टव्य है]।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—(क) अस्य धर्मस्य—पहले ही कहा गया है कि शास्त्रविहित स्वधर्म पालन नहीं करने से चित्तशुद्धि नहीं होती है। चित्तशुद्धि न होने पर विविदिषा (आत्मा को जानने की इच्छा) नहीं उत्पन्न होती है एवं श्रवण मनन आदि के (जिसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होती है उसके) अधिकारी नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में श्रुति में ऐसा कहा गया है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृह० उ० ४।४।२२) अर्थात् ब्राह्मणलोग उस उस आत्मा को वेदानुवचन के द्वारा (वेदों के अध्ययन के द्वारा), यज्ञ के द्वारा, दान के द्वारा एवं अनाशक तपस्या के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। यज्ञ, दान तथा तपः (तपस्या)

रूप कर्म ही भगवान् के दास के रूप में भगवदर्पण बुद्धि में (निष्कामरूप से) सम्पन्न होने पर ईश्वर की कृपा से चित्तशुद्धि होती है। उसके बाद साधक श्रवण आदि के अधिकारी होकर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर संसार सागर रूप महाभय से रक्षा पाते हैं। गीता में भी भगवान् ने कहा है 'यज्ञदानतपः कर्म पावनानि मनीषिणाम्' (गीता १८।५) अर्थात् यज्ञ, दान तथा तपस्या रूप त्रिविध कर्म बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए पवित्रता के हेतु अर्थात् चित्तशुद्धि का कारण होते हैं। यज्ञ दो प्रकार का होता है। द्रव्ययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ—दोनों ही कर्मयोग के अन्तर्गत हैं। देवता के उद्देश से शास्त्रीय विधि के अनुसार चरुपुरोडश आदि एवं हविः (घी) इत्यादि आहुति देने का नाम है द्रव्ययज्ञ एवं गीता में चतुर्थ अध्याय में २३ वें श्लोक से ३३ श्लोक तक जो कहा गया है वे सभी ही ज्ञानयोग के अन्तर्गत हैं। यज्ञादि कर्म भी निष्काम भाव से करने पर ज्ञान में (तत्त्वज्ञान में या आत्मसाक्षात्कार में) ही परिसमाप्त हो जाते हैं (गीता ४।३३)। यज्ञ, दान, तपः ये तीन कर्म सात्त्विक होने से ही चित्तशुद्धि करते हैं इसलिए भगवान् ने बाद में सात्त्विक यज्ञादि के सम्बन्ध में गीता में (१७।११ श्लोक में) विशेष रूप से कहा।

अब प्रश्न हो सकता है (१) एक ही यज्ञ में, दान तपस्या के द्वारा दो प्रकार का फल अर्थात् (क) चित्तशुद्धि तथा (ख) विविदिषा (जानने की इच्छा) किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? क्योंकि काम्य कर्म के सम्बन्ध में वेद ने जिन वाक्यों के द्वारा विधियों का निर्देश किया है उन विधायक वाक्यों के साथ फलश्रुति (कर्म के फल) कही गयी है; विशेष विशेष कर्म विशेष विशेष परिणामों को ही उत्पन्न कर सकते हैं, दूसरे नहीं। अतः एक ही कर्म को निष्काम रूप से करने पर विविदिषा एवं चित्तशुद्धि ये दो प्रकार के फल किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? इसके उत्तर में पंडित लोग मीमांसा दर्शन के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद के 'संयोगपृथक्त्व' न्याय नामक अधिकरण का उल्लेख कर प्रमाणित करते हैं कि पृथक् पृथक् श्रुति वाक्य में पृथक् पृथक् फलश्रुति रहने पर एक ही कर्म से अनेक प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है।

इस अधिकरण के अनुसार 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इस श्रुति-वाक्य को विषय कर ऐसा सिद्धान्त किया गया है कि एक ही दधिद्रव्य निष्काम व्यक्ति के अग्निहोत्र-होम का अंग होगा पुनः जो कामना को लेकर यज्ञ करेगा उस सकामव्यक्ति के इन्द्रियरूप फल विशेषों का भी उत्पादन करेंगे। इस विषय में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। उस प्रकार यज्ञ, दान

तपस्या आदि कर्मों की विशेष विशेष फलश्रुति रहने के कारण सकाम व्यक्ति के लिए वैसे ही फलों की उत्पत्ति होती है। पुनः श्रुति में 'विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादि वाक्य रहने के कारण निष्काम व्यक्ति के लिए उन कर्मों से चित्तशुद्धि होकर विविदिषा (तत्त्वज्ञान जानने की इच्छा) उत्पन्न होगी। इसलिए शास्त्र का मीमांसा के अनुसार इसमें कोई विरोध नहीं है।

(ख) अच्छा, श्रुति में है 'तद्‌यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० उ० ८।१।६) अर्थात् जिस प्रकार इस व्यावहारिक जगत् में कर्माजित फल (जिस प्रकार कृषि इत्यादि कर्मों से प्राप्त फल) नष्ट हो जाते हैं। अतः साधारण कर्म के फलों की तरह यज्ञदान आदि कर्मों के परिणाम (फल) भी नष्ट हो जायेंगे। चित्तशुद्धि या विविदिषा यद्यपि यज्ञ आदि कर्म के द्वारा उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु वे यदि अस्थायी हो तब तो वे ज्ञानोत्पत्ति के हेतु नहीं होंगे। ऐसी अवस्था में 'नेह अभिक्रमनाशोऽस्ति' ऐसी भगवदुक्ति तो व्यर्थ हो जाती हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है—

(क) 'तद्‌यथेहेति या निन्दा सा फलेन तु कर्मणि। फलेच्छां तु परित्यज्य कृतकर्म विशुद्धिकृत् ॥' अर्थात् 'तद्‌यथेह' श्रुतिवाक्य में जो कर्म की निन्दा की गयी है वह कर्मफल के सम्बन्ध में ही किया गया है, ऐसा समझना पड़ेगा—कर्म सम्बन्ध में नहीं, क्योंकि फलेच्छा परित्याग कर जो कर्म किये जाते हैं वह चित्त की विशुद्धि ही उत्पन्न करते हैं। छान्दोग्य श्रुति के उपर्युक्त वाक्य में 'लोक' शब्द का अर्थ (ऐहिक या स्वर्गादि रूप) भोग्यफल है। यह भोग्य फल ही अस्थायी तथा नाशवान् है किन्तु निष्काम कर्मानुष्ठान विविदिषा को द्वार कर अन्त में वेदन (आत्मज्ञान) रूप फल उत्पन्न करता है जबतक अविद्या का नाश नहीं होता है तबतक इसका क्षय नहीं होता फिर निष्काम कर्मयोग का फल आत्मज्ञान होने के कारण उस फल का विनाश भी नहीं होता है।

(ग) पुनः 'यज्ञेन' इत्यादि वाक्य में जो विविदिषा के सम्बन्ध में कहा गया है (बृं० उ० ४।४।२२) वह भी (विविदिषा भी) कर्म का फल ही है किन्तु इस मन्त्र में विविदिषा शब्द के द्वारा वेदन की (अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति विशेषरूप फल को) लक्ष्य किया गया है। इसलिए भगवान् 'नेह अभिक्रमनाशोऽस्ति' के द्वारा, जो कहे हैं, वह युक्तियुक्त ही है। अतः यह निष्काम कर्मयोग रूप धर्म का अल्प मात्र अनुष्ठान होने पर जो संसार भय से

त्राण (रक्षा) मिलता है, इसमें कोई आश्चर्य ही नहीं है। निष्काम कर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि से विविदिषा एवं तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से अज्ञान या अविद्या का नाश, अविद्या का नाश होने पर अविद्या का कार्य अर्थात् जन्ममृत्युरूप संसार प्रपंच भी समूल (अविद्या सह) नष्ट हो जाते हैं—यही 'त्रायते महतो भयात्' शब्द का तात्पर्य है।

(घ) प्रश्न हो सकता है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'-वेद के इस वाक्य के अनुसार क्या यज्ञ, दान तथा तपस्या—ये समुचित रूप से (सब एक साथ समवेत होकर) विविदिषा के हेतु होते हैं, अथवा पृथक् पृथक् रूप से हेतु होते हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ये प्रत्येक ही विविदिषा तथा उसके बाद तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करते हैं। विभिन्न लोगों की चित्त की अशुद्धि विभिन्न प्रकार की है। इस कारण किसी का वेद के अध्ययन में, किसी का यज्ञ के द्वारा, किसी का दान के द्वारा तथा किसी का तपस्या के द्वारा चित्त की अशुद्धि का नाश हो जाता है। तथा कोई अगर इन सबों को एक साथ करे तब भी चित्तदोष की निवृत्ति होती है। चित्त की अशुद्धता के तारतम्य के अनुसार अनुष्ठान का भी तारतम्य होता है परन्तु इन सबों का अनुष्ठान निष्काम रूप से होने पर चित्तशुद्धि तथा विविदिषारूप फल की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' (दर्श तथा पौर्णमास नामक दो यज्ञों के द्वारा) इस स्थान में द्वन्द्व समास के द्वारा दो यज्ञों का समुदय (एक साथ अनुष्ठान) बोधित हो रहा है अथवा 'यदग्नये च प्रजापतये च' (अग्नि के उद्देश्य एवं प्रजापति के उद्देश्य से) इस स्थल में 'च' शब्द के द्वारा समुच्चय बोधित हो रहा है उस प्रकार 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादि वाक्य में वेदानुवचन एवं यज्ञादि का समुच्चय समन्वय किया जा रहा है ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। व्यक्तिभेद के अनुसार आशय दोष या चित्त की अशुद्धि का तारतम्य हुआ करता है, यह पहले ही कहा गया है। अतः उस दोष के निराकरण का उपाय भी व्यक्ति भेद के अनुसार पृथक् पृथक् होना ही स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य के आश्रय में केवल वेदानुवचन (वेदाध्ययन) के द्वारा ही चित्त की मलिनता का नाश हो सकता है। इस प्रकार गृहस्थ के आश्रम में केवल यज्ञ तथा दान आदि के द्वारा अथवा वानप्रस्थाश्रम में तपश्चर्या (तपस्या) के द्वारा अथवा संन्यास के आश्रम में सभी कामनाओं को त्याग कर ब्रह्म तथा आत्मा के ऐक्य साधन रूप परम तपश्चर्या के द्वारा चित्त की मलिनता का नाश हो सकता है। अर्थात् केवल अपने अपने आश्रम-धर्म के अनुसार वेदानुवचन,

यज्ञ, दान, तपस्या इनके प्रत्येक के द्वारा ही निरपेक्ष रूप से चित्तशुद्धि की उत्पत्ति हो सकती है। अतः ये समुचित होकर अर्थात् एक साथ अनुष्ठित होने पर चित्तशुद्धि एवं विविदिषा की (आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा की) उत्पत्ति होगी, ऐसा कहना संगत नहीं है। [मधुसूदनी टीका में ४१ वें श्लोक की व्याख्या में ऐसा कहा गया है]।

(२) श्रीधर—[यदि कहो कि कृषिकार्य आदि की तरह कभी विघ्न के बाहुल्य के कारण कर्म के फलों में व्यभिचार दिखता है (अर्थात् फल की सिद्धि नहीं होती है) एवं (यज्ञादि कर्म में) मंत्रादि के अंगवैगुण्य के कारण भी प्रत्यवाय की (पाप का) सम्भावना रहती है। अतः कर्मयोग के द्वारा कर्मबन्धन का मोचन होता है, यह कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं] इह—निष्काम कर्मयोग में अभिक्रमनाशः नास्ति—प्रारम्भ का नाश (विफलता) नहीं है [कर्म आरम्भ कर यदि विघ्नवशतः कर्म की समाप्ति नहीं हो तब भी वह निष्फल नहीं होता है।] पुनः प्रत्यवायः न विद्यते—वैसे कर्मयोग में यदि मंत्रादि का वैगुण्य रहे तब भी प्रत्यवाय (पाप) होने की कोई सम्भावना नहीं है क्योंकि ईश्वर के उद्देश्य से कर्म करने पर उस कर्म में विघ्न तथा वैगुण्यादि रहना सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि अस्य धर्मस्य—इस धर्म का अर्थात् ईश्वरआराधना के लिए कर्मयोग का स्वल्पम् अपि—अल्प मात्र भी अनुष्ठान अर्थात् कर्म केवलमात्र आरम्भ भी महतः भयात्—संसार रूप महाभय से त्रायते रक्षा करता है। काम्य कर्म का किंचित् अंगवैगुण्य होने पर जिस प्रकार वह कर्म निष्फल हो जाता है निष्काम कर्मयोग में उस प्रकार नहीं होता है।

(३) शंकरानन्द—[मुमुक्षु में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के उद्देश्य से पूर्ववर्ती श्लोक में कहे गये कर्मयोग की इस श्लोक में स्तुति किया गया है] इह—मोक्ष ही जिसका प्रयोजन है उसप्रकार पूर्वोक्त निष्काम कर्मयोग में अभिक्रमनाशः—अभिक्रम का अर्थ है कर्म का उपक्रम (आरम्भ), उसका नाश न अस्ति—नहीं है [अर्थात् कर्म आरम्भ कर यदि किसी कारणवश उसकी समाप्ति नहीं भी हो अथवा कर्म में वैगुण्य रहे तब उस कर्म का नाश नहीं होता है]। कृषि के व्यापार में कर्म प्रारम्भ करने पर उसका फल कभी मिलता है तथा कभी नहीं भी मिलता है यह कर्मयोग वैसा नहीं है। जिस प्रकार भोजन करने से तृप्ति अवश्य ही होगी उस प्रकार निष्काम कर्मानुष्ठान से (चित्तशुद्धि के द्वारा) मुक्ति अवश्य ही होगी। प्रत्यवायः न विद्यते—

इस कर्मयोग का अनुष्ठान करने पर प्रत्यवाय (पाप) नहीं होता है। राजा की आज्ञा के पालनकारी को जिस प्रकार कोई पाप नहीं होता है उस प्रकार (ईश्वर की प्रेरणा से ईश्वर के लिए ही) कर्म करने पर उसमें ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक किसी नियम का अगर लोप (अभाव) भी हो जाय तब भी कर्मकर्ता का कोई अनर्थ (दोष) नहीं होता है। **अस्य धर्मस्य**—इसप्रकार भक्ति के साथ अनुष्ठित ईश्वर की आराधना रूप वेदोक्त धर्म का अर्थात् वेदोक्त धर्म से सम्बन्धित **स्वल्पमपि**—अति अल्प कर्म भी अर्थात् केवल अग्निहोत्र अथवा श्रौत उपासना अथवा स्मार्त उपासनारूप कर्म श्रद्धापूर्वक किये जाने पर चित्तशुद्धि उत्पन्न कर तथा तत्त्वज्ञान के प्राप्ति हेतु होकर कर्म कर्ता को **महतः भयात् त्रायते**—जन्म मरण आदि महाभय से रक्षा करते हैं। अतः मुमुक्षु को श्रौत (वैदिक) अथवा स्मार्त अथवा दोनों कर्मों को ही श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक निष्काम रूप से ईश्वर की प्रीति के लिये यथाशक्ति करना चाहिए। ईश्वर प्रीति के लिए अनुष्ठित कर्म के द्वारा ही जीव संसार से मुक्त होने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं—यही कहने का अभिप्राय है।

(४) **नारायणी टीका**—अर्जुन को जिस योग के सम्बन्ध में कहनेकी प्रतिश्रुति पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् दिये हैं वह है निष्काम कर्मयोग, भगवान् की प्रेरणा से (एवं भगवान् की वाणी के अनुसार) फलाफल को भगवान् में अर्पण कर भगवान् की प्रीति के लिए ही भगवान् के हाथ में यंत्र की तरह 'मैं कर्म करूँगा', लाभालाभ, जय पराजय एवं सुखदुःख सब कुछ तो भगवान् को इच्छा के अनुसार ही होंगे; विश्व के नाटक में अभिनय रूप कर्म जो कर्म मेरे लिये निश्चित है उसे यथाशक्ति सम्पन्न कर प्रत्येक कर्म को पुष्पांजलि के रूप में देकर प्रभु की अर्चना करना ही मेरा एकमात्र धर्म है, इस प्रकार बुद्धि से कर्म अनुष्ठित होने पर उसे निष्काम कर्मयोग कहा जाता है। इस प्रकार के कर्म के द्वारा ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है (चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर सकता है)—दूसरा कोई उपाय नहीं है। श्रीभगवान् स्वयं ही १८।४६ श्लोक में यह बात कहेंगे। संसार में आसक्त अज्ञानी जीव जो कर्म करता है उसमें रहता है (क) कर्तृत्वाभिमान (ख) कर्म में आसक्ति एवं (ग) कर्म फल में आकांक्षा। अहंकार ही उस प्रकार के सकाम कर्म का कर्ता है किन्तु अहंकार (कर्ता), कर्म, तथा कर्मफल सब ही अनित्य है। अतः सकाम कर्म में सर्वप्रकार से अनित्य जड़ पदार्थ के प्रति ही कर्म करने का ध्यान रहता है एवं जड़ की ही पूजा हुआ करती है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' (जो जैसी भावना रखता है उसकी

सिद्धि उस प्रकार ही होती है)। भगवान् भी कहेंगे—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४।११) अर्थात् जिस प्रकार के फल की आशा कर मेरा भजन करता है उसे मैं भी उसी प्रकार पुरा करता हूँ (कामना के अनुसार फलप्रदान कर उनके प्रति अनुग्रह करता हूँ)। इस कारण से ही सकामकर्मी जिस लोक में ही क्यों न जाये, अनित्य जड़ देह एवं अनित्य भोग की प्राप्ति कर संसार चक्र में भ्रमण करता है। उसके अलावा सभी कर्म ही दोष के द्वारा लिप्त रहने के कारण (गीता १८।४८) उनलोगों का कोई कर्म ही पूर्णरूप से वैगुण्यरहित नहीं हो सकता है। अतः उनकी आकांक्षा की भी पूर्ण रूप से तृप्ति नहीं होती है। किन्तु ऊपर में कहे गये लक्षणों से विशिष्ट निष्काम कर्म में भगवान् कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान प्रभृति सभी कारकों के रूप में निरन्तर स्मृति तथा ध्यान का विषय रहते हैं। नित्यचैतन्यस्वरूप परमानन्दघन परमात्मा सभी कर्मों में एवं सभी अवस्था में एकमात्र ध्येय वस्तु होने के कारण उसको कर्म, कर्मफल तथा कर्तृत्व की चिन्ता नहीं रहती है। अतः निष्काम कर्मों को ब्रह्मार्पणरूप भावना के द्वारा उनका सभी कर्म ही (वह अधिक हो या कम हो, वह आरम्भिक अवस्था में ही रहे या शेष अवस्था में ही रहे सभी ही) नित्यस्वरूप, चैतन्यस्वरूप एवं पूर्णस्वरूप परमात्मा में ही पर्यवसित परिसमाप्य होता है। जिस प्रकार अग्नि में जो कुछ अर्पित होता है वह अग्नि ही हो जाता है उस प्रकार 'सब ही ब्रह्म है' इस प्रकार भावना के द्वारा कर्ता, कर्म, करण इत्यादि भी नित्य, पूर्ण, चैतन्यस्वरूप हो जाते हैं। इसलिए कहा गया है कि वैसे कर्म का प्रारम्भ होने पर भी अर्थात् अन्त तक सम्पन्न न होने पर भी उसका नाश नहीं है क्योंकि पूर्ण में आहुति देने के कारण वह पूर्ण ही हो जाता है—कर्म स्वयं अनित्य तथा जड़ होता हुआ भी वह नित्य तथा चैतन्यस्वरूप हो जाता है। नित्य शुद्ध परमात्मा में उस कर्म की आहुति देने के कारण कर्म विगुण होने पर भी वह प्रत्यवाय (पाप) रहित होकर शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार कर्म ही प्रकृत धर्म है क्योंकि जो विश्व को धारण किये हैं वे शाश्वतधर्मस्वरूप (गीता १४।२७) ब्रह्म ही इस कर्म की लक्ष्यवस्तु है। निष्कामकर्म ऐसे धर्म को यदि अल्पमात्रा में भी पालन करे तब भी वह महान् हो हो जाता है जिस प्रकार लघु सरिता समुद्र में विलीन होने पर समुद्र ही हो जाती है। अतः मोक्षस्वरूप परमानन्द ब्रह्म (आत्मा) जो कर्म के आदि, अन्त तथा मध्य में प्रतिष्ठित हैं उस कर्म संसाररूप महाभय से निष्काम कर्मयोगी को उद्धार कर सकेंगे उसमें संशय ही क्या है।

['सांख्य-बुद्धि' तथा 'कर्मयोग-बुद्धि'—के अतिरिक्त कणाद प्रभृति ऋषियों में भी उनके द्वारा प्रणीत शास्त्र में दूसरे प्रकार की बुद्धि के सम्बन्ध में कहा है। अतः तुम केवल इन दो ही प्रकार की बुद्धि के सम्बन्ध में क्यों कह रहे हो ? (आनन्दगिरि) अर्जुन की इस शंका के उत्तर में कहा जा रहा है कि सांख्य में जो बुद्धि के सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है एवं योग के सम्बन्ध में जिस बुद्धि के बारे में अब कहा जायगा वे दोनों ही निश्चयात्मिका होने के कारण संसार सागर से त्राण पाते हैं। अन्य सब बुद्धियाँ अनिश्चयात्मिका होने के कारण जन्ममृत्युरूप संसार का कारण होती हैं।]

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—हे कुरुनन्दन ! इह व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका । अव्यवसायिनाम् बुद्धयः हि बहुशाखाः अनन्ताः च ।

अनुवाद—इस श्रेयोमार्ग में (मनुष्य जीवन के कल्याण के पथ में) आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में निश्चयात्मिका बुद्धि एक प्रकार की ही होती है। जो लोग अव्यवसायी हैं अर्थात् जिनमें प्रमाणजनित विवेकबुद्धि उत्पन्न नहीं हुई है (जो लोग सकाम कर्मी हैं) उनकी बुद्धि बहुशाखाओं से विशिष्ट है अर्थात् अनेक विषयों में विभक्त है एवं प्रतिशाखा भेद के अनुसार वे लोग अनन्त हैं (अर्थात् उनमें भेद का अन्त नहीं है। अतः उनके संसार में दुःख का भी अन्त नहीं है)।

दीपिका। हे कुरुनन्दन—हे अर्जुन ! इह—[अखंड अद्वय सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर उसमें स्थितिलाभ करने से ही जन्ममृत्युरूप संसार रूप दुःख का आत्यन्तिक (पूर्णतया) नाश होता है। अतः वही परम श्रेयस्कर या हितकर अवस्था है।] इस श्रेयो मार्ग में अर्थात् परम कल्याणकर अवस्था की प्राप्ति के मार्ग में व्यवसायात्मिका बुद्धिः—सांख्य विषय एवं योग के विषय में जो निश्चय स्वभाव वाली बुद्धि है [आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में निश्चयात्मिका बुद्धि (मधुसूदन)] एका—वह एक प्रकार की होती है [अर्थात् एकनिष्ठ होती है—एक ही प्रकार का फल प्रदान करती है (मधुसूदन)।] उनका फल एक ही है चूँकि वे एक ही (परमार्थ प्राप्ति रूप) फल प्रदान करती हैं। दोनों को ही व्यवसायात्मिका कहा गया है क्योंकि वे यथार्थ प्रमाणजनित होने के कारण दूसरी विपरीत बुद्धि की शाखाओं के

भेद में बाधक है [वह निश्चयात्मिका बुद्धि सर्वप्रकार से निर्दोष वेदवाक्य से ('तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य से) उदित होने के कारण सम्यक् प्रकार से प्रमाणजनित एवं भ्रमशून्य है। इसलिए ये दोनों बुद्धि संसार का हेतु जो अज्ञान है उनका बाधक (नाशक) होता है। इनमें सांख्य बुद्धि साक्षात्‌रूप से एवं योगबुद्धि परम्पराक्रम से (अर्थात् चित्तशुद्धि के द्वारा) अज्ञान का नाश करती है। अतः सांख्य तथा योगबुद्धि द्वारा एक ही परमार्थतत्त्व की प्राप्ति होने के कारण दोनों प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है। (आनन्दगिरि)]. दूसरी ओर अव्यवसायी में (जो लोग आत्मतत्त्व को निश्चय करने में असमर्थ हैं उनमें) जो दूसरे प्रकार की बुद्धि को देखते हैं वे नियत ही बाधित होते हैं अर्थात् एक व्यक्ति की बुद्धि दूसरे व्यक्ति की बुद्धि को हेय प्रतिपन्न (प्रमाणित) करती है अथवा एक ही व्यक्ति की बुद्धि समय समय पर विभिन्न प्रकार की होती है।

अव्यवसायिनां बुद्धयः हि बहुशाखाः अनन्ताः च—जो लोग शास्त्रीय (आगम) प्रमाणजनित विवेक बुद्धि से रहित हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि वेदादि शास्त्र के प्रमाण के अनुसार अनित्य, मिथ्या, अनात्म वस्तु से नित्य सत्य आत्मतत्त्व को विवेक कर (पृथक् कर) निश्चय नहीं कर सकी हैं वैसे अव्यवसायी (अनिश्चयात्मिका बुद्धि से विशिष्ट) पुरुषों की बुद्धि बहुशाखा (बहुभेद) विशिष्ट होती है [अर्थात् अज्ञानी कर्मकाण्डी पुरुषों की कामना अनेक प्रकार की होने के कारण अनेक दिशा में उनकी बुद्धि का प्रचार या प्रवृत्ति दिखती है (मधुसूदन)]। पुनः प्रतिशाखा भेद के अनुसार वह बुद्धि अनन्त होती हैं अर्थात् वैसी बुद्धि के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है इसलिए बुद्धि की प्रवृत्ति की निवृत्ति (शेष या समाप्ति) नहीं होती है। 'प्रतिशाखा में भेद' इस वाक्यांश का तात्पर्य यह है कि अविद्याग्रस्त पुरुष का कर्मफल, गुणफल प्रभृति भेद के अनुसार अर्थात् प्रधान कर्म का फल एवं विशेष विशेष गुण से (अर्थात् कर्म के विशेष विशेष अंग से) उत्पन्न फल का अनेक भेद होता है इसलिए तदनुशीलनकारी अव्यवसायिओं को अर्थात् उस उस विभिन्न प्रकार के फल की कामना से विशिष्ट व्यक्तियों की बुद्धि भी अनन्त प्रकार की होती है (मधुसूदन)। अतः उनकी बुद्धि की शाखाओं के भेद के विस्तार के कारण यह संसार अनन्त (अन्तहीन) अपार (कूल या तटहीन) अनुपरत (उपरामरहित) अर्थात् निरन्तर प्रवाहरूप में चलायमान रहता है। वेदादि शास्त्रप्रमाणजनित (वेदादि शास्त्रप्रमाण से उत्पन्न) विवेक बुद्धि के बल से जब अविवेक से उत्पन्न अनन्त भेद बुद्धि विनष्ट हो जाती हैं तभी यह संसार प्रवाह निवृत्त होता है।

[यह प्रसिद्ध है कि अव्यवसायिओं की बुद्धि अनन्त है। ऐसी प्रसिद्धि को समझाने के लिए श्लोक में 'बहुशाखाः' 'अनन्ताश्च' इन दो शब्दों के साथ 'हि' शब्द को प्रयुक्त किया गया है। अतः चित्तशुद्धि के लिए जो निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान किया जाता है वह काम्य कर्म की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण तथा स्वतंत्र है, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। (मधुसूदन)]।

(१) श्रीधर—[निष्काम कर्म अंगवैगुण्ययुक्त अथवा अल्पमात्र होने पर भी संसाररूप महाभय से त्राण पाता है ओर काम्यकर्म वैसा होने से निष्फल होता है यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। यह किसप्रकार सम्भव है, इस आशंका के उत्तर में दोनों प्रकार के कर्मों का वैषम्य (पार्थक्य) क्या है, यह कह रहे हैं—]

हे कुरुनन्दन। हे अर्जुन इह—ईश्वराराधनरूप कर्मयोग में व्यवसायात्मिका बुद्धिः—'परमेश्वर में भक्ति के द्वारा अवश्य ही संसारचक्र से उत्तीर्ण होऊँगा' ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि एका—एकनिष्ठ ही होती है (अर्थात् निष्काम कर्मयोगी की एकमात्र लक्ष्य वस्तु है परमेश्वर। अतः उनके सभी कर्म परमेश्वर में समर्पित होने के कारण उनकी बुद्धि नाम तथा रूपात्मक विषयों में आसक्त न रहकर एकमात्र परमेश्वर में ही रत रहती है।) अव्यवसायिनां बुद्धयः—और जो लोग ईश्वर की आराधना से विमुख रहते हैं वे लोग जीवन की लक्ष्य वस्तु को व्यवसाय (निश्चय) करने में असमर्थ होने के कारण बहिर्मुखी एवं कामी (विषयासक्त) होते हैं। अतः उनकी बुद्धि अनन्ताः—अनन्त (अन्तहीन) होती है क्योंकि काम्यवस्तु भी अनन्त है अर्थात् काम (वासना) एवं काम्यवस्तु का अन्त या शेष नहीं है। इसलिए कामी पुरुषों की बुद्धि भी अनन्त विषयों के प्रति दौड़ती रहती है। केवल यही नहीं अव्यवसायिनी (अनिश्चयात्मिका) बुद्धि बहुशाखाः च—कर्मफल तथा गुणफल इत्यादि प्रकार भेद से अनेक शाखायुक्त होती हैं। [अर्थात् प्रधान कर्म का फल एवं विशेष विशेष गुणों से (अर्थात् कर्म के विशेष विशेष अंग से) उत्पन्न फल अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिए अज्ञानी पुरुष का काम्यकर्म भी वृक्ष की शाखा की तरह अनेक दिशा में प्रचारित (विस्तृत) रहता है।] ईश्वर की आराधना के लिए जो नित्यकर्म किया जाता है उसका अंग का किंचित् वैगुण्य होने पर भी वह नष्ट नहीं होता है क्योंकि शास्त्र में इस विषय में विधान है कि 'यथाशक्त्युयात् तथा कुर्यादिति' अर्थात् अपनी अपनी शक्ति (सामर्थ्य) के अनुसार कर्म करना उचित है। इसलिए नित्यकर्म में वैगुण्य भी नहीं होता है क्योंकि ईश्वर के उद्देश्य से कोई कर्म करने

पर वैगुण्य का उपशम होता है। किन्तु काम्यकर्म में वैसा नहीं होता है अर्थात् काम्यकर्म का सर्वांग ठीक ठीक रूप से पूर्ण न होने पर फल की प्राप्ति नहीं होती है। अतः काम्यकर्म तथा निष्काम कर्म में महत् अन्तराय (वैषम्य) है।

(२) शंकरानन्द—[योगविषयिणी बुद्धि के द्वारा युक्त पुरुष संसार सागर से उत्तीर्ण होता है यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। उस योग संबंधी बुद्धि का स्वरूप क्या है वह अब कहा जा रहा है एवं साथ साथ जो लोग उस प्रकार की बुद्धियुक्त नहीं है उनको इस संसार सागर से कभी भी मुक्ति नहीं मिलती है, यह भी सूचित किया गया है] व्यवसायात्मिका बुद्धिः—शास्त्र में कहा गया है 'मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्।' अर्थात् मन दो प्रकार का होता है शुद्ध तथा अशुद्ध। अशुद्ध मन काम तथा संकल्प के द्वारा युक्त रहता है एवं शुद्ध मन कामनारहित रहता है। काम, संकल्प आदि दोषों से रहित शुद्ध मन के द्वारा युक्त होकर 'ईश्वर ही हम लोगों की परमगति है' इसप्रकार बुद्धि जब व्यवसाय या निश्चय करती है अर्थात् बुद्धि जब परमार्थ वस्तुतत्त्व को निश्चय कर ईश्वर की आश्रिता हो जाती है तब उसे व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि कहा जाता है। ऐसी बुद्धि इह—मोक्ष ही जिसका एकमात्र प्रयोजन है उस कर्मयोग में प्रवृत्त व्यवसायी (निश्चयात्मिका बुद्धिविशिष्ट) मुमुक्षु व्यक्ति को एका—एक ही होता है अर्थात् बाहर तथा भीतर में उसका रूप एक ही प्रकार का होता है। श्रुति में कहा गया है 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते अन्तवदेवास्य तद्भवति' अर्थात् हे गार्गि, जो इस अक्षरपुरुष को न जानकर इस लोक में होम, यज्ञ और तपस्या करता है उसके वह समस्त कर्म हो अन्तवत् (नाशशील) हो जाते हैं—इसप्रकार श्रुति व्यतिरेक मुख से यही प्रमाणित कर रही हैं कि ज्ञानपूर्वक (आत्मतत्त्व को निश्चय कर ईश्वर पर आश्रित होकर चित्तशुद्धि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए) हवन, भजन, एवं तपस्या करनेवालों का वैदिक कर्म कभी भी अन्तवत् (नाशशील) नहीं होता है। इसलिए श्रुतिप्रमाण से उत्पन्न बुद्धि एक रूप में ही स्थित रहती है अर्थात् परमार्थ वस्तु (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए एकनिष्ठ रहती है, वह कभी भी भिन्न नहीं होती है (बुद्धि एकमात्र परमात्माभिमुखी ही रहती है, दूसरे किसी ओर भागती नहीं है)। दूसरी ओर अव्यवसायिनां बुद्धयः बहुशाखाः च—विवेकरहित, व्यवस्थारहित, कामनाविशिष्ट पुरुषों की बुद्धि बहुशाखायुक्त है अर्थात् अनेक प्रकार की होती है। 'आशास्तेऽयं यजमानोऽसौ' (यह यजमान इस चीज को आशा करता है)। इसप्रकार अनेक विषयों का प्रयोजन (कामना)

रहने के कारण उनको बुद्धि भी अनेक प्रकार के भेदों से विशिष्ट रहती है। अतः उनको बुद्धि अनन्ताः च—अनन्त रहती है, क्योंकि काम्य पदार्थ सब अनन्त हैं। ['हि' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ में लगाया गया है] इस प्रकार बुद्धि अनन्त होने के कारण वैसे बुद्धिविशिष्ट पुरुषों का संसार भी अनन्त (अन्तहीन) होता है अर्थात् उनका संसार चक्र और शान्त (निवृत्त) नहीं हो सकता है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक की टीका में निष्कामकर्म का एकमात्र लक्ष्य है मोक्ष अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार, यह कहा गया है। जो बुद्धि आत्मा ही एकमात्र सत्य, नित्य एवं सनातन है, इस प्रकार निश्चय कर उसी की अर्चना या प्रीति के लिए सभी कर्मों को करती है उसे व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि कहा जाता है। यह बुद्धि सभी अवस्थाओं में, सदा, सभी कर्मों में एक ही प्रकार रहती है (स्थिर तथा अचल रहती है) एवं उसका फल भी एक ही (अर्थात् मोक्ष) है। और जो लोग सकामकर्मी हैं वे लोग कभी पुत्र, कभी वित्त, कभी स्वर्ग, कभी मान-प्रतिष्ठा इत्यादि अनन्त वासना के द्वारा व्याकुल रहने के कारण उनको बुद्धि बहुशाखाओं से विशिष्ट (विभिन्न वस्तुओं का कामना से युक्त) एवं अनन्त (अशेष) है क्योंकि विषय अनन्त है। [असल बात यह है कि, किन वस्तुओं को प्राप्त करने पर उन्हें श्रेयः की प्राप्ति होगी उसे निश्चय करने में असमर्थ होने के कारण अनन्त भेदविशिष्ट विषय में उनको बुद्धि निरन्तर भ्रमण करती हुई दिखती है]। इसलिए उस बुद्धि को अव्यवसायी (अनिश्चयात्मिका) कहा जाता है। नदी की सभी शाखायें जब एक ही समुद्र की ओर प्रवाहित होती हैं तब प्रत्येक शाखा ही अन्त में समुद्र बन जाती हैं किन्तु वे शाखायें जब विभिन्न दिशाओं में चलती रहती है तब वे शाखायें परिच्छिन्न रहने के कारण क्षीण से क्षीणतर होती जाती हैं एवं अन्त में नष्ट हो जाती हैं। एकमात्र पूर्ण परमानन्द स्वरूप की ओर व्यवसायात्मिका बुद्धि की निरन्तर गति रहने के कारण जीव पूर्णत्व तथा परमानन्द स्वरूपत्व प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। और अव्यवसायी सकामी पुरुष जन्म मृत्युरूप संसार रूप नदी के अनन्त प्रवाह में भ्रमण करता रहता है। यही सकाम तथा निष्काम कर्म का भेद है।)

[प्रश्न है—सकाम कर्मीलोग 'स्वर्गादि' की प्राप्ति के लिए जिन योग, यज्ञादि कर्मों को करते हैं एवं निष्काम कर्मीलोग वर्णाश्रम के अनुकूल जिन शास्त्रविहित कर्मों को करते हैं वे दोनों ही वेदवाक्य को प्रमाण मानकर कर्म करते रहते हैं। अतः वेदवाक्यरूप प्रमाण जब दोनों ओर से ही बराबर है तब अव्यवसायियों की व्यवसायात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होगी? इसके उत्तर में

सकाम कर्मी पुरुषों को किस प्रकार प्रतिबन्धक (विघ्न) रहने के कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है, यह कह रहे हैं (मधुसूदन) एवं जिनमें व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं है उनको क्या होता है, वह भी कहा जा रहा है]।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अन्वय—हे पार्थ ! अविपश्चितः वेदवादरताः अन्यत् न अस्ति इतिवादिनः कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदां भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां समाधौ व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते ।

अनुवाद—हे पार्थ ! अल्पबुद्धि (अविवेकी अर्थात् वेद के तात्पर्य से अनभिज्ञ व्यक्ति लोग) के वेद में स्वर्गादि प्राप्ति के साधन योगादि के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिपादित नहीं किया गया है ऐसा निश्चय कर 'वेदवादरत' होते हैं अर्थात् वेद में अनेक प्रकार के अर्थवाद (स्तुति) के द्वारा स्वर्गादि प्राप्ति के साधन के रूप में जिस कर्मकांड के बारे में कहा गया है उन वेद-वाक्यों को प्रमाण के रूप में ग्रहण कर उसी में ही रत रहते हैं एवं पुष्पित (पलाश) वृक्ष की तरह आपातरमणीय कर्मकांडमयी वाणी को ही प्रकृष्ट अर्थात् चरम (श्रेष्ठ) मानते हैं । ४२ ॥

ये लोग कामपरायण होते हैं (काम ही उनका स्वभाव होता है); वे स्वर्गपरक होते हैं (स्वर्ग ही उनका परम पुरुषार्थ है); वे लोग इस लोक में पशुपुत्रादि रूप सुखभोग एवं धन आदि ऐश्वर्य के लिए तथा परलोक में स्वर्ग-सुखभोग एवं स्वर्ग में आधिपत्यरूप ऐश्वर्य के लिए उन कर्मकांडीय वाणी को जो जन्मरूप (जन्ममरणादिरूप) कर्मफल प्रदानकारी विशेष विशेष बहु-क्रियाओं को (अर्थात् यज्ञादि क्रिया) प्रतिपादन किये हैं उन्हें ही (उन वाणियों को ही) वेद का तात्पर्यरूप से निर्णय कर उसे ही प्रचार करते हैं। उस

प्रकार के पुष्पित वाक्य के द्वारा जिनका चित्त मोहित है एवं जो लोग भोग तथा ऐश्वर्य में प्रसक्त (आसक्त) है उनकी समाधि में (अन्तःकरण में) सांख्य या योगविषयिणी व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि की उत्पत्ति कभी भी नहीं हो सकती है (अतः वे लोग संसार चक्र में सर्वदा भ्रमण करते रहते हैं) ॥ ४४ ॥

दीपिका—हे पार्थ !—हे अर्जुन ! अविपश्चितः—अल्पबुद्धिशाली अर्थात् विचार के द्वारा जो लोग वेदवाक्य के तात्पर्य को समझने में अक्षम हैं ऐसे अविवेकी लोग। वेदवादरताः—अनेक प्रकार के अर्थवाद, फल एवं फल के साधन एवं विधि इत्यादि को जो वेदवाक्य प्रकाशित करता है उसी में जिनको रति अर्थात् आसक्ति या निष्ठा है। 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' अर्थात् जो व्यक्ति चातुर्मास्य यज्ञ का अनुष्ठान करता है उसका वह सुकृत (शुभकर्म) अक्षय रहता है, इत्यादि प्रकार के जो वेदवाद अर्थात् अर्थवाद (प्रशंसावाक्य) वेद में है उसमें जो लोग रत रहते हैं [वेद की वाणी सदाही सत्य है। 'चातुर्मास्य यज्ञ को करने वाले का सुकृत अवश्य ही अक्षय रहता है, उसका क्षय किसी भी काल में नहीं होता है', इस प्रकार के अर्थवाद का (चातुर्मास्य यज्ञ की स्तुति या प्रशंसा का) यथार्थ तत्त्व निश्चय कर जो लोग सन्तुष्ट रहते हैं (मधुसूदन)] उन्हें वेदवादरत कहा जाता है। ऐसे अज्ञानी पुरुष। नान्यदस्तीति वादिनः—'स्वर्गपशु प्रभृति फल के साधनरूप जो वैदिक क्रियाकांड विहित हैं उससे भिन्न और कुछ नहीं है अर्थात् उसके अतिरिक्त वेद का और कोई तात्पर्य नहीं है [अतः वेद में ज्ञानकांड का (ज्ञान का) फल के रूप में कुछ भी प्रतिपादित नहीं है] इसप्रकार की बात जो लोग करते हैं वे लोग [मीमांसकों के मतमें वेद का तात्पर्य केवल कर्म का प्रतिपादन करना है। अतः वेद के जो वाक्य कर्मप्रतिपादक नहीं है उनके स्वार्थ के लिए (अर्थात् अपने लिए) कोई तात्पर्य नहीं है किन्तु कर्मबोधक वाक्यों के (अर्थात् विधिवाक्यों के) साथ युक्त होकर अपने प्रामाण्य की रक्षा करते हैं। इसलिए उनके मत में उपनिषद् आदि में जो ब्रह्मज्ञान, आत्मदर्शन, मोक्ष प्रभृति विषयों के बारे में उपदेश दिया गया है, वे सब केवल मात्र अर्थवाद है (अर्थात् उपनिषद् में जो उपासना प्रभृति क्रियायों के सम्बन्ध में उपदेश दिया गया है उसमें रुचि या प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए मोक्षरूप फल की प्रशंसा की गई है)। उनके मत में ज्ञान का ऐसा कोई फल नहीं है जो वैदिक कर्मानुष्ठान के फल से अधिक हो सके। इसलिए वे अत्यन्त प्रयत्न के साथ ज्ञानकांड का

विरुद्धवाद (बातें) करते हैं चूँकि वे लोग कामात्मानः—कामस्वभाव (काम-परायण) अर्थात् शत शत काम्यमान विषयों के द्वारा उनका चित्त आकुलित होने के कारण वे लोग काममय हैं। कामस्वभाव होकर भी वे लोग मोक्ष की कामना नहीं करते हैं क्योंकि स्वर्गपराः—वे लोग स्वर्गप्रधान अर्थात् स्वर्ग ही उनके पास परम पुरुषार्थ है। उर्वशी प्रभृति अप्सरा से युक्त स्वर्ग ही उनके निकट उत्कृष्ट (जीवन का चरम उद्देश्य) परिगणित होता है। [स्वर्ग के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुषार्थ नहीं है, ऐसी भ्रान्तधारणा के द्वारा चालित होकर विवेकवैराग्य के अभाव के कारण मोक्ष के सम्बन्ध में वार्त्तालाप को भी वे सह नहीं सकते। (मधुसूदन)] अतः जन्मकर्मफलप्रदां—जो जन्म-रूप कर्मफल को प्रदान करता है [अपना जो जन्म, कर्म तथा कर्मफल (प्रकृष्टरूप से) प्रदानकारी हैं। अपूर्व (पहले जो नहीं था वैसा) देह तथा इन्द्रियादि के साथ जो सम्बन्ध होता है वही जन्म है। विभिन्न वर्ण तथा आश्रम में स्थित लोग जो कर्म किया करते हैं वे सभी ही देहादि के द्वारा सम्पादित होने पर भी वे सब देहादि का कर्म जन्म के अधीन ही है। अतः जन्म से कर्म होता है। पुनः पुत्र, पशु, स्वर्ग प्रभृतिरूप अस्थायी जिन फलों को इहलोक तथा परलोक में जीव भोग करते हैं वे सभी कर्म के अधीन है। अतः जन्म से कर्म एवं कर्म से कर्म-फल की उत्पत्ति होती है। जो इस जन्म, कर्म तथा फल को प्रकृष्टरूप से अर्थात् घटीयंन्त्र की तरह अविच्छिन्नरूप से प्रदान करते हैं उसे 'जन्मकर्मफल-प्रद' कहा जाता है। (मधुसूदन)] इसका कारण क्या है वह कहा जा रहा है—भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाम्—इह लोक तथा परलोक का जो भोग एवं ऐश्वर्य है उनकी गति (प्राप्ति), उन्हीं के प्रति (लिए) अर्थात् भोगैश्वर्य प्राप्ति के लिए साधन रूप से जो देशकाल तथा अधिकारी में भेद के अनुसार विशेष विशेष क्रिया की बहुलता (प्रचुरता) है अर्थात् बहु प्रकार के कर्मों का विधान वेद के क्रियाकांड में किया गया है। इसलिए उसे 'क्रियाविशेषबहुलाम्' कहा गया है। [इहलोक के पशु, पुत्र इत्यादि का भोग तथा धनसम्पत्तिरूप ऐश्वर्य एवं परलोक में अर्थात् स्वर्गादि लोक में अमृतपान, उर्वशी के साथ विहार एवं पारिजातकुसुम प्रभृति के लिए जो भोग एवं उनके कारण स्वरूप देवादि के ऊपर आधिपत्य, इत्यादि इन दोनों की गति या प्राप्ति का साधन है वेदविहित पुण्यकर्म यथा अग्निहोत्र, दर्शपौर्ण-मास, ज्योतिष्टोम इत्यादि। अधिकारी के भेद के अनुसार जो विशेष विशेष क्रियाँये वेद में निर्दिष्ट होने के कारण वे क्रियाँये बहुल अर्थात् विस्तृत हुई

हैं। भोग की वासना बहुत (अनेक प्रकार की) होने के कारण वे भोग एवं ऐश्वर्यप्राप्ति को साधनीभूत जो क्रियाँये विहित हैं वे भी बहुत विस्तृत हैं। ज्ञान-कांड की तुलना में वेद में कर्मकांड को अतिविस्तृत रूप से वर्णन किया गया है, ये बात सभी जानते है। (मधुसूदन)] यां इमां पुष्पितां वाचं—इसप्रकार के क्रियाविशेषों के विधिनिषेध भी अनेक अर्थात् अनेक प्रकार से जिन कर्मकांडीय वेदवाणियों ने विस्तृत (प्रकाशित) किया है एवं जो पुष्पित पलाश वृक्ष की तरह शोभायमान हैं अर्थात् श्रवण करने में रमणीय है वे वाणी ही प्रवदन्ति—उसे (कर्मकांडी विषयासक्त अज्ञ लोग) प्रकृष्ट रूप में प्रचार करते हैं (प्र + वदन्ति)। [किन्तु ये वेदवाणी साध्य तथा साधन के सम्बन्ध से युक्त होने के कारण निरतिशय फल (नित्य फल जो मोक्ष है उसे) प्रदान नहीं कर सकती हैं क्योंकि कर्मानुष्ठान का फल अनित्य ही होता है। ये बात वे लोग नहीं समझ सकते हैं। (आनन्दगिरि)] अतः तया—उस (कर्मकांडीय क्रियाविशेष-बहुल) वेदवाणियों के द्वारा अपहृतचेतसां—अपहृत अर्थात् आच्छादित हुआ है जिनका चेतः (चित्त अर्थात् विवेक ज्ञान), वैसे व्यक्तियों का भोगैश्वर्यप्रसक्तानां—एवं विवेक ज्ञान के अभाव के निमित्त पूर्वोक्त 'भोग तथा ऐश्वर्य को प्राप्त करना ही पड़ेगा' इसप्रकार जो लोग आसक्तियुक्त हैं अर्थात् जो लोग इस लोक तथा परलोक के (स्वर्गादि के) सभी भोग तथा ऐश्वर्य के प्रति (वे सब क्षयशील एवं अस्थायी है—इन दोषों को विचार न कर भोग एवं ऐश्वर्य के प्रति प्रणय (आसक्ति) के कारण तद्रूप हो जाते हैं अर्थात् उसी में ही आत्मभूत हो जाते हैं। [अर्थात् भोग तथा ऐश्वर्य को ही जो लोग जीवनके कर्त्तव्य के रूप में मानते हैं वे लोग आत्मा में उस भोग-धर्म को आरोपित कर भोग तथा ऐश्वर्य में ही अन्तःकरण को अभिनिविष्ट रखकर तादात्म्या-ध्यास (भोग तथा ऐश्वर्य के साथ एकात्मता) प्राप्त होते हैं। इसप्रकार भोग तथा ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त बहिर्मुखी व्यक्तियों के (आनन्दगिरि)] समाधौ—'समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणं तस्मिन्' अर्थात् पुरुष के उपभोग के लिए जिसमें सभी वस्तु वासना के रूप में समाहित होती है उसे समाधि कहा जाता है। अतः समाधि शब्द का यहाँ अर्थ है अन्तःकरण या बुद्धि [अथवा जिसमें सभी विषय समाहित अर्थात् विहित होते हैं वह समाधि अर्थात् परमात्मा है अतः 'समाधौ' शब्द का अर्थ है परमात्मा के विषय में। 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार से समाहित होकर बुद्धि जब अवस्थान करती है तब उसे समाधि कहा जाता है। व्यवसा-

यात्मिका बुद्धि न होने पर ऐसी स्थिति प्राप्त करना सम्भव नहीं है, इसे ही भगवान् अब कहेंगे। (मधुसूदन)]।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते—सांख्य या योगविषयिणी व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि विहित नहीं होती है अर्थात् उत्पन्न नहीं होती है। वेद—जानना अतः वेद का तात्पर्य है परम श्रेष्ठ वस्तु को जानना अर्थात् आत्मज्ञान। वेदविहित कर्मों को करके चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं करने से ज्ञान नहीं होता है। वैदिक कर्म में रुचि (प्रवृत्ति) उत्पन्न करने के लिए ही वेद में कर्मफल की (स्वर्गादि की) इतनी प्रशंसा की जा रही है। इसीलिए भागवत में कहा गया है 'रोचनार्था फलश्रुतिः।' इसे अर्थवाद (प्रशंसा-सूचक वाणी) कहा जाता है। इस अर्थवाद का प्रकृत उद्देश्य यह है कि कर्मयोगी पहले यागयज्ञादि के फल से आकृष्ट होकर बाद में कर्मफल के क्षयिष्णुत्व तथा अनित्यत्व इत्यादि दोषों को देखकर कामना से शून्य होकर भगवान् के उद्देश्य में विहित कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त करने में समर्थ होंगे। चित्तशुद्धि के लिए नित्याग्निहोत्रादि कर्म एवं भोग की तृप्ति के लिये काम्य अग्निहोत्रादि कर्मों में अनुष्ठान की ओर से कोई भेद नहीं है, तथापि काम्य अग्निहोत्रादि कर्म फल का अभिसन्धि रहने के कारण वह चित्तशुद्धि उत्पन्न नहीं कर सकता है। स्वर्गादि भोग के लिए भी शुद्धि आवश्यक है क्योंकि उस शुद्धि के द्वारा ही सकाम कर्मी पवित्र दिव्य देह को धारण कर स्वर्गादि के सुख को उपभोग कर सकते हैं किन्तु वह शुद्धि स्वर्गादि के भोग करने में भी क्षय हो जाती है। इसलिए उसके द्वारा चित्तशुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः काम्य कर्म ज्ञान का उपयोगी नहीं है अर्थात् दोनों प्रकार के कर्म का अनुष्ठान एक ही प्रकार से होने पर भी भोगवासना (भोग में आसक्ति) रूप प्रतिबन्धक विद्यमान रहने के कारण सकाम व्यक्ति में व्यवसायात्मिका बुद्धि या ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। इसे ही निर्दिष्ट करने के लिए एकबार 'भोगैश्वर्यगतिं प्रति' कहे जाने पर भी पुनः 'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां' इस शब्द के द्वारा पुनरुक्ति किया गया है। दूसरी ओर यदि निष्काम कर्मयोग का अवलम्बन कर अर्थात् फलाभिसन्धिरहित होकर विहित कर्म का अनुष्ठान करे तब वह कर्म भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के हेतु (भोगैश्वर्यगतिं प्रति) होने पर भी मुमुक्षु की भोगैश्वर्य में आसक्ति न रहने के कारण वह कर्म ज्ञान के उपयोगी चित्तशुद्धि सम्पादन करता है। बाद में ज्ञान के द्वारा सर्वकर्म तथा कर्मफल नष्ट होने के कारण स्वर्गादि में उनका और जन्म नहीं होता है। यही विवेकी व्यक्ति के कर्म-

फल से अविवेकी (अविपश्चित् कामात्मा, वेदवादरत, स्वर्गपर, भोगैश्वर्य-प्रसक्त) व्यक्ति के कर्मफल का पार्थक्य (विशेषता) है, एवं वह ही शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है। इसलिए (अर्थात् चित्तशुद्धि के अभाव के लिए) अविवेकी को सांख्य या योग के विषय में बुद्धि निश्चयात्मिका होकर परमात्मा में स्थिर नहीं रह सकती है अर्थात् जबतक भोगकामना रहे तबतक कर्म जन्ममृत्युरूपफल ही प्रदान करता है एवं वह योग में अर्थात् परमात्मा के साथ युक्त होने के (एकत्व प्राप्त करने के) साधन के रूप में परिणत नहीं हो सकता है। (मधुसूदनी टीका का तात्पर्य)।

(१) श्रीधर—(४२वाँ श्लोक) [यदि प्रश्न हो कि कामीलोग भी कष्टप्रदविषय कामनाओं को परित्याग कर व्यवसायात्मिका बुद्धि का क्यों नहीं अवलम्बन करते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

याम् इमां पुष्पितां वाचं—श्रुति में (वेद में) जिन (कर्मकांडीय) वाक्यों में स्वर्गादि रूप फल को प्रतिपादन किया है उन सब पुष्पित विकलता की तरह आपातरमणीय वाक्यों को प्रवदन्ति—प्रकृष्ट अर्थात् परमार्थफलपरा कहते हैं [स्वर्गादि ही जीवन का परमार्थ है, अतः इन वाक्यों में जो कहा गया है वही वेद का तात्पर्य है अतः ये वाक्य ही प्रकृष्ट (सर्वोत्तम) है क्योंकि इनके द्वारा परमार्थ (स्वर्गादि) की प्राप्ति होती है, ऐसा ही वे लोग कहते हैं]।

[केवल जो ऐसा ही कहा जाता है, ऐसी बात नहीं] तया—उन वाक्यों के द्वारा अपहृतचेतसाम्—उनका चित्त (विवेकज्ञान) अपहृत (आच्छादित) रहता है। अतः ऐसे व्यक्तियों की व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि में स्थिर नहीं हो सकती है। ४४ वें श्लोक के साथ ऐसा अन्वय करना पड़ेगा। वे लोग क्यों उन पुष्पिता वाणी को प्रकृष्ट कहते हैं। चूँकि वे लोग अविपश्चिताः—मूढ़ हैं ? वे लोग मूढ़ क्यों है। चूँकि वे लोग वेदवादरताः—वेद में जो वाद अर्थात् अर्थवाद (स्तुतिवाक्य) है उसी में वे लोग रत (आसक्त) रहते हैं। अर्थात् 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (चातुर्मास्य यज्ञ को करने वालों को अक्षय सुकृत होता है), 'अपाम् सोमममृता अभूम' हमलोग सोमपान कर अमृत हो गये) इत्यादि जो अर्थवाद रूप से वेद में वाक्य है उसी में वे लोग प्रीत (संतुष्ट) रहते हैं। [वेद का यथार्थ तात्पर्य अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति भी उनमें नहीं रहती है एवं इस कारण वे लोग] नान्यदस्तीति वादिनः—इस स्वर्गादि फलप्राप्ति से भिन्न अन्य कोई प्राप्त करने के योग्य ईश्वरतत्त्व नहीं है, ऐसा कहना ही उनका स्वभाव है।

(४३ वाँ श्लोक) चूँकि वे लोग ऐसे हैं अतः वे **कामात्मानः**—कामाकुलचित्त होते हैं (अर्थात् विषय वासना के लिए उनका चित्त सदा ही व्याकुल रहता है ।) एवं चूँकि वे लोग भोगवासना के द्वारा आकुल रहते हैं इसलिए वे लोग **स्वर्गपराः**—स्वर्ग को ही पर अर्थात् परम पुरुषार्थ मानते हैं एवं इस कारण वे लोग **जन्मकर्मफलप्रदां**—जो सब कर्मकांडीय पुष्पिता (आपातरमणीय) अर्थवादरूप वेदवाक्य जन्म, कर्म तथा कर्म के फल को प्रकृष्ट रूप से प्रदान करते हैं (अर्थात् जो जन्म, कर्म तथा कर्मफल का हेतु होकर संसार गति ही प्राप्त कराता है) एवं **क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति**—जिन वेदवाक्यों में भोग तथा ऐश्वर्य—दोनों की गति के प्रति (प्राप्ति के लिये) साधनभूत जो समस्त क्रियाविशेष (विशेष विशेष–क्रिया) बहुल अर्थात् विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है वे सब आपातरमणीय वाणी **प्रवदन्ति**—प्रकृष्ट (उत्तम) कहकर प्रचार करते हैं । [इसका परिणाम क्या होता है अब कहा जा रहा है] .

(४४ वाँ श्लोक) **तया**—उन पुष्पिता (आपातरमणीया) वाणी के द्वारा **अपहृतचेतसाम्**—अपहृत अर्थात् आकृष्ट रहता है जिनका चित्त एवं **भोगैश्वर्यप्रसक्तानां**—भोग तथा ऐश्वर्य में प्रसक्त अर्थात् अभिनिविष्ट रहती है जिनकी **बुद्धिः**—निश्चयात्मिका बुद्धि **समाधौ**—परमेश्वर के अभिमुखी होकर चित्त की एकाग्रता में **न विधीयते**—विशेषरूप से अवस्थान नहीं कर सकती है अर्थात् चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करने के लिए उनकी निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है । [उनका चित्त कामादि के द्वारा विक्षिप्त रहने के कारण समाधि के (चित्त की एकाग्रता साधन के) अनुकूल नहीं होता है । इस कारण से ही सांख्ययोग में अथवा कर्मयोग में उनकी निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न होकर स्थिरता प्राप्त नहीं करती है, यही कहने का अभिप्राय है ।] (विधीयते शब्द 'कर्मकर्तरि प्रयोगः' ।)

(२) **शंकरानन्द**—[शंका हो सकती है कि जिनकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका है (व्यवस्थारहित अर्थात् अनिश्चयात्मिका है) उनमें भी तो योगबुद्धि हो सकती है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि, नहीं । जो लोग कामपरायण हैं (विषयाकांक्षी) उनके अन्तःकरण में योगबुद्धि का उदय नहीं हो सकता है । ऐसे कामपरायण व्यक्तियों का स्वभाव अब इन तीनों श्लोकों में स्पष्ट किया जा रहा है—]

(४२ श्लोक) **वेदवादरताः**—जो कहा जाता है वही वाद अर्थात् वाक्य है । अतः वेद के वाक्य को वेदवाद कहा जाता है । 'वायव्यं श्वेतमा-

लभेत भूतिकामः' अर्थात् पुरुष ऐश्वर्यकामी हो तो उनका वायुदेवता के उद्देश्य कर श्वेत पशु को बलि देना उचित है। ऐसा कर्म, कर्मफल एवं कर्म के फल प्राप्ति का उपयोगी साधन अर्थवादादि के रूप में (प्रशंसावाक्य के रूप में) जिन वेद वाक्यों में कहा गया है, उनमें ही जो लोग रत रहते हैं अर्थात् सभी अर्थवाद को ही (स्तुतिवाक्य को ही) जो लोग वेद का तात्पर्य मानते हैं अतः नान्यदस्तीति वादिनः—इस अर्थवाद के रूप में कहा गया साधनरूप कर्म एवं साध्यरूप कर्मफल से भिन्न मोक्ष या ईश्वर नाम का कुछ भी नहीं है ऐसा कहनेवाला अर्थात् कोई उनके निकट प्रश्न करने पर ऐसा कहना ही जिनका स्वभाव है वे लोग। [क्यों वे लोग वेद का अर्थ नहीं समझकर अर्थ वादादि वाक्य को ही वेद के तात्पर्य के रूप में ग्रहण करते हैं वह अब कहा जा रहा है चूँकि वे लोग] अविपश्चितः—अविवेकी अर्थात् वे लोग बहिर्मुख है। मीमांसकों के मत में आकृष्ट रहने के कारण वेद के उपक्रम उपसंहार आदि विवेचना कर वेद के प्रकृत तात्पर्य अवधारण करने में अनभिज्ञ (असमर्थ) है अतः वे लोग पुष्पितां—पुष्पित अर्थात् पुष्प के द्वारा आच्छादित लता की तरह 'अपाम् सोमम्' (हमलोग सोमरस पान कर रहे हैं) 'दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते' (दक्षिणाग्नि के उपासक अमृतत्व प्राप्त करते हैं) 'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रम्' (पुत्र को देखते हैं, पौत्र को देखते हैं) 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (चातुर्मास्य यज्ञ को करने वालों का अक्षय्य पुण्य होता है) इत्यादि अर्थवादरूप फलशून्य पलाश पुष्प की तरह वाक्य के द्वारा रंजित अर्थात् आपातरमणीय इमां यां वाचं—जो बाद में कहा जा रहा है वे वाक्य अर्थात् जो बल, जन्म, कर्मफल आदि प्रदान करते हैं अतः जिसे परवर्ती श्लोक में 'जन्मकर्मफलप्रदां'—कह कर कहा जायगा वे सब पुष्पित वाक्य यथा 'अग्निमीळे पुरोहितं' (पुरोहित अग्नि को मैं पूजा करता हूँ), 'ईषेत्वोर्जे त्वा' (हे पलाश ! अन्न के लिए मैं तुम्हें काट रहा हूँ), इत्यादि वाक्य प्रवदन्ति—प्र (प्रकृष्टरूप से) कहते हैं अर्थात् कर्मकांड को ही प्रशस्त कह कर प्रचार करते हैं, उपासनाकांड या ब्रह्मकांड को (ज्ञान-कांड को) प्रशस्त (प्रशंसनीय) कह कर प्रकाश नहीं करते हैं।

(४३ वाँ श्लोक)—[योग बुद्धि के लिए अयोग्य होने के कारण उनका स्वभाव भी दुष्ट हो जाता है इसे सूचित करने के लिए वैसे कामी व्यक्तियों के गुणों का अब श्रीकृष्ण वर्णन कर रहे हैं]

स्वर्गपराः—वे लोग जो अर्थवादयुक्त वाक्यों को ही वेद का तात्पर्य निर्णय करता है उसका हेतु यह है कि वे 'स्वर्गपर' होते हैं अर्थात् स्वर्ग ही

पर अर्थात् परमपुरुषार्थ है, ऐसा निश्चय करते हैं। [क्यों 'स्वर्गपराः' होते हैं इसके उत्तर में कहा जा रहा है] भोगैश्वर्यगतिं प्रति कामात्मानः—जिसे उपभोग किया जाता है उसे भोग—कहा जाता है अर्थात् दिव्यमाल्य, चन्दन, स्त्री आदि विषय एवं समग्र भोग के लिए जिस ऐश्वर्य को आवश्यकता होती है अर्थात् ईश्वरत्व (स्वामित्व) उसके गति के अर्थात् प्राप्ति के प्रति—जिनका काम – अर्थात् इच्छा का वेग आत्मा में—अर्थात् बुद्धि में है वे कामी पुरुष लोग अर्थात् विषय भोग में आसक्त कामी मीमांसकलोग। क्रियाविशेष-बहुलां —अग्निष्टोम, अतिरात्र इत्यादि बहुल क्रिया अर्थात् अनेक विशेष-विशेष फल की प्राप्ति के लिए अनेक विशेष क्रिया को (यागादि कर्म) को जिस वेदवाक्य ने प्रतिपादन किया है वे सब पुष्पिता वाणी। (यह सब वाणी पुष्पिता क्यों हैं ? यह सब स्पष्ट किया जा रहा है) जन्मकर्मफलप्रदां—जन्म शब्द के द्वार जन्समृत्यु, जरा, रोग एवं उनके द्वारा उत्पन्न दुःखों को ही लक्ष्य किया जा रहा है। ऐसे जन्ममृत्यु प्रभृति भी वेदवाक्य के द्वारा प्रतिपादित कर्म का फल है अर्थात् वे सब वेदविहित कर्म अनुष्ठाताओं को कर्मफल के रूप में जन्मादि प्रदान करता है। इसलिए कर्मकांडीय वेदवाणी को 'जन्मकर्मफल-प्रदा' कहा जाता है। अथवा वेदवाणी के द्वारा प्रकाशित (प्रतिपादित) कर्मों को जो लोग अनुष्ठान करते हैं उनलोगों का विभिन्न योनि में जन्म और कर्मफल (सुख, दुःख, जरा, व्याधि इत्यादि) भोग करना पड़ता है इस कारण भी कर्मकांडीय वेदवाणी को 'जन्मकर्मफलप्रदा' कहा जाता है। ऐसे जन्मकर्म-फलप्रदा पुष्पिता वाणी को बहिर्मुखी कामी मीमांसकलोग 'प्रवदन्ति'—अर्थात् यही वेद का तात्पर्य है ऐसा कहकर प्रकृष्टरूप से प्रचार करते हैं इस प्रकार पूर्ववर्ती श्लोक के साथ वर्तमान श्लोक का अन्वय करना पड़ेगा।

(४४ वाँ श्लोक)—[चुँकि ये कामी पुरुष लोग उस प्रकार के लक्षणों से युक्त हैं अतः उन लोगों की योगबुद्धि और उस योगबुद्धि का फल जो मोक्ष है उसको सिद्धि नहीं होती है, यही अब स्पष्ट कर रहे हैं] तया-वे कर्मकांडरूप अर्थवाद बहुल वाणी के द्वारा अपहृत्तचेतसां—अपहृत हुआ है (आच्छादित हुआ है) चित्त जिनका अर्थात् कार्य तथा अकार्य विषय में (जीवन के परम पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए एवं क्या नहीं करना चाहिए इस विषय में) विवेक तथा विज्ञान जिनका नहीं है अर्थात् विषयभोग वासना के द्वारा जिनकी बुद्धि भ्रमित (विचलित) हुई है ऐसे व्यक्तियों के; अतः भोगैश्वर्यप्रसक्तानां—जिसे भोग किया जाय उसे भोग कहा जाता है अर्थात् भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य शब्द का अर्थ है

ईश्वरत्व अर्थात् स्वामित्व। भोग्यपदार्थ में एवं उनके स्वामित्व में जो लोग प्रकृष्टरूप से आसक्त हैं ऐसे व्यक्तियों के समाधौ—जिसके द्वारा विषयों में समाहित (मग्न) रहता अथवा वासनारूप में समस्त जगत् समाहित (सम्यक् प्रकार से स्थापित) रहता है उसे समाधि कहा जाता है। अतः समाधि शब्द का अर्थ है अन्तःकरण। उसमें बुद्धिः—व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् योगबुद्धि न विधीयते—विशेष रूप से अवस्थित नहीं रहती है अर्थात् प्रविष्ट नहीं होती है क्योंकि वासना (कामना) के द्वारा अन्तः करण परिपूर्ण (भरपूर) रहने के कारण अर्थात् अन्तःकरण में और कोई अवकाश (स्थान) नहीं रहने के कारण योगबुद्धि उसमें प्रवेश नहीं कर सकती है अतः 'कारणाभावे कार्याभावः' अर्थात् कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव होता है इस न्याय के अनुसार योगबुद्धि का अभाव होने के कारण उसका कार्यभूत फल जो मोक्ष है वह भी कभी प्राप्त नहीं हो सकता है यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (२) नारायणी टीका—मीमांसकों के मत में वेद का जो समस्त अंश क्रियाप्रतिपादक नहीं है उनका स्वार्थ में (अपने लिए) कोई तात्पर्य नहीं है—किन्तु ऐसा मत युक्तियुक्त नहीं है। वेद के समस्त वाक्य ही पुरुषार्थ प्रतिपादन करते हैं। कर्मकांड के साध्य क्रियात्मक कर्म से जिस प्रकार पुरुषार्थ सिद्ध होता है, सिद्धस्वरूप अक्रियात्मक ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान से भी उस प्रकार का पुरुषार्थ साधित होता है। इसलिए उपनिषद् के प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान को अर्थवाद कहकर वर्णन करना (अर्थात् उपासना रूप कर्मप्रवृत्तिको उत्पन्न करने के लिए ही वेद में मोक्षरूप फल की स्तुति या प्रशंसा मात्र की गयी है, ऐसा कहना) अत्यन्त असंगत है। वेद के किसी वाक्य का तात्पर्य यदि अन्य प्रमाण के द्वारा बाधित न हो परन्तु उस वाक्य के द्वारा यदि पुरुषार्थ की सिद्धि हो तब उस विषय में भी वेद का प्रामाण्य है यह सभी के द्वारा ही सम्मत है। वेदवाक्य जिन वस्तुओं को प्रतिपादन करता है वह यदि प्रमाण के द्वारा बाधित होवे तब वे वाक्य स्वार्थ में (अपने प्रयोजन में) अप्रमाण होने के कारण अर्थवाद हो सकता हैं किन्तु आत्मतत्त्व, ज्ञान, मुक्ति प्रभृति के विषय में वेद के उपनिषद् भाग में जो कहा गया है वह एक ओर जिस प्रकार दूसरे किसी प्रकार के प्रमाण के द्वारा बाधित नहीं है दूसरी ओर उससे परम पुरुषार्थ (मोक्ष या परमानन्द) की प्राप्ति हो सकती है इसे प्रत्येक शुद्धचित्त सम्पन्न विचारशील व्यक्ति ही समझ सकते हैं। किन्तु भोग तथा ऐश्वर्य की वासना (आसक्ति) रहने के कारण जिनका कर्मकांड के प्रति

अत्यधिक अभिनिवेश या दुराग्रह रहता है वे लोग वेद के ज्ञानकांड अर्थवाद मात्र है इस मत को ग्रहण कर स्वर्ग को हीं परमवस्तु (परम पुरुषार्थ) मानते हैं एवं स्वर्ग से अतिरिक्त दूसरा कुछ (आत्मज्ञान या मोक्ष) जो है उसे स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु सिद्धान्त यह है कि स्वर्ग आदि वस्तु में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि वे अनित्य तथा क्षयशील है। चित्तशुद्धि करने वाला वैदिक कर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिए वेद में स्वर्गादिफल की प्रशंसा की गई है, अतः स्वर्गादि के सम्बन्ध में वेद की सभी वाणी अर्थवाद-मात्र है, यही सिद्ध होता है। किन्तु जो लोग अत्यन्त बहिर्मुख हैं तथा भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त है उनका चित्त या विवेक ज्ञान उस अर्थवाद के द्वारा अपहृत (भ्रान्त) होता है अतः ज्ञानविषया या निष्कामकर्मयोगविषया निश्चयात्मिका बुद्धि उनकी समाधि में (अन्तःकरण में) उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः निष्काम कर्म से उत्पन्न चित्तशुद्धि के अभाव में अथवा सांख्यबुद्धि-जनित तत्त्वज्ञान के अभाव में वे लोग परमात्मा के साक्षात्कार से वंचित होकर संसार चक्र में भ्रमण करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

(४) नीलकण्ठ—भोगैश्वर्यगतिं प्रति जन्मकर्मफलप्रदाम्—जिस पुरुष ने भोग तथा ऐश्वर्य प्राप्त किया है उन भोग तथा ऐश्वर्य की वासना से वासित होकर पुनः भोग तथा ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए जन्म ग्रहण करते हैं एवं इसलिए कर्म करते हैं एवं उसके भोगादि को भी प्राप्त होते हैं। ऐसे भोग तथा ऐश्वर्य को प्राप्त होकर उसके लिए अधिकतर वासना होती है। वासना के कारण जन्म, कर्म तथा भोग होता है। भोग के संस्कार से पुनः वासना एवं वासना से जन्मकर्मभोग—बराबर इस प्रकार का चक्र चलता रहता है। क्रियाविशेषबहुलां—ज्योतिष्टोम आदि विशेष विशेष यागादि कर्म बहुत वित्त के (धन के) व्यय से तथा बहु प्रयत्न से साध्य होने पर भी उन कर्मों में (सकाम पुरुष) फल के लोभ से आसक्त रहते हैं। पुष्पितां—पुष्पित वृक्ष (पलाश वृक्ष) जिस प्रकार दूर से रमणीय होता है किन्तु वस्तुतः वह निष्फल (गन्धहीन) है, उस प्रकार। समाधौ—समाधि के अनुष्ठान के काल में व्यवसायात्मिका बुद्धिः—शुद्ध चिन्मात्राकार बुद्धि न विधीयते—नहीं होती है। विरक्त पुरुष की ही बुद्धि समाधि में चिन्मात्राकार होती है किन्तु भोगासक्त पुरुष की वैसी कभी भी नहीं होती है।

[पूर्व के तीन श्लोकों में सकाम कर्मी के आशयदोष (चित्त का दोष अर्थात् भोगवासना) रहने के कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं हो

सकती है, यह कहा गया है। अब प्रश्न है जो लोग निष्कामकर्मी है वे लोग यदि यागयज्ञादि कर्म करें तब वह कर्म अवश्य ही स्वर्गादि फलप्रसव करेंगे क्योंकि फल उत्पन्न करना ही कर्म का स्वभाव है। और फल उत्पन्न होने से उसे भोग करने के लिए संसारगति भी अनिवार्य है। दोनों का ही अर्थात् सकामकर्मी तथा निष्कामकर्मी दोनों को ही यदि स्वर्गादिफल भोग करन पड़े तब ज्ञान का प्रतिबन्धक तो समान ही रहेगा। अतः निष्कामकर्म का विशेषत्व क्या है ? (मधुसूदन)। इसके उत्तर में कह रहे हैं]—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः त्वं निस्त्रैगुण्यः, निर्द्वन्द्वः, नित्यसत्त्वस्थः, निर्योगक्षेमः, आत्मवान् भव।

अनुवाद—हे अर्जुन ! वेद (वेद का कर्मकांड) सभी त्रिगुण के द्वारा उत्पन्न विषय अर्थात् अनित्य संसाररूप फल को प्रदान करता है (वह संसार से मुक्ति प्राप्त करने का साधन नहीं है)। अतः तुम निस्त्रैगुण्य होओ (निष्काम होओ—सभी विषय ही त्रिगुणात्मक है अतः विषय में आसक्तिहीन होओ), निर्द्वन्द्व होओ (सुख तथा दुःखरूप द्वन्द्व का कारण जो शीतोष्णादि है उसमें सहनशील होओ), नित्यसत्त्वस्थः (सर्वदा सत्त्वगुण को आश्रय करके रहो), निर्योगक्षेम [योग—अलब्ध वस्तु की प्राप्ति एवं क्षेम—लब्धवस्तु का रक्षण; (योग तथा क्षेम के लिए प्रयत्नविहीन होओ)], आत्मवान् होओ (अप्रमत्त होओ। प्रमाद अर्थात् स्वधर्मानुष्ठानरूप कर्त्तव्य कर्म में आलस्यरूप प्रमाद ताकि नहीं रहें)।

दीपिका। हे अर्जुन !—हे शुद्धस्वभाव ! तुम्हारे लिए मिथ्या में आसक्त होना असम्भव है। निष्कामरूप से स्वधर्मरूप युद्ध करके भी तुम संसार से मुक्त हो सकोगे, इसे सूचित करने के लिए भगवान् ने यहाँ अर्जुन कहकर सम्बोधन किये। वेदाः—समस्त वेद अर्थात् वेद के कर्मकांडों के समस्त विभाग। [यहाँ वेद शब्द के द्वारा वेद का कर्मकांड गृहीत हुआ है, (आनन्दगिरि)] त्रैगुण्यविषयाः—त्रैगुण्य अर्थात् सत्त्वः, रजः तथा तमः इन तीनों गुणों की क्रिया से उत्पन्न काममूल संसार [सत्त्व, रजः तथा तमः इन तीन गुणों के समाहार को त्रैगुण्य कहा जाता है। इन तीनों गुणों से पुण्य, पाप एवं पुण्यपापों से मिश्रित कर्म होता है। और उन कर्मों के फलभोग

करने के लिए संसार में जन्ममृत्युरूप प्रवाह में जीव को भ्रमण करना पड़ता है। अतः सत्त्वः, रजः तथा तमः—ये तीन गुण कर्म तथा कर्मफलों के साथ समन्वित (युक्त) होकर संसार की सृष्टि करता है इसलिए त्रैगुण्य शब्द का अर्थ है संसार (आनन्दगिरि)।

वेद का कर्मकांड 'त्रैगुण्य विषय' है क्योंकि वेद का कर्मकांड यही प्रकाश या प्रतिपादन करता है कि, जो व्यक्ति जिस प्रकार के फल को कामना कर (सांसारिक वस्तु की कामना कर) विशेष-विशेष वैदिक कर्मादि (याग यज्ञादि) करते हैं वे लोग वैसा ही फल प्राप्त करते हैं। पहले तीन श्लोकों में कहा गया है कि विवेकबुद्धिरहित एवं कामात्मा (विषयवासनापरायण) पुरुष लोग वेद के द्वारा प्रतिपादित इस कर्मकांड में ही रत रहते हैं एवं वे लोग विशेष विशेष फल की प्राप्ति के लिए ही विशेष विशेष कर्म का अनुष्ठान करते हैं। अतः उनकी चित्तशुद्धि नहीं होती है। इसलिए वे आत्मानात्म-वस्तु का विवेकसाधन कर परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः उनके संसाररूप फल की प्राप्ति निश्चितरूप से होती है। [अब प्रश्न होगा कि संसारगति का परिवर्जन करने के उपायस्वरूप विवेक की सिद्धि के लिए क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

निस्त्रैगुण्यः (भव)—निष्काम होओ। काम ही संसार का मूल है। कामना न रहने से कर्म करके भी त्रैगुण्य अर्थात् संसाररूप फल की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र'। अर्थात् जो व्यक्ति 'मन्यमान' होकर (अर्थात् काम्यवस्तुओं के गुणों की आलोचना करते करते) काम्य वस्तुओंको प्राप्त करने की इच्छा करता है वह व्यक्ति विषयवासनारूप कामना के द्वारा वेष्टित होकर ही जन्मग्रहण करता है। अतः कर्म के मूल में यदि वासना न रहे तब वह कर्म जन्म मरण का हेतु नहीं होता है। [इसके द्वारा कर्म का स्वभाव ही संसार है—अर्थात् कर्म करने से ही संसारगति को प्राप्त करना पड़ेगा, यह मत निरस्त हुआ। (मधुसूदन)]

निर्द्वन्द्वः—[द्वन्द्व=सुख तथा दुःख का कारण शीतोष्णादि (अर्थात् शीत-उष्ण मान-अपमान, शत्रु-मित्र इत्यादि) परस्पर विरोधी युग्म (दो) पदार्थ]। उस द्वन्द्व से निर्गत होओ अर्थात् शीतोष्णादि से उत्पन्न सुख तथा दुःख से रहित होओ। [निस्त्रैगुण्य (निष्काम) होने के लिए अर्जुन को पहले उपदेश दिया गया है किन्तु आशंका हो सकती है कि शीतोष्ण प्रभृति

द्वन्द्व के प्रतीकार के लिए वस्त्र आदिओं की अपेक्षा रहती है एवं वही यदि हो तब निस्त्रैगुण्य (निष्काम) होना किस प्रकार सम्भव है ? इसीलिए कह रहे हैं २।१४ श्लोक में 'मात्रास्पर्शास्तु' इत्यादि के द्वारा जिस नियम के बारे में कहा गया है उस नियम के अनुसार निर्द्वन्द्व होओ अर्थात् शीत, उष्ण दुःख प्रभृति द्वन्द्व सहन करो, तभी ही उनके प्रतीकार के लिए किसी वस्तु का प्रयोजन या कामना नहीं रहेगी। अब प्रश्न है दुःख असहनीय होने पर उसे किस प्रकार सहन करूँ ? उसके उत्तर में कह रहे हैं— (मधुसूदन)]

नित्यसत्त्वस्थः (भव)—सर्वदा सत्त्वगुणाश्रित होओ। सत्त्वगुणों से सम्पन्न होने पर स्वभावतः सात्त्विक धृति की प्राप्ति होती है एवं मन, प्राण, इन्द्रिय क्रिया को निश्चलरूप से धारण कर अविच्छिन्न योगसाधन सम्भव है (गीता १८।३३) किन्तु जिसका धैर्य रजः तथा तमोगुण के द्वारा अभिभूत होता है वह ऐसा सोचकर कि 'शीतोष्णादि के कष्ट से मैं मर जाऊँगा' धर्म से विमुख होता है अर्थात् उसके धैर्य की कोई स्थिरता नहीं रहती है। इसलिए कहा गया है 'नित्यसत्त्वस्थ होओ'। अथवा—नित्य शब्द का अर्थ है स्थिर, अचल एवं सत्त्व शब्द का अर्थ है धैर्य। इसलिए 'नित्यसत्त्वस्थः भव' इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—'स्थिर अचल धैर्य में स्थित होओ'। (मधुसूदन) उभय अर्थ के तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। [अब प्रश्न होगा कि अच्छा शीतोष्णादि को तो सह लिया किन्तु जीवन रक्षा के लिए (क्षुधा, तृष्णा, प्रभृति के प्रतिकार के लिए) अलब्ध वस्तुओं को (जो नहीं है उसे) प्राप्त करना पड़ेगा एवं लब्ध वस्तु को (जो है उसे) रक्षा करना पड़ेगा। अतः उसके लिए अगर प्रयत्न करे तब तो रजः तथा तमोगुण को अवश्य ही आश्रय करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में 'नित्यसत्त्वस्थ' होना किस प्रकार सम्भव है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं (मधुसूदन)] निर्योगक्षेमः (भव)—अलब्ध वस्तु की प्राप्ति को योग—एवं लब्ध वस्तु की रक्षा करने का नाम है क्षेम तुम इस प्रकार के योग तथा क्षेम से शून्य होओ। योग तथा क्षेम ही जिसके जीवन का प्रधान लक्ष्य (उद्देश्य) है उसकी प्रवृत्ति श्रेयोमार्ग में (अर्थात् मोक्षमार्ग में) होना दुष्कर है। अतः तुम योगक्षेम रहित होओ [अर्थात् चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने वाले परिग्रहों से शून्य होओ। तब तुम्हें सत्त्वगुण के आश्रय को परित्याग कर रजः तथा तमोगुणों के द्वारा अभिभूत नहीं होना पड़ेगा। अब शंका होगी कि तब प्राण धारण करना

किस प्रकार से सम्भव है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—(मधुसूदन)] आत्मवान् भव—अप्रमत्त होओ अर्थात् प्रमाद से शून्य होओ। विषयभोग की वासना के द्वारा वशीभूत होकर कर्त्तव्य कर्म में जो आलस्य (या असावधानता) होता है उसे प्रमाद कहा जाता है। [केवल परमात्मा ही जिनके ध्येय के रूप में एवं योगक्षेम के निर्वाहक के रूप में विद्यमान रहते हैं एवं परमात्मा के ध्यान के विषय में जो प्रमादशून्य रहते हैं उस व्यक्ति को आत्मवान् (अप्रमत्त) कहा जाता है (मधुसूदन)]। आत्मचिन्तन ही एकमात्र मनुष्य जीवन का प्रधान कर्त्तव्य है। जीवन रक्षा करना या दूसरे किसी सांसारिक विषय के लिए यदि मन आत्मा से विच्युत हो जाय तभी ही समझना पड़ेगा कि मुमुक्षु में 'प्रमाद' उपस्थित हुआ है। ऐसे प्रमाद से अपनी रक्षा करो। योगक्षेम के लिए तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो परमेश्वर सभी के अन्तर्यामी हैं वे हो सभी के योग क्षेम आदि निर्वाह करते हैं अतः 'मैं सभी कामनाओं को परित्याग कर परमेश्वर की आराधना कर रहा हूँ, वे ही मेरी देहयात्रा के लिए सभी प्रकार के प्रयोजनों की व्यवस्था करेंगे' ऐसा दृढ़ विश्वास लेकर सभी कामनाओं का परित्याग कर तुम निश्चिन्त होकर एकमात्र ब्रह्म (आत्मा या परमेश्वर को ही) निरन्तर ध्येय वस्तु रखकर उसी में हो निमग्न रहो, 'भव' शब्द का यही तात्पर्यार्थ है। [श्लोक में 'भव' शब्द को निर्द्वन्द्वादि प्रत्येक विशेषण के साथ समन्वित (युक्त) रखकर अर्थ करना पड़ेगा। (आनन्दगिरि)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यदि कहो कि स्वर्गादि यदि परम फल ही न हो तब तत्साधनभूत कर्मादि का विधान वेदोंने क्यों किया ? इसके उत्तर में कह रहे हैं] वेदाः त्रैगुण्यविषयाः—सभी वेद त्रिगुणात्मक है। जो लोग सकाम हैं, (अर्थात् इहलोक में तथा परलोक में विषय भोग की कामना करते हैं) उन अधिकारियों को ही वेद विषय बना लेता है, क्योंकि वे लोग जिन फलों की कामना करते है उन फलों के साथ कौन कौन कर्मों का सम्बन्ध है, उसे वेद में (वेद के कर्मकांड में) प्रतिपादित किया गया है। हे अर्जुन—हे शुद्धबुद्ध निस्त्रैगुण्यः भव—तुम निष्काम होओ। [निष्काम होने का क्या उपाय है वह अत्र कहा जा रहा है—] निर्द्वन्द्वः—सुखदुःख, शीतोष्ण, मानापमान इत्यादि युगल रूप जो रहता है उसे द्वन्द्व कहा जाता है। तुम सुखदुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वभावों से रहित होओ अर्थात् उन्हें सहन करो, [किस प्रकार इस द्वन्द्व को सहन किया जा सकता है अर्थात् द्वन्द्वातीत

होना सम्भव है यह कहा जा रहा है] नित्यसत्त्वस्थः सन्—नित्य (सर्वदा) सत्त्व में (धैर्य में) स्थित रहकर अर्थात् धैर्य अवलम्बन कर द्वन्द्व सहन करो। एवं साथ साथ निर्योगक्षेमः भव—अप्राप्त वस्तु को स्वीकार करने का नाम है योग और प्राप्त वस्तु की रक्षा करने का नाम है क्षेम। तुम योग तथा क्षेम से रहित होओ [अर्थात् प्रारब्ध के अधीन होकर जो तुम्हें प्राप्त नहीं हुआ है उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न मत करो एवं जो प्राप्त हुआ है उसके रक्षण के लिए भी चेष्टा मत करो]। किस प्रकार निर्योगक्षेम होना सम्भव है वह कहा जा रहा है आत्मवान् भव—अप्रमत्त (प्रमादशून्य) होओ। [मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है आत्मतत्त्वज्ञान। अतः आत्मनिष्ठा में प्रमादी (असावधान) मत होओ]। जो व्यक्ति द्वन्द्वाकुल होता है, योग-क्षेम में व्याप्त है, एवं प्रमादी है उसके लिए आत्मनिष्ठ होकर त्रैगुण्य को (संसार गति को) अतिक्रम करना सम्भव नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) शंकरानन्द—[वेदवाक्य का उपक्रम, उपसंहार आदि में अवान्तर (गौण) तात्पर्य एवं महत् (प्रधान) तात्पर्य क्या है ? इसे जो लोग नहीं जानते हैं वे लोग वेद के अर्थवाद (स्वर्गादि के स्तुति परक) वाक्य के द्वारा मोहित होकर स्वर्गादि के लिए कामना के वशीभूत होने के कारण योग-बुद्धि प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं एवं इसलिए वे लोग ईश्वर से अनुग्रह भी नहीं प्राप्त करते हैं। अतः उनको संसार गति से विरति भी नहीं मिलती है, यही श्रीभगवान् पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में प्रतिपादन कर अब सूचित कर रहे हैं कि जो लोग ईश्वर की प्रीति के लिए कर्म करते हैं ऐसे योगबुद्धिसम्पन्न मुमुक्षु को अर्थवाद आदि रूप पुरोचना कर्म में प्रवृत्त करने वाले वाक्यों के द्वारा मोहित न होकर इष्ट तथा अनिष्ट प्राप्ति में समबुद्धि होकर श्रद्धा तथा भक्ति के साथ ईश्वर की आराधनारूप वैदिक कर्मादि को करना चाहिए]। वेदाः त्रैगुण्यविषयाः—सात्त्विक, राजस तथा तामस ये तीन प्रकार के गुण हैं। राग-द्वेष-लोभ-मोहादि भी इन तीनों गुणों के ही कार्य है। इनके (त्रिगुणों) के कार्य तथा उनके फल के समाहार को त्रैगुण्य कहा जाता है अर्थात् त्रैगुण्य शब्द का अर्थ है संसार। यह त्रैगुण्य या संसार ही जिसका विषय है अर्थात् कर्म एवं कर्म के साधनादि के प्रकाशन के द्वारा (प्रतिपादन के द्वारा) संसार की वृद्धि करना ही जिसका विषय है उस वेद को अर्थात् वेद के कर्मकांड को त्रैगुण्य विषय कहा जाता है। यद्यपि वेद के विषय होने के कारण (अर्थात्

वेद के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण) यह त्रैगुण्यरूप संसार सभी का ही उपादेय (ग्रहणयोग्य) होता है तब भी जो लोग मुमुक्षु है (अर्थात् संसार से मुक्ति पाने की इच्छा करते हैं) उन्हें संसार की वृद्धिकारक कर्मों का आदर करना नहीं चाहिए, यही यहाँ कहा जा रहा है। हे अर्जुन ! निस्त्रैगुण्यः भव—हे अर्जुन ! तुम त्रैगुण्य अर्थात् संसार विषयक कामना से मुक्त होओ। चूँकि मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा कर योगबुद्धि के द्वारा युक्त होकर तुम स्वधर्म में प्रवृत्त हुए हो इसलिए निस्त्रैगुण्य होओ अर्थात् जो सब श्रुतिवाक्य स्वर्गादि की प्रशंसा कर कर्म में पुरोचित (प्रवृत्त) करते हैं तथा रागद्वेषादि की उत्पत्ति करते हैं, उस रागद्वेष आदि की जिसमें प्रधानता रहती है उस (काम्य) कर्म से एवं उन सभी कर्मों के फल से निष्क्रान्त (मुक्त) होओ। [किस प्रकार निस्त्रैगुण्य होना सम्भव है वह अब कहा जा रहा है—] निर्द्वन्द्वः भवः—रागद्वेष आदि उत्पन्न होते हैं दो (द्वन्द्व) पदार्थ से। इष्टबुद्धि से राग तथा अनिष्ट बुद्धि से द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस इष्ट तथा अनिष्ट में समबुद्धि प्राप्त कर ये दो (द्वन्द्व) से निर्मुक्त होओ। [अभिप्राय यह है कि किसी विषय में इष्ट या अनिष्ट बुद्धि न रहने पर राग तथा द्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती और राग तथा द्वेष न रहने पर वेद के द्वारा प्रतिपादित सकाम कर्मों में आसक्ति नहीं रहेगी एवं सकाम कर्मों का अनुष्ठान नहीं करने से उसके फल-स्वरूप त्रैगुण्यरूप संसार की प्राप्ति नहीं होगी। अब कहा जा रहा है कि निर्द्वन्द्व किस प्रकार होना सम्भव है—] नित्यसत्त्वस्थः भव—नित्य (सर्वदा) सत्त्वगुण में स्थित रहो। (मोक्ष और मोक्ष के साधन शम, दम, क्षान्ति इत्यादि सत्त्वगुण से प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए निस्त्रैगुण्य होना हो तो मुमुक्षु को सत्त्वगुण से सम्पन्न होना चाहिए। अतः कहा गया) सदा सत्त्वगुणों का आश्रय करो अर्थात् सर्वदा विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि में स्थित रहो। [किस प्रकार नित्यसत्त्वस्थ होना सम्भव है वह अब कहा जा रहा है। जो लोग योग तथा क्षेमरूप कार्य में व्याप्रृत रहते हैं उनमें राग तथा द्वेष अवश्य ही रहेगा एवं रागद्वेषादि रहने से शम-दमादि साधन सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। इसलिए मोक्ष में सिद्धिलाभ करना असम्भव है। अतः मुमुक्षु को योग तथा क्षेम इन दोनों से निर्गत होना पड़ेगा अर्थात् योगक्षेम-रहित होना पड़ेगा। इसलिए कह रहे हैं—] निर्योगक्षेमः भव—अविद्यमान को सम्पादन करना अर्थात् अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने को योग कहा जाता है और विद्यमान को पालन करना अर्थात् प्राप्त वस्तु की रक्षा करने को क्षेम कहा जाता है। प्रारब्ध के अधीन होकर (अर्थात् प्रारब्ध के कारण जो कुछ

प्राप्तव्य है वे प्राप्त होंगे तथा जो रक्षणीय है वे रक्षित होंगे ऐसा निश्चय कर) योग तथा क्षेम इन दोनों से ही निवृत्त होओ।

[किन्तु निर्योगक्षेम होने पर भी यदि दूसरे किसी विषय के अधीन होओ तब स्वधर्म की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः कहा गया-] आत्मवान् भव—श्रवण, मनन, ध्यान, कीर्तनादि विहित कार्य में जिनकी आत्मा अर्थात् मन स्थिर रहता है उन्हें आत्मवान् कहा जाता है। तुम आत्मवान् होओ अर्थात् (परमात्मा में) तुम्हारा चित्त निश्चल हो। अथवा—इस श्लोक का अर्थ निम्नलिखित रूप से भी किया जा सकता है—[यह आत्मा कभी भी जन्म ग्रहण नहीं करती है या मृत नहीं होती है। 'इस अविनाशी आत्मा को जो जानता है' (गीता २-२०-२१) ऐसे वाक्य के द्वारा प्रतिपादित सांख्य-विषया बुद्धि यदि तुममें दृढ़ रहे तब तुम्हें ऐसे रहना चाहिए—यह कहकर अब भगवान् सूचित कर रहे है कि ज्ञानियों को क्या करना चाहिए]। त्रैगुण्यविषयाः वेदाः—जिसमें सत्त्व, रजः तथा तमः ये तीनों गुण रहते हैं उसे त्रिगुण कहा जाता है अर्थात् जगत् का बीज 'अव्याकृत' को ही त्रिगुण कहा जाता है। इस अव्याकृत से उत्पन्न जगत् को 'त्रैगुण्य' कहा जाता है। इस त्रैगुण्यरूप जगत् को प्रकाशित करना (प्रतिपादित करना) जिसका विषय है उसे 'त्रैगुण्य विषय' कहा जाता है। साध्य, साधन, साधक फल और देवता इन सभी जगत् का रूप है। इन सबको वेद अर्थात् वेदविहित सभी क्रिया प्रतिपादन करते हैं। इस कारण वेद को 'त्रैगुण्यविषय' कहा जाता है। हे अर्जुन ! निस्त्रैगुण्यः भव—हे अर्जुन ! जो लोग वेद, वेदोक्त कर्म और कर्मफल में प्रवृत्त रहे (अर्थात् आसक्त रहे) उन लोगों की द्वैतबुद्धि का नाश नहीं होने के कारण वे लोग अद्वैतज्ञान, तथा ज्ञाननिष्ठा एवं उसका फल जो मोक्ष है उसे नहीं प्राप्त करते हैं। अतः विद्वान् व्यक्तियों का उन सबसे निष्क्रान्त होना कर्त्तव्य है। अतः तुम भी 'वेदानिमं लोकममूं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' [वेद एवं इहलोक तथा परलोक अर्थात् इहलोक एवं परलोक के समस्त काम्य वस्तुओं को त्याग कर आत्मा को (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के लिए ऐसा करो] इस स्मृतिवचन के अनुसार वेद, वेदोक्त कर्म एवं उनके द्वारा प्रतिपादित त्रैगुण्यरूप संसार से निष्क्रान्त होओ अर्थात् उन्हें संन्यास या त्याग करो। [किन्तु उन्हें संन्यास (त्याग) करने पर भी बहिर्मुखी होने के कारण जिनकी द्वैत में सत्यत्व बुद्धि रहती है उनकी ब्रह्म में निष्ठा नहीं होती है एवं उसके फलस्वरूप वे तत्त्वज्ञान से भ्रष्ट होकर मोक्षरूप फल से वंचित हो जाते हैं। अतः ज्ञानियों को द्वैत का अवलम्बन

(आश्रय) नहीं करना चाहिये अर्थात् द्वैतबुद्धि त्याग करना पड़ेगा, इसे स्पष्ट करने के लिए कह रहे हैं—] निर्द्वन्द्वः भव—नाम तथा रूप ही द्वन्द्व हैं (द्वैत हैं)। सर्वत्र नाम तथा रूप के ग्रहण से निवृत्त होओ (अर्थात् नाम तथा रूप ग्रहण नहीं करना चाहिये)। [शंका होगी कि निद्रित होने पर सुषुप्ति अवस्था में ही नाम तथा रूप का ग्रहण करना सम्भव नहीं होता है (किन्तु जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में द्वैत का (नाम तथा रूप का) भान अवश्य ही होगा)। अतः सर्वदा निद्रित रहना ही तो अच्छा है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] नित्यसत्त्वस्थः भव—सत् के भाव को सत्त्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूप को सत्त्व कहा जाता है। तुम नित्य (सर्वदा) उस सत्त्व में (ब्रह्म-स्वरूप में) स्थित होओ अर्थात् सर्वदा ब्रह्म का अनुसन्धान करो। [ब्रह्म-ज्ञानी की शरीरयात्रा भी ब्रह्म दृष्टि के द्वारा ही करना चाहिये, बाह्य दृष्टि के द्वारा नहीं इसे सूचित करने के लिये कहा जा रहा है—] निर्योगक्षेमः भव—वर्तमान देह की साँप, काँटे आदि से रक्षा करने का नाम है क्षेम और उसके अनुकूल द्रव्य सम्पादन (संग्रह) करने का नाम है योग। ये दोनों ही प्रारब्ध के अधीन है और आत्मा की दृष्टि में देह का वास्तविक कोई अस्तित्व नहीं है; अतः अधिष्ठान के (ब्रह्मस्वरूप आत्मा के) ज्ञान के बल के द्वारा उन योग तथा क्षेम से मुक्त होओ। [ब्रह्म निष्ठा में कभी भी प्रमाद नहीं हो इसलिए कह रहे हैं] आत्मवान् भव—ब्रह्माकारा बुद्धि को आत्मा कहा जाता है। तुम उसी बुद्धि के बल से आत्मवान् होओ अथवा तुम्हारी अहं बुद्धि का विषय आत्मा ही हो—अनात्मा (देहादि) ताकि कभी भी प्रमादवश तुम्हारी अहं बुद्धि का विषय न हो अर्थात् अनात्मा में (देहादि में) ताकि अहं बुद्धि (मैं देह हूँ इत्यादि बुद्धि) कभी भी तथा कहीं भी न हो।

(३) नीलकण्ठ—त्रैगुण्यं—तीनों गुणों का कार्य ऊर्ध्व, मध्य तथा अधोगतिरूप संसार है। निस्त्रैगुण्यं—निस्त्रैगुण्य का लक्षण क्या है ? वह वह अब कह रहे हैं—निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ इत्यादि। निर्द्वन्द्वः—सुखदुःख में, मानापमान में, शत्रुमित्र में, शीतोष्ण में सर्वत्र समबुद्धि। निर्योगक्षेमः—योग (अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति) एवं क्षेम (प्राप्तवस्तु का संरक्षण)—ये, दोनों ही प्रारब्ध के अधीन है यह निश्चय कर उनसे निर्गत होओ अर्थात् उनके लिए चेष्टारहित होओ।

(४) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त जो पुरुषों के सम्बन्ध में कहा गया है एवं जो लोग 'जन्मकर्मप्रद' अनेक क्रियाविशेषों का अनुष्ठान करते हैं उनके लिए ही वेद त्रैगुण्यविषय है

अर्थात् वेदविहित कर्मकांड सकाम कर्मीयों को ही संसाररूप विषय को प्राप्त कराता है। इसमें वेद का कोई पक्षपातित्व नहीं है। वेद के कर्मकांड के अनुसार सकाम भाव से कर्म करने से ही संसार गति की प्राप्ति होती है। फिर वह कर्म ही निष्कामरूप से भगवदर्पण बुद्धि में अनुष्ठान करने से चित्तशुद्धि की प्राप्ति कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर संसारगति से मुक्त होना सम्भव है। अतः संसार की गति का कारण वेदविहित यागादि कर्मकांड नहीं है, सकाम कर्मी की वासना ही त्रैगुण्य का (संसार का) मूल कारण है। प्रश्न होगा—वेदविहित कर्म करके भी यदि दुःखमय संसार में भ्रमण करना है तब अनेक अर्थव्यय तथा प्रयत्नसाध्य वैदिक कर्म की सार्थकता क्या है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि मनुष्य संस्कार के वश में आकर जो कर्म करता है उसकी परिणति है अधोगति क्योंकि साधारणतः मनुष्य को जो चीज प्रिय लगती है उसे ही वे लोग किया करते हैं, श्रेयः या कल्याण की प्राप्ति किस प्रकार होगी इस ओर उनलोगों का ध्यान प्रायः नहो रहता है। वेद शब्द का अर्थ है जानना (विद्—जानना)। यह जानने की क्रिया दो प्रकार की होती है। (क) सत्य को सत्य के रूप में जानना (ख) मिथ्या को मिथ्या के रूप में जानना। स्वाभाविक प्रवृत्ति के वश में विषयासक्त होकर मनुष्य जो कुछ करता है उसके मूल में रहता है अज्ञान अर्थात् सत्य को (नित्य सत्य आत्मा को) मिथ्या के रूप में जानना तथा मिथ्या को (काल्पनिक जगत् को एवं जागतिक विषय को) सत्य मानना। एक ओर वेद ने जिस प्रकार विषयासक्त अज्ञानी पुरुष का अभ्युदय (संसार में वृद्धि) किस प्रकार हो यह निर्णय कर कर्मकांड का (यागयज्ञादिका) विधान किया है, उसी प्रकार दूसरी ओर निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्ति करने के लिए उपासना तथा ज्ञानकांड के द्वारा पारमार्थिक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का उपाय निर्धारण किया है। तमः तथा रजो गुण से विशिष्ट मनुष्य में चित्तशुद्धि न रहने के कारण ज्ञान के उपदेश को वे धारण नहीं कर सकते हैं अथवा मन स्थिर कर उपासना भी नहीं कर सकते हैं। जिससे इस प्रकार तमः तथा रजो गुणों से विशिष्ट लोग स्वाभाविक प्रवृत्ति की उच्छृंखलता से विरत होकर वेदमार्ग का अनुसरण कर पहले वेदवाणी में श्रद्धावान् होकर बाद में उपासना तथा ज्ञानकांड के प्रति भी श्रद्धावान् हो सके इसलिए वेद ने कर्मकांड का विधान किया है। वेद की वाणी को मनन करने से संसार से त्राण मिल सकता है इसलिए उसे मन्त्र—कहा जाता है तथा वेद की प्रत्येक विधि निषिद्धकर्म से (अर्थात् पाप से) आच्छादन (रक्षा) करता है इसलिए प्रत्येक मन्त्र का

विशेष छन्द है। इसलिए छन्द के साथ वेदमन्त्र के द्वारा अनुष्ठित कर्म मात्र ही पापक्षय करने में समर्थ होता है। इस प्रकार वैदिक कर्म का दीर्घकाल तक अनुष्ठान के द्वारा विषय तथा भोग में आसक्त रजः तथा तमोगुण से विशिष्ट व्यक्ति भी क्रमशः सात्त्विक गुण सम्पन्न होकर विवेक वैराग्यवान् हो जाता है एवं भगवान् के भजन का अधिकारी हो जाता है। स्वयं भगवान् भी कहेंगे–'येषां त्वन्तगतं पापम्' इत्यादि (गीता ७।२८) अर्थात् जिस पुरुष ने पुण्य-कर्म के द्वारा पाप को प्राय समाप्त (नष्ट) किया है वही (पुण्यकर्म के द्वारा चित्त शुद्धि प्राप्त कर) द्वन्द्वमोह से विमुक्त होकर दृढ़तर होकर मेरा (परमात्मा का) भजन करता है। अतः वेद करुणामयी माता की तरह स्वाभाविक राग, द्वेष, मोह से युक्त प्रवृत्ति के द्वारा चालित जीव को स्वर्गादि फल का लोभ दिखाकर ताकि वेद विहित यागादि पुण्य कर्मों में प्रवृत्त होकर जीव क्रमशः रज तथा तमोगुण से रहित होकर सात्त्विकगुण में प्रतिष्ठित होकर मोक्ष प्राप्त कर सके, इसलिए ही कर्मकांड का विधान किया है। इस प्रकार वैदिक मार्ग का अनु-सरण करते हुए जो लोग उन यज्ञादि कर्मों को निष्कामरूप से करते हैं वे लोग शीघ्र ही चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार करते हैं।

वेद 'त्रैगुण्यविषय' उनके लिए है जो लोग 'कामात्मानः स्वर्गपराः भोगैश्वर्यप्रसक्ताः' है (गीता २।४२-४४) क्योंकि वे लोग त्रैगुण्य के (सत्त्व, रजः तथा तमः—इन तीनों गुणों से उत्पन्न सांसारिक) विषय में ही अनुरक्त रहते हैं। पुनः वही वेद ही 'निस्त्रैगुण्य विषय' उनके लिए है जो लोग त्रिगुणातीत नित्य सत्य निर्द्वन्द्व निष्क्रिय अविकारी परमात्मा को ही सभी कर्म का विषय (लक्ष्यवस्तु) मानते हैं। इसलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि तुम 'त्रैगुण्य' न होकर निस्त्रैगुण्य होओ। आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित न होने पर कोई भी गुणातीत अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति एवं आत्मज्ञान में स्थिति का प्रधान प्रतिबन्धक काम ही है। अतः 'निस्त्रैगुण्यः भव' पद का अर्थ है त्रैगुण्य को (संसार गति को) परिहार करने के लिए आत्मज्ञान प्राप्त करने का जो साक्षात् उपाय चित्तशुद्धि है उसके लिए निष्काम रूप से कर्म करो। 'निस्त्रैगुण्यो भव' इस वाक्य के द्वारा भगवान् अर्जुन को वेदविहित कर्त्तव्य कर्म को त्याग करने के लिए नहीं कहे हैं क्योंकि अर्जुन का तभी भी कर्म में ही अधिकार था, ज्ञाननिष्ठा में नहीं। इसलिए परवर्ती ४७ वें श्लोक में ही कहे हैं 'माते संगोऽस्त्वकर्मणि' (कर्म न करने में तुम्हारी रुचि या आसक्ति न हो)। किन्तु कर्त्तव्य कर्म करते हुए भी कर्मफल की आकांक्षा त्याग करने को कहे हैं—(मा कर्मफलहेतुर्भूः)

क्योंकि जब मनुष्य कर्मफल की कामना के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करता है तब वह सकामकर्मी कर्मफल रूप पुनर्जन्म का अर्थात् संसारगति या त्रैगुण्य का हेतु (कारण) होता है।

त्रैगुण्य का (गुणातीत आत्मस्वरूप का) लक्षण क्या है वह अब कहा जा रहा है। सिद्ध पुरुष का जो लक्षण हो, साधक का वही साधन (कर्त्तव्य) है। निर्द्वन्द्वः भव—सुख दुःख, मानापमान इत्यादि परस्पर विरुद्ध युगलभाव त्रैगुण्य का (संसार का) स्वाभाविक रूप है उससे निर्गत (मुक्त) होओ अर्थात् सर्वत्र समबुद्धि होओ। किस प्रकार से निर्द्वन्द्व होओगे ? इसके उत्तर में कह रहे हैं नित्यसत्त्वस्थः भव—सदाही सत्त्वगुण में स्थित रहो। तब द्वैत या द्वन्द्व नाम का कुछ भी नहीं रहेगा। जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त न हो तबतक सुखदुःख शीतोष्णादि सभी द्वन्द्व को सात्त्विक धैर्य (गीता १८।१२) अवलम्बन कर सहन करा। कब समझूँगा कि नित्यसत्त्वस्थ हुआ हूँ ? उत्तर में कह रहे हैं–निर्योगक्षेमः भव–देहादि में आत्मबुद्धि कर देहादि की सुख सुबिधा तथा रक्षा के लिए जो कुछ प्रयत्न किया जाता है उसके मूल में रहता है रजः तथा तमः गुण। अतः परमेश्वर की इच्छा या प्रारब्ध के कारण भोग तथा आयु निश्चित ही है—यह बुद्धि में दृढ़ रखकर योग (किसी वस्तु की प्राप्ति के) एवं क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा)—इन दोनों के लिए कोई चेष्टा मत करो। देहादि का भरण पोषण तथा रक्षा सब कुछ ही परमात्मा के हाथ में समर्पण कर केवल परमात्मा का ही आश्रय लो—परमात्मा की प्रीति के लिए कर्म करो एवं परमात्मा में ही सभी कर्मफल को अर्पण करो। इसप्रकार परमात्मा में एकान्त निर्भरता तथा निरन्तर परमात्मा को स्मरण करने से ही तुम रजः तथा तमोगुण का कार्य जो योगक्षेम है उससे निरस्त हो सकोगे एवं उसके फलस्वरूप क्रमशः नित्यसत्त्वस्थ होकर निर्द्वन्द्व होकर, निस्त्रैगुण्यावस्था को प्राप्त करोगे। निर्योग क्षेम होने का सामर्थ्य किस प्रकार से प्राप्त करूँगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—आत्मवान् भव—अप्रमत्त होकर आत्मनिष्ठ होओ। आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है और सब ही काल्पनिक तथा मिथ्या है ऐसे विचार में अप्रमत्त होकर (अर्थात् सावधान होकर) देहादि मिथ्या वस्तु में कभी भी आत्म (अहं) बुद्धि न कर निरन्तर नित्य सत्य आत्मा में ही मग्न रहो। नित्य साक्षी (विज्ञाता) चैतन्यस्वरूप आत्मा में 'अहं' बुद्धि दृढ़ होने पर देहात्माभिमान नष्ट हो जाता है एवं तब स्वतः ही योगक्षेम के लिए प्रवृत्ति भी शान्त हो जाती है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद आत्मा आत्मा का ही भजन करती है,

आत्मा को ही भक्ति प्रेम करती है। इसे ही निर्गुण भक्ति या पराभक्ति कहा जाता है। अद्वैतज्ञान के बाद ऐसी निर्गुण (परा) भक्ति जब अव्यभिचारिणी रहती है अर्थात् निरन्तर रहती है तब उस अवस्था को 'निस्त्रैगुण्य' कहा जाता है। तुम (अर्जुन) निस्त्रैगुण्य होओ अर्थात् वेदविहित कर्त्तव्य कर्म को निष्काम रूप से अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर अद्वैतज्ञान प्राप्त होकर पहले आत्मवान् होओ (आत्मतत्त्व में निष्ठालाभ करो) एवं क्रमशः निर्योग-क्षेम, नित्यसत्त्वस्थ तथा निर्द्वन्द्व होकर निस्त्रैगुण्य होओ अर्थात् गुणातीत मुझमें (परमात्मा में) निरन्तर स्थित रहो। यही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है।

[४२–४४ वें श्लोक में सकाम कर्म की निन्दा की गई है। ४५ वें श्लोक में निष्काम होने के लिए कहा गया है। अब प्रश्न है कि वेदोक्त कर्मों के विशेष विशेष फलों के बारे में जो कहा गया है उसकी कामना यदि मुमुक्षु व्यक्ति परित्याग करे तब उस कर्मफल का जो असाधारण सुख है उससे वे क्या वंचित नहीं होंगे ? और यदि उन कर्मों के परिणाम (फल) की कामना नहीं रहे तब मुमुक्षु व्यक्ति ईश्वरार्पण बुद्धि में उन कर्मों को क्यों करेगा ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि ब्रह्मानन्द में (मोक्षानन्द में) सभी कर्मजन्य आनन्द अन्तर्भूत रहता है इसलिए निष्कामकर्मी कर्मजन्य आनन्द से वंचित नहीं होते हैं]।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

अन्वय—उदपाने यावान् अर्थः सर्वतः संप्लुतोदके तावान् अर्थ (भवति), एवं सर्वेषु वेदेषु यावान् अर्थः तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति)।

अनुवाद—क्षुद्र क्षुद्र अनेक जलाशयों में (कुएँ आदि में) जिन प्रयोजनों की सिद्धि होती है, एक जल से परिपूर्ण बृहत् जलाशय में उन प्रयोजनों की सिद्धि (अनायास ही) हो सकती है। उस प्रकार सभी वेद में (वेदोक्त कर्मसमूहों में) जिन फलों की प्राप्ति होती है वे सभी ही ब्रह्मज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण को (अनायास) प्राप्त होता है। [जितने प्रकार के परिच्छिन्न सुख हैं वे सभी ही एक अखंड ब्रह्मानन्द में अन्तर्भूत रहता है, यही कहने का तात्पर्य है।]

दीपिका—उदपाने—लोक में अर्थात् संसार में कूप, तड़ाग प्रभृति अनेक परिच्छिन्न (स्वल्प) जलाशय में यावान्—यावत् परिमाण अर्थः—

स्नान पान प्रभृति फल या प्रयोजनों की सिद्धि होती है। [संसार में देखा जाता है कि किसी तड़ाग में अर्थात् छोटे तालाब या कूएँ में स्नान किया जा सकता है किन्तु उसके पानी को पान नहीं किया जा सकता है पुनः किसी किसी तालाब या कुएँ में बर्त्तन धोए जा सकते हैं परन्तु उसके पानी में स्नान नहीं किया जा सकता है अर्थात् एक ही तालाब के द्वारा सभी प्रयोजनों की सिद्धि नहीं हो सकती है—पृथक् पृथक् जलाशय में पृथक् पृथक् अर्थ (प्रयोजन या फल) सिद्ध होते हैं। इसलिए कहा गया, अनेक क्षुद्र क्षुद्र जलाशय में जिन प्रयोजन की सिद्धि होती है। ['उदकं पीयतेऽस्मिन्निति उदपानं' अर्थात् जिसमें जलपान किया जा सकता है—इस अर्थ में उदपान शब्द के द्वारा क्षुद्र जलाशय को समझाया जा रहा है। यहाँ 'उदपाने' का अर्थ क्षुद्र क्षुद्र अनेक जलाशयों को समझाये जाने पर भी जाति अर्थ में अर्थात् क्षुद्र जलाशय के जाति को लक्ष्य कर एकवचन प्रयुक्त किया गया है (मधुसूदन)]। सर्वतः संप्लुतोदके—सभी ओर से जहाँ जल आकर जल पूर्ण हो गया है उसे 'सर्वतः संप्लुतोदके' कहा जाता है। अतः 'सर्वतः संप्लुतोदके, शब्द का अर्थ है बृहत् अपरिच्छिन्न (असीम) जलाशय में अर्थात् समुद्र में (आनन्द गिरि)। तावान् अर्थः भवति—वे समस्त प्रयोजन उन्हीं परिमाण में अनायास ही सिद्ध होता है अर्थात् क्षुद्र क्षुद्र जलाशय के द्वारा जिन प्रयोजनों की सिद्धि होती है वे सभी बृहत् जलाशय में अन्तर्भूत होते हैं।

एवं सर्वेषु वेदेषु—उस प्रकार सभी वेद में अर्थात् वेदोक्त सभी कर्म में जो कर्म अर्थात् जो कर्मफल (वैषयिक सुखविशेष) प्रतिपादित हुआ है [अर्थात् कर्मफल के रूप में हिरण्यगर्भानन्द तक जिस परिमाण में प्रयोजनों की सिद्धि होती है (मधुसूदन)। तैत्तिरीय उपनिषद के ब्रह्मानन्द बल्ली में देखा जाता है कि इह लोक तथा परलोक में जितने सुख हैं उनमें हिरण्य-गर्भ का आनन्द ही सुख की चरम (शेष) अवस्था है। वेदोक्त काम्य कर्मों को करने से ऐसी किसी भी प्रयोजन (कर्मफल) की सिद्धि नहीं हो सकती है जो कि हिरण्यगर्भ के आनन्द से अधिक है। इसलिए कहा गया हिरण्य-गर्भानन्द तक जितने परिमाण में प्रयोजन हैं]। तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति)—वे समस्त अर्थ प्रयोजन तथा कर्मफल परमार्थ तत्त्वज्ञ को अर्थात् जो आत्मसाक्षात्कार किये हैं ऐसे ब्रह्मवित् संन्यासी ब्राह्मण को तावत् परिमाण में ही प्राप्त होता है। बृहत् जलाशय के सदृश विज्ञान रूप (ब्रह्मानन्दरूप) फल में क्षुद्र क्षुद्र वैदिक कर्मफल भी अन्तर्भूत हैं अर्थात् प्रविष्ट होते हैं। श्रुति में कहा है 'सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद् वेद यत् स

वेद' अर्थात् प्रजालोग (सभी लोग) जो कुछ सत् कर्म करते हैं उसका फल उस ब्रह्मज्ञान फल में प्रविष्ट रहता है। उन्हें (एक) जो जानते हैं, उस परब्रह्म को जो जानेंगे वे उन फलों को प्राप्त करेंगे। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' अर्थात् हे पार्थ ! सभी कर्म ही ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं, इसे गीता में भी (४।३३) कहेंगे। अब प्रश्न किया जा सकता है—यदि ब्रह्मज्ञान में ही सभी कर्मों का फल प्राप्त होता है तब तो शास्त्रविहित सभी कर्मों को परित्याग कर ज्ञाननिष्ठा का ही अभ्यास करना चाहिए। इसके उत्तर में कहा जा रहा है—हाँ, ज्ञाननिष्ठा का अभ्यास करने से ही सभी कर्मों का फल प्राप्त किया जा सकता है यदि उस ज्ञाननिष्ठा के लिए अधिकारी हो। परन्तु चित्तशुद्धि के बिना उस अधिकार की प्राप्ति नहीं होती है।

अतः ज्ञाननिष्ठा महाजलाशय की तरह होने पर भी जब तक उसके अधिकारी न हो सके तब तक वेदविहित कर्म (कूप तड़ाग आदि की तरह) क्षुद्र क्षुद्र फलदायक होने पर भी जिनलोगों का कर्म में ही अधिकार है उन-लोगों को अपने अपने आश्रम के अनुकूल विहित कर्मों को निष्काम रूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से (चित्तशुद्धि के लिए) अवश्य ही करना चाहिए।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—श्लोक में यथा (जिस प्रकार), तथा (उस प्रकार) एवं भवति (होता है) इन तीनों पदों का अध्याहार करना पड़ेगा एवं उपमेय अंश में 'यावान्' एवं 'तावान्' (जिस परिमाण में, उस परिमाण में) इन दोनों पदों का अनुषंग (पुनरन्वय) करना पड़ेगा।

(२) श्रीधर—[अच्छा, वेद में कहे गये अनेक फलों को त्याग कर (अर्थात् वेदविहित विशेष विशेष कर्म का जो विशेष विशेष फल प्रतिपादित किया गया है उन फलों की आकांक्षा त्याग कर) निष्कामरूप से ईश्वर की आराधना ही यदि व्यवसायात्मिका बुद्धि का विषय हो तब तो वैसी बुद्धि कुबुद्धि ही होगी ? ऐसी शंका के उत्तर में कह रहे हैं—]

उदपाने—जिसमें पानी पीया जाता है उन कूएँ, तड़ाग आदि जला-शयों को उदपान कहा जाता है अर्थात् उदपान शब्द का अर्थ है कूएँ इत्यादि क्षुद्र जलाशय। यावान् अर्थः—उन क्षुद्र जलाशयों के किसी एक में एक साथ स्नान, पान आदि असम्भव है (अर्थात् किसी में या तो कपड़े धोये जा सकते हैं, किसी में नहाया जा सकता है, तथा कोई तड़ाग या तो पीने के लिए व्यवहार किया जा सकता है)। अतः कुछ परिभ्रमण कर स्नान, पान इत्यादि प्रयोजनों को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। किन्तु इन पृथक् पृथक् क्षुद्र जलाशयों से जो अर्थ (अर्थात् प्रयोजन या फल) सिद्ध होता है सर्वतः

स्नान पान प्रभृति फल या प्रयोजनों की सिद्धि होती है। [संसार में देखा जाता है कि किसी तड़ाग में अर्थात् छोटे तालाब या कूएँ में स्नान किया जा सकता हैं किन्तु उसके पानी को पान नहीं किया जा सकता है पुनः किसी किसी तालाब या कुएँ में बर्त्तन धोए जा सकते हैं परन्तु उसके पानी में स्नान नहीं किया जा सकता हैं अर्थात् एक ही तालाब के द्वारा सभी प्रयोजनों की सिद्धि नहीं हो सकती है—पृथक् पृथक् जलाशय में पृथक् पृथक् अर्थ (प्रयोजन या फल) सिद्ध होते हैं। इसलिए कहा गया, अनेक क्षुद्र क्षुद्र जलाशय में जिन प्रयोजन की सिद्धि होती है। ['उदकं पीयतेऽस्मिन्निति उदपानं' अर्थात् जिसमें जलपान किया जा सकता है–इस अर्थ में उदपान शब्द के द्वारा क्षुद्र जलाशय को समझाया जा रहा है। यहाँ 'उदपाने' का अर्थ क्षुद्र क्षुद्र अनेक जलाशयों को समझाये जाने पर भी जाति अर्थ में अर्थात् क्षुद्र जलाशय के जाति को लक्ष्य कर एकवचन प्रयुक्त किया गया है (मधुसूदन)]। सर्वतः संप्लुतोदके—सभी ओर से जहाँ जल आकर जल पूर्ण हो गया है उसे 'सर्वतः संप्लुतोदके' कहा जाता है। अतः 'सर्वतः संप्लुतोदके, शब्द का अर्थ है बृहत् अपरिच्छिन्न (असीम) जलाशय में अर्थात् समुद्र में (आनन्द गिरि)। तावान् अर्थः भवति—वे समस्त प्रयोजन उन्हीं परिमाण में अनायास ही सिद्ध होता है अर्थात् क्षुद्र क्षुद्र जलाशय के द्वारा जिन प्रयोजनों की सिद्धि होती हैं वे सभी बृहत् जलाशय में अन्तर्भूत होते हैं।

एवं सर्वेषु वेदेषु—उस प्रकार सभी वेद में अर्थात् वेदोक्त सभी कर्म में जो कर्म अर्थात् जो कर्मफल (वैषयिक सुखविशेष) प्रतिपादित हुआ है [अर्थात् कर्मफल के रूप में हिरण्यगर्भानन्द तक जिस परिमाण में प्रयोजनों की सिद्धि होती है (मधुसूदन)। तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मानन्द बल्ली में देखा जाता है कि इह लोक तथा परलोक में जितने सुख हैं उनमें हिरण्य-गर्भ का आनन्द ही सुख की चरम (शेष) अवस्था है। वेदोक्त काम्य कर्मों को करने से ऐसी किसी भी प्रयोजन (कर्मफल) की सिद्धि नहीं हो सकती है जो कि हिरण्यगर्भ के आनन्द से अधिक है। इसलिए कहा गया हिरण्य-गर्भानन्द तक जितने परिमाण में प्रयोजन हैं]। तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति)—वे समस्त अर्थ प्रयोजन तथा कर्मफल परमार्थ तत्त्वज्ञ को अर्थात् जो आत्मसाक्षात्कार किये हैं ऐसे ब्रह्मवित् संन्यासी ब्राह्मण को तावत् परिमाण में ही प्राप्त होता है। बृहत् जलाशय के सदृश विज्ञान रूप (ब्रह्मानन्दरूप) फल में क्षुद्र क्षुद्र वैदिक कर्मफल भी अन्तर्भूत हैं अर्थात् प्रविष्ट होते हैं। श्रुति में कहा है 'सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद् वेद यत् स

वेद' अर्थात् प्रजालोग (सभी लोग) जो कुछ सत् कर्म करते हैं उसका फल उस ब्रह्मज्ञान फल में प्रविष्ट रहता है। उन्हें (एक) जो जानते हैं, उस परब्रह्म को जो जानेंगे वे उन फलों को प्राप्त करेंगे। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' अर्थात् हे पार्थ! सभी कर्म ही ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं, इसे गीता में भी (४।३३) कहेंगे। अब प्रश्न किया जा सकता है—यदि ब्रह्मज्ञान में ही सभी कर्मों का फल प्राप्त होता है तब तो शास्त्रविहित सभी कर्मों को परित्याग कर ज्ञाननिष्ठा का ही अभ्यास करना चाहिए। इसके उत्तर में कहा जा रहा है—हाँ, ज्ञाननिष्ठा का अभ्यास करने से ही सभी कर्मों का फल प्राप्त किया जा सकता है यदि उस ज्ञाननिष्ठा के लिए अधिकारी हो। परन्तु चित्तशुद्धि के बिना उस अधिकार की प्राप्ति नहीं होती है।

अतः ज्ञाननिष्ठा महाजलाशय की तरह होने पर भी जब तक उसके अधिकारी न हो सके तब तक वेदविहित कर्म (कूप तड़ाग आदि की तरह) क्षुद्र क्षुद्र फलदायक होने पर भी जिनलोगों का कर्म में ही अधिकार है उनलोगों को अपने अपने आश्रम के अनुकूल विहित कर्मों का निष्काम रूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से (चित्तशुद्धि के लिए) अवश्य ही करना चाहिए।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—श्लोक में यथा (जिस प्रकार), तथा (उस प्रकार) एवं भवति (होता है) इन तीनों पदों का अध्याहार करना पड़ेगा एवं उपमेय अंश में 'यावान्' एवं 'तावान्' (जिस परिमाण में, उस परिमाण में) इन दोनों पदों का अनुषंग (पुनरन्वय) करना पड़ेगा।

(२) श्रीधर—[अच्छा, वेद में कहे गये अनेक फलों को त्याग कर (अर्थात् वेदविहित विशेष विशेष कर्म का जो विशेष विशेष फल प्रतिपादित किया गया है उन फलों की आकांक्षा त्याग कर) निष्कामरूप से ईश्वर की आराधना ही यदि व्यवसायात्मिका बुद्धि का विषय हो तब तो वैसी बुद्धि कुबुद्धि ही होगी ? ऐसी शंका के उत्तर में कह रहे हैं—]

उदपाने—जिसमें पानी पीया जाता है उन कूएँ, तड़ाग आदि जलाशयों को उदपान कहा जाता है अर्थात् उदपान शब्द का अर्थ है कूएँ इत्यादि क्षुद्र जलाशय। यावान् अर्थः—उन क्षुद्र जलाशयों के किसी एक में एक साथ स्नान, पान आदि असम्भव है (अर्थात् किसी में या तो कपड़े धोये जा सकते हैं, किसी में नहाया जा सकता है, तथा कोई तड़ाग या तो पीने के लिए व्यवहार किया जा सकता है)। अतः कुछ परिभ्रमण कर स्नान, पान इत्यादि प्रयोजनों को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। किन्तु इन पृथक् पृथक् क्षुद्र जलाशयों से जो अर्थ (अर्थात् प्रयोजन या फल) सिद्ध होता है सर्वतः

संप्लुतोदके (तावान् भवति)—(सर्वत्र परिपूर्ण) महाह्रद में वे सभी कार्य एक साथ किये जा सकते हैं। एवं यावान् सर्वेषु वेदेषु—उस प्रकार सभी वेद में जो जो कर्म तथा उन उन कर्मों के अनुरूप जो जो प्रयोजनसिद्धि (फल) प्रतिपादित किये गये हैं वे सभी ही (तावान्) विजानतः ब्राह्मणस्य भवति–विज्ञानी अर्थात् व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि से विशिष्ट ['ब्रह्म-स्वरूप आत्मा ही एकमात्र सत्यवस्तु है एवं 'मैं ही वह हूँ'—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि से विशिष्ट] ब्राह्मण को (अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को) प्राप्त होता है क्योंकि ब्रह्मानन्द में अन्य सभी क्षुद्र आनन्द अन्तर्भूत रहते हैं। श्रुति में इसलिए कहा गया है 'एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' अर्थात् ब्रह्मानन्द के एक कण को पाकर ही प्राणी जीवित रहता है। अतः यह व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि ही सुबुद्धि है।

(३) शंकरानन्द—[शंका होगी—ब्रह्मज्ञानी के लिए श्रुति के द्वारा कहे गये सभी कर्मों को संन्यास का (परित्याग करने का) विधान किया गया है। अतः 'साधन के अभाव में साध्य का अभाव होता है' इस नियम के अनुसार वेदविहित विशेष विशेष कर्म से (फल के रूप में) जो विशेष विशेष सुख प्राप्त किये जा सकते हैं वह ब्रह्मज्ञानी के लिए प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञानी के लिए मोक्ष की प्रवृत्ति तो उन्मत्त प्रवृत्ति की तरह ही निष्फल होगी ? उत्तर में कहा जा रहा है—नहीं, ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सभी प्राणियों का पद ही हस्तिपद में निमग्न हो जाता है, इस न्याय के अनुसार सत् कर्म के द्वारा (वेदविहित कर्मों के द्वारा) लभ्य सार्वभौम अवस्था से ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) तक जितने आनन्द हैं वे सभी ही ब्रह्मानुभूति में अवस्थित योगारूढ़ पुरुष को प्राप्त होता है (तै० उ० ब्रह्मवल्ली २।८।१–४), इसे दृष्टान्त के द्वारा श्रीभगवान् अब प्रतिपादन कर रहे हैं—]

उदपाने—उदकं पिबन्त्यस्मिन्नित्युदपानं जलाशयः अर्थात् जिसमें जलपान किया जा सकता है उसे उदपान कहा जाता है अतः 'उदपाने' शब्द का अर्थ है जलाशय में अर्थात् पृथ्वी में विद्यमान वापी, कूप, पुष्करिणी, तड़ाग, नद, नदी प्रभृति पुण्यतीर्थ में [जाति को समझाने के लिये उदपान शब्द को एक वचन में प्रयुक्त किया गया है।] यावान् अर्थः—जितने प्रयोजनों की सिद्धि (स्नान, पूजनादि क्रियाओं के द्वारा) हो सकती है अर्थात् जितनी (जितने परिमाण) पुण्यरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है वह सर्वतः संप्लुतोदके—सर्वतः (सर्वत्र) संप्लुत अर्थात् परिपूर्ण उदक (जल)

जहाँ रहता है उसमे अर्थात् समुद्र में तावान् अर्थः—उस परिमाण अर्थ (प्रयोजन या फल) की सिद्धि होती है अर्थात् स्नान, दान, अर्चनादि क्रिया के द्वारा प्राप्तव्य पुण्यरूप प्रयोजनों को सिद्धि उस परिमाण में होती है। गंगा आदि पृथक् पृथक् पुण्यतीर्थ अनुष्ठित स्नान, दान, अर्चनादि के द्वारा जिस परिमाण में पुण्य विशेष की प्राप्ति होती है उसके समान परिमाण में पुण्य एकमात्र समुद्र में स्नान दान आदि के द्वारा प्राप्त होता है—अर्थात् गंगा आदि से उसका पुण्य कम नहीं होता है यही कहने का अभिप्राय है। जिस प्रकार 'सौ में पचास' अर्थात् सौ कहने से उसमें पचास भी अवश्य ही अन्तर्भूत रहता है उस प्रकार समुद्र में गंगा आदि परिच्छिन्न (सीमित) सभी नदी के जलों का अन्तर्भाव रहता है। एवं सर्वेषु वेदेषु यावान् अर्थः—इस प्रकार ऋक् आदि के द्वारा अनुष्ठित सभी वेदों में प्रसिद्ध याग, यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत, तपः आदि क्रिया के द्वारा एवं अन्य पुण्यविशेषों के द्वारा जिस परिमाण में अर्थ अर्थात् प्रयोजन (कर्मफल के रूप में सुख विशेष सिद्ध होते हैं। [पुण्य कर्म का फल सुख या आनन्द है। श्रुति में पुण्य कर्म से सार्वभौम आदि से ब्रह्मा के पद तक जो जो आनन्द प्राप्त होते हैं उस आनन्द को। अतः यहाँ 'पुण्य कर्मों के द्वारा लभ्य सुख विशेषों का' तात्पर्य है सार्वभौम पद से ब्रह्मांड आनन्द जिस परिणाम में होता है, वह] विजानतः ब्राह्मणस्य तावान् भवति—'ये सारे एवं मैं ब्रह्मरूप हूँ'—इस प्रकार जगत् तथा अपने को जो सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप में ही जाने हैं, इस प्रकार ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी संन्यासी) ब्रह्मानुभूति के द्वारा उस परिमाण आनन्द प्राप्त करते हैं (क्योंकि सभी आनन्द ही ब्रह्मानन्द में अन्तर्भूत होता है)। अतः ब्रह्मवित् नित्यानन्द में निमग्न रहते हैं क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' अर्थात् वे मोदनीय आनन्द स्वरूप को प्राप्त कर मुदित (आनन्दी) होते हैं।

[अथवा श्लोक का अर्थ इस प्रकार से भी किया जा सकता है—]

उदपाने—भूमि में सर्वत्र विद्यमान वापी, कूएँ, तड़ाग, नदनदी प्रभृति जल प्रदेश में यावान् अर्थः—जलरूप अर्थ जिस परिमाण में विद्यमान है तावान् सर्वतः संप्लुतोदके—उस परिमाण में जलरूप अर्थ सर्वतः (सभी ओर से) संप्लुत (परिपूर्ण) समुद्र में एक कोण में स्थित जल के अंश का भी अंश होता है। यह जिस प्रकार होता है उस प्रकार सर्वेषु वेदेषु यावान् अर्थः—[विद्+कर्तरि अच्=वेद] वेद शब्द का अर्थ है शब्दादि विषय को जानने वाला अर्थात् ब्रह्मा से पिपीलिका तक सभी प्राणी। अतः

वेद सभी में (अर्थात् सभी प्राणियों में) पुण्य कर्मों के परिपाक के फल-स्वरूप इष्ट विषय की प्राप्ति में प्रतीयमान आनन्दरूप अर्थ जितने परिमाण में होना सम्भव है तावान्—उतने परिमाण में आनन्दरूप अर्थ 'सर्वतः संप्लुतोदके' स्थानीय ब्रह्मस्वरूप में स्थित आनन्द का एक लेश (अंश) मात्र है। श्रुती भी यही कहती हैं—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' अर्थात् इस आनन्द की मात्रा ही (अति अल्प अंश ही) दूसरे प्राणी लोग भोग करते हैं। विजानतः ब्राह्मणस्य तावान्—(वक्तुं केनापि न शक्यते) इस प्रकार अपने प्रतिबिम्ब के लेश के अंशमात्र के द्वारा ब्रह्मा तथा पिपीलिका तक सभी प्राणी को उनके पुण्य विशेष के तारतम्य के अनुसार (न्यूनाधिक) सुख जो प्रदान करते हैं। वे 'सर्वतः संप्लुतोदके' स्थानीय अद्वितीय, सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दघन परब्रह्म को जो जानते हैं अर्थात् 'ये सब मैं ही हूँ' इस प्रकार सभी पदार्थ को अपना स्वरूप मानकर जो साक्षात्कार किये हैं (विजानतः) उस ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण की अखंडाकार वृत्ति के द्वारा जिस अनन्त बिम्बानन्द (ब्रह्मानन्द या स्वरूपानन्द) का सर्वदा अनुभव होता है वह तावान् (एतावान्) है अर्थात् 'इस प्रकार लक्षणविशिष्ट है' एवं 'इस परिमाण है'—यह कोई भी कहने में समर्थ नहीं होता है, क्योंकि उस आनन्द वाणी तथा मन का विषय नहीं होता है। [इसलिए श्रुति ने कहा है 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।' (तै० उ०)]।

(४) नारायणी टीका—सभी कर्मों का उद्देश्य सुख या आनन्द की प्राप्ति है। वैदिक कर्मों का फल है विषय सुख या परिच्छिन्न सुख। और आत्म-ज्ञान का फल है अपरिच्छिन्न या अनन्त आनन्द। इस अपरिच्छिन्न ब्रह्मा-नन्द में सभी वेदविहित कर्मों के फल अर्थात् (परिच्छिन्न आनन्द) अन्तर्भूत (प्रविष्ट) होता है। श्रुति में कहा है 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुप-जीवन्ति' अर्थात् इस ब्रह्मानन्द का ही सामान्य मात्र अंश को दूसरे प्राणी लोग भोग करते हैं। (बृह० उ०) निष्काम कर्मयोग चित्तशुद्धि को द्वार बनाकर उस अपरिसीम अनन्त ब्रह्मानन्द में पहुँचा देता है। इसलिए निष्काम कर्मयोग विफल (निरर्थक) नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि—निष्काम कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर जब आत्मज्ञान का उदय होगा तब 'सर्वतः संप्लुतोदके' स्थानीय परमानन्द (ब्रह्मानन्द) तुम प्राप्त करोगे। उस पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में ही सभी प्रकार के आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए क्षुद्र जलाशय स्थानीय

क्षुद्र क्षुद्र विषयानन्द को प्राप्त करने के लिए तुममें और व्यग्रता (उत्कण्ठा) नहीं रहेगी। अतः जिस तत्त्वज्ञान के बल से तुम्हें परमानन्द की प्राप्ति होगी उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए तुम निष्काम कर्म का अनुष्ठान करो।

[पूर्ववर्ती श्लोक में ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में सभी वैदिक कर्मफलों का सुख प्राप्त होता है यह कहा गया है। प्रश्न है—ब्रह्म ज्ञान में ही जब सभी कर्मों का फल प्राप्त होता है तब सभी कर्मों को परित्याग कर ज्ञाननिष्ठा का अभ्यास करना ही तो अच्छा है—ब्रह्मज्ञान का बहिरंग साधन एवं अनेक प्रयत्नों से जो सम्पन्न होता है वैसे कर्मयोग की फिर क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है (मधुसूदन)]।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वय—कर्मणि एव ते अधिकारः; कदाचन फलेषु (अधिकारः) मा (भूत्वा); (त्वं) कर्मफलहेतुः मा भूः; ते अकर्मणि संगः मा अस्तु।

अनुवाद—केवलमात्र कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है (अतः उसमें ही कर्त्तव्य बुद्धि हो), किन्तु कर्मफल में तुम्हारा अधिकार न हो (अर्थात् ऐसे कर्म के द्वारा मैं ऐसा फल भोग करना चाहता हूँ, ऐसी बुद्धि न हो), (तुम फलकामी होकर कर्म कर) कर्मफल के (जन्मादि के) हेतु अर्थात् कारण या उत्पादक मत होओ, पुनः अकर्म में अर्थात् कर्म न करने में तुम्हारी आसक्ति (प्रीति) न हो।

दीपिका—कर्मणि एव ते अधिकारः—चित्त शुद्धिकर शास्त्रविहित कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है अर्थात् उन कर्मों में 'मेरा यह कर्त्तव्य है' ऐसा बोध होना चाहिए। यह बात ठीक है कि ज्ञाननिष्ठा का अभ्यास कर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का चरम पुरुषार्थ है किन्तु क्षत्रियोचित रजः गुण प्रबल रहने के कारण तुम्हारा अन्तःकरण अभी भी अशुद्ध है। अतः मलिन वस्त्र जिस प्रकार रंग नहीं पकड़ता है उसी प्रकार अशुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्मतत्त्व स्थिरभाव से धारण नहीं किया जा सकता है। [अतः ज्ञाननिष्ठा रूप वेदान्त वाक्य विचार आदि में ताकि तुम्हारा अधिकार न हो। (मधुसूदन)] अर्थात् अशुद्ध अन्तःकरण के कारण अनधिकारी होकर भी विहित कर्म को परित्याग कर ज्ञान-निष्ठा में तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। 'कर्मणि'

इस स्थान में कर्मशब्द को जाति अर्थ में एकवचन में प्रयुक्त किया गया है। 'कदाचन—किसी अवस्था में ही अर्थात् कर्मानुष्ठान के पहले, बाद में अथवा उससमय में फलेषु—(अधिकारः) मा (भूत्)—कर्मफल में तृष्णा अर्थात् कर्म करते हुए कर्म के स्वर्गादिरूप जो फल है उसमें ताकि अधिकार अर्थात् 'यह मेरे भोक्तव्य हैं (भोग करना ही पड़ेगा)' ऐसी बुद्धि (तृष्णा) न हो। [प्रश्न होगा 'मेरा कर्मफल भोक्तव्य है' ऐसो बुद्धि न होने पर भी तो कर्म अपने ही सामर्थ्य से फल को उत्पन्न कर सकता है। इसलिए कह रहे हैं (मधुसूदन)] (त्वं) कर्मफलहेतुः मा भूः—जब कर्मफल में तुम्हारी तृष्णा होगी तभी तुम कर्मफल प्राप्ति के हेतु अर्थात् कर्मफल का उत्पादक होओगे। अतः तुम इस प्रकार के फल को कामना कर कर्मफल के हेतु अर्थात् जनक मत होओ। [कहने का अभिप्राय यह है कि—तुम निष्कामरूप से कर्म करो। फल की तृष्णा के साथ कर्म करने से कर्मफल का जनक होओगे (एवं उस फल को भोग करने के लिए संसार में जन्म लेना पड़ेगा) किन्तु निष्काम रूप से भगवदर्पण बुद्धि में कर्मानुष्ठान करने से वह कर्म फल प्रसव नहीं कर सकता है, यह पहले ही कहा गया है (मधुसूदन) अतः संसार गति भी प्राप्त नहीं करना पड़ेगा। प्रश्न हो सकता है 'यदि कर्मफल की वासना न रहे तब दुःखकर कर्म करने की क्या आवश्यकता है, ? उसके उत्तर में कह रहे हैं—]

ते अकर्मणि संगः मा (अस्तु)—अकर्म में अर्थात् कर्म न करने में तुम्हारी रुचि न हो। फल की कामना नहीं रहने से भी तुममें कर्म न करने की प्रवृत्ति न हो। [आत्मज्ञान के अलावे परमानन्द (जिस आनन्द में ऐहिक तथा पारलौकिक सभी विषयसुख अन्तर्भूत है उसे) प्राप्त नहीं किया जा सकता है। चित्त विषय वासना से निर्मुक्त होकर जबतक शुद्ध न हो तब तक विषयवासना से विक्षिप्त चित्त एकाग्र न होने के कारण तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के पथ में विघ्न की सृष्टि करता रहता है। अपने अपने आश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्मों का श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से अनुष्ठान ही चित्तशुद्धि लाभ का प्रधान उपाय है। परन्तु फल के लिए कर्म करने से चित्तशुद्धि नहीं होगी क्योंकि शुद्धिका अर्थ है विषयासक्ति का (वासना का) नाश। इसलिए भगवान् अर्जुन को कह रहे हैं—कर्म तुम्हें करना ही पड़ेगा क्योंकि विहित कर्म ही चित्तशुद्धि का हेतु है। यदि कर्मत्याग में तुम्हारी प्रीति या प्रवृत्ति हो तब तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने की (अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने की) योग्यता कभी भी नहीं प्राप्त करोगे। पुनः कर्म कर फल की

कामना रखने से चित्तशुद्धि नहीं होती है। इसलिए निष्कामरूप से (फलाकांक्षा को त्याग कर) ईश्वर के दास के रूप में एवं उन्हें ही सभी कर्मों को अर्पण कर कर्म करना पड़ेगा। तभी ही जीवन का चरम उद्देश्य ब्रह्मानन्द के पथपर अग्रसर हो सकोगे। यही कर्मयोग है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यदि कहो कि समस्त कर्म का फल परमेश्वर की आराधना के द्वारा ही प्राप्त किये जा सकेंगे इस अभिसन्धि से ही सभी प्रवृत्त हो—कर्म करने की आवश्यकता और क्या है ? इस आशंका को निवारण करने के लिए कह रहे हैं] ते—तत्त्वज्ञानार्थी (मुमुक्षु) तुम्हारा कर्मणि एव अधिकारः—कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है (चित्तशुद्धि के अभाव के कारण अभी भी तुम्हें ज्ञान में अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है) कदाचन फलेषु मा (अस्तु)—कर्म का फल संसार बन्धन का हेतु है अतः कभी भी (किसी अवस्था में ही) तुम्हें फल में अधिकार (काम) अर्थात् कर्म फल में आसक्ति न हो। शंका होगी—क्यों ? जिस प्रकार भोजनकारी को तृप्ति होती है उसी प्रकार कर्म करने से उसका फल तो अवश्य ही मिलेगा—मा कर्मफलहेतुः भूः—कर्मफल ही (कर्मफल की कामना ही) जिनके कर्म में प्रवृत्ति का हेतु है उनके बराबर तुम मत होओ। स्वर्ग आदि फल जिनके कर्मानुष्ठान में नियोजक है अर्थात् स्वर्ग आदि रूप फल की कामना से जो लोग कर्म करते हैं उनके द्वारा अनुष्ठित कर्म मात्र का ही फल होता है। फल की कामना नहीं रहने से अर्थात् निष्काम कर्म के कर्म का कोई फल उत्पन्न नहीं होता है एवं उससे संसारबन्धन उत्पन्न नहीं होता है। फल उत्पन्न होने से ही वह बन्धन का हेतु होता है, इस भय से ते अकर्मणि संगः मा अस्तु—तुम्हारा अकर्म में अर्थात् कर्म के अकरण में तुम्हारा संग (अर्थात् निष्ठा या आसक्ति) न हो।

(२) शंकरानन्द—[पूर्ववर्ती श्लोक में कहे लक्षणों से सम्पन्न ब्रह्मवित्तम का ही सर्वकर्म का संन्यास (त्याग) करने का अधिकार है। किन्तु तुम तो शोक तथा मोह से आविष्ट (अभिभूत) हो अतः ब्रह्मवित्तम का लक्षण तुममें नहीं है। कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है—ज्ञान या संन्यास में नहीं। यह कहकर सूचित कर रहे है कि सौबार सुनने पर भी जिसमे आत्मज्ञान का उदय नहीं हुआ है ऐसे मुमुक्षुओं को स्वधर्म का अनुष्ठान चाहिए उसे कभी भी स्वधर्म का परित्याग करना नहीं चाहिए]।

कर्मणि एवं ते अधिकारः—चूँकि तुम मुमुक्षु हो इसलिए श्रुति तथा स्मृति के द्वारा विहित काम्य कर्म से भिन्न नित्य तथा नैमित्तिक कर्म में ही

तुम्हारा अधिकार है अर्थात् तुम्हारी योग्यता है—ज्ञान निष्ठा या संन्यास में तुम्हारा अधिकार (योग्यता) नहीं है। [शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्म तुम्हें करना चाहिए—उन्हें त्याग नहीं करना चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है]। ज्ञानयोग अर्थात् ज्ञाननिष्ठा तथा संन्यास को कर्मयोग से व्यावृत्ति (पृथक्) करने के लिए 'एव' शब्द का व्यवहार किया गया है। मा फलेषु कदाचन—(ते अधिकारः)—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि' (गीता १८।५) अर्थात् यज्ञ, दान, तथा तपस्यारूप कर्म अपवित्रकारी है, 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म के द्वारा पाप का नाश होता है) इत्यादि वचन के द्वारा प्रमाणित होता है कि नित्य नैमित्तिक कर्म का फल भी उत्पन्न होता है। अतः तुम शास्त्रविहित नित्य तथा नैमित्तिक कर्म करते रहने पर भी उसके फल में तुम्हारा अधिकार (योग्यता) न हो अर्थात् तुम कभी भी कर्मफल की अपेक्षा मत करो। मा कर्मफलहेतुः भूः—जिसप्रकार बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है उसीप्रकार कर्मफल की अपेक्षा रहने से तुम पुनर्जन्मादिरूप दुःख को भोग करोगे। इसलिए जिसप्रकार स्वर्गकामी स्वर्गफल का हेतु होता है उसीप्रकार तुम कर्मफल की अपेक्षा कर (कर्म करते हुए फल की आकांक्षा कर) कर्मफल के हेतु (उत्पादक या जनक) मत बनो अर्थात् कर्म करते हुए कर्मफल की अपेक्षा मत करो। यदि शंका हो कि एक ओर कर्मक्लेश प्रधान है (अर्थात् कर्म करने में अनेक कष्टों को सहना पड़ता है) एवं दूसरी आर यदि कर्म का कोई फल ही नहीं है तब तो वह कर्म नहीं किया जा सकता है क्योंकि वैसी अवस्था में कर्म करने की अपेक्षा कर्म को त्याग करना सुखजनक है। इसके उत्तर में कह रहे हैं मा ते अकर्मणि संगः अस्तु—आरुरुक्षु के लिए कर्मत्याग करना नहीं चाहिए। अकर्म का अर्थात् क्रियात्याग में तुम्हारा संग अर्थात् मन की आसक्ति (प्रीति) न हो क्योंकि विहित कर्म के अकरण से प्रत्यवाय (पाप) होता है एवं उसके फलस्वरूप नरक तथा दुष्ट योनि की प्राप्ति होती है। इसलिए मुमुक्षु को कभी भी कर्मत्याग करना नहीं चाहिए। भगवद्वाक्य के द्वारा यही सूचित हो रहा है कि कर्मफल की अपेक्षा न कर श्रद्धापूर्वक तथा ईश्वरप्रीति के लिए जो लोग शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे ही (चित्त-शुद्धि के द्वारा) मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—अन्यथा मोक्ष प्राप्त करना असम्भव है।

(३) नारायणी टीका—मा कर्मफलहेतुर्भूः [इस श्लोक का तात्पर्य ४५ वें श्लोक की नारायणी टीका में कहा गया है] भगवान् अर्जुन को

कर्म करके भी कर्मफल के हेतु या जनक होने के लिए निषेध कर रहे हैं। निष्काम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि सम्पादन कर ज्ञान प्राप्त करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः वह कर्मफल का हेतु नहीं होता है अर्थात् कर्मफल को भोग करने के लिए संसार में पुनर्जन्म नहीं होता है। प्रश्न हो सकता है निष्काम कर्म कर यदि ज्ञान प्राप्ति के पहले ही देहत्याग करे तब भी क्या वह कर्म फल उत्पन्न नहीं करेगा ? इसका उत्तर भगवान् ने षष्ठ अध्याय के ४०-४१ वें श्लोक में दिया है। भोजन करने से जिसप्रकार स्वतः ही तृप्ति का अनुभव होता है उसीप्रकार कर्म भी अपने सामर्थ्य के द्वारा कोई न कोई फल उत्पन्न करेगा ही। निष्काम कर्मी योग से भ्रष्ट होने पर उसमें किसी लोक के लिए वासना न रहने से भी बहुपुण्यशाली लोग जिस लोक को प्राप्त करते हैं उन लोगों में गमन कर दीर्घकाल तक सुख भोग कर पवित्र श्रीमानों के गृह में या ब्रह्मविद् योगी के कुल में जन्मग्रहण करते हैं। अतः ज्ञानप्राप्ति की पूर्वावस्थातक कर्म निष्कामरूप से अनुष्ठित होने पर भी फल प्रसव करता है, यह प्रमाणित हुआ। वरं सकाम कर्म की अपेक्षा ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करने से वह अनेक फलदायक होता है। सकामभाव से कर्म करने पर परिच्छिन्न (अल्प) अस्थायी वस्तु के लिए कामना रह जाती है (जिस प्रकार एक पुत्र या १ लाख रुपये इत्यादि) एवं केवल वही प्राप्त किया जा सकता है किन्तु निष्काम कर्म अनन्त (अपरिच्छिन्न) परमात्मा के उद्देश्य से किये जाते हैं इसलिए उस का फल भी अनन्त है। अतः निष्काम कर्मी कुछ न माँग कर भी सब कुछ प्राप्त कर सकता है। इस कारण तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने की पूर्व अवस्था तक निष्काम कर्म भी फलप्रद होता है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। पुनः मोक्ष की ओर से विचार करने पर देखते हैं कि सकाम कर्मी की कर्मफल में आसक्ति रहने के कारण वह चित्तशुद्धि कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः तत्त्वज्ञान प्राप्त कर जन्मसृत्युरूप प्रवाह से मुक्ति लाभ नहीं कर सकता है। किन्तु निष्काम कर्मयोगी को कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धिरूप फल प्राप्त होता है एवं चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर परमपद अर्थात् परमानन्द या मोक्ष प्राप्त कर सकता है। तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त करने पर कर्मफल नाम का कुछ नहीं रहता है।

'मा कर्मफलहेतुर्भूः' वाक्य के द्वारा श्रीभगवान् यही कह रहे हैं कि जब तक चित्तशुद्धि प्राप्त कर जिज्ञासा (विविदिषा) न उत्पन्न हो तब तक अपने अपने आश्रमों के अनुकूल कर्म करो। उसके बाद जिज्ञासानिवृत्ति के लिए सद्गुरु के शरणापन्न होकर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन रूप क्रिया

कर तत्त्वज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त करो। तब इतने दिन कर्म कर के भी तुम कर्मफल के हेतु (जनक) नहीं होगे क्योंकि ज्ञान होने पर जन्ममृत्यु तथा सुखदुःख भोग का कारण सर्वकर्म एवं कर्मफल नष्ट हो जाते है। गीता में भी कहा गया है…'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन! (हे अर्जुन, ज्ञानरूप अग्नि सभी कर्म को भस्मसात् कर देता है)।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कर्मफलप्रयुक्त होकर अर्थात् कर्म का जो फल है 'वह मैं ही भोग करूँगा' इस प्रकार बुद्धियुक्त होकर कर्म करने के लिए निषेध किया गया है। अब प्रश्न है 'तब किस प्रकार से कर्म करना पड़ेगा?' इसके उत्तर में कहा जा रहा है—]

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

अन्वय—हे धनंजय ? योगस्थः (सन्) संगं त्यक्त्वा सिद्धि–असिद्ध्योः समः भूत्वा कर्माणि कुरु । (सिद्धि–असिद्ध्योः) समत्वं योगः उच्यते ।

अनुवाद—बुद्धिरूप योग में स्थित होकर फलाभिलाषा त्याग कर सिद्धि तथा असिद्धि दोनों में समभाव होकर [अर्थात् निष्काम कर्म कर चित्त-शुद्धि के द्वारा ज्ञानप्राप्ति (सिद्धि) हो, अथवा ज्ञानप्राप्ति न हो (असिद्धि हो) इस प्रकार सिद्धि तथा असिद्धि में समभाव अवलम्बन कर] (केवल ईश्वर की तुष्टि के लिए) कर्मों को करते रहो। इस प्रकार (सिद्धि तथा असिद्धि में) समभाव को योग कहा जाता है।

दीपिका। हे धनंजय !—हे अर्जुन ! तुम युद्ध में अनेक बार जय-लाभ कर बहुधन को जय (प्राप्त) किये हो। अब परमार्थ ज्ञानरूप धन को यदि जय कर सको तभी ही तुम्हारा जीवन धन्य होगा, इसे कहने के अभिप्राय से यहाँ भगवान् ने 'धनंजय' कह कर सम्बोधन किया।

योगस्थः सन्—यहाँ योग शब्द का अर्थ केवल ईश्वर को आराधना के निमित्त कर्म नहीं किन्तु बाद में योग का जिन लक्षणों को कहा जायेगा, उन लक्षणों से युक्त होने को यहाँ योग कहा गया है। उस योग में स्थित रहकर अर्थात् तन्निष्ठ होकर। [ईश्वर की आराधना के लिए कर्म करने पर भी उनके प्रसाद (सन्तोष) लाभ के लिए अभिलाषा (वासना) तो रहेगी ही अतः ऐसा कर्म निष्काम किस प्रकार होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] संगं त्यक्त्वा—कर्म से किसी प्रकार की फलप्राप्ति की अभिलाषा त्याग कर अर्थात्

केवल ईश्वर की आराधना के लिए कर्म करने से भी वहाँ 'ईश्वर मेरे प्रति तुष्ट हों' इस प्रकार संग (कर्मफल में आसक्ति या आकांक्षा) न कर। [किस प्रकार ऐसा संग अर्थात् फलाभिलाषा त्याग किया जा सके वह अब कहा जा रहा है—] सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा—कर्मफल के लिए तृष्णा परित्याग कर कर्मानुष्ठान करने पर चित्तशुद्धि के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे ही सिद्धि कहा जाता है एवं उसका विपर्यय अर्थात् किसी प्रतिबन्धक के कारण चित्त की अशुद्धि के लिए यदि ज्ञानलाभ न हो तो उसे असिद्धि कहा जाता है। इस प्रकार सिद्धि एवं असिद्धि दोनों में ही समभावापन्न होकर अर्थात् सिद्धि होने से जो हर्ष होता है एवं सिद्धि नहीं होने से जो विषाद होता है उसे परित्याग कर (दोनों अवस्था में ही निर्विकार रहकर)। कर्माणि कुरु—[क्लेशात्मक होने पर भी (आनन्दगिरि)] कर्त्तव्य कर्मों को (कर्तृत्वाभिमान त्याग कर) ईश्वरार्पण बुद्धि से करते रहो। [वह कौन योग है जिसमें स्थित होकर कर्म करने को कहा गया है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] समत्वं योगः उच्यते—सिद्धि एवं असिद्धि इन दोनों में ही जो समता-ज्ञान (हर्ष विषाद से शून्य होकर एक रूप में रहना), उसे ही योग कहा जाता है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा—पहले गीता के २।३८ श्लोक में (सुखदुःखे समे कृत्वा इत्यादि में) लाभ तथा अलाभ, जय एवं पराजय के निमित्त सुख तथा दुःख में समज्ञान कर क्षत्रिय को युद्ध करना ही कर्त्तव्य है, यह बात कहा गया है। क्योंकि वहाँ युद्धकर्त्तव्यता ही प्रकृत विषय था और यहाँ दृष्ट (ऐहिक) तथा अदृष्ट (पारलौकिक) सभी प्रकार के फल को परित्याग कर सिद्धि तथा असिद्धि में समभाव रखकर केवल परमेश्वर की तृप्ति के लिए अपने अपने आश्रमोचित सभी कर्मों की कर्त्तव्यता निश्चित की गयी है। यही इस श्लोक का विशेषत्व है।

योगस्थः कर्माणि कुरु—प्रश्न हो सकता है—कि योग शब्द का अर्थ कहा गया है कर्म, और यहाँ 'योगस्थ होकर कर्म करो' इस बात का तात्पर्य क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वर्तमान श्लोक में कर्म को नहीं किन्तु कर्म में जो समत्वबुद्धि है उसे योग कहा जाता है, अर्थात् निष्काम कर्म का अनुष्ठान करते रहने से कर्म के फल के लिए (सिद्धि या असिद्धि के लिए) कोई तृष्णा नहीं रहने के कारण चित्त में जो समाहित अवस्था (समत्व) प्राप्त होती है उसे 'योग' कहा जाता है। अन्यत्र निष्काम

कर्म के अनुष्ठान को ही 'योग' कहा गया है। अतः 'योगस्थः कुरु कर्माणि' कहने में पूर्व के साथ कोई विरोध नहीं रह जाता है।

(२) श्रीधर—[तब मेरा कर्त्तव्य क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं] योगस्थः सन्—एकमात्र परमेश्वरपरता ही (परमेश्वर में निष्ठा ही) योग है। उस योग में स्थित रहकर (कर्म करो)। और भी संगं त्यक्त्वा (कुरु)—संग अर्थात् कर्तृत्वाभिनिवेश (मैं कर्त्ता हूँ, मेरा कर्म—इस प्रकार का अभिमान) त्याग कर केवल ईश्वर को आश्रय कर (अर्थात् ईश्वर के हाथ में यंत्र के रूप में उनकी प्रेरणा से कठपुतली की तरह कर्म करो)। पुनः सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा (कुरु)—इसप्रकार भगवान् का आश्रय लेकर कर्म करने के फलस्वरूप जो ज्ञान मिलता है उसकी प्राप्ति को सिद्धि कहा जाता है। एवं उसकी अप्राप्ति को असिद्धि कहा जाता है। उसप्रकार की सिद्धि तथा असिद्धि में सम होकर [अर्थात् कर्म करने के पश्चात् ज्ञानरूप फल की प्राप्ति हो या न हो—जो भगवान् की इच्छा है वह ही होगा; मैं तो सभी कर्मों के द्वारा उन्हीं की आराधना करूँगा, इसप्रकार सभी अवस्था में सभी कर्मों में सर्वत्र समावस्थित ईश्वर में ही बुद्धि स्थिर कर] कर्माणि कुरु—कर्त्तव्य कर्मों को करो। क्योंकि समत्वं योगः उच्यते—इसप्रकार समत्व को योग कहा जाता है चूँकि इस समत्व से चित्त का समाधान होता है अर्थात् चित्त सभी कर्मों में भी परमेश्वर में समाहित रहता है [और समाधि और योग एक ही बात है]।

(३) शंकरानन्द—[यदि जन्मादि दुःखों की निवृत्ति चाहते हो तब तुम्हें कर्त्तव्य कर्म करना ही चाहिए, यह उपदेश अब दे रहे हैं]—समत्वं योगः उच्यते—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गीता ५।१९) अर्थात् ब्रह्म निर्दोष तथा सम है, इसप्रकार कहेंगे। अतः सम शब्द का अर्थ है ब्रह्म। इस ब्रह्म के भाव को समत्व कहा जाता है। यह समत्व या ब्रह्मभाव ज्ञान के द्वारा जुड़ा होता है अर्थात् प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए इस समत्व को (ब्रह्मभाव को) योग कहा जाता है। [ज्ञानेन युज्यते इति योगः]। योगस्थः सन्—इस योग रूप ब्रह्म में (केवल ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए ही) स्थित रहने से उसे योगस्थ कहा जाता है। हे अर्जुन ! तुम केवल उस ब्रह्मभाव अर्थात् केवल मोक्ष के अभिलाषी होकर संगं त्यक्त्वा—'इन कर्मों के द्वारा मेरे सभी पापों का क्षय हो अथवा प्रतिबन्ध की निवृत्ति हो अथवा ईश्वर मेरे प्रति प्रसन्न हो अर्थात् मुझे कर्म से फल की प्राप्ति हो'—इस प्रकार कर्मों की कामना त्याग कर सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा—प्रारब्ध कर्म की संगता फल

(अनुकूलता) सिद्धि है और उसका अभाव अर्थात् (प्रतिकूलता) असिद्धि है, ईश्वर का प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्ति सिद्धि है और उसकी अप्राप्ति असिद्धि है; चित्त के ध्यान आदि में समाहित अवस्था सिद्धि है और उसका अभाव असिद्धि है—इसप्रकार सिद्धि तथा असिद्धि दोनों व्यापारों में सम अर्थात् हर्षविषाद शून्य होकर कर्माणि कुरु–विहित कर्मों को क्लेशात्मक (कष्टकर) होने पर भी उनको इसप्रकार के समत्वबुद्धि के द्वारा (ईश्वर की आराधना के रूप में) अनुष्ठान करो।

(४) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में अर्जुन को भगवान् कर्म करने के लिए कहते हैं। वर्तमान श्लोक में कह रहे हैं कि उन कर्मों को किस प्रकार से करना चाहिऐ ? आत्मा, परमात्मा, भगवान्, ब्रह्म इत्यादि सभी ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप होने के कारण पर्यायवाचक शब्द है। आत्मा सभी का ही प्रियतम है। प्रिय के लिए कर्म करके सभी ही आनन्द का अनुभव करते हैं। अतः कर्मफल की आकांक्षा न रहने से कर्म की क्या आवश्यकता है—यह प्रश्न भगवान् या आत्मा की प्रीति के लिए जो निष्काम कर्म किये जाते हैं उसमें प्रयोज्य नहीं है। किस प्रकार से कर्म करने से कर्म से कर्मफल की उत्पत्ति नहीं होगी अतः कर्म जन्ममृत्युरूप संसार का हेतु नहीं होगा, वह इस श्लोक में कहा गया है—

(क) योगस्थ होकर अर्थात् समत्व में स्थित रहकर [सम=ब्रह्म (गीता ५।१९) अर्थात् भगवदर्पण या ब्रह्मार्पण बुद्धि के द्वारा सभी कर्मों में चित्तवृत्ति को ब्रह्म में ही स्थित रखकर] (ख) संग त्याग कर अर्थात् कर्तृत्वाभिमान, कर्म में एवं कर्मफल में संग (आसक्ति) त्याग कर [सर्व-भूतात्मा भगवान् की प्रेरणा से यंत्र की तरह इस देहेन्द्रियादि युक्त पिण्डकर्म कर रहा है, मैं कर्त्ता नहीं हूँ, इसप्रकार की भावना के द्वारा कर्तृत्वाभिमान को त्याग कर; कर्म भगवान् का है, मेरा नहीं, इसप्रकार कर्म का संग त्याग कर एवं सभी कर्म एवं कर्मफल को भगवान् के चरणकमल में पुष्पांजलि देनी पड़ेगी इसप्रकार भावना के द्वारा कर्मफल में आसक्ति त्याग कर, यहाँ तक कि भगवान् मेरे प्रति सन्तुष्ट होकर मुझे ऐसी कृपा करें, ऐसी वासना को भी त्याग कर] (ग) सिद्धि तथा असिद्धि [कार्य का उद्देश्य या फल सिद्ध हो (प्राप्त हो) और नहीं हो] इन विषयों में समभाव अवलम्बन कर अर्थात् सिद्धि में हर्ष एवं असिद्धि में विषाद प्राप्त न होकर कर्त्तव्य कर्मों को (वह युद्ध हो या किसी दूसरे प्रकार का क्लेशात्मक कर्म ही हो, सभी कर्मों को) करो। इसप्रकार (क) सभी कर्मों में भगवान् के साथ योग रखकर चित्त-

वृत्ति को सदा उसमें स्थित रखकर समत्व प्राप्त होता है। उस समय कर्म में शुभाशुभ या धर्माधर्म बुद्धि का भी नाश हो जाता है। तब सब ही एकाकार (ब्रह्ममय) होते हैं। (ख) कर्तृत्व, कर्म तथा कर्मफल को एक ही भगवान् में समर्पित करने से वे भी सम हो जाते हैं। इसप्रकार सर्वत्र समत्व के साथ (समबुद्धि के साथ) जो कर्म किया जाता है वही योग है क्योंकि वैसे कर्म में किसी प्रकार का चित्त का विक्षेप नहीं रहता है। अपरन्तु चित्त सर्वदा भगवान् में (परमात्मा में) समाहित रहता है। यह ही यथार्थ योग है।

[समत्वबुद्धियुक्त होकर ईश्वर की आराधना के लिए जो निष्काम कर्म किया जाता है उसकी तुलना में काम्यकर्म को अतिशय निकृष्ट कहा गया है। काम्य कर्म को (फल की अभिसन्धि रखकर कर्म) अवश्य परित्याग करना चाहिए इसे स्पष्ट करने के लिए बार-बार काम्य कर्म की भगवान् निन्दा कर रहे हैं (२।४३, २।४५, २।४७)]

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

अन्वय—हे धनंजय ! हि कर्म बुद्धियोगात् दूरेण अवरम्। (त्वं) बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ, फलहेतवः कृपणाः (भवन्ति)।

अनुवाद—हे धनंजय ! काम्यकर्म बुद्धियोग से (समत्व बुद्धि युक्त कर्म से) अनेक अधम हैं (निकृष्ट हैं)। अतः तुम बुद्धि की शरण लो [अर्थात् योग विषयिणी (निष्काम कर्मयोगविषयिणी) बुद्धि की अथवा उसके परिपाक को अवस्था में अभय (मोक्ष) प्राप्ति का कारण जो सांख्यबुद्धि (परमार्थज्ञान) उत्पन्न होता है, उसके आश्रय की प्रार्थना करो]। जो लोग फल के लिए तृष्णायुक्त होकर कर्म करते हैं वे लोग कृपण हैं।

दीपिका—हे धनंजय !—हे अर्जुन ! [४८ वें श्लोक में धनंजय शब्द की व्याख्या द्रष्टव्य है]। हि कर्म बुद्धियोगात्—चूँकि (हि) फल की कामना कर पुरुष जो कर्म करता है वह कर्म बुद्धियोग से अर्थात् आत्मज्ञान के साधनरूप समत्वबुद्धियुक्त कर्म से दूरेण अवरं—दूर से ही अर्थात् अतिविप्रकृष्टरूप से (अति अधिक रूप से) अवर अर्थात् निकृष्ट (अधम) है क्योंकि काम्यकर्म सदा ही जन्म मरण आदि का कारण है। [अथवा समस्त कर्म ही बुद्धियोगात्—अर्थात् परमार्थ ज्ञान से अति दूर से ही (अर्थात्

अतिशय) हीन होता है। (मधुसूदन)] (तस्मात् त्वं) बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ—इस कारण तुम निष्काम कर्मयोग विषयिणी बुद्धि में (समत्व बुद्धि में) अथवा कर्मयोग परिपाक होने से (चित्तशुद्धि होने से) जो मोक्ष प्राप्ति का कारण सांख्य बुद्धि का (परमार्थ ज्ञान का) उदय होता है उसकी शरण (आश्रय) अन्वेषण करो। तुम परमार्थ ज्ञान की शरण लो यही कहने का अभिप्राय है। [बुद्धि शब्द का प्रकृत अर्थ है—जिसे प्राप्त करने से अनर्थों की निवृत्ति होती है एवं जन्म मृत्यु का भय मिट जाता है वह परमार्थ ज्ञान। परमार्थ ज्ञान की शरण या आश्रय लेने से उसकी प्राप्ति के उपाय का पहले आश्रय लेना पड़ेगा। यदि चित्त में अशुद्धि रहे तब आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक पाप को क्षय करने के लिए निष्काम कर्मयोग का अर्थात् समत्व बुद्धि का आश्रय लेना पड़ेगा। निष्काम कर्मयोग यदि परिपक्वता प्राप्त कर चित्तशुद्धि सम्पादन करे तब सांख्य बुद्धि की (परमार्थ ज्ञान का) शरण या आश्रय लेनी पड़ेगी अर्थात् परमात्मा में समाहित रहने का अभ्यास करना पड़ेगा यही 'बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ' वाक्य का तात्पर्य है। किसी भय से त्राण पाने के लिए जिस प्रकार किसी समर्थ व्यक्ति की शरण या आश्रय लेना पड़ता है उसी प्रकार जन्म मरणरूप संसार भय से चिरकाल के लिए मुक्ति पाना हो तो बुद्धियोग की अर्थात् परमात्मज्ञान की शरण या आश्रय लेना पड़ेगा क्योंकि उस परमात्मज्ञान में स्थिति प्राप्त न करने तक 'अभय' प्राप्त करना सम्भव नहीं है,—इसलिए भगवान् बोले 'शरणम् अन्विच्छ']।

फलहेतवः कृपणाः भवन्ति—जो लोग 'फलहेतु' अर्थात् फल की तृष्णा से प्रयुक्त होकर अवर या निकृष्ट काम्य कर्मों को करते हैं [जिनके कर्म से फल की उत्पत्ति होती है] अतः जो लोग परमार्थ ज्ञान से विमुख है वे लोग कृपण हैं अर्थात् नियत जन्म मरण आदि रूप घटी यन्त्र में भ्रमण करते रहने के कारण पराधीन है, इसलिए वे कृपण हैं अर्थात् अत्यन्त दीन हैं। श्रुति में भी कहा गया है 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मात् लोकात् प्रैति स कृपणः, (बृह० उ० ३।८।१०) अर्थात् हे गार्गि, जो व्यक्ति इस अविनाशी ब्रह्म को न जानकर (साक्षात्कार न कर) इहलोक से परलोक में गमन करता है वह कृपण है। अतः तुम कृपण मत बनो। परमात्म ज्ञान से सभी दुःखों की निवृत्ति होती है वही एकमात्र अभयपद है। उस अभयपद को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन जो निष्काम कर्मयोग है उसका अनुष्ठान करो। [जिस प्रकार कृपण व्यक्ति अनेक दुःखों को सहन कर धन अर्जन करता है किन्तु अति सामान्य जागतिक सुखों के लोभ में पड़कर वह दानादिरूप शुभ

कर्मों को नहीं करता है; अतः दानादि से उत्पन्न महत् सुख से वंचित रहता है, उसी प्रकार अतिशय कष्टों को स्वीकार करके भी विषय कामी व्यक्ति ऐहिक या पारलौकिक केवल मात्र क्षुद्र फल के लोभ से अनेक कर्मों का (याग-यज्ञादि का) अनुष्ठान करता है किन्तु निष्काम कर्मयोग के द्वारा जो आत्मज्ञान प्राप्त कर नित्य अव्यय परमानन्द की प्राप्ति होती है उससे वंचित रहता है। हाय ! ये लोग कितने दुर्भाग्यशाली हैं; इनमें कितनी मूढ़ता है ! 'कृपणाः' पद के द्वारा यह ध्वनित हो रहा है। (मधुसूदन)]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[काम्य कर्म अति निकृष्ट है–इस बात को भगवान् अब कह रहे हैं—]

बुद्धियोगात्—व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा कृत कर्मयोग से अथवा बुद्धि के (ज्ञान के) साधनभूत कर्मयोग से कर्म—तत्त्वज्ञान के अलावे अन्य कामना पूर्ति के साधनभूत (अनुकूल) काम्य कर्म दूरेण अवरम्—अत्यन्त अपकृष्ट (अतिशय निकृष्ट)। [क्योंकि काम्य कर्म जन्ममरण आदि अशेष दुःख का हेतु होता है]। हि—चूँकि ऐसा है इसलिए बुद्धौ—ज्ञान में शरणम्—आश्रय लेने की अन्विच्छ—इच्छा करो अर्थात् ज्ञान के साधनभूत कर्मयोग का अनुष्ठान करो। अथवा बुद्धि गुफा में भगवान् का विशेष प्रकाश—इसलिए बुद्धौ शब्द का अर्थ है बुद्धि में स्थापित संसार सागर से त्राता ईश्वर की शरण (आश्रय) लो अर्थात् परमेश्वर का आश्रय लेकर उसी के हाथ में यन्त्र की तरह अवस्थान करो। फलहेतवः—सकाम व्यक्ति लोग [जिनके कर्म फल का हेतु (वासना) रहता है वे लोग] कृपणाः—दीन (होते हैं)। श्रुति भी यह बात ही कहती है—'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः'।

(२) शंकरानन्द—[जब मोक्षप्राप्ति की इच्छा से फलाकांक्षारहित तथा समबुद्धियुक्त होकर नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्तशुद्धि होती है (कर्म या उसके फलस्वरूप तुच्छ भोग्य पदार्थ के द्वारा क्या होगा ? इस प्रकार अलं बुद्धि (पर्याप्त बुद्धि) अर्थात् इन कर्मों में तथा उसके फल स्वरूप अनित्य भोग्य पदार्थों में मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसी बुद्धि उत्पन्न होने से चित्तशुद्धि होती है)। तब निकृष्ट फलप्रद काम्यकर्म में आस्था न रखकर ज्ञानयोग का आदर करना चाहिए, यह बात अर्जुन को समझाने के लिए भगवान् अब कह रहे हैं—]

अवरं कर्म—(क) कर्म अनेक साधनों के द्वारा साधित (सम्पन्न) होता है, (ख) कर्म अत्यन्त क्लेशयुक्त है अर्थात् कर्म करने में अनेक

प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ता है, पुनः (३) अंग का अभाव या हानि होने पर कर्मफल में वैगुण्य होता है और (४) यदि अंग के साथ पूर्ण हो तब वह जन्ममरणादिरूप दुःख का बीज ही होता है अर्थात् कर्मफल भोग करने के लिए जन्म आदि दुःखों में पड़ना पड़ता है और (५) यदि कर्म न किया जाय तब पाप उत्पन्न होकर वह नरक का हेतु होता है। अतः कर्म निकृष्ट (अधम) है। ऐसे निकृष्ट कर्म बुद्धियोगात्—नित्य निरतिशय मोक्ष सुख के हेतु बुद्धियोग अर्थात् ज्ञानयोग से दूरेण हि—दूर ही रहता है 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या' अर्थात् विद्या तथा अविद्या ये दोनों मार्ग भिन्न भिन्न हैं, ऐसा कहकर श्रुति भी प्रमाणित कर रही हैं कि मोक्ष के हेतु ज्ञानयोग से कर्म विपरीत भाव का (अर्थात् संसार गति का) हेतु होने के कारण दूर ही रहता है। 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म' (कठ० उ०) अर्थात् जिसमें अष्टादश ऋत्विक आदि हैं वह कर्म (काम्य यागादि कर्म) निकृष्ट है, ऐसा श्रुतिवचन है इसलिए कर्म का 'अवरत्व' (निकृष्टत्व) जो प्रसिद्ध है उसे सूचित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः कर्म आस्था के योग्य (आश्रय लेने के योग्य) नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है। प्रश्न है—अनेक व्यक्ति ही तो (वेदादि विहित) कर्म का अनुष्ठान करते हैं, ऐसी अवस्था में कर्म को निकृष्ट क्यों कहा जाता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं फलहेतवः—कर्मजनित स्वर्गादि फल अथवा ऐहिक सुखरूप फल जिनके कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति का हेतु है उन्हे अर्थात् कर्मफलप्रार्थी पुरुषों को 'फलहेतवः' कहा जाता है। [वे लोग कर्म के द्वारा फल के हेतु (कारण) होते हैं अर्थात् वे फल की उत्पत्ति करते हैं]। ऐसे कामी पुरुष कृपणाः—अधम हैं (नीच हैं), श्रुति कहती है—'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः' (अर्थात हे गार्गि, जो इस अक्षर को परमात्मा को न जानकर इस लोक से चला जाता है वह कृपण है)। इसप्रकार यदि कोई विशिष्टजन्म कर्म-शील-गुणों से विशिष्ट भी हो तब भी यदि वह (इस जीवन में) ब्रह्म तत्त्व को न जाने तो वैसे कर्मी को श्रुति अधम की आख्या देती है। 'एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति; यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते (कठ० उ०)' अर्थात् जो मूढ़ व्यक्ति इसे (कर्म अथवा कर्मजनित स्वर्ग को) श्रेय मानते हैं वह पुनः जरा तथा मृत्यु को प्राप्त करते हैं; चूँकि कर्मीलोग राग के वश में आकर (विषयासक्ति के कारण) आत्मतत्त्व को नहीं जान सकते हैं, इसलिए वे आतुर होकर, क्षीणपुण्य होकर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं। इसप्रकार

कर्मफल के द्वारा जो लोग मोहित (मोहग्रस्त) रहते हैं ऐसे कर्मी का अनर्थ ही होता हैं, इसे श्रुतियाँ प्रतिपादन कर रही हैं। पुनः दूसरी ओर श्रुति कह कह रही हैं 'अतो धीरा अमृतत्त्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते' (इसलिए धीर पुरुष अमृतत्त्व को जानकर अस्थायी पदार्थ में स्थिर (नित्य) फल की प्राप्ति की इच्छा नहीं करते हैं); 'एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य' (हे सौम्य, इस गुफारूप बुद्धि में निहित आत्मा को जो जानते हैं वे अविद्याग्रन्थि को छिन्न करने में समर्थ होते हैं) ।; 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (ज्ञान से ही मोक्ष को प्राप्ति होती है); 'यया चिरान् सवपापं व्यपोह्य परात् परं पुरुषमुपैति विद्वान् ।' अर्थात् जिसके द्वारा शीघ्र ही सभी पाप को दूर कर विद्वान् व्यक्ति पर से भी अर्थात् अव्यक्त प्रकृति से भी पर (विलक्षण) पुरुष को प्राप्त होते हैं इत्यादि । अतः विवेकी पुरुष भोग्य पदार्थ की प्रार्थना नहीं करते हैं वे केवल मोक्षप्राप्ति की ही इच्छा करते हैं। उस मोक्ष की प्राप्ति विद्या (ज्ञान) के द्वारा ही होती है, इस बात को वे श्रुति वचन में प्रतिपादन कर रहे हैं। अतः हे धनंजय—हे अर्जुन, बुद्धौ—बुद्धि में अर्थात् सांख्य बुद्धि में ही (चित्तप्रसाद अर्थात् चित्तशुद्धि से प्राप्त ज्ञानयोग में ही) शरणम्—शरण अर्थात् मन का वास अन्विच्छ—अन्वेषण करो अर्थात् खोजो । ज्ञानयोग में ही मन को स्थापित करो । [जब तक चित्तशुद्धि न हो तब तक कर्त्तव्य कर्मों को निष्काम रूप से करो किन्तु उसे भी उस ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिए ही करो—दूसरे किसी उद्देश्य से नहीं]। यही कहने का अभिप्राय है।

जब तुम्हारा चित्त प्रसन्न होगा (अर्थात् चित्त शुद्ध होगा) उस समय से ज्ञानयोग में ही स्थित रहो। कर्म निकृष्ट है क्योंकि (क) वह (साक्षात्-रूप से) मोक्ष का साधन नहीं है एवं (ख) वह अनात्मा में आत्मबुद्धि का हेतु होता है (अनात्म देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि न कर कोई कर्म नहीं कर सकता है)। अतः कर्म में कभी भी स्थित नहीं होओ—यही इस श्लोक का तात्पर्य है। इसके द्वारा सूचित होता है कि जब तक चित्तप्रसाद (चित्तशुद्धि) न हो तब तक मुमुक्षु व्यक्ति निष्काम रूप से कर्म करेंगे एवं चित्तशुद्धि प्राप्त करने के बाद ज्ञानयोग में स्थित रहेंगे। अतः यही सिद्ध होता है कि जीवन के अन्तिमकाल तक अग्निहोत्रादि कर्म करना पड़ेगा—शास्त्र का ऐसा विधान अपक्व बुद्धिसम्पन्न (अशुद्धचित्त) व्यक्तियों के लिए ही विहित किया गया है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि समत्व ही

योग है। सर्वकर्म में बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि जब तक समब्रह्म का ही सत्य जानकर सर्वत्र समत्व भाव अवलम्बन कर ब्रह्म के साथ युक्त रहती है तब उसे बुद्धियोग—कहा जाता है [बुद्धि का—निश्चयात्मिका बुद्धि का योग—समत्व है]। आरुरुक्षु योगी चित्तशुद्धि के लिए बुद्धियोग के द्वारा निष्काम कर्म करते हैं और आरूढ़ योगी उस बुद्धियोग के द्वारा ज्ञान में स्थिति प्राप्त करते हैं अर्थात् ज्ञाननिष्ठ होते हैं। सकाम कर्म—उस बुद्धियोग के द्वारा नहीं होता है इसलिए वह उस बुद्धियोग से निकृष्ट है क्योंकि जो लोग सकाम कर्म करते हैं वे लोग तुच्छ अनित्य तथा क्षणिक सुखदायक विषय में आसक्त रहते हैं इसलिए कृपण—हैं अर्थात् कृपण व्यक्ति के पास प्रचुर धन रहने पर भी जैसा वह अपने को सुख भोग से वंचित रखता है उस प्रकार सकाम मनुष्य ब्रह्मस्वरूप होकर भी क्षुद्र विषय सुख में आसक्त रहकर परमानन्दस्वरूप मोक्ष से अपने को वंचित रखता है। केवल यही नहीं वे लोग फलहेतवः—हैं अर्थात् कर्मफल के हेतु (जनक) हैं एवं उस फल का भोग करने के लिए जन्म मरण के चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। एकमात्र बुद्धियोग के द्वारा कर्म करने से ही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो सकते हैं, इसे बाद के दो श्लोकों में भगवान् स्वयं स्पष्ट करेंगे। अर्जुन को भी इसीलिए ही भगवान् सतर्क करके कहते हैं 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (कर्मफल का हेतु मत होओ)। अन्विच्छ—बुद्धि के (समत्व बुद्धि का) अर्थात् सांख्यबुद्धि का (सम ब्रह्म का) सर्वत्र दर्शनरूप ज्ञानयोग का शरणापन्न होओ। यदि आरूढ़ योगी होओ तब उस समत्वबुद्धि में निरन्तर स्थिति लाभ करने की चेष्टा करो और यदि मुमुक्षु (आरुरुक्षु योगी) होओ तब उस बुद्धियोग का (समत्व बुद्धि का) आश्रय कर निष्कामरूप से कर्त्तव्य कर्म करो ताकि चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञानयोग में निष्ठा (स्थिति) प्राप्त कर सको।

[बुद्धियोग का आश्रय नहीं लेने से जो दोष होता है वह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। अब उस बुद्धियोग अवलम्बन करने से अर्थात् समत्व बुद्धि युक्त होकर स्वधर्म का अनुष्ठान करने से क्या फल होता है, वह कहा जा रहा है]।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्मात् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

अन्वय—बुद्धियुक्तः इह उभे सुकृतदुष्कृते जहाति। तस्मात् योगाय युज्यस्व; कर्मसु कौशलम् योगः (उच्यते)।

अनुवाद—समत्व बुद्धियुक्त व्यक्ति इसलोक में कर्म के पुण्य तथा पाप दोनों का ही त्याग करता है। अतः तुम समत्व बुद्धिरूप योगलाभ के लिए यत्न करो क्योंकि कर्मराशि में ईश्वराराधनारूप समत्व बुद्धि युक्त जो कर्मयोग है वही कौशल (कुशल) अर्थात् दुष्टकर्म निवारण कर (पापक्षय कर) परमार्थज्ञान प्राप्त कराने में दक्ष (कुशल या समर्थ) होता है।

दीपिका। बुद्धियुक्तः—निष्कामरूप से कर्म करने के समय समत्वयोग-विषयिणी बुद्धि जिसकी रहती है अर्थात् सिद्धि तथा असिद्धि में समत्व बुद्धि-विशिष्ट व्यक्ति इह—इसलोक में उभे सुकृतदुष्कृते जहाति—पाप तथा पुण्य दोनों को ही चित्तशुद्धि एवं तत्त्वज्ञान के द्वारा परित्याग करने में समर्थ होते हैं। [निष्काम कर्मयोग से चित्तशुद्धि होती है एवं चित्तशुद्धि होने पर वेदान्त वाक्य के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वज्ञान (परमार्थदर्शन) प्राप्त होने से साधक ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। ऐसी अवस्था में जन्म मृत्यु के हेतु पाप पुण्य कुछ भी नहीं रहता है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है 'नैनं पुण्यपापे स्पृशतः' (तैत्ति० उ०) अर्थात् इन्हें पुण्य तथा पाप स्पर्श नहीं कर सकते हैं।] तस्मात्—चूँकि ऐसा हुआ करता है इसलिए योगाय—तुम समत्वबुद्धिरूप योग को प्राप्त करने के लिए युज्यस्व—योग्य होओ अर्थात् उद्यत होओ। कर्मसु कौशलं योगः उच्यते—कर्मसमूह में कौशल को ही योग कहा जाता है। स्वधर्म नामक कर्मपालन में रत व्यक्ति का चित्त ईश्वर में अर्पित रहता है एवं ईश्वर की प्रेरणा से ही वह कर्म कर रहा है पुनः ईश्वर की जो इच्छा है उसके अनुसार ही कर्म का परिणाम अर्थात् फल होगा ऐसा दृढ़ निश्चय उसमें रहने के कारण कर्मों की सिद्धि या असिद्धि में उसकी समत्व बुद्धि रहती है। यही 'कौशल' अर्थात् कुशलभाव या कुशलता है एवं यह कुशलता ही योग है। कर्म बन्धन के हेतु होने पर भी समत्वबुद्धि के द्वारा जब कर्म किया जाता है तब वह कर्म अपने स्वभाव से निवृत्त होता है अर्थात् बन्धन के कारण वह पाप पुण्यरूप फल उत्पन्न नहीं करता है। [अपरन्तु निष्काम कर्म में जो केवल बन्धन का अभाव होता है ऐसी बात नहो; वह पूर्वकृत दुष्कर्म का क्षय कर चित्तशुद्धि के द्वारा मोक्षरूप फल भी प्रसव करता है। यही निष्काम कर्मयोग का या बुद्धियोग का कौशल (कुशलता) है। अतः तुम समत्व बुद्धि युक्त होकर कर्म करो (कर्मकुशल होओ), यही कहने का अभिप्राय है]।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—(क) कर्मसु कौशलं योगः—इस स्थान में इस प्रकार व्यतिरेक अलंकार ध्वनित हो रहा है क्योंकि यहाँ

भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है—'समस्त कर्म अचेतन हैं किन्तु उनके मूल में यदि समत्वबुद्धिरूप योग रहे तब वे भी स्वजातीय दुष्ट कर्मों का नाश ही करते हैं और तुम चेतन पुरुष होकर भी सजातीय दुष्टों को क्षय नहीं कर रहे हो यह तुम्हारे लिए अत्यन्त अकौशल तथा अशोभनीय है'।

(ख) श्लोक का अर्थ इस प्रकार से भी किया जा सकता है—इह—इस प्रकार समत्त्वबुद्धिपूर्वक कर्म अनुष्ठित होने से बुद्धियुक्तः—समत्वबुद्धि-युक्त कर्म का कर्त्ता सत्त्वशुद्धि के द्वारा (चित्तशुद्धि प्राप्त होकर) परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर उभे सुकृतदुष्कृते जहाति—सुकृत तथा दुष्कृत (पुण्य तथा पाप) दोनों को ही परित्याग करने में समर्थ होते हैं। तस्मात्—अतः योगाय युज्यस्व—समत्वबुद्धि युक्त होकर कर्मयोग का अनुष्ठान करने के लिए उद्यत होओ क्योंकि कर्मसु योगः कौशलम्—कर्मों में समत्वबुद्धियुक्त जो कर्मयोग है वह कौशल (कुशल) है अर्थात् दुष्ट कर्मों को निवारण करने में चतुर (दक्ष) है, अतः पापक्षयकारक है।

[पापक्षय होने से चित्तशुद्धि होती है एवं उसके बाद तत्त्वज्ञान प्राप्त कर परमात्मा का साक्षात्कार होता है। समत्व बुद्धियोग से ऐसी अवस्था की प्राप्ति होती है। यही इस योग का कौशल है। कुशल शब्द का स्वार्थ में षञ् प्रत्यय कर कौशल शब्द निष्पन्न हुआ है]।

(२) श्रीधर—[बुद्धियोग-युक्त ही श्रेष्ठ है, यह भगवान् कह रहे हैं—]

बुद्धियुक्तः—बुद्धियोग में युक्त (अर्थात् निष्काम रूप से कर्त्तव्य कर्म करते हुए पुरुष का चित्त ईश्वर में अर्पित रहता है) सुकृतं—स्वर्गादि प्रापक कर्म (अर्थात् पुण्यकर्म जिसके फलस्वरूप स्वर्गादि की प्राप्ति होती है) दुष्कृतं—नरकादि प्रापक कर्म अर्थात् पापकर्म जिसके फलस्वरूप नरकादि की प्राप्ति होती है। ते उभे—उन दोनों का इह—इस जन्म में ही जहाति—परमेश्वर के प्रसाद से त्याग करते हैं तस्मात्—अतः योगाय—ईश्वर की (प्रीति के) लिए कर्मयोगानुष्ठान में युज्यस्व—प्रयत्न करो। (यतः) कर्मसु (यत्) कौशलम्—चूँकि कर्मों में जो कौशल है (अर्थात् कर्म स्वभावतः बन्धन का कारण होता है किन्तु ईश्वर की आराधना के रूप में अनुष्ठित कर्म मोक्ष का सम्पादक होता है, अतः कर्म का यह जो कौशल (चातुर्य) है स एव योगः—वही योग है अर्थात् उसे ही योग कहा जाता है।

(३) शंकरानन्द—[मुमुक्षु के जन्म का कारण है कर्म एवं कर्मों की निःशेष निवृत्ति ज्ञानयोग के द्वारा ही होती है—दूसरे किसी प्रकार से नहीं,

इसलिए तुम ज्ञानयोग में निष्ठालाभ करो, यह उपदेश अब भगवान् दे रहे हैं—] बुद्धियुक्तः—बुद्धि के द्वारा अर्थात् सांख्यसम्बन्धी बुद्धि के द्वारा (ज्ञानयोग के द्वारा) युक्त ब्रह्मज्ञानी स्वीय कूटस्थ, असंग, चेतनात्मा के विज्ञान बल के द्वारा उभे सुकृतदुष्कृते—इस संसार में पूर्ववर्ती शत सहस्र जन्मों में जो अनुष्ठित हुआ है एवं इस जन्म में ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व जो अनुष्ठित हुआ है एवं बाद में भी अनेक प्रकार की योनि प्राप्त करा सकता है, ऐसे पुण्य तथा पाप दोनों का ही जहाति—परित्याग करते हैं अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुष ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा जन्मादि के बीजस्वरूप पाप तथा पुण्यों को निर्मूल कर मुक्त हो जाते हैं। तस्मात् योगाय युज्यस्व—अतः तुम इस योग के लिए (ज्ञानयोग के लिए) यत्न करो। शंका—कृच्छ्रचान्द्रायणआदि प्रायश्चित्त के द्वारा, त्रिसुपर्ण आदि जप के द्वारा, अश्वमेध आदि यज्ञ के द्वारा, गंगा आदि महानदी में स्नान एवं दान प्रभृति के द्वारा जब सभी पापों का क्षय हो सकता है तब ज्ञानाभ्यासरूप क्लेश की क्या आवश्यकता रह सकती है? समाधान—नहीं, ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि प्रायश्चित्त, यज्ञ, स्नान-दानादि के द्वारा अशेष पापों की निवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रायश्चित्त आदि विशेष विशेष क्रियायें जिस उद्देश्य से की जाती हैं अर्थात् जिस पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त आदि अनुष्ठित होते हैं, वे पाप ही विशेष क्रिया के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं, दूसरे प्रकार के पाप की निवृत्ति नहीं होती है। यदि ऐसा नहीं हो तब भिन्न भिन्न प्रायश्चित्त की विधि निरर्थक हो जाती हैं। वेद में कहा गया है 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' (जो अश्वमेध के द्वारा यजन करता है वह ब्रह्महत्यारूप पाप से मुक्त हो जाता है)। ऐसे वाक्य के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि अश्वमेध यज्ञ के द्वारा ब्रह्महत्या के अतिरिक्त और किसी पाप से मुक्त होना सम्भव नहीं है। इसके अलावा प्रायश्चित्त आदि के द्वारा पाप की ही निवृत्तिहोती है किन्तु पुण्य की निवृत्ति नहीं होती है परंतु पुण्य रहने से वह भी सौ करोड़ जन्मों का कारण होता है। पुण्य की निवृत्ति एकमात्र आत्मज्ञानरूप महासाधन के बिना दूसरे किसी साधन के द्वारा सम्भव नहीं है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' (उस समय विद्वान् पुण्य तथा पाप को दूर कर) 'स य एवं विद्वानेते आत्मानं वृणुते' (जो ऐसा जानते हैं वह विद्वान् पुण्य तथा पाप दोनों को अपनी आत्मा ही मानते हैं)। स्मृति में (अर्थात् गीता में) इस श्लोक में भी सुकृत तथा दुष्कृत (पुण्य तथा पाप) इन दोनों की निवृत्ति के बारे में कहा गया है। अतः कर्मसु—निवृत्ति करने के योग्य पुण्य तथा पाप—इन दोनों प्रकार के

कर्मों के निवर्तक के रूप में योगः कौशलं—योग अर्थात् ज्ञानयोग ही कौशल अर्थात् निपुण है। ज्ञान में जो लोग कुशल हैं (अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ पुरुष) वे ज्ञानयोग को ही परम साधन के रूप में देखे हैं। अतः योग के लिए (ज्ञान योग के लिए) प्रयत्न करो, इस प्रकार अन्वय किया गया है। ('जहातीह उभे' यहाँ जो सन्धि नहीं की गयी है वह 'आर्ष' है)।

(४) नारायणी टीका—[बुद्धियोग से सकाम कर्म निकृष्ट क्यों है ? एवं बुद्धि का (बुद्धियोग का) शरण लेने के लिए पूर्ववर्ती श्लोक में क्यों कहा गया है वह अब दो श्लोकों में स्पष्ट किया जा रहा है] बुद्धियुक्तः—समत्वबुद्धि युक्त होकर यदि आरुढ़ योगी निर्दोष तथा समब्रह्म में (गीता ५।१९) स्थिति प्राप्त कर सके एवं आरुरुक्षु योगी चित्तशुद्धि तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए निष्कामरूप से स्वधर्मानुष्ठान करे तब [निष्कामकर्म में समत्व-बुद्धि किस प्रकार हो वह ४८ वें श्लोक की टिप्पणी—(४) में कहा गया है। समत्व बुद्धि के लिए विशेषतः इन बातों की आवश्यकता है (क) भगवान् सभी भूतों को आत्मा हैं—प्रति देह ही उनके विश्वनाटक का अभिनेता है—ये सभी ही भगवान् की प्रेरणा से यंत्र की तरह अवश होकर कार्य कर रहा है—किसके द्वारा, किस अवस्था में, किस समय वे कर्म करायेंगे एवं उस कर्म का फल क्या है, उन सब कुछ ही सृष्टि से पहले भगवान् ने कल्पना-शक्ति (मायाशक्ति) के द्वारा निश्चित कर रखा है, इसका अन्यथाभाव किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता है। इसप्रकार अटूट श्रद्धा तथा विश्वास रखने पर राग तथा द्वेष नहीं रहता है क्योंकि सब ही जब भगवान् के हाथ में यंत्र की तरह है, तब शुभाशुभ का कर्ता भी भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी नहीं हो सकता है। सभी कर्म ही जब नाटक है तब तो शुभ अशुभ नाम की कोई चीज जगत में नहीं रहनी चाहिए। कर्म तथा कर्मफल जब पहले से ही भगवान् के द्वारा निश्चित है तब उसके लिए चिन्ता करने का अवकाश कहा ? अतः कर्मयोगी सभी कर्मों में एकमात्र भगवान् की सत्ता को स्मरण करके उन्हीं में समस्त कर्मों को समर्पण करने से कर्म के अनुष्ठान के समय भी विक्षेप रहित होकर (समाहित चित्त होकर) अवस्थान करते हैं, यही योग है। अष्टांगयोग के (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) द्वारा जिस समाधि अवस्था को प्राप्ति होती है, वही एकमात्र ईश्वरार्पण बुद्धि में किये गये निष्काम कर्मों के द्वारा प्राप्त होती है। इसलिए पातंजल योगशास्त्र में कहा गया है—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'। समाधि या चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। भगवान् ही कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान,

अपादान, अधिकरण है अर्थात् सभी कारकों के रूप में विराजमान है एवं मायारचित दृश्य पदार्थ सभी काल्पनिक है; कर्ता कर्मादिरूप कारकों के शुद्ध चैतन्यस्वरूप (ब्रह्म ही) एकमात्र अधिष्ठान है ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि सर्वत्र सर्वदा समबुद्धि का ही दर्शन करती है। इस समत्वबुद्धि से अहंकार का नाश होता है एवं चित्तवृत्ति में भगवान् के अतिरिक्त और कोई विषय नहीं रहता है। इसलिए चित्त निश्चल होता है। अतः ऐसी समत्वबुद्धि और योग एक ही है। जो बुद्धि (निश्चयात्मिका समत्वबुद्धि) है वही योग है, ऐसा समास कर 'बुद्धियोग' शब्द निष्पन्न होता है]। इह—इस शरीर में ही उसे सुकृतदुष्कृते जहाति—पाप तथा पुण्य दोनों का ही त्याग करता है क्योंकि अद्वय सर्वात्मा भगवान् की सत्ता के अतिरिक्त और किसी द्वैतवस्तु की सत्ता कर्मयोगी की बुद्धि में नहीं रहती है, अतः उसे शुभ तथा अशुभ का कोई बोध नहीं रहता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'नैनं पुण्यपापे स्पृशतः। तस्माद् योगाय युज्यस्व'–अतः उस समत्वबुद्धिरूप योग के लिए युज्यस्व अर्थात् योगी होओ। कहने का अभिप्राय यह है कि समत्वबुद्धियुक्त होकर स्वधर्मानुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञानयोग में प्रतिष्ठित होने के लिये प्रयत्न करो। ऐसे समत्वबुद्धि के साथ कर्मयोग के द्वारा परमानन्दस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः योगः कर्मसु कौशलम्—योगयुक्त होकर जो कर्म किये जाते हैं वे कर्म सभी कर्मों में ही कौशल (मोक्ष) की अवस्था को प्राप्त कराते हैं। अथवा कर्म का स्वभाव ही है कर्मकर्ता को संसार में बन्धन प्रदान करना अर्थात् कर्मफल प्रदान कर कर्मकर्ता को उस फल का भोग करने के लिये जन्म मृत्यु के प्रवाह में पतित करना। किन्तु निष्काम कर्मी जब योगयुक्त होकर कर्म करता है तब वह कर्म अपने (बन्धनकरत्व) स्वभाव का त्याग कर देता है यही निष्काम कर्म का कौशल अर्थात् चतुरता है एवं ऐसे कर्म की कुशलता को ही योग कहा जाता है क्योंकि ऐसे कर्म में समब्रह्म के साथ कर्म की सभी अवस्था का योग रहता है अथवा कर्म के अनुष्ठान के समय में सभी अवस्था में समत्वबुद्धिरूप योग विद्यमान है। अभिप्राय यह है कि, कर्म स्वभावतः बन्धनकारक होने पर भी निष्कामकर्म कर्ता को बन्धन में नहीं डालता है, वरं मोक्ष प्रदान करता है—यही योग है और यही (निष्काम) कर्म का कौशल है।

[समत्वबुद्धियुक्त होकर कर्म करने पर सुकृत तथा दुष्कृत दोनों का ही नाश हो जाता है। अब शंका होगी कि दुष्कृत नष्ट होने से कोई बात

नहीं, किन्तु यदि सुकृत नष्ट हो जाये तो सुखरूप फल से भी वंचित रहना पड़ेगा (मधुसूदन)। इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अन्वय—बुद्धियुक्ताः मनीषिणः भूत्वा कर्मजं फलं हि त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (सन्तः) अनामयं पदं गच्छन्ति हि ।

अनुवाद—समत्वबुद्धियुक्त लोग कर्मों से उत्पन्न फल का परित्याग कर (केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर) मनीषी अर्थात् ज्ञानी (आत्मज्ञाननिष्ठ) हो जाते हैं। (ज्ञानप्राप्त कर) वे लोग जन्मरूप बन्धन से विनिर्मुक्त (विशेषरूप से अर्थात् आत्यन्तिक रूप से मुक्त होकर) सभी उपद्रवों से रहित (अर्थात् संसाररूप रोग से रहित) मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

दीपिका। बुद्धियुक्ताः—जो लोग समत्व बुद्धियुक्त होकर केवल ईश्वर की आराधना के लिये कर्मानुष्ठान करते हैं वे लोग चित्तशुद्धि प्राप्त कर मनीषिणः (भूत्वा)—ज्ञानी होकर, [ईश्वर की आराधना रूप निष्काम कर्म के द्वारा पहले चित्तशुद्धि होती है, चित्तशुद्धि के बाद 'तत्त्वमसि' (तुम ही ब्रह्म हो) इत्यादि वेदान्त वाक्यों को सुनकर आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है। (मधुसूदन)] इस प्रकार आत्मज्ञानविशिष्ट मनीषी होकर कर्मजं फलं हि त्यक्त्वा—कर्म से उत्पन्न फलों को त्यागकर। शुभ कर्मों के फलस्वरूप इष्टदेह की प्राप्ति होती है (अर्थात् देवादि योनि में जन्म होता है) एवं अशुभ कर्म के फलस्वरूप अनिष्ट देह की प्राप्ति होती है (अर्थात् तिर्यग् आदि योनि में जन्म होता है) किन्तु ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद तत्त्वज्ञानी को ज्ञान के बल से इष्ट तथा अनिष्ट देह प्राप्ति रूप जो कर्मजनित फल सञ्चित है। वे परित्यक्त हो जाते हैं अर्थात् उन्हें और कोई कर्म का फल भोग करना नहीं पड़ता है (गीता २।५० श्लोक द्रष्टव्य है)। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जन्ममरण आदि के बीजस्वरूप शुभ तथा अशुभ कर्म से उत्पन्न फलों को त्याग कर ('हि' शब्द को प्रसिद्धि या निश्चयार्थ में प्रयोग किया गया है)। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (सन्तः)—जन्म ही बन्धन है। जन्म से जो संसार बन्धन होता है उससे विशेषरूप से मुक्त होकर। तत्त्वज्ञानी लोग केवल जो कर्म के भविष्यत् फल (अर्थात् इष्टानिष्टदेहप्राप्तिरूप भविष्यत् जन्म) को त्याग करते हैं ऐसी

बात नहीं, वर्तमान जन्मरूप बन्धन से भी जीवित अवस्था में ही विनिर्मुक्तः (वि अर्थात् विशेषरूप से तथा नि अर्थात् निरवशेष रूप से) मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त करते हैं। इसप्रकार जीवन्मुक्त होकर **अनामयं पदं गच्छन्ति**—अविद्या एवं अविद्या के कार्यरूप जो संसार है वही आमय अर्थात् (रोग या उपद्रव) है इस आमयशून्यपद (जन्ममरणादि शून्य) सर्वोपद्रव से रहित [समस्त संसार के स्पर्श से शून्य] अभयरूप मोक्ष नामक विष्णु के परमपद को (आनन्दस्वरूप ब्रह्मपद को अभेद रूप से) प्राप्त करते हैं [अर्थात् देहपात के बाद विदेह कैवल्य को प्राप्त करते हैं (आनन्द गिरि)] अथवा—'बुद्धियोगात् धनंजय' (२।४९ श्लोक) से आरम्भ कर इस श्लोक तक जो 'बुद्धियोग' शब्द का व्यवहार किया गया है उस शब्द के द्वारा कर्मयोगानुष्ठान से उत्पन्न चित्तशुद्धि के द्वारा जो परमार्थदर्शनलक्षणा बुद्धि (अर्थात् तत्त्वज्ञान) उत्पन्न होती है, उसे समझाया जा रहा है। वैसी बुद्धि ही (अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार से उत्पन्न बुद्धि या ज्ञान ही) ४६ वें श्लोक में संप्लुतोदक स्थानीय रूप से वर्णित हुई है एवं वही साक्षात् रूप से—सुकृत तथा दुष्कृत सभी के नाश का हेतु है, यह कहा गया है।

[२।४९–५१ श्लोक तक भाष्यकार ने बुद्धि शब्द का अर्थ समत्व बुद्धि अर्थात् ईश्वर की आराधना से प्राप्त समत्व बुद्धि किये हैं। किन्तु वैसी बुद्धि चित्तशुद्धि उत्पन्न कर बाद में चित्तशुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का हेतु होती है एवं इस प्रकार वह परम्परा रूप से मोक्ष का हेतु होती है किन्तु साक्षात्‌रूप से नहीं। तत्त्वज्ञान अर्थात् परमार्थदर्शन के बिना अज्ञान जनित शुभ एवं अशुभ कर्म से उत्पन्न फल को त्याग कर सभी उपद्रवोंसे रहित (अनामय) मोक्षपद को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसलिए 'अथवा' कहकर भाष्यकार बुद्धि शब्द का अर्थ परमार्थदर्शन लक्षणबुद्धि (अर्थात् तत्त्वज्ञान) लगाये हैं। शंकरानन्द ने उनकी टीका में सदा ही बुद्धि शब्द का यही अर्थ लगाकर ही ४९–५१ श्लोक की व्याख्या की हैं]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्म मोक्ष का साधन किस प्रकार से है वह कहा जा रहा है] **कर्मजं फलं त्यक्त्वा**—कर्मजनित फल का परित्याग कर **बुद्धियुक्ताः**—योगबुद्धियुक्त लोग अर्थात् केवल ईश्वर की आराधना के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि से जो निष्काम कर्मानुष्ठान में युक्त रहते हैं वे **मनीषिणः भूत्वा**–(चित्तशुद्धि के द्वारा) ज्ञानी होकर **जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (सन्तः)**—जन्मरूप बन्धन से विशेषरूप से निर्मुक्त होकर **अनामयं**—सर्वोपद्रवरहित **पदं**—मोक्षाख्य विष्णुपद को (ब्रह्मपद को) **गच्छन्ति**—प्राप्त करते हैं।

(२) शंकरानन्द—[फलाकांक्षा से शून्य होकर समत्व बुद्धि के द्वारा सम्यगनुष्ठित नित्यनैमित्तिक कर्म परिपक्व होने से चित्तशुद्धि की उत्पत्ति होती है एवं उसके पश्चात् वेदान्तवाक्यों के श्रवण (सुनने) से अविक्रिय आत्मतत्त्व का विज्ञान (विशेष ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार) प्राप्त होता है। उस आत्मतत्त्व के विज्ञान की सिद्धि का फल क्या है ? वह अब कह रहें हैं—]

बुद्धियुक्ताः—बुद्धि का अर्थ सांख्यबुद्धि है अर्थात् ब्रह्म के साथ आत्मा का एकत्व विज्ञान (अपरोक्षानुभव) उस बुद्धि के द्वारा युक्त अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान में निष्ठासम्पन्न (ज्ञानयोग में निष्ठाप्राप्त) हुए हैं ऐसे मनीषिणः हि—विद्वान् लोग ही कर्मजं—सञ्चितादि कर्म से उत्पन्न फलं—सहस्र सहस्र नाना प्रकार के योनिप्रापक जन्मादिरूप फल [अर्थात् जो समस्त कर्म पहले अनुष्ठित हो गये हैं एवं जिसका फल प्राप्त करना अभी शुरु नहीं हुआ है वह भविष्यत् में सहस्र सहस्र उच्च नीच योनि में जन्मादि के हेतु के रूप में संचित रहता है। अतः वैसे संचितादि कर्म के जन्म मृत्यु भोग इत्यादि रूप फल] त्यक्त्वा—परित्याग कर। 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' (निमित्त के अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है) इस नियम के अनुसार ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा सभी कर्म का फलस्वरूप जन्मादि का भी नाश हो जाने से कर्ता के सभी फल परित्यक्त हो जाते हैं अर्थात् यहाँ त्यक्त्वा शब्द का अर्थ है—आत्मा, कूटस्थ, असंग ऐसी विज्ञान शक्ति के बल के द्वारा विद्वान् स्वयं कर्मफल के अविषय हो जाते हैं। [अर्थात् मनीषी को (तत्त्वज्ञानी को) कर्मफल भोगना नहीं पड़ता]। जन्मबन्ध-विनिर्मुक्ताः—जन्म के द्वारा जिसका बन्धन अर्थात् सम्बन्ध होता है उसे जन्मबन्ध कहा जाता है। अतः जन्मबन्ध शब्द का अर्थ है भावी और वर्तमान देह। इस प्रकार जन्मबन्ध से विमुक्त (भावी और वर्तमान देह से विशेष भाव से निर्मुक्त) होकर [कर्म फलरूप हेतु के अभाव भावी देह के साथ सम्बन्ध रहित एवं ज्ञान उत्पन्न होने के बाद वर्तमान देह के साथ तादात्म्य-बुद्धि का अभाव रहने के कारण वर्तमान देह के साथ सम्बन्धरहित होकर स्वयं इस जन्म में ही जीवितावस्था में] अनामयं पदं—अनामय (अर्थात् आध्यात्मिक, आदिभौतिक तथा आधिदैविक उपद्रव रहित) पद (अर्थात् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव अखंडानन्द एकरस पद) [पद्यते (प्राप्यते ज्ञानेन इति पदं) एकमात्र ज्ञानके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—जिसे वह परब्रह्म पद]. गच्छन्ति—प्राप्त होते हैं। अविद्याजनित एवं वासनाजनित

दूसरे भावों को त्याग कर ब्रह्मभाव ही प्राप्त होता है, यही कहने का अभिप्राय है। विद्वान् का ऐसा अनुभव प्रसिद्ध है इसे सूचित करने के लिए श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) **नारायणी टीका**—[पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा गया है उसे ही इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं—] जो कर्म करने से परमार्थदर्शन लक्षण बुद्धि के साथ युक्त होना सम्भव है, वही बुद्धियोग है। ऐसे कर्म से अन्य सभी कर्म अति निकृष्ट हैं इसे ४९ वें श्लोक में कहा गया है। अतः परमार्थ बुद्धि को ही उद्देश्य कर (आश्रय कर) आसक्तिरहित होकर कर्म करना चाहिए; दूसरे किसी परिच्छिन्न फल को उद्देश्य कर कर्म का अनुष्ठान करने से कार्पण्य का प्रसंग उपस्थित होगा इसे भी ४९ वें श्लोक में कहा गया है। इसके अतिरिक्त परमार्थ बुद्धि को ही लक्ष्य मानकर निष्काम कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा परमार्थदर्शन की सिद्धि होकर जीवितावस्था में ही अर्थात् इस देह के रहते हुये ही सुकृत तथा दुष्कृत (शुभ तथा अशुभ) को परित्याग कर मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अतः बुद्धियोग के लिए अर्थात् परमार्थदर्शनलक्षणरूप योग के लिए मन को धारण करना पड़ेगा। कर्म का स्वभाव ही है शुभ अथवा अशुभ फल उत्पन्न कर जन्ममरण रूप संसार में बद्ध कराना किन्तु परमार्थदर्शन का उद्देश्य में निष्कामकर्म (बुद्धियुक्त होकर) सुचारुरूप से अनुष्ठित होने पर कर्म के शुभाशुभ फल परमात्मा में आहुत (समर्पित) होने के कारण कर्ता को कर्मफल भोग करने के लिए पुनः संसार में जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता है। कर्म का स्वभाव ही है कर्ता को कर्मफल के साथ बन्धन कराना किन्तु वह कर्मबुद्धियुक्त होकर निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर अपने स्वभाव को (बन्धन कराना) त्याग कर देता है। यही कर्म का कौशल (चातुर्य) है एवं कर्ता का भी कौशल (कुशलता) अर्थात् जन्ममृत्यु से मुक्ति है। यदि परमार्थदर्शन का उद्देश्य कर परमात्मा के साथ युक्त होकर (बुद्धियुक्त होकर) कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान करो तब वैसे कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर मनीषी (ज्ञानी) होकर कर्मजनित शुभाशुभ फल का परित्याग कर समस्त संसार बन्धन से विनिर्मुक्त होकर (विशेषरूप से निःशेषतया मुक्त होकर) मोक्ष के भागी होंगे। इस प्रकार ४९-५१ श्लोकों में तीनों को व्याख्या करनी पड़ेगी (आनन्दगिरीजी का भी यही मत है)। जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता सर्वकालिक होने पर भी अर्थात् जीव किसी समय में भी ब्रह्म से भिन्न न होने पर भी अविद्या के कारण जो भेदबुद्धि होती है वह तत्त्वज्ञान के उदय के

साथ ही नष्ट हो जाती है एवं आत्मस्वरूप (जो अविद्या के द्वारा इतने दिन तक आच्छादित था वह) प्रकट (प्रकाशित) हो जाता है। यद्यपि आत्मा नित्य प्राप्त ही है तथापि ज्ञान होने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा का स्वरूप ज्ञान अभी प्राप्त हुआ हो फलकामना त्याग कर कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान समत्वबुद्धि के साथ करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है एवं बाद में 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यरूप प्रमाण से आत्मतत्त्व ज्ञान उत्पन्न होकर अविद्या तथा उसके कार्यों को विनष्ट कर देता है। ऐसी अवस्था में योगी सभी प्रकार के निवृत्तिस्वरूप मोक्ष नामक परमानन्दप्राप्तिरूप विष्णु के परम पद को प्राप्त होते हैं। गीता २।७ श्लोक में अर्जुन कहते हैं 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (जो निश्चित श्रेयः है वह मुझे कहो)। इसी के उत्तर के रूप में ४९-५१ इन तीनों श्लोकों में श्रेयः साधन के लिए क्या करना चाहिए अर्थात् परमार्थदर्शन ही जीवन का एकमात्र श्रेयः है उसी का ही आश्रय लो, उसी के लिए ही कर्म करो एवं उसी में निमग्न हो जाओ, यह श्रीभगवान् कहते हैं (मधुसूदन का भी यह मत है)।

[पूर्ववर्ती श्लोक में जिस बुद्धि के साथ युक्त होने के लिए कहा गया है वह निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि होने से ही उत्पन्न हो सकता है। वह कितने दिनों में प्राप्त किया जा सकता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

अन्वय—ते बुद्धिः यदा मोहकलिलं व्यतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गन्तासि।

अनुवाद—तुम्हारी बुद्धि जिस समय मोहरूप (अविवेकरूप) कलुषता या मलिनता को परित्याग करेगी उस समय श्रुत एवं श्रोतव्य समस्त विषयों में तुम वैराग्य प्राप्त करोगे।

दीपिका। यदा—जिस समय में ते बुद्धिः—तुम्हारी बुद्धि मोहकलिलं—मोहात्मक अविवेकरूप कलुषता को [देहेन्द्रियादि में आत्मबोध कर 'मैं यह हूँ, यह मेरा है' ऐसे मोहात्मक (अज्ञानजनित) अविवेक रूप कलुषता (मलिनता) जो आत्मा तथा अनात्मा के विवेक बोध को कलुषित कर देती है अर्थात् जो कलुषता मिथ्या अनात्म देहेन्द्रियादि दृश्य वस्तु से नित्य सत्य द्रष्टा आत्मा को विवेक (पृथक्) कर अनुभव करने न देकर

विषय के प्रति अन्तःकरण को सदा ही प्रवर्तित करती है उस मोहात्मक कलुषता को व्यतितिरष्यति—व्यतिक्रम करेगा (विशेष रूप से अतिक्रम करेगा)] [अर्थात् रजः एवं तमोरूप मलको दूर कर शुद्धिभाव प्राप्त होओगे (मधुसूदन)] तदा—उस समय में श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च—कर्मफल सम्बन्धीय जो कुछ श्रोतव्य है (सुनने के योग्य विषय है) एवं श्रुत है (जो कुछ सुना गया है) उन कर्मफलों में (मधुसूदन), [अध्यात्म शास्त्र के अतिरिक्त अन्य सब श्रुत तथा श्रोतव्य शास्त्र के प्रति (आनन्दगिरि)] निर्वेदं—निर्वेद अर्थात् वैराग्य या वितृष्णा गन्तासि—प्राप्त होओगे। उस समय श्रोतव्य एवं श्रुत विषयों में तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि आत्मा तथा अनात्मा की विवेकबुद्धि का उदय होने से आत्मा के अतिरिक्त सभी विषय निष्फल (मिथ्या या वृथा) प्रतीत होंगे (आनन्दगिरि)। अतः तब श्रवणादि त्याग कर ध्याननिष्ठ ही रहोगे (नीलकंठ)। यही निर्वेद या वैराग्य है। [कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि न होने से इस वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होगी। इस निर्वेद या वैराग्य का उदय होने से सद्गुरु का शरणापन्न होकर 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम ही वह ब्रह्म हो' इत्यादि वेदान्तवाक्यों को सुनने से विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होओगे, यही कहने का अभिप्राय है। इसलिए भागवत में कहा है 'तावत् कर्माणि कुर्वीत निर्विद्येत यावता' (भागवत ११ वाँ स्कन्ध) अर्थात् जब तक निर्वेद (विषय वैराग्य) उपस्थित न हो तबतक निष्कामरूप से ईश्वर की आराधना के लिए कर्मयोग का अनुष्ठान करोगे। श्रुति में भी है—'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतःकृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'। (मुंडकोपनिषद् १।२।१२) अर्थात् कर्म से जो स्वर्गादि लोक प्राप्त हो सकता है उसको (अर्थात् कर्मफलों को) परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त करते हैं क्योंकि वे तब समझ जाते हैं कि कर्म के द्वारा जो कुछ प्राप्त किया जाता है वह सब अनित्य है, विकारी है अतः वह आयाससाध्य योगादि कर्म की क्या आवश्यकता है ? यह सब निश्चय कर नित्य अभय पद के स्वरूप को विशेष रूप से जानने के लिए [ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए वह वैराग्यसम्पन्न व्यक्ति समिधा हाथ में ग्रहण कर विधिपूर्वक श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरणापन्न होयेंगे। अतः निर्वेद अर्थात् वैराग्य होने से ही समझना पड़ेगा कि साधक का अन्तःकरण शुद्ध हो गया है (मधुसूदन)]।

(१) श्रीधर—[कब मैं सभी उपद्रवों से रहित होकर विष्णुपद को प्राप्त करूँगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] मोहकलिलं—मोह शब्द का

अर्थ है देहात्मबुद्धि, वही कलिल अर्थात् गहन दुर्ग है। ऐसा मोहमय गहन दुर्ग यदा ते बुद्धिः—जब तुम्हारी बुद्धि व्यतितरिष्यति—विशेषरूप से अतिक्रम करेगी अर्थात् परमेश्वर की आराधना के लिए कर्म करते करते उनके अनुग्रह से जब तुम्हारी बुद्धि देहाभिमानरूप मोहमय गहन दुर्ग को विशेष-रूप से अतिक्रम करेगो [अर्थात् देहादि में आत्मबुद्धि कर जिस मोह को तुम प्राप्त हुए हो वही तुम्हारे सामने गहन दुर्ग के रूप में (दुरतिक्रमणीय दुर्ग के रूप में) अवस्थित है; अतः यह मोहमय गहन दुर्ग जब निष्काम कर्म-योग का अनुष्ठान कर भगवान् के अनुग्रह से शुद्ध बुद्धि के द्वारा विशेषरूप से अतिक्रम कर सकोगे (उत्तीर्ण होओगे)] तदा—तब श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च—श्रोतव्य तथा श्रुत विषय में निर्वेदं—वैराग्य गन्तासि—प्राप्त होओगे अर्थात् जो कुछ श्रवण करने का था एवं जो कुछ सुना गया है उन सभी विषयों अनुपादेय (अर्थात् मिथ्या एवं निष्फल होने के कारण ग्रहणयोग्य नहीं है, इस प्रकार) जानकर उनके विषय में वैराग्य के कारण और जिज्ञासा नहीं करोगे (जानने की इच्छा नहीं करोगे)।

(३) शंकरानन्द—[चित्तशुद्धि होने पर सर्वत्र अलंबुद्धि रूप वैराग्य (अर्थात् किसी वस्तु में मेरी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा वैराग्य) एवं (उस वैराग्य के वाद) प्रज्ञा के स्थिरतारूप योग को (ज्ञाननिष्ठा) कब एवं किस उपाय से प्राप्त करूँगा ? अर्जुन के इस प्रश्न की जिज्ञासा करने का अभिप्राय जानकर भगवान् अब इन दोनों श्लोकों में प्रतिपादन कर रहे हैं कि जब तुम्हारी बुद्धि कलुषता से शून्य हो जायगी अर्थात् बुद्धि शुद्ध हो जायगी एवं (उसके फलस्वरूप) जब निर्विकल्पा प्रज्ञा को प्राप्त करोगे तब तुम क्रमशः पूर्ण वैराग्य तथा योग को प्राप्त करोगे।] मोहकलिलं—कौन सत्य है एवं कौन असत्य है इस विषय में विवेकज्ञान (पार्थक्यज्ञान) नहीं रहने से अन्तः-करण सदा (भेदभाव से युक्त होकर) अर्थात् यह मेरा रम्य (प्रिय) और यह मेरा अरम्य (अप्रिय) है, यह इष्ट (अनुकूल) है और यह अनिष्ट (प्रतिकूल) है, यह ग्राह्य है एवं यह अग्राह्य है—ऐसी भावना के कारण सदा विषय में प्रवृत्त रहता है। इसे मोहकलिल कहा जाता है क्योंकि मोह शब्द का अर्थ है विचित्रता अर्थात् विषय में जो असत्, मायिक एवं तुच्छ है, ऐसे विवेक का अभाव (अर्थात् विषयों के यथार्थस्वरूप का अज्ञान) और मोह ही कलिल (कलुषता या मलिनता) है क्योंकि स्वच्छ दर्पण को जिस प्रकार धूल की मलिनता आवृत करके रखता है उस प्रकार यह मोहरूप मलिनता विवेकबुद्धि को आवृत करके रखती है। इस मोह कलिल को यदा—जब

ते बुद्धिः—तुम्हारी बुद्धि व्यतितरिष्यति—विशेष रूप से (समूल में) अति-क्रम करेगी। 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः। नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्'। (जो कुछ मन के द्वारा, वाणी के द्वारा, नेत्र के द्वारा, एवं श्रोत्रादि के द्वारा गृहीत होता है उन्हें मन के द्वारा रचित नश्वर माया के रूप में जानना) इन वचनों का अर्थ है कि शिवजी का (भगवान् का) प्रसाद ही जिसका मूल है अर्थात् भगवान् की कृपा के बिना जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है उस सम्यक् नाम के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कर इन दृश्यमान सभी वस्तु में मिथ्यात्व निश्चय कर जब इन्हें त्याग करोगे तदा—उस समय श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च—श्रोतव्य तथा श्रुत, द्रष्टव्य तथा दृष्ट, ज्ञातव्य तथा ज्ञात एवं ग्राह्य तथा गृहीत वस्तुओं को मिथ्या जानकर निर्वेदं—सर्वत्र अलं-बुद्धि लक्षण वैराग्य (अर्थात् मिथ्या विषयों में मेरी कोई आवश्यकता नहीं है इस प्रकार की बुद्धिरूप वैराग्य) गन्तासि—प्राप्त करोगे। व्यवहार्य सभी पदार्थ मिथ्या होने के कारण व्यवहार के विषय भी मिथ्या हो जायेंगे। अतः ऐसे निष्फल व्यवहार में मेरी क्या आवश्यकता है ? ऐसा समझकर सभी व्यवहार्य विषय से तथा उनसे सम्बन्धित व्यवहार से उपरत हो जाओगे, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—[किस प्रकार के लक्षण से समझा जा सकता है कि मुमुक्षु व्यक्ति बुद्धियुक्त हो गया है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] जब अज्ञानवश देह में आत्माभिमान कर मैं कर्म का कर्ता, मुझे कर्म से इस फल का भोग करना पड़ेगा इस प्रकार मोहरूप (अविवेकरूप) कलिल (कलुषता अर्थात् दोष) नहीं रहेगा अर्थात् बुद्धियोग को आश्रय कर यंत्र के रूप में भगवदर्पण बुद्धि में निष्काम कर्म कर तुम्हारी चित्तशुद्धि होने से जब अनुभव करोगे कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एकमात्र सद्वस्तु है एवं दृश्यजात जागतिक सभी पदार्थ ही मिथ्या है और उस चैतन्यस्वरूप आत्मा 'मैं ही हूँ' तब तुम्हारा अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण देहात्मबुद्धि रूप मोह भी नष्ट हो जायगा अर्थात् मोहरूप कलुषता का विशेष रूप से अतिक्रम कर सकोगे एवं जगत्-प्रपंच मिथ्या प्रमाणित होने के कारण आत्मा से भिन्न और किसी वस्तु में तुम्हारी आकांक्षा नहीं रहेगी। अतः गन्तासि निर्वेदं श्रोत-व्यस्य श्रुतस्य च—तुम सभी विषयों में वैराग्य प्राप्त करोगे। जो कुछ इतने दिनों तक सुने हो एवं जो कुछ भविष्य में सुनने के योग्य मान रहे हो वे सभी ही मिथ्या तथा अज्ञान के द्वारा ही कल्पित प्रतीत होंगे एवं तुममें उनके प्रति वैराग्य की भावना आ जायेगी। बुद्धि में जब तक असम्भावना तथा

विपरीत भावनारूप मलिनता रहती है तब तक ही सुनने तथा देखने की आवश्यकता रहती है। बुद्धि शुद्ध हो जाने पर ज्ञान का उदय हो जाने से मोह, मिथ्याज्ञान, संशय, विपर्यय सभी नष्ट हो जायेंगे। अतः उसी अवस्था में श्रवण योग्य कुछ भी नहीं रहता है। तथा शुद्धबुद्धि में शास्त्रार्थ 'सकृत् श्रवणात्' (एकबार मात्र श्रवण करने से ही) प्रकाशित होते हैं। अतः तत्त्व के सम्बन्ध में भी श्रवण की और कोई आवश्यकता नहीं रहती है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ और ये सब कुछ मैं हूँ' इस निश्चयात्मिका बुद्धि को प्राप्त करने से आत्मा में रमण, आत्मा में ही तृप्ति, आत्मा में ही आनन्द प्राप्ति (गीता ३।१७) एवं सर्वदा आत्मा में ही स्थिति के लिये (ज्ञाननिष्ठ होने के लिये) समाधि का अभ्यास करते हैं। बाद के श्लोक में इसे ही और स्पष्ट रूप से कहे हैं।

[मोह अर्थात् अविवेकजनित कलुषता नष्ट हो जाने के कारण (चित्त-शुद्धि तथा वैराग्य के द्वारा) यदि मैं आत्मविवेकजनित प्रज्ञा को प्राप्त करूँ तब कर्मयोग का फल जो परमार्थ योग (आत्मसाक्षात्कार) है उसे मैं कब प्राप्त कर सकूँगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा रहा है]

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अन्वय—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः यदा समाधौ निश्चला अचला स्थास्यति तदा योगम् अवाप्स्यसि।

अनुवाद—अनेक प्रकार की श्रुति (शास्त्रों को) श्रवण करने से तुम्हारी विक्षिप्त बुद्धि जब चलन रहित होकर समाधि में अर्थात् परमात्मा में विकल्प-वर्जित (विपरीत भावना या संशय रहित) होकर स्थिररूप से अवस्थान करेगी तब योग को (विवेक प्रज्ञा नामक समाधि योग अर्थात् जीव तथा ब्रह्म की एकतारूप निर्विकल्प साक्षात्कार रूप योग को) प्राप्त करोगे।

दीपिका। श्रुतिविप्रतिपन्ना—अनेक प्रकार के साध्य तथा साधन के सम्बन्धबोधक अनेक प्रकार के श्रुतिवाक्यों के श्रवण करने से विप्रतिपन्न [श्रुति-वाक्य में अनेक प्रकार के फलों के विषय सुनकर (परन्तु उनकी तात्पर्य विवेचना न कर) वि (विविधप्रकार से—अनेक प्रकार से) प्रतिपन्न होने के कारण (प्रतिपत्तियुक्त होने के कारण अर्थात् अनेक प्रकार के संशय तथा विपरीत ज्ञान से युक्त होने के कारण) विक्षिप्त (मधुसूदन)]। ते बुद्धिः—तुम्हारी बुद्धि (अन्तःकरण) यदा—जिस समय [अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि से विवेक उत्पन्न होने पर (इष्टानिष्ट, सदसत् का विवेचन करने की

शक्ति उत्पन्न होने से) अनेक शास्त्रों को श्रवण करने के फलस्वरूप जो संशय तथा विपर्यास अर्थात् परमात्मा है या नहीं एवं स्वर्ग सुख ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष नाम का कुछ भी नहीं है ऐसा 'विपर्यास या विपरीत ज्ञान' का उदय होने के कारण जिस विक्षेप की सृष्टि हुई है इस विक्षेप से जिस समय सारी बुद्धि मुक्त होगी [ऐहिक तथा पारत्रिक (इहकाल के तथा परकाल के) समस्त कर्मफल रूप विषयों का अनित्यत्व तथा दुःखत्व इत्यादि दोषों को दर्शन कर तुम्हारी बुद्धि (अन्तःकरण) ऐहिक तथा पारत्रिक फलकामना का परित्याग करेगी अर्थात् वैसे विक्षेपों से तुम्हारी बुद्धि मुक्त हो जायगी (मधुसूदन)]

समाधौ निश्चला अचला स्थास्यति—'समाधीयते चित्तमस्मिन्निति' अर्थात् जिसमें चित्त समाहित हो वह समाधि (अर्थात् परमात्मा) उसमें निश्चला—विक्षेपरूप चलन से वर्जित होकर [असम्भावना एवं विपरीत भावनाओं से शून्य होकर (मधुसूदन)] एवं उस अवस्था में भी अचला—विकल्प वर्जित होकर [अर्थात् दीर्घकाल तक निरन्तर (सदा) आदर एवं सत्कार या श्रद्धा के साथ साधन के द्वारा आत्मा के अतिरिक्त भिन्न विजातीय (विपरीत) प्रत्यय या भावना शून्य होने का अभ्यास कर निर्वात प्रदीप की तरह आत्मा में अचल अर्थात् सर्व विकल्पों से शून्य होकर स्थिर रूप से (मधुसूदन)] स्थास्यति—अवस्थान करेगी। ['निश्चल' शब्द का अर्थ है विषय के द्वारा विक्षिप्त होकर चित्त का जो विषय की ओर चलन (गति) होती है उस प्रकार चलन से रहित अवस्था। 'अचल'—अर्थात् मूल अज्ञान के कारण (संस्कार के कारण) अन्तःकरण में आत्मा के अतिरिक्त जो और प्रत्यय या भावनाओं का (अर्थात् विजातीय विपरीत भावना का) उदय होता है वह जब साधन के परिपक्वावस्था में और नहीं होता है और अन्तःकरण में जब आत्मा के अतिरिक्त और किसी प्रत्यय (भावना) का उदय नहीं होता है एवं अन्तःकरण आत्मा में ही स्थिर होकर अवस्थान करता है तब उस अवस्था को अचल—कहा जाता है। 'निश्चल' बाह्य विक्षेप रहित अवस्था है एवं 'अचल' आभ्यन्तरिक विक्षेप-रहित अवस्था यही 'निश्चल' तथा 'अचल' शब्द का भेद है]। [अथवा निश्चल—विक्षेप (विपर्यय) रहित अवस्था और अचल—विकल्प (संशय) रहित अवस्था (आनन्दगिरि)] **योगम् अवाप्स्यसि**—विवेकप्रज्ञा नामक समाधि को प्राप्त करोगे। [अर्थात् वेदान्त महावाक्यादिओं के श्रवण से उत्पन्न तथा समस्त योग का फल जो जीव तथा ब्रह्म की एकतारूप अखंड निर्विकल्प साक्षात्कार है उसे प्राप्त करोगे अर्थात् जिसे प्राप्त करने से दूसरा कोई साध्य नहीं रहता है (प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती है) अथवा दूसरा कोई कर्त्तव्य नहीं

रहता है। उसे प्राप्त कर कृतकृत्य होओगे, स्थितप्रज्ञ होओगे—यही कहने का अभिप्राय है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—निश्चला—जाग्रत एवं स्वप्न दर्शनरूप विक्षेपों से रहित होकर [अथवा असम्भावना एवं विपरीत भावना से रहित होकर] अवस्थान करना। अचला—सुषुप्ति, मूर्च्छा, एवं स्तब्धीभाव प्रभृति लयरूप चलनों से रहित होकर अथवा दीर्घकाल तक आदर नैरन्तर्य तथा सत्कार (श्रद्धा) के साथ आत्मतत्त्व के सेवन करने के फलस्वरूप विजातीय प्रत्यय (आत्मा के अतिरिक्त अन्य भावना) के द्वारा दूषित न होकर निर्वात प्रदीप की तरह स्थिर होकर आत्मा में स्थित रहना।

(२) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा गया है उसके बाद क्या होगा वह कह रहे हैं—] श्रुतिविप्रतिपन्ना—श्रुतिभिः अर्थात् श्रवण के द्वारा [अनेक प्रकार के लौकिक तथा वैदिक अर्थ को (विषय को) श्रवण कर] विप्रतिपन्ना (पहले ही जो तुम्हारी बुद्धि विक्षिप्त हो गई है) ते बुद्धिः—तुम्हारी वह बुद्धि यदा—जिस समय समाधौ—जिसमें चित्त समाहित रहे वही समाधि अर्थात् परमेश्वर है। उस परमेश्वर में निश्चला—(परमेश्वर या परमात्मा से भिन्न) दूसरे किसी विषय में अनाकृष्ट होकर अतः अचला—अभ्यास की निपुणता के कारण उसी परमेश्वर में ही स्थित रहेगी तदा—उस समय योगं—योग का फल अर्थात् तत्त्वज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) को अवाप्स्यसि—प्राप्त करोगे।

(३) शंकरानन्द—[पूर्ववर्ती श्लोक में मुमुक्षु का ज्ञानयोग में सिद्धि-लाभ करने का असाधारण (मुख्य) कारण जो बाह्य वस्तु से उपराम है, इसे निरूपण कर ज्ञानयोग की सिद्धि का उपाय बता रहे हैं—] श्रुतिविप्रतिपन्ना—ऋक आदि श्रुति में (वेदों में) कहीं विविधकर्म, उनके विशेष विशेष फल एवं उनके विशेष विशेष महत्त्व को (महिमा को) भी निरूपित किया गया है; तथा कहीं विशेष विशेष उपासना, उनके विशेष विशेष फल एवं उनके विशेष विशेष महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है; तथा कहीं सगुण ब्रह्म की उपासना, उसका महत्त्व एवं उसके फलों की उत्कर्षता को प्रतिपादित किया गया है। तथा कहीं निर्गुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान; उस ज्ञान का माहात्म्य एवं उसके फल-प्राशस्त्य (फल की उत्कर्षता को भी) प्रतिपादित किया गया है। इन सबों को जो लोग सुना करते हैं उनमें विप्रतिपत्ति तथा संशय की उत्पत्ति होती है—क्या जो कुछ वेद में कहा गया है उन सभी की ही वेद में प्रधानता है? अथवा सगुण अथवा निर्गुण अथवा दोनों की हो

प्रधानता है ? इस प्रकार श्रुति के वाक्यों के द्वारा विप्रतिपन्न अर्थात् संशययुक्त होकर अनेक प्रकार के विक्षेपों से युक्त ते बुद्धिः—तुम्हारी बुद्धि यदा—जिस समय में निश्चला—निश्चल होकर अर्थात् प्रज्ञा (क) (प्रकृष्ट ज्ञान) के द्वारा सभी शास्त्रवाक्यों का विचार कर, (ख) श्रुति, स्मृति तथा युक्तिबल के द्वारा, एवं (ग) गुरु के उपदेश के द्वारा 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सभी वेद जिस पद (मोक्षपद) के सम्बन्ध में कहते हैं) ऐसे न्याय के अनुसार सभी शास्त्रों का तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्म में ही पर्यवसित (शेष) हो गया है ऐसा जानकर सभी विप्रतिपत्तियों (संशय) को त्याग कर निश्चल अर्थात् निर्विशेष होकर समाधौ—जिसमें चित्त को सम्यक् रूप से धारण किया जाता है वह समाधि अर्थात् परब्रह्म है। उस परब्रह्म में उस आकार (ब्रह्माकारा) बुद्धि के द्वारा चित्त जब अचला—चलन का (चांचल्य) कारण जो बाह्यवासना है (बाहर की वस्तु के लिए वासना है) वह नष्ट हो जाने के कारण जब चित्त विकार रहित होगा एवं निश्चला—निश्चल होकर स्थास्यति—स्थित होगा तदा योगम् अवाप्स्यसि—उस समय प्रज्ञा के स्थिरतारूप योग को प्राप्त करोगे। अथवा ते श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप है) 'सर्वं ब्रह्मैतदात्म्यमिदं सर्वम्' (सब ही ब्रह्म है—यह सब आत्मा ही है) 'सद्धीदं सर्वं चिद्धीदं सर्वम्' (ये सब सत् हैं—यह सब ही चित् अर्थात् चैतन्यस्वरूप है) 'तत्त्वमसि' (तुम ही वह ब्रह्म हो), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म ही है), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं' (इस ब्रह्म के पूर्व नहीं है, पश्चात् नहीं है, अन्दर नहीं है तथा बाहर भी नहीं है) 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' (यह सब ही ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा सभी वस्तु के स्वरूप एकमात्र ब्रह्म ही है इस तरह विशेषरूप से प्रतिपत्ति (निश्चय ज्ञान) होता है। इसलिये श्रुति द्वारा इस तरह की बुद्धि को विशेष प्रतिपत्तिमती अथवा श्रुतिविप्रतिपन्ना कहा जाता है (अर्थात् बुद्धि श्रुतिवाक्य से 'सब ही ब्रह्म है' यह जानकर विशिष्ट ज्ञानवती होती है)। तुम्हारी बुद्धि श्रुतिविप्रतिपन्ना होने पर निश्चला है—विक्षेप से निर्मुक्त होगा। कारण परम आप्तवाक्य (श्रुति के महावाक्य) श्रवण कर अथवा अधिष्ठान को (आत्मतत्त्व को) सम्यक् दर्शन कर सद्बुद्धि का विप्रतिपत्ति (संशय) अथवा विक्षेप सम्भव नहीं है। इसलिये इस तरह के सम्यक् श्रवण तथा मनन द्वारा सम्पन्न तुम्हारी बुद्धि समाधौ—असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प अर्थात् सर्वकल्पशून्य) समाधि में अचला—निवातस्थ (वायुशून्य प्रदेश में अवस्थित) दीप (दिये) की तरह अचला—निष्काम (स्थिर) होकर यदा—जिस

समय अर्थात् चित्त के परिपाकावस्था में (असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की स्थिति जिस समय परिपक्वता प्राप्त होगी) तदा—उस समय योगम् अवाप्स्यसि—तुम योग अर्थात् अप्रतिबद्ध ज्ञानयोग प्राप्त होओगे (उस समय निर्विकल्प समाधिरूप ज्ञानयोग किसी तरह से बाधा प्राप्त नहीं होगी)। अर्थात् तब तुम योगारूढ़ बनोगे, यह ही कहने का अभिप्राय (इच्छा) है।

(४) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक की व्याख्या में कहा गया है निष्काम कर्मयोगी जब बुद्धियोग प्राप्त होते हैं उस समय एकमात्र आत्मा में स्थितिलाभ करने के लिए निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करते हैं। आत्मा का स्वरूप श्रुति से ही जाना जा सकता है तथा आत्मा नित्य है या अनित्य है, कर्ता है या अकर्ता है इत्यादि नानाप्रकार की असम्भावना तथा विपरीत भावना भी श्रुति वाक्य के विचार से नष्ट होती है। गुरुमुख से "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुतिवाक्य श्रवण कर तथा उसके बाद मनन कर जब बुद्धि वि (विशेषरूप से) प्रतिपन्न (सम्पन्न) होती है अर्थात् विशेषरूप से ज्ञानवती होती है (आत्मा का स्वरूप विशेषरूप से निश्चय कर जब सभी प्रकार के संशय से रहित होती है) तथा बुद्धि निश्चला अर्थात् बाह्य (बाहरी) विषयों से उत्पन्न विक्षेप से रहित होकर समाधि में अर्थात् परमात्मा में अचल अर्थात् वायुशून्य स्थान में दिये की लौ की तरह स्थिर स्थास्यति—रहती है। तदा—उस समय योगम्—विवेकजनित प्रज्ञा (प्रकृष्टज्ञान) अथवा योग के फल तत्त्वज्ञान अथवा आत्मा का साक्षात्कार अवाप्स्यसि—प्राप्त होगे।

[शास्त्र तथा गुरुमुख से पहले आत्मा के स्वरूप का निश्चित ज्ञान (परोक्षज्ञान) प्राप्त कर मुमुक्षु का (मोक्ष प्राप्ति के लिए) निष्काम कर्मयोग करके चित्तशुद्धि लाभ करना चाहिये। जो भगवान् के निकट कर्मयोगी कर्मफल आहुति देंगे तथा जिनके हाथ का यंत्ररूप से कर्म करेंगे उनका परिचय तथा उनके साथ अपना सम्बन्ध जानना आवश्यक है। चित्तशुद्धि न होने तक ही शास्त्रादि का श्रवण करना आवश्यक है अर्थात् जितने दिन चित्त की मोहरूप कलुषता (मलिनता) शुद्धबुद्धि द्वारा पूर्णरूप से नष्ट नहीं होती है उतने दिन ही जो कुछ सुने गये हैं तथा जो कुछ सुनने के योग्य है उनकी आवश्यकता रहती है चित्तशुद्धि के पश्चात् आवश्यकता नहीं है (गीता २।५१) क्योंकि श्रुतिसमुह का प्रतिपाद्य विषय है ब्रह्म अर्थात् सर्वात्मा भगवान्। उन भगवान् में (ब्रह्म में) चित्तशुद्धि प्राप्त योगी के श्रुतिविप्रतिपन्न (विशेष भाव से ज्ञानवती) बुद्धि समाधिस्थ होकर अचल रूप से स्थित रहती है।

परमात्मा में अन्तःकरण की पूर्ण स्थिरता को ही योग कहते हैं। शास्त्र के नियमानुसार निष्काम कर्म (अपने अपने वर्णाश्रमोचित कर्म) अनुष्ठित होने पर तत्त्वज्ञान का उदय होता है एवं वह तत्त्वज्ञान परिपक होने से स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है। ज्ञाननिष्ठारूप स्थितप्रज्ञता प्राप्त होने पर जो प्रकृत योग है वह प्राप्त होता है अर्थात् आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके परमात्मा के साथ जो योग (एकता का अनुभव) वह प्राप्त होता है, 'तदा योगम् अवाप्स्यसि' इस वाक्य का यही तात्पर्य है]।

[पूर्वश्लोक में किस तरह योग अर्थात् विवेकजनित प्रज्ञारूप समाधि प्राप्त होती है—वह कहा गया है। इस विषय में प्रश्नबीज (अर्थात् प्रश्न करने का अवसर) प्राप्त होकर लब्धसमाधि प्रज्ञ व्यक्ति का लक्षण क्या है ? यह जानने को इच्छुक अर्जुन प्रश्न करते हैं अर्थात् पूर्वश्लोक में "परमात्मा में तुम्हारी बुद्धि (अन्तःकरण) जब निश्चल तथा अचल होकर रहेगी तब परमार्थदर्शनरूप योग प्राप्त होओगे (ज्ञाननिष्ठा अथवा स्थितप्रज्ञ होओगे)" यह सुनकर अर्जुन स्थितप्रज्ञ का लक्षण जानने के लिए पूछते हैं क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषों का जो लक्षण है वही मुमुक्षु व्यक्तियों का मोक्षलाभके उपाय अथवा साधन है]।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अन्वय—हे केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, स्थितधीः किं प्रभाषेत, किम् आसीत , किं व्रजेत ?

अनुवाद—समाधि में स्थितिलाभ हुआ है इस तरह के स्थितप्रज्ञ की भाषा अर्थात् परिचय अथवा लक्षण क्या है ? वह स्थितप्रज्ञ व्यक्ति (व्युत्थानावस्था में) स्वयं किस तरह के भाषण करते हैं अर्थात् कार्य द्वारा अपना लक्षण प्रकाश करते हैं ? वे किस तरह के आसन करते हैं अर्थात् बाहरी वस्तुओं से किस तरह इन्द्रियनिग्रह करते हैं ? फिर किस तरह विषय में विचरण करते हैं अर्थात् किस तरह के विषय को ग्रहण करते हैं ?

दीपिका। केशव—तुम केशव हो अर्थात् सभी के अन्तर्यामी हो इसलिए तुम ही सभी रहस्य (गोपनीय) विषय स्पष्ट कर कहने में समर्थ हो, यही कहने लिये अर्जुन ने केशव कहकर सम्बोधन किया। समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ? निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर

'मैं परम ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जो प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रज्ञा कहते हैं। वह प्रज्ञा जिसके (ज्ञाननिष्ठा द्वारा) स्थिता अर्थात् प्रतिष्ठिता अथवा निश्चला हुई है उनको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। यह स्थितप्रज्ञ की भाषा अर्थात् भाषण अर्थात् वचन किस प्रकार का है ? दूसरे साधारण लोग उन व्यक्ति के सम्बन्ध में किस प्रकार की भाषा प्रयोग करते हैं ? (किस प्रकार से तथा किस लक्षण द्वारा उन स्थितप्रज्ञ का परिचय देते हैं) ? [स्थितप्रज्ञ की दो अवस्थायें हैं (क) जब की समाधि में रहते हैं तब उनको समाधिस्थ कहा जाता है और (ख) जब समाधि से जाग्रत होकर (यानी जाग कर) व्यावहारिक जगत में लौट आते हैं तब उनकी व्युत्थान—अवस्था कही जाती है। समाधि में निमग्न स्थितप्रज्ञ की भाषा क्या है ? यह अर्जुन का पहला प्रश्न है "भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणम्" अर्थात् जिससे भाषित अर्थात् लक्षित अथवा परिचायित होता है वह भाषा है इसप्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा भाषा शब्द का अर्थ है "किन किन लक्षणों द्वारा दूसरे साधारण व्यक्तियों के द्वारा स्थितप्रज्ञ महात्मा परिचित होते हैं ?" 'स्थितप्रज्ञस्य' इस पद में कर्म में षष्ठी विभक्ति प्रयोग किया गया है। (मधुसूदन)] स्थितधीः किं प्रभाषेत ?—यह स्थितधी अर्थात् स्थितप्रज्ञ व्यक्ति स्वयं क्या कहते हैं ? व्युत्थानावस्था में लोगों के साथ बातचीत तथा व्यवहार द्वारा स्वयं किस तरह की भाषा (लक्षण) प्रकाश करते हैं ? व्यवहार काल में स्तुति में अभिवादन (आनन्द प्रकाश) तथा निन्दा में द्वेषादिरूप लक्षण प्रकाश करते हैं या नहीं ? [श्लोक में 'प्रभाषेत', 'आसीत', 'व्रजेत', इन सब स्थानों में सम्भावना अर्थ में लिङ्ग प्रयुक्त किया गया है। (मधुसूदन)] किम् आसीत ?—किस तरह आसन ग्रहण करते हैं ? [अर्थात् तत्त्वज्ञानी व्युत्थितचित्त का निग्रह कर आत्मा में आसन ग्रहण करने के लिए अर्थात् रखने के लिये बाहरी इन्द्रियों का निग्रह (संयम) किस तरह करते हैं ? (मधुसूदन)] किं व्रजेत ?—किस तरह गमन करते हैं ? (स्थितप्रज्ञ के आसन तथा भ्रमण किस तरह के है इन प्रश्नों के द्वारा अर्जुन स्थितप्रज्ञ के (विभिन्न) लक्षण पूछते हैं।) [जब बाहरी इन्द्रियों का निग्रह नहीं करते हैं तब स्थितप्रज्ञ किस तरह से इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण कर चेष्टायुक्त होते हैं ? फिर स्थितप्रज्ञ जब व्युत्थित होते हैं तब उनका भाषण, उपवेशन, गमनादि व्यवहार क्या मूढ़ व्यक्तियों से विलक्षण (अलग) या उनके समान होता है, यह ही जानने का अभिप्राय (इच्छा) है। इस श्लोक में अर्जुन ने चार प्रश्न किया अर्थात् समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के विषय में पहला प्रश्न तथा व्युत्थित स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में तीन प्रश्न किये (मधुसूदन)]

(१) श्रीधर—[पूर्व श्लोक में कहे गये आत्मतत्त्वज्ञ के लक्षण को जानने की इच्छा प्रकट करते हुये अर्जुन ने कहा—] समाधिस्थस्य—स्वाभाविक समाधि में स्थित अतः स्थितप्रज्ञस्य—स्थित यानी निश्चल हुई है प्रज्ञा या बुद्धि जिनकी इस प्रकार स्थितप्रज्ञ की का भाषा ?—'भाष्यते अनया इति भाषा। लक्षणमिति यावत्' (जिसके द्वारा भाषण अर्थात् परिचय दिया जाता है उसको भाषा कहते हैं)। इसलिये भाषा शब्द का अर्थ है 'लक्षण'। स्थितप्रज्ञ की भाषा क्या है (लक्षण क्या है ?) अर्थात् किन लक्षण द्वारा 'यह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ है', ऐसा कहा जा सकता है ? फिर स्थितधीः किं प्रभाषेत, किम् आसीत, किं व्रजेत—(व्युत्थानावस्था में स्थितधी पुरुष का भाषण, उपवेशन तथा चलन (गति) किस तरह के हैं) ?

(२) शंकरानन्द—[श्रवण तथा मनन द्वारा जो आत्मतत्त्व को जान गये हैं उन विद्वान् की समाधि द्वारा प्रज्ञा की स्थिरता की सिद्धि होती है, यह सुनकर अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण विशेषरूप से जानने की इच्छा प्रकट करते हुये प्रश्न किया—] समाधिस्थस्य—नित्य निरंतर नियमपूर्वक समाधि अनुष्ठान में रत स्थितप्रज्ञस्य—स्थितप्रज्ञ के। बाहरी पदार्थ ग्रहण न कर केवल ब्रह्माकार में निश्चलरूप से जिनकी प्रज्ञा अथवा बुद्धि स्थित रहती है उनको स्थितप्रज्ञ अथवा योगारूढ़ कहते हैं। इस प्रकार समाधिनिष्ठा में रत स्थितप्रज्ञ की भाषा का—भाषण क्या है ? स्थितप्रज्ञ महात्मा के सम्बन्ध में भाषण किस प्रकार का है अर्थात् "इस व्यक्ति समाधिनिष्ठानिरत विद्वान् (तत्त्वज्ञानी) हैं—यह स्थित प्रज्ञ हैं"—इस प्रकार पंडितलोग कब कहेंगे ? स्थितधीः—स्थितप्रज्ञ किं प्रभाषेत—स्वयं क्या कहते हैं ? किं आसीत—किस तरह बोलते हैं ? किं व्रजेत—किस तरह चलते हैं ? अर्थात् उनका चलना कैसा है ?

टिप्पणी। (३) नारायणी टीका—अर्जुन के चार प्रश्न स्पष्ट है। स्थितप्रज्ञ का लक्षण जानने से ही साधन राज्य में कितना मुमुक्षु अग्रसर हो रहा है वह जाना जा सकता है। इसीलिये अर्जुन ने इस प्रकार का प्रश्न किया। प्रश्न हो सकता है योगी व्युत्थित होने पर उनको स्थितप्रज्ञ कैसे कहा जा सकता है ? बाहरी व्यवहार करने के समय उनका समाधिज (समाधि से उत्पन्न हुई) प्रज्ञा अर्थात ब्राह्मीस्थिति क्या नष्ट नही हो जाती ? इसका उत्तर पंचदशी में दिया गया है—"परव्यासनिनी नारी व्यग्रापि गृह-कर्मणि। तदेवास्वादयत्यन्तः परसंगरसायनम्। एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तमागतः। तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि"। (पंचदशी ११।

१२२–१२३) अर्थात् परपुरुष में आसक्त नारी घर के सभी कार्य करते रहने पर भी उनके जार का (उपपति का) ध्यान कर उनका संगरूप रसायन जिस तरह (मन ही मन) पान करती है उस तरह जो पुरुष शुद्ध परमतत्त्व में विश्रान्ति लाभ किये हैं वे बाहरी व्यवहार करते रहने पर भी अन्तर में वही परमानन्दस्वरूप के अपूर्व रस ही पान करते रहते हैं। इसलिये व्युत्थित अवस्था में बाहरी व्यवहार करने पर भी ज्ञानी स्थितप्रज्ञ ही रहते हैं।

[पूर्व श्लोक में अर्जुन ने जो चार प्रश्न किये, अध्याय के अन्त तक भगवान् उसी का उत्तर दे रहे हैं अर्थात् जो योगभ्रष्ट व्यक्ति पूर्व जन्म की सुकृति के फलस्वरूप अति वैराग्यवान् होकर प्रारम्भ (शुरू) से ही नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का त्याग कर ज्ञानयोग की निष्ठा में प्रवृत्त हुये है अथवा जो व्यक्ति कर्मयोग का अवलम्बन कर चित्तशुद्धि प्राप्त करने के लिये ज्ञानयोग की निष्ठा में प्रवृत्त हुये हैं उनके लक्षण तथा साधन इत्यादि का ५५ श्लोक से लेकर ७२ श्लोक तक श्रीभगवान् उपदेश दे रहें हैं। सभी अध्यात्म शास्त्र में कृतार्थ व्यक्ति का जो लक्षण है वही दूसरे के लिये साधनरूप से उपदिष्ट होते हैं क्योंकि ये सभी लक्षण दूसरों के द्वारा साधन या प्रयत्न कर ही प्राप्त होते हैं। फिर जो सब साधन से (प्रयत्न से) प्राप्त होते हैं वही सिद्ध कृतार्थ पुरुष के लक्षण होते हैं। श्रीभगवान यही 'प्रजहाति' इत्यादि श्लोकों द्वारा कहते हैं]।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! यदा सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति (तथा) आत्मनि एव आत्मना (एव) तुष्टः (भवति) तदा स्थितप्रज्ञः (इति) उच्यते।

अनुवाद—जब कोई व्यक्ति मन में अवस्थित (मन के अन्दर रहनेवाली) सभी कामनाओं को पूर्णतया त्यागकर दूसरी कोई भी बाहरी वस्तु के विषय में अपेक्षाशून्य होकर (बाहरी वस्तु की अपेक्षा न कर) अपने ही द्वारा अपने ही में (अर्थात् स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म अथवा परमात्मा में आत्मबोध कर आनन्दघन परमात्मा में ही) सन्तुष्ट रहते हैं तब उनको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दीपिका—हे पार्थ—हे अर्जुन ! "तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती) सकल कष्टों को सहन करके भी सदा ही मुझमें चित्त (मन) निविष्ट रखती

थी। तुम उन्हीं के पुत्र हो, तुम भी सर्वात्मस्वरूप मुझसें स्थित होकर स्थित प्रज्ञ हो सकोगे" यही सूचित करने के लिये भगवान् ने यहाँ 'पार्थ' कहकर सम्बोधन किया। यदा सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति—इच्छा भेद या विभिन्न प्रकार की इच्छा को काम कहते हैं। [इसलिये 'सर्वान् कामान्' (काम संकल्प) यह पद द्वारा काम संकल्प इत्यादि मन के सभी वृत्तिविशेष को लक्ष्य कर कहा गया है। पातंजल योगशास्त्र में यह वृत्ति समुह को प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति इस पाँच भाग में विभक्त किया गया है। यह सभी काम है। (मधुसूदन)] ये कामसमुह मन में अर्थात् स्थित या प्रविष्ट रहता है—(मनोगतान्) अर्थात् ये सब मन के धर्म हैं (आत्मा के धर्म नहीं हैं)। इसलिये श्रुति में कहा गया है "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव" (बृह० उ० १।५।३) अर्थात् काम संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सभी मन है अर्थात् मन इन सभी रूप में प्रकट होता है। यही 'मनोगतान्' शब्द का तात्पर्य है। 'यदा प्रजहाति' पद का अर्थ है–जब कि प्रकृष्ट रूप से (अर्थात् कार्य और कारण दोनों ही समूल) परित्याग करने में समर्थ होता है अर्थात् (क) कामादि वृत्ति समुह को तथा (ख) उन सब वृत्तियों का आधार मन को तथा (ग) मन में स्थित अज्ञान को जब पूर्णतया (समुचे रूप से) त्याग करे अर्थात् योगी सभी प्रकार से वृत्तिशून्य हो तब उनको (समाधिस्थ) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। [काम समुह को 'मनोगतान्' अर्थात् मन का धर्म कहा गया है। अगर वे सब आत्मा का स्वाभाविक धर्म होते तब उन सब का त्याग नहीं किया जा सकता जैसे ताप (गर्मी) (अग्नि) का स्वाभाविक धर्म है, इसलिये अग्नि का नाश विना ताप को त्यागकर नहीं किया जा सकता। इसलिये मन को निःसंकल्प होनेपर (मनोनाश होने पर) सभी काम स्वयं ही छूट जाते हैं क्योंकि कारण के नाश में कार्य का नाश अवश्यम्भावी है। (मधुसूदन)] जब विषय का मिथ्यात्व निश्चय होने पर [अर्थात् विषय मिथ्या (झूठा) है यह निश्चयरूप में ज्ञात होने पर] इहलोक या परलोक के किसी भी विषय में कामना नहीं रहती है तथा मन आत्मा ही में स्थित होकर सन्तुष्ट रहता है, तब ही अज्ञान का नाश होता है एवं मन संकल्प और विकल्प शून्य होता है। सभी वृत्तियों का नाश होने पर केवल आत्मा ही अवशिष्ट रह जाती है। [अब प्रश्न है—सभी प्रकार का काम (अर्थात् मन की सभी वृत्तियों) का नाश होने पर विषय भोग न रहने पर आनन्द (सुख, प्रसन्नता या सन्तोष) नहीं रह

सकता है क्योंकि प्रसन्नता सूचक सन्तोष भी मनोवृत्ति ही है। फिर जीवन्मुक्त पुरुष के चेहरे की प्रसन्नता से उसके मन में सन्तोष है, आनन्द है इसे कोई भी अनुमान कर सकता है परन्तु मनोवृत्ति का नाश होने पर यह किस प्रकार सम्भव है ? (मधुसूदन)] तब क्या उन्मत्त (पागल) तथा प्रमत्त (शरावी) व्यक्ति जिस प्रकार विवेकहीन तथा चिन्तारहित होकर नृत्य करता है, गीत गाता है, हँसता है और इसलिये जैसे उन्मादी के चेहरे पर प्रसन्नता (खुशी) झलकती है उसी तरह जीवन्मुक्त पुरुष के मन की सभी वृत्तियों का नाश होने पर भो शरीर धारण के लिये जो प्रारब्ध अवशिष्ट रहता है उस कारण ही उसको (जीवन्मुक्त पुरुष की) उन्मत्त तथा प्रमत्त व्यक्तियों की तरह प्रवृत्ति दिखाई देती है और इसीलिये इनके चेहरे पर प्रसन्नता (खुशी) दिख पड़ती है ? इस आशंका के समाधान के लिये कहते हैं—आत्मन्येव—प्रत्यगात्मस्वरूप में ही अर्थात् सर्वभूत में साक्षी तथा अन्तर्यामी रूप में अवस्थित परमानन्दस्वरूप आत्मा में ही (तुच्छ अकिञ्चितकर मिथ्या अनात्म जागतिक दृश्य वस्तु में नहीं) आत्मना एव—अपनी आत्मा के (स्वरूप के) द्वारा हो [अर्थात् जो आत्मा स्वयंप्रकाश चैतन्य-स्वरूप में प्रत्येक हृदय में प्रकाशमान है किन्तु जो कोई अन्तःकरणवृत्ति द्वारा प्रकाशमान नहीं है वह स्वयंप्रकाश आत्मा द्वारा ही (मधुसूदन)] तुष्टः—तुष्ट (तृप्त) रहते हैं। बाहरी वस्तुओं के लाभ के विषय में निरपेक्ष होकर अर्थात् आत्मव्यतिरिक्त (आत्मा को छोड़कर) सभी अनात्म पदार्थ में अलंबुद्धि उत्पन्न होने पर ('मुझे आत्मानन्द को छोड़कर दूसरी किसी भी वस्तु का प्रयोजन नहीं है' इस प्रकार की बुद्धि होने पर) तृष्णाहीन होकर परमार्थदर्शन के अमृत रस के आस्वाद में सन्तुष्ट रहते हैं अर्थात् परमार्थदर्शन प्राप्त करने के पश्चात् फिर मिथ्या (झूठी) अनात्म जागतिक वस्तु में उनकी तृप्ति (तुष्टि) लाभ करना सम्भव नहीं है। इसलिये परमानन्दस्वरूप आत्मा में ही उनका सन्तोष रहता है एवं इस कारण वे सदा प्रसन्न दिख पड़ते हैं। श्रुति में भी कहा गया है "रसो ह्येवं लब्ध्वा आनन्दी भवति" (तैत्ति० उ०) अर्थात् इस रसमय परमानन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर ब्रह्मवित् आनन्दी हो जाते हैं। [आत्मा के प्रकाश के लिये किसी वृत्ति अथवा इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती है क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः आत्मा जागतिक वस्तुओं की तरह किसी भी वृत्ति अथवा इन्द्रिय का विषय नहीं है। इसलिये श्रुति में कहा गया है "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृह० उ०)। जो सब कुछ के विज्ञाता (सब कुछ जानने वाला) है, उनको कैसे जानियेगा ? "यतो वाचो

निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्त० उ०) अर्थात् जिससे वाणी मन के साथ लोट आती है। "यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥" अर्थात् जिनको अन्तःकरणवृत्तियुक्त चक्षु (आँख) द्वारा देख नहीं सकते, जिनके द्वारा (जिन चैतन्यस्वरूप आत्म-ज्योतिः के द्वारा) व्याप्त होकर अन्तःकरणवृत्तिविशेषयुक्त चक्षुवृत्ति प्रकाशित या विषयीभूत होती है उन्हीं को तुम ब्रह्म जानोगे 'यह है' इस प्रकार (दृश्य रूप से) विषयीभूत कर जिनकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार श्रुति ने सैकड़ों वचनों से ब्रह्म या आत्मा वृत्ति के वाहर है, यह प्रमाणित किया। इसलिये जिस शब्दादि विषय चित्तवृत्ति द्वारा प्रकाशित होने पर तथा इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने पर हम विषय आनन्द भोग करते हैं आत्मानन्द उस प्रकार का नहीं है। यही 'आत्मना एव तुष्टः' पद का तात्पर्य है] इसलिये कहा जाता है कि आनन्दमय आत्मा आनन्दस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मा के द्वारा ही (आत्मना एव) प्रकाशित होती है (अन्य वस्तुओं से नहीं) तथा विषयानन्दों की किसी प्रकार अपेक्षा न कर आत्मा आत्मानन्द में ही निमग्न (डूबे) रहती हैं (आत्मनि एव तुष्टः)। श्लोक में "एव" शब्द निश्चय अर्थ में व्यवहार किया गया है तथा "आत्मना" एवं "आत्मनि" दोनों के साथ युक्त कर अन्वय करना होगा अर्थात् 'आत्मना एव आत्मनि एव तुष्टः' इस प्रकार अन्वय करना होगा। तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते—जिस समय पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा त्याग कर अर्थात् मन की सभी काम-(वासना) त्याग कर संन्यासी श्रवणादि द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर आत्मा-राम आत्मक्रीड़ होते हैं अर्थात् आत्मा द्वारा आत्मानन्द में डूबे रहते हैं उस समय (तदा) उनको स्थितप्रज्ञ या विद्वान् कहा जाता है। [चित्तशुद्धि प्राप्त कर एषणा मुमुक्षु आत्मतत्त्व के जिज्ञासु होकर वैराग्य द्वारा सभी एषणा (कामना) का त्यागरूप संन्यासाश्रम ग्रहण कर वेदान्तवाक्यादि के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के अभ्यास द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर सभी (झूठे) जगत् के विषयों से विमुख होकर उस परमार्थतत्त्व में (अद्वय ब्रह्मस्वरूप में) आसक्ति के कारण जब उस ब्राह्मीस्थिति के फलीभूत परितुष्टि (आनन्द) आत्मा में ही प्राप्त होते हैं तब उनको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। (आनन्दगिरि)] [यहाँ 'स्थितप्रज्ञ' शब्द का अर्थ 'समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ' है। श्रुति में भी कहा गया है "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (बृ० उ० ४।४।७) अर्थात् जो कामनायें इस पुरुष के हृदय में आश्रित रहती है वे जब प्रमुक्त होती हैं (छूट जाती हैं) उसी समय

मरणशील जीव अमृत हो जाते हैं, वे यही ब्रह्मत्व प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अमृत होना तथा ब्रह्मत्व प्राप्त करना और स्थितप्रज्ञ होना एक ही बात है। समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ व्यक्ति इन लक्षणवाचक शब्दों के द्वारा भाषित होते हैं (परिचित होते हैं या निरूपित होते हैं)। यही अर्जुन के पहले प्रश्न का उत्तर है। (मधुसूदन)]

(१) श्रीधर—[इस श्लोक में साधक की ज्ञानप्राप्ति के लिए जिन सब साधनों का वर्णन किया गया है वही सिद्ध का स्वाभाविक लक्षण है इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति के लक्ष्य जो सिद्ध पुरुष के लक्षण हैं उनके सम्बन्ध में कहने के उद्देश्य से ज्ञान के अंतरंग साधनों का वर्णन अध्याय के अन्त तक किया है। पूर्व श्लोक में अर्जुन ने जो चार प्रश्न किये उनमें पहले प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में दिया जा रहा है]। श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! यदा—जिस समय कोई ज्ञानी सर्वान् मनोगतान् कामान्—मन में स्थित सभी कामनायें प्रजहाति—प्रकृष्ट रूप से (सम्पूर्णरूप से) त्याग करता है (तब वह स्थितप्रज्ञ हुआ करते हैं)। इस त्याग के हेतु अर्थात् कैसे सभी कामों का त्याग किया जा सकता है वह अब कहा जा रहा है आत्मनि एव—परमानन्द रूप अपनी आत्मा में आत्मना—स्वयं अर्थात् अपने ही तुष्टः—परितृप्त होते हैं अर्थात् जब ज्ञानी (मुनि) सदा आत्माराम रहकर क्षुद्र विषयों की लालसा सम्पूर्ण रूप से त्याग करते हैं तब उस मुनि को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

(२) शंकरानन्द—[जो सिद्ध का लक्षण है वही साधक के प्रयत्न द्वारा सम्पादन करना होगा तथा ये सब लक्षण सिद्ध होने पर विद्वान् के प्रज्ञा की स्थिरता होती है एवं (मृत्यु के बाद) वह विदेहकैवल्य प्राप्त करता है इसलिये मुमुक्षु लोगों को वे सब लक्षण प्राप्ति के लिये यत्न के साथ साधन करना पड़ेगा यह सूचित करने के लिये अध्याय समाप्त होने तक ये सब लक्षणों को प्रतिपादन कर रहें हैं। अर्जुन ने पूर्व श्लोक में जो चार प्रश्न किये उनमें पहले प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान् इस श्लोक में दे रहें हैं]

मुमुक्षु श्रवणादि द्वारा सम्यक् रूप से आत्मतत्त्व को विशेषरूप से जानकर समाधि में स्थित होकर मनोगतान्—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मन के द्वारा ही देखना होगा) इस श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मस्वरूप को प्रकाश करने का मुख्य कारण (उपाय) जो मन है उसमें स्थित सर्वान् कामान्—'कामयन्तीति कामाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार काम शब्द का अर्थ विषय भोग की इच्छा। अतः सर्वान् कामान् सभी विषय भोग की इच्छा यदा—

जिस समय अर्थात् समाधि की सिद्धि की अवस्था में जिस समय प्रजहाति—सम्पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। [विषय वासना सम्पूर्णरूप से त्याग करने का कारण (हेतु) क्या हो सकता है वह अब कहते हैं—] आत्मनि एव—स्वतः सिद्ध, नित्य, कुटस्थ असंग, चिद्रूप, (सर्वत्र चक्षु के सम्मुख में जैसे रूप प्रकाशित रहता है उसी तरह सर्वत्र उपलभ्यमान) आनंदैकरस अपना स्वरूप आत्मा में ही क्रीड़ा करते हुये अर्थात् रमण करते हुये ब्रह्मवित् आत्मना—उक्त लक्षणयुक्त अपनी आत्मा द्वारा ही अर्थात् अपने स्वरूप से ही तुष्टः—स्वात्मानन्दरस अनुभव कर (निजानन्द में सन्तोष (तृप्ति) प्राप्त कर) जैसे अमृतरसपानकारी लवण जल त्याग करते हैं उसी तरह तुच्छ विषय और विषय भोग से उत्पन्न होनेवाले सुख का प्रकृष्टरूप से त्याग कर आत्मानन्द में निमग्न (डूबे) रहते हैं। इस प्रकार की अवस्था प्राप्ति होने पर विषय के सम्बन्ध में सभी काम (भोग की इच्छा) का त्याग हो जाता है (यही कहने का अभिप्राय है)। जब मुमुक्षु इस तरह के लक्षणयुक्त होते हैं तदा—तब स्थितप्रज्ञः उच्यते—ये 'स्थितप्रज्ञ' हुये हैं ऐसा पंडित लोग कहते हैं। इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसके द्वारा 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य' (जो सब कामनायें इन तत्त्वज्ञानी के हृदय में है वे सभी चली जाती हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्यों का अर्थ प्रतिपादित हो रहा है। काम की उत्पत्ति का कारण विषय समुह वर्त्तमान रहने पर तथा वे सब देखकर अनुभव करने पर विद्वान् के मनमें काम की उत्पत्ति होती है, इसलिये काम को पूर्णरूप से त्यागना सम्भव नहीं है, यह यदि कहो तो तुम से प्रश्न करेंगे कि विषय से जो काम उत्पन्न होता है वह विषय का स्वभाव है या पुरुष के स्वभाव के कारण होता है ? पहली बात नहीं हो सकती क्योंकि विषय को देखने से ही यदि काम का (भोग की इच्छा का) उदय होता तो तृण घास इत्यादि देखने से भोग की इच्छा होती किन्तु ऐसा नहीं होता है। दूसरा पक्ष युक्तियुक्त भी नहीं है क्योंकि स्त्री को देखने से बालक के काम का उदय हुआ है ऐसा नहीं देखा गया है। और यदि प्रश्न करो कि तब कैसे काम उदय होता है ? इसके उत्तर में कहेंगे "काम, जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे" (हे काम ! मैं तुम्हारा मूल अर्थात् कारण जानता हूँ; संकल्प से ही तुम उत्पन्न होते हो)। इस तरह स्मृति शास्त्र के वाक्य के अनुसार यही प्रतिपन्न होता है कि काम संकल्पमूलक (अर्थात् संकल्प ही काम का हेतु है)। फिर संकल्प वासना मूलक है क्योंकि वासना बिना किसी भी वस्तु में समीचीनत्व बुद्धि का (यह मुझे अनुकुल है—इसको मुझे प्राप्त करना होगा इस तरह की

बुद्धि का) उदय नहीं होगा और समीचीनत्वबुद्धिविना काम (भोगेच्छा) जाग्रत नहीं हो सकती है। इसलिये कामोत्पत्ति का एकमात्र कारण है विषय में भोग्यत्व वासना [अर्थात् विषय भोग्य है (भोग करने योग्य है) इस तरह की बुद्धि पूर्वक भोग करने की इच्छा]। भोग से उत्पन्न संस्कार का नाम वासना है। [विषय भोग करने से ही उस के अनुसार संस्कार भी उत्पन्न होते हैं और इस संस्कार से फिर विषय भोग करने की वासना उत्पन्न होती है। इसलिये विषय भोग जनित संस्कार से (अर्थात् वासना से) फिर भोग किये गये विषयों का दर्शन करने से उनमें पुनः भोग करने की वासना उत्पन्न होती है]। भोगत्व वासना के कारण ही विषय के प्रति काम उत्पन्न होता है तथा सभी प्राणियों की (उस कामसिद्धि के लिये) प्रवृत्ति होती है वह लोगों में तथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। विद्वान (ब्रह्मवित्) व्यक्ति निरन्तर (सदा ही) समाधि में अवस्थित रहते हैं तथा सदा ही सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं। इसलिये उनके लिये ब्रह्म (आत्मा के अतिरिक्त) दूसरी किसी भी वस्तु को ग्रहण करना सम्भव नहीं है। जैसे घट की आत्मा या स्वरूप मिट्टी ही है इस बात को जो जानते हैं उनके लिये घट को (मिट्टी से) पृथक् वस्तु रूप से ग्रहण करना असम्भव है। इसी प्रकार जो सब कुछ ब्रह्म-स्वरूप है इस तत्त्व को जान गये हैं उनके लिए ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और इस लिये उनकी विषय वासना (काम) स्वयं ही क्षीण (नष्ट) हो जाती है एवं अन्त में विशेष भाव से नष्ट हो जाती है। जैसे प्रकाश होने पर अन्धकार स्वयं ही नष्ट हो जाता है किन्तु कहा जाता है कि सूर्य ने अन्धकार को नाश किया है उसी प्रकार ज्ञान का उदय होने पर कामनाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं किन्तु 'वह नाश विद्वान् व्यक्ति के द्वारा हुआ है' ऐसा कहा जाता है और इसलिये इस श्लोक में कहा गया है 'प्रजहाति यदा' इत्यादि अर्थात् विद्वान् व्यक्ति जब कामनाओं का त्याग करते हैं इत्यादि। अतः यह सिद्ध होता है कि वासनाशून्यता (वासनारहित होना) ही विद्वान् का लक्षण है। इसलिये साधक को समाधि के अभ्यास द्वारा वासनाशून्य होना पड़ेगा, यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—'प्रजहाति यदा कामान् मनोगतान्'—

प्रश्न—काम किसको कहते हैं ?

उत्तर—विषयभोग की इच्छा को ही काम कहते हैं। काम होने पर चित्तवृत्ति उदय होगी अर्थात् मन के सम्मुख शब्द स्पर्शादि जो भी उपस्थित होता है चित्त वही आकार धारण करता है। चित्त को विषयाकार में आकारित

होने को वृत्ति कहा जाता है (चित्त तथा मन का शास्त्र में एक ही अर्थ में प्रायः व्यवहार होता है) अर्थात् काम मन की वृत्ति ही है। पातंजल योगशास्त्र में पाँच प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है। "वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः", "प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः" (पा० यो० १।५।६) अर्थात् वृत्ति पाँच प्रकार की है, जैसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा और स्मृति किन्तु परमार्थ साधन के लिये वे दो भागों में विभक्त की (बाटी) गई हैं जैसे—(१) क्लिष्ट तथा (२) अक्लिष्ट। क्रोध, द्वेष आदि वृत्तियाँ क्लेश के कारण हैं इसलिये उन सबको क्लिष्ट कहा जाता है। संसार बन्धन ही उन वृत्तियाँ का फल है, क्योंकि ऊपर कहे गये प्रमाण इत्यादि वृत्तियों द्वारा जिन सब वस्तुओं को जाना जा सकता है उन सब वस्तुओं के प्रति आसक्ति के कारण साधारण जीव कर्म करके सुख दुःख इत्यादि द्वारा आवद्ध होता है (लिपट जाता है)। फिर जो सब वृत्तियाँ अनात्म वस्तुओं से आत्मा को पृथक् कर आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की सहायक होकर क्लेश का नाश करती हैं तथा मुक्तिरूप फल प्रदान करती हैं उन सव को अक्लिष्ट कहते हैं। असल बात यह है कि मोह के कारण जगत् के विषय में चित्त की आसक्ति होने पर उस विषयाकार में आकारित चित्तवृत्ति पुरुष को संसार में बद्ध करती है, इसलिये वह क्लिष्टवृत्ति है। फिर परमात्मा के रूपादि के विषय में चित्त की परिणति होने पर उस शुभ विषयाकार में आकारित चित्तवृत्ति पुरुष के संसारवंधन को धीरे धीरे काट देती है, इसलिये वह अक्लिष्ट वृत्ति है। अक्लिष्ट वृत्ति अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह (धारा) में उत्पन्न होती है तथा वे अपने अक्लिष्ट संस्कार उत्पन्न करती हैं। बार बार अभ्यास द्वारा अक्लिष्ट संस्कारों की वृद्धि होने पर पहले वे क्लिष्टवृत्ति के प्रवाह या धारा का विरोध करती हैं (रोकती हैं) तथा फिर पूर्व वैराग्य के कारण वे सब भी (अर्थात् अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी) स्वयं विरुद्ध होती हैं। उसके बाद चित्त संस्कारमात्र रूप में रह जाता है। फिर वह संस्कार भी विलीन होकर मुक्तिप्राप्ति होती है। यह ही क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियों का अन्तर है।

पहले ही कहा गया है कि पाँच प्रकार की क्लिष्टवृत्ति जब तक है तब तक काम भी रहता है और जब तक काम है तब तक विषयानन्द के लिये ही जीव दौड़ते रहते हैं—आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द की खोज नहीं मिलती है। इस पाँच प्रकार की वृत्तियों का परिचय यह है—(१) प्रमाण (प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के करण को (उपाय को) प्रमाण कहते हैं)। प्रमाण तीन

प्रकार के होते हैं "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" (पा० यो० १।७) (क) प्रत्यक्ष प्रमाण—घटादि वस्तुओं के साथ सम्बन्ध हो जाने पर जो वृत्ति उस वस्तु का विशिष्टरूप निर्धारण करती है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

(ख) अनुमान प्रमाण—जिस तरह धूम देखकर पहाड़ में अग्नि है इस तरह की वृत्ति का उदय होता है उसको अनुमान प्रमाण कहा जाता है, इसमें व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा रहती है। जहाँ जहाँ धुम रहता है वहाँ वहाँ आग रहती है इस तरह का ज्ञान ही यहाँ "व्याप्तिज्ञान" है।

(ग) आगम प्रमाण—कोई आप्तव्यक्ति स्वयं किसी विषय को देखकर अथवा अनुमान कर जिन शब्दों द्वारा उपदेश करते हैं उस शब्द से श्रोता के मन में उस वस्तुविषयक जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसको आगम प्रमाण कहते हैं। वेद—वेदान्तादि वाक्यों को श्रवण कर यदि कोई पारमार्थिक विषय में वृत्ति का उदय होता है तब उसको भी आगम प्रमाण कहा जाता है।

(२) विपर्यय—"विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्"। (पा० यो० १।८) जिस पदार्थ का जो स्वरूप है उस स्वरूप को न जानकर यदि दूसरे प्रकार से उसे जाने तो उस ज्ञान को विपर्यय (या मिथ्याज्ञान) कहते हैं अर्थात् एक वास्तविक स्वरूप को न जानकर दूसरे रूप से जानना ही विपर्यय है जैसे कि रज्जु (रस्सी) को सर्परूप से जानना। अविद्या या अज्ञान से (वस्तु का ठीक ठीक स्वरूप न जानने के कारण भ्रमज्ञान होने पर) पंचक्लेश होता है। [पंचक्लेश—(क) अविद्या (ख) अस्मिता (द्रष्टा और दृश्य की एकात्मता—जैसे शरीररूप जड़ दृश्य पदार्थ में चैतन्य-स्वरूप पुरुष का आत्मबोध) (ग) राग अर्थात् सुखबोध में आसक्ति (घ) द्वेष (दुःखबोध में हेयत्व बुद्धि) (ङ) अभिनिवेश (मृत्युभय) (पा० यो० २।३)] ये सभी इस 'विपर्यय' वृत्ति के अन्तर्गत हैं।

(३) विकल्प—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (पा० यो० १।९)। जो वृत्ति केवलमात्र शब्दज्ञान को आश्रय कर उसके अनुसार उत्पन्न होती है किन्तु जो शब्द का अवलम्बन स्वरूप कोई भी वस्तु नहीं है उसको विकल्पवृत्ति कहा जाता है, जैसे मनुष्य शृंग, आकाश–कुसुम आदि शब्द सुनने के बाद एक प्रकार से वस्तुशून्य वृत्ति उत्पन्न कर व्यवहार का कारण होता है अर्थात् आकाश–कुसुम आदि वस्तु न रहने पर भी वह सुनने के बाद एक प्रकार की वृत्ति उदय होती है जिसके द्वारा लौकिक व्यवहार सम्पन्न होता है। यह ही विकल्प है।

(४) निद्रा—"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा (पा० यो० १।१०) अभाव—जाग्रद्वृत्ति तथा स्वप्नवृत्ति समुह का अभाव। प्रत्यय—उस अभाव का हेतु अर्थात् तमोगुण। वह तमोगुण ही आलम्बन अर्थात् विषय है जो वृत्ति का (सुषुप्ति की अज्ञानवृत्ति का), उस वृत्ति को निद्रा कहते है। [प्रत्यय = हेतु]।

(५) स्मृति—"अनुभूक्तविषयासंप्रमोषः स्मृतिः" (पा० यो० १।११) जिस विषय का अनुभव किया गया है उसका असंप्रमोष (अर्थात् अनुभूत विषय मात्र का ही ग्रहण तथा उससे अधिक विषयों का अग्रहण) उसको स्मृति कहा जाता है। ज्ञान जब चित्तवृत्ति में अवस्थित होता है तब उसको अनुभव कहते है। अनुभव से ही सभी संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा स्मृति उन सब संस्कारों द्वारा ही अनुभूत विषयों को जाग्रत करती है।

काम त्याग करने पर ही उपर कही गई पाँच प्रकार की वृत्ति तथा उसके द्वारा पंचक्लेश का त्याग होता है। तभी स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप आत्मा का आविर्भाव होता है। इसलिये शास्त्र में कहा गया है—

यदि वर्षसहस्राणि तपश्चरसि दारुणम्।
यदि वा विलयात्मानं शिलायां चूर्णयस्यलम्॥
यदि वाग्निं प्रविशसि वड़वाग्निमथापि वा।
यदि वा पतसि श्वभ्रे खड्गधाराजवे तथा॥
हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलासनोऽपि वा।
अत्यन्तकरुणाक्रान्तो लोकनाथोऽथवा यतिः॥
पातालस्थस्य भूस्थस्य स्वर्गस्थस्यापि तत् तव।
नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति संकल्पोपशमादृते॥

अर्थात् यदि तुम सैकड़ों साल कठोर तपस्या करो, नश्वर देह को पत्थर के नीचे चूर्णित करो, अग्नि में या वड़वानल में प्रवेश करो, गड्ढे में गिर जाओ या अति वेग से क्षिप्त खड्ग की धार में पतित हो और यदि स्वयं हर, हरि, ब्रह्मा अथवा लोकनाथ दत्तात्रेयादि भी करुणा के वश होकर तुमको उपदेश दें, तुम पाताल में ही रहो या पृथ्वी में भी रहो अथवा स्वर्ग में ही रहो संकल्प का (काम समुह का) उपशम अर्थात् सम्पूर्णरूप से परित्याग करने के अलावे मेरे साथ (सच्चिदानन्द परमात्मा में) नित्यस्थित का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। प्रारम्भ में ही कोई सभी कामना से रहित नहीं हो सकता है। इसलिये शुभकामना का आश्रय कर अशुभ कामना (शास्त्रविरुद्ध कामना) का त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्त्तव्य-

कर्म पालन करना चाहिये। फिर धीरे धीरे शुभ कामना को भी छोड़कर पूर्ण-रूप से निष्काम होकर कर्म करना सम्भव होता है। उसके पश्चात् चित्तशुद्धि होने पर तत्त्वज्ञान का उदय होता है और उसके फलस्वरूप आत्मरति, आत्म-तृप्त होने पर कोई कार्य न रहने पर (गीता ३।१७) सभी कर्म का स्वतः ही त्याग हो जाता है। इस अवस्था में पहले जो विषय काम था (विषय के लिये वासना थी) वही आत्मप्रेम (आत्मा के लिये काम अर्थात् प्रेम) में परिणत होता है। इस प्रकार आत्मा में आत्मा द्वारा सन्तुष्ट रहने पर ही अर्थात् आत्माराम होने पर ही स्थितप्रज्ञ को अवस्था प्राप्त होती है। यही समाधि स्थितप्रज्ञ की भाषा है (परिचय) अर्थात् जब सर्वकामरहित होकर आत्मा द्वारा (स्वरूपानन्द में ही) योगी तुष्ट रहते हैं तब वह स्थितप्रज्ञ हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

[समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ का लक्षण पूर्व श्लोक में कहा गया है। परवर्ती कुछ श्लोकों में स्थितप्रज्ञ की व्युत्थानावस्था में जिस प्रकार भाषण, उपवेशन तथा गमन होता है [जो कि मोहग्रस्त लोगों के स्वभाव से पृथक् है] उसकी व्याख्या की जायेगी। वर्त्तमान श्लोक में अर्जुन के दूसरे प्रश्न का उत्तर अर्थात् "किं प्रभाषेत" अर्थात् 'स्थितप्रज्ञ कैसी भाषा प्रयोग करते हैं' इस प्रश्न के उत्तर में इन दो श्लोकों में कहा जा रहा है—]

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

अन्वय—(यः) दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः (तथा) सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः (सः) मुनिः स्थितधीः उच्यते।

अनुवाद—दुःख प्राप्ति होने पर भी जिनका चित्त उद्विग्न (चंचल) नहीं होता है, सुख में जिनकी स्पृहा (इच्छा) नहीं है, जो अनुराग, भय तथा क्रोधरहित हुए हैं, ऐसे मुनि अर्थात् मननशील व्यक्ति स्थितधी हैं अर्थात् उनको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दीपिका। (यः) दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः—जो आध्यात्मिक, आधि-दैविक तथा आधिभौतिक ये तीन प्रकार के दुःख प्राप्त होने पर अर्थात् प्रारब्ध पापकर्मों के प्रभाव से दुःख उपस्थित होने पर (मधुसूदन) इसके लिये जिनका मन उद्विग्न नहीं होता है अर्थात् दुःख परिहार करने में अक्षम होने पर भी जिनका मन व्याकुल नहीं होता है। [दुःख तीन प्रकार के हैं—जो दुःख मानसिक या दैहिक कारण से (यथा शोक, मोह, ज्वर, शिरारोग

इत्यादि से) उत्पन्न होता है, उसको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। दैव कारण से (जैसे वात्या या तुफान, अतिवृष्टि, भूकम्प इत्यादि से) जो दुःख उत्पन्न होता है वह आधिदैविक दुःख है और जो दुःख भूतवर्ग अर्थात् अन्य प्राणियों से (जैसे चोर, बाघ, साँप इत्यादि से) उत्पन्न होता है उसको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। इन तीन प्रकार के दुःख उपस्थित होने पर जिनके मन में किसी प्रकार का उद्वेग या चिन्ता नहीं होती है, उनको 'अनुद्विग्नमनाः' कहा गया है। अविवेकी व्यक्ति को यदि दुःख उपस्थित हो तब 'हाय ! मैं कितना पापी हूँ ? कौन मेरा यह दुःख दूर करेगा ?, इस प्रकार के अनुताप से भ्रमरूपी तामस (तमोगुण का कार्य) उद्वेग नाम का चित्त का वृत्तिविशेष उत्पन्न होता है। पापकार्य करने के समय यदि मन की अवस्था ऐसी होती तो वह पाप कार्य की प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक होकर सफल होता अर्थात् वैसा होने से उनकी पापकार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु अज्ञानी व्यक्ति को वैसा नहीं होता है। जब कि पापकर्मरूपी कारण वर्त्तमान है तब उसका कार्य अर्थात् फलस्वरूप दुःख,दुःख का भोग भी अवश्यम्भावी है। इसलिये फल भोगने के समय उस प्रकार का उद्वेग निष्फल है अर्थात् उससे दुःख का कोई प्रतिकार नहीं होता है। इसलिये दुःख का कारण रहने पर भी 'मुझे क्यों दुःख हो रहा है' इस तरह का विवेकहीन भ्रम विवेकी स्थितप्रज्ञ का होना असम्भव है, क्योंकि वे जानते हैं पूर्वकृत कर्म से आये हुये दुःख को परित्याग करना (दुःख से छुटकारा पाना) असम्भव है। ज्ञानी को केवल दुःख आदि ही प्रारब्ध कर्म से प्राप्त होता है किन्तु ज्ञान होने के बाद भ्रम भी प्रारब्ध में ही रहेगा ऐसी कोई बात नहीं है। भ्रम अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह तत्त्वज्ञान द्वारा स्थितप्रज्ञ को पहले ही नष्ट हो जाता है। इसलिये उनको भ्रम रहना असम्भव है लेकिन भ्रमनिवृत्ति के बाद भी देहयात्रा के निर्वाह के लिये स्थितप्रज्ञ में जो कर्म दिखाई देता है वह प्रारब्ध कर्म के फल के अनुसार होता है क्योंकि प्रारब्धकर्मफल (भ्रम की निवृत्ति के बाद भी 'बाधितानुवृत्या' अर्थात् कुम्भकार के चक्र की तरह) संस्कार के कारण चलता रहता है। कहने का यही अभिप्राय है कि प्रारब्ध कर्म के प्रभाव से स्थितप्रज्ञ की देह का आरम्भ हुआ है। भ्रमनिवृत्ति के बाद भी वही (प्रारब्ध ही) उनकी देहयात्रा का नियामक होता है। प्रारब्ध द्वारा प्रेरित होकर ही वे देहयात्रा निर्वाह के लिये भिक्षादि कर्म करते हैं किन्तु वे अज्ञानमूलक राग के कारण (आसक्ति के कारण) कोई कर्म नहीं करते हैं। प्रारब्ध कर्म के अनुसार उनके शरीर मात्र का सुख या दुःख का भोग होता है लेकिन इसके लिये उनमें 'हम

सुखी हैं, हम दुःखी हैं' इस तरह का अज्ञानमूलक कोई अभिमान नहीं रहता है। वे भोगावस्था में ही जान जाते हैं कि ये सब सुख, दुःख देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि का धर्म है। निर्विकार आत्मा को वे स्पर्श भी नहीं कर पाते, इसलिये ये सब की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसलिये किसी भी तरह का दुःख ज्ञानी पुरुष को उद्वेग नहीं पहुँचाता। (मधुसूदन)]

(तथा) सुखेषु विगतस्पृहः—उसी तरह सुख प्राप्त होने से भी अर्थात् जो सत्त्वगुण के परिणामरूप चित्तवृत्तिविशेष है तथा जो प्रारब्ध पूण्यकर्म के प्रभाव से प्राप्त होता है उस आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक सुख को प्राप्त होने से भी जिनको उस सुख के लिये किसी प्रकार की स्पृहा अथवा तृष्णा नहीं रहती है (मधुसूदन) काष्ठसंयोग से अग्नि जिस तरह वृद्धि लाभ करती है, उसी तरह पूर्वकृत सुकृति के फलस्वरूप सुखलाभ होने से जिनकी तृष्णा ('ऐसा सुख मुझे फिर भविष्य में हो' इस प्रकार की स्पृहा) नहीं होती है वही व्यक्ति विगतस्पृह' है। [सुख धर्मरूप कारण से उत्पन्न होता है। इसलिये किसी भी प्रकार सुखप्राप्त होने से धर्म का अनुष्ठान न कर मुझे इस तरह की सुखप्राप्ति हो इस प्रकार की निष्फल तृष्णा (आकांक्षा) तमोगुणजनित चित्तवृत्तिविशेष से उत्पन्न होती है। अतः वह भी भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और वह अविवेकी पुरुष में ही होती है बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता है। दुष्कृति के कारण दुःखप्राप्ति होने से पूर्वकृत पापरूप कारण रहते हुये भी दुःखरूप कार्य न हो इस प्रकार का अज्ञानमय उद्वेग विवेकी पुरुष को जिस तरह नहीं होता है उसी तरह पूर्वकृत सुकृति के फलस्वरूप सुखप्राप्ति होने से, कारण न रहते हुये भी (अर्थात् अधिकतर धर्मानुष्ठानरूप कारण न रहने पर भी), उस प्रकार का सुख और हो अर्थात् सुख की वृद्धि हो ऐसी वृथा (निष्फल) अज्ञाननिमित्त स्पृहा होना भी उनके लिए संभव नहीं है। दूसरी बात स्पृहा शब्द का अर्थ यदि हर्ष (अर्थात् हर्षात्मक चित्तवृत्तिविशेष) हो तब वह भी अज्ञान का ही कार्य है कारण 'अहो! मैं धन्य हूँ! मुझे इस तरह की सुखप्राप्ति हुई है। त्रिभुवन में मेरे समान और कौन है ? कौन ऐसा उपाय है कि जिससे मेरा सुख का विच्छेद न हो अर्थात् सुख का नाश कभी भी न हो इस प्रकार की उत्फुल्लता भी तामस चित्तवृत्तिविशेष से उत्पन्न होती है। इसलिये भगवान् शंकराचार्य ने उनके भाष्य में कहा है—इन्धनादि अग्नि में देने पर जैसे अग्नि विशेषरूप से वृद्धि प्राप्त करती है उसी तरह विषयसुख प्राप्त होने से जिनकी तृष्णारूप अग्नि वृद्धि को प्राप्त न करें वह

इत्यादि से) उत्पन्न होता है, उसको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। दैव कारण से (जैसे वात्या या तुफान, अतिवृष्टि, भूकम्प इत्यादि से) जो दुःख उत्पन्न होता है वह आधिदैविक दुःख है और जो दुःख भूतवर्ग अर्थात् अन्य प्राणियों से (जैसे चोर, बाघ, साँप इत्यादि से) उत्पन्न होता है उसको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। इन तीन प्रकार के दुःख उपस्थित होने पर जिनके मन में किसी प्रकार का उद्वेग या चिन्ता नहीं होती है, उनको 'अनुद्-विग्नमनाः' कहा गया है। अविवेकी व्यक्ति को यदि दुःख उपस्थित हो तब 'हाय ! मैं कितना पापी हूँ ? कौन मेरा यह दुःख दूर करेगा ?, इस प्रकार के अनुताप से भ्रमरूपी तामस (तमोगुण का कार्य) उद्वेग नाम का चित्त का वृत्तिविशेष उत्पन्न होता है। पापकार्य करने के समय यदि मन की अवस्था ऐसी होती तो वह पाप कार्य की प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक होकर सफल होता अर्थात् वैसा होने से उनकी पापकार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु अज्ञानी व्यक्ति को वैसा नहीं होता है। जब कि पापकर्मरूपी कारण वर्त्तमान है तब उसका कार्य अर्थात् फलस्वरूप दुःख,दुःख का भोग भी अवश्यम्भावी है। इसलिये फल भोगने के समय उस प्रकार का उद्वेग निष्फल है अर्थात् उससे दुःख का कोई प्रतिकार नहीं होता है। इसलिये दुःख का कारण रहने पर भी 'मुझे क्यों दुःख हो रहा है' इस तरह का विवेकहीन भ्रम विवेकी स्थितप्रज्ञ का होना असम्भव है, क्योंकि वे जानते हैं पूर्वकृत कर्म से आये हुये दुःख को परित्याग करना (दुःख से छुटकारा पाना) असम्भव है। ज्ञानी को केवल दुःख आदि ही प्रारब्ध कर्म से प्राप्त होता है किन्तु ज्ञान होने के बाद भ्रम भी प्रारब्ध में ही रहेगा ऐसी कोई बात नहीं है। भ्रम अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह तत्त्वज्ञान द्वारा स्थितप्रज्ञ को पहले ही नष्ट हो जाता है। इसलिये उनको भ्रम रहना असम्भव है लेकिन भ्रमनिवृत्ति के बाद भी देहयात्रा के निर्वाह के लिये स्थितप्रज्ञ में जो कर्म दिखाई देता है वह प्रारब्ध कर्म के फल के अनुसार होता है क्योंकि प्रारब्धकर्मफल (भ्रम की निवृत्ति के बाद भी 'बाधितानुवृत्या' अर्थात् कुम्भकार के चक्र की तरह) संस्कार के कारण चलता रहता है। कहने का यही अभिप्राय है कि प्रारब्ध कर्म के प्रभाव से स्थितप्रज्ञ की देह का आरम्भ हुआ है। भ्रमनिवृत्ति के बाद भी वही (प्रारब्ध ही) उनको देह-यात्रा का नियामक होता है। प्रारब्ध द्वारा प्रेरित होकर ही वे देहयात्रा निर्वाह के लिये भिक्षादि कर्म करते हैं किन्तु वे अज्ञानमूलक राग के कारण (आसक्ति के कारण) कोई कर्म नहीं करते हैं। प्रारब्ध कर्म के अनुसार उनके शरीर मात्र का सुख या दुःख का भोग होता है लेकिन इसके लिये उनमें 'हम

सुखी हैं, हम दुःखी हैं' इस तरह का अज्ञानमूलक कोई अभिमान नहीं रहता है। वे भोगावस्था में ही जान जाते हैं कि ये सब सुख, दुःख देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि का धर्म है। निर्विकार आत्मा को वे स्पर्श भी नहीं कर पाते, इसलिये ये सब की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसलिये किसी भी तरह का दुःख ज्ञानी पुरुष को उद्वेग नहीं पहुँचाता। (मधुसूदन)]

(तथा) सुखेषु विगतस्पृहः—उसी तरह सुख प्राप्त होने से भी अर्थात् जो सत्त्वगुण के परिणामरूप चित्तवृत्तिविशेष है तथा जो प्रारब्ध पुण्यकर्म के प्रभाव से प्राप्त होता है उस आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक सुख को प्राप्त होने से भी जिनको उस सुख के लिये किसी प्रकार की स्पृहा अथवा तृष्णा नहीं रहती है (मधुसूदन) काष्ठसंयोग से अग्नि जिस तरह वृद्धि लाभ करती है, उसी तरह पूर्वक्त सुकृति के फलस्वरूप सुखलाभ होने से जिनकी तृष्णा ('ऐसा सुख मुझे फिर भविष्य में हो' इस प्रकार की स्पृहा) नहीं होती है वही व्यक्ति विगतस्पृह' है। [सुख धर्मरूप कारण से उत्पन्न होता है। इसलिये किसी भी प्रकार सुखप्राप्त होने से धर्म का अनुष्ठान न कर मुझे इस तरह की सुखप्राप्ति हो इस प्रकार की निष्फल तृष्णा (आकांक्षा) तमोगुणजनित चित्तवृत्तिविशेष से उत्पन्न होती है। अतः वह भी भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और वह अविवेकी पुरुष में ही होती है बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता है। दुष्कृति के कारण दुःखप्राप्ति होने से पूर्वक्त पापरूप कारण रहते हुये भी दुःखरूप कार्य न हो इस प्रकार का अज्ञानमय उद्वेग विवेकी पुरुष को जिस तरह नहीं होता है उसी तरह पूर्वक्त सुकृति के फलस्वरूप सुखप्राप्ति होने से, कारण न रहते हुये भी (अर्थात् अधिकतर धर्मानुष्ठानरूप कारण न रहने पर भी), उस प्रकार का सुख और हो अर्थात् सुख की वृद्धि हो ऐसी वृथा (निष्फल) अज्ञाननिमित्त स्पृहा होना भी उनके लिए संभव नहीं है। दूसरी बात स्पृहा शब्द का अर्थ यदि हर्ष (अर्थात् हर्षात्मक चित्तवृत्तिविशेष) हो तब वह भी अज्ञान का ही कार्य है कारण 'अहो! मैं धन्य हूँ! मुझे इस तरह की सुखप्राप्ति हुई है। त्रिभुवन में मेरे समान और कौन है? कौन ऐसा उपाय है कि जिससे मेरा सुख का विच्छेद न हो अर्थात् सुख का नाश कभी भी न हो इस प्रकार की उत्फुल्लता भी तामस चित्तवृत्तिविशेष से उत्पन्न होती है। इसलिये भगवान् शंकराचार्य ने उनके भाष्य में कहा है—इन्धनादि अग्नि में देने पर जैसे अग्नि विशेषरूप से वृद्धि प्राप्त करती है उसी तरह विषयसुख प्राप्त होने से जिनकी तृष्णारूप अग्नि वृद्धि को प्राप्त न करें वह

विगतस्पृह है। विवेकी पुरुष के लिये विषय सुख की स्पृहा सम्भव नहीं है क्योंकि वे जानते हैं कि दुःख की तरह सुख भी अनात्म (अन्तःकरण) का ही धर्म है। अतः आत्मा में स्थित स्थितप्रज्ञ (ब्रह्मनिष्ठ) सुख अथवा दुःख से विचलित नहीं होते हैं। बाद में भी श्रीभगवान् कहेंगे—"न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढ़ो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ (गीता ५।२०) अर्थात् स्थिरबुद्धि मोहशून्य तथा सदा ब्रह्मदर्शनतत्पर ब्रह्मज्ञ व्यक्ति प्रिय वस्तु प्राप्ति से हर्षित नहीं होता हैं (अर्थात् हर्ष तथा विषादरहित होते हैं)। अतः उत्फुल्लतारूप स्पृहा भी विवेकी पुरुष में नहीं होती, क्योंकि वह भी भ्रान्ति ही है। (मधुसूदन)] (तथा) वीतरागभयक्रोधः—उसी तरह राग (आसक्ति) भय तथा क्रोध जिनके हृदय से 'वीत' अर्थात् विगत हुये हैं वह [राग शब्द का अर्थ शोभनाध्यासवश यह शोभन (सुन्दर) है", "यह मेरे लिये अनुकूल है" इस प्रकार की भावना (कल्पना) रहने के कारण उस उस विषय में अत्यन्त अभिनिवेशरूप अनुराग नामक चित्त वृत्तिविशेष]। विषय सब मिथ्या है फिर भी उसमें सत्यत्वबुद्धि लाकर आसक्ति लाना अज्ञान का लक्षण है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु को पारमार्थिक सत्ता नहीं है अर्थात् दृश्य वस्तु मात्र ही उनकी दृष्टि में मिथ्या (झूठी) है। अतः ज्ञानी पुरुष की आत्मा से अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु में राग (अनुराग) होना सम्भव नहीं है। अज्ञानी के अनुराग का जो विषय है उनका नाश करने वाली कोई भी वस्तु उपस्थित होने पर उसका निवारण करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है ऐसा सोचकर जो दीनतारूप चित्तवृत्तिविशेष की उत्पत्ति होती है वही है भय। और जब उस अनुराग के विषय को नष्ट करने के लिये कोई वस्तु उपस्थित होती हैं तब उसका निवारण करने के लिए (रोकने के लिए) सामर्थ्य उनका है ऐसा सोचकर उस प्रतिकूल वस्तु के प्रति जो अभिज्वलनात्मक (भितर में दाह करने वाला) चित्तवृत्तिविशेष का उदय होता है उसे क्रोध कहा जाता है। राग, भय तथा क्रोध सब ही विपर्यय (मिथ्याज्ञान) से उत्पन्न होते हैं। ये सब जिनसे विगत (विशेषरूप से नष्ट) होते हैं वे 'वीतरागभयक्रोध' हैं। विवेकी पुरुष तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ये सब भावनाये त्याग करते हैं अतः स्वभावतः 'वीतरागभयक्रोध' होते हैं। (मधुसूदन)] [आनन्दगिरि के मतानुसार रागः—अनुभूत विषयों में अभिनिवेशवश अनुरागात्मक तृष्णाविशेष; भयम्—दूसरे के द्वारा अपकृत होकर (अनिष्ट प्राप्तकर) जो चित्तवृत्ति उत्पन्न होकर गात्रनेत्रादि के विकार का कारण होतो है उसे भय कहते हैं। क्रोधः—शत्रु

द्वारा वशीभूत होने पर अपने शत्रु का अपकार (हानि) करने की प्रवृत्ति के कारणरूप जो बुद्धिवृत्तिविशेष उत्पन्न होता है उसे क्रोध कहा जाता है]।

स मुनिः स्थितधीः उच्यते—एतादृश (सः) आत्मतत्त्वमननशील संन्यासी (मुनिः) स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं (स्थितधीः उच्यते) [मनुते इति मुनिः—आत्मतत्त्ववित् (आनन्दगिरि)]। इन लक्षणों से विशिष्ट स्थितप्रज्ञ व्यक्ति व्युत्थानावस्था में अपने अनुभव को प्रकाश कर शिष्यों की शिक्षा के लिये अनुद्वेगत्व, निःस्पृहत्व प्रभृति भाषाओं (लक्षणों) का व्यवहार करते हैं।

[इसके द्वारा 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' यह दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया। अतः दूसरे मुमुक्षु व्यक्ति को भी इस दृष्टान्त के अनुसार दुःख में उद्विग्न नहीं होना चाहिये तथा सुख उपस्थित होने पर भी हर्षित (उत्फुल्ल) होना नहीं चाहिये तथा उन्हें राग, भय तथा क्रोध आदि रहित होना आवश्यक है यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)]।

(१) श्रीधर–[फिर] दुःखेषु–दुःख प्राप्त होने पर भी अनुद्विग्नमनाः जिनका मन अनुद्विग्न अर्थात् अक्षुभित रहता है। सुखेषु—तथा सुख प्राप्त होने पर भी इसमें विगतस्पृहः–जिनकी (सुख के लिए) स्पृहा विगत हो चुकी है [कैसे ये होना सम्भव है उसका कारण कहते हैं] वीतरागभयक्रोध—क्योंकि उनके मन से राग (प्रीति), भय एवं क्रोध वीत अर्थात् अपगत (दूरीभूत) हुये हैं इस प्रकार के लक्षणयुक्त मुनि को स्थितधीः—स्थितप्रज्ञः उच्यते—कहा जाता है।

(२) शंकरानन्द—मुमुक्षु के लिये यह साधन अवश्य कर्त्तव्य है यह सूचित करने के लिये सिद्ध का दूसरा लक्षण अब कह रहे हैं—]

दुःखेषु—दुःखदायक ज्वर, शूल, शिरोवेदनादि आध्यात्मिक,—चोर, सर्प, व्याघ्रादि आधिभौतिक,—तथा वर्षा, वायु, आतपादि (धूप इत्यादि) आधिदैविक उपद्रवों से दुःख प्राप्त होने पर अनुद्विग्नमनाः—"क्या करें, कहाँ जायें इस तरह की विक्षेपरूप व्यथा (दुःख) से जिनका मन मुक्त है अर्थात् समाधिनिष्ठ रहने के कारण जिनका चित्त उक्त तीन प्रकार के उपद्रवों से अक्षुब्ध (अविचलित) रहता है उनको 'अनुद्विग्नमनाः' कहते हैं। उसी प्रकार सुखेषु—मिष्टान्न रस आदि स्वयं (अर्थात् विना प्रयत्न से) प्राप्त होने पर भी वे विगतस्पृहः—स्पृहारहित हैं। [वि—विशेषरूप से अर्थात् सम्पूर्ण-रूप से गता—निर्गता (नष्ट) हुयी है जिनकी स्पृहा अर्थात् रसनादि (जिह्वा प्रभृति) इन्द्रियसमूह का लौल्य (लोभ या लोलुपता) उनको 'विगतस्पृह'

कहते हैं अर्थात् स्वानन्दरस (आत्मानन्दरस) आस्वादन में मग्न रहने के कारण जो क्षणिक सुखदायक जागतिक किसी भी वस्तु में आदरबुद्धि नहीं रखते हैं वे ही 'सुखेषु विगतस्पृह' है।

वीतरागभयक्रोधः—उपकारी के प्रति राग (अनुराग या प्रीति), अत्यन्त अपकारी के प्रति क्रोध (द्वेष या अप्रीति) तथा मृत्यु का कोई भी कारण उपस्थित होने रर भय—ये तीनों सदा आत्मनिष्ठ रहने के कारण जिनसे वीत है (अर्थात् जिनको प्राप्त नहीं होते हैं) अर्थात् प्रीति, अप्रीति, तथा भय का हेतु तथा उनके कार्य हर्ष, अमर्ष, गात्र कम्पनादि जिनको विषय नहीं कर सकते (जिनको स्पर्श नहीं कर पाते) वे 'वीतरागभयक्रोध' हैं। दुःखादि में विषादादि का उदय क्यों नहीं होता है उसे कहते हैं—मुनिः—[मननशील] जो कुछ सुना जाता है, जो कुछ देखा जाता है, जो कुछ स्पर्श किया जाता है उन सब पदार्थों को प्रत्यगदृष्टि से वह तत्त्वज्ञानी ब्रह्म ही मानता हैं तथा ब्रह्मरूप में ही देखता है और जानता है (वस्तुओं को भिन्न भिन्न आकार में नहीं देखता है या नहीं जानता हैं)। इसलिये वह मुनि अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ है। इस प्रकार के लक्षणयुक्त जो होते हैं उनको स्थितधीः—स्थितप्रज्ञ अर्थात् सिद्ध उच्यते—कहते हैं। इससे ये सूचित होता है कि जो सुख दुःखादि बाह्य (बाहर का) अवलम्बन से रहित हैं अर्थात् सुख दुःखादि की जो अपेक्षा नहीं करते हैं तथा सत् ब्रह्म में (अखंडाद्वय आत्मस्वरूप में) जो निष्ठावान् हैं उनको ही सम्यक् ज्ञानलाभ होता है। और वे ही विदेहमुक्ति प्राप्त हो सकते हैं। सम्यक् प्रकार से सिद्धि प्राप्त ब्रह्मवित् आपद् में (दुःख में) तथा सम्पद् में (सुख में) विषाद या हर्षप्राप्त नहीं होते [अतः] वह कुछ कहते नहीं हैं किन्तु स्वयं अपने आत्मस्वरूप में सदा स्थिर होकर (चुप होकर) रहते हैं। इस प्रकार से स्थितप्रज्ञ 'किं प्रभाषेत' इस दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की भाषा (लक्षण) अर्थात् जिस लक्षण को देखकर दूसरा व्यक्ति समझ जाये कि यह महात्मा स्थितप्रज्ञ है यह कहा गया है। इस श्लोक में व्युत्थित स्थित प्रज्ञ पुरुष स्वयं 'किं प्रभाषेत' (क्या कहते हैं अर्थात् शब्द का व्यवहार किस प्रकार करते हैं)यह कहा गया है कोई भी व्यक्ति जो कुछ करता है या कहता है वह दुःख प्राप्ति से उद्विग्न होकर दुःख परिहार करने के लिये करता है या कहता है अथवा सुख प्राप्ति की इच्छा से करता है या कहता है। स्थितप्रज्ञ जानते हैं कि सुख दुःख अनात्मा का (देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण का),

धर्म है। पूर्वकृत पाप के फल रूप से दुःख तथा पुण्य के फल रूप से सुख इसी जन्म में देह के प्रारब्ध के अनुसार भोग करना ही पड़ेगा। 'मैं सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ, मैं देहादि से विलक्षण तथा सुख दुःखादि का साक्षी हूँ, पारमार्थिक दृष्टि में सुखदुःखादि की भी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है क्योंकि वे सब काल्पनिक हैं, 'मैं' (आत्मा ही) एकमात्र सत्य वस्तु हूँ तथा उन कल्पित सुखदुःखादि का एकमात्र अधिष्ठान सत्ता हूँ', इस तरह मनन कर अर्थात् मुनि होकर स्थितप्रज्ञ अपनी अखंडाद्वय सत्ता में स्थिर तथा अविचलित रहते हैं। दुःख में उद्विग्न (क्षोभित या विषादप्राप्त) नहीं होते तथा सुख प्राप्ति होने पर हर्षित होकर और सुख प्राप्ति की इच्छा नहीं करते। अनुकूल सुख की इच्छा नहीं है अतः किसी वस्तु के प्रति राग भी (अनुराग भी) नहीं रहता है दुःख के लिये उद्वेग नहीं है अतः दुःख के कारण किसी प्रतिकुल वस्तु के प्रति क्रोध भी नहीं रहता है आत्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु की सत्ता उनकी दृष्टि में नहीं रहती है, अतः उन्हें किसी से भय होना भी सम्भव नहीं है। अतः स्थितप्रज्ञ मुनि राग, भय तथा क्रोध रहित होकर सभी अवस्था में आत्मानन्द में ही डूबे रहते हैं यही उनका भाषण है।

[स्थितप्रज्ञ की व्युत्थानावस्था के और भी लक्षण कहकर मुमुक्षु का और क्या कर्त्तव्य है वह कहा जा रहा है—]

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अन्वय—यः सर्वत्र अनभिस्नेहः (सन्) तत्तत् शुभाशुभम् प्राप्य न अभिनन्दति (तथा), न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

अनुवाद—जो विषय में स्नेहयुक्त नहीं है अर्थात् सभी वस्तुओं में आसक्ति रहित है तथा शुभ अथवा अशुभ विषय प्राप्त कर भी आनन्दित नहीं होता है अथवा विद्वेष प्रकाश नहीं करता है उन्ही की प्रज्ञा परमात्मा में प्रतिष्ठित हुई है (स्थिरता को प्राप्त हुई है) अर्थात् वही स्थितप्रज्ञ हैं।

दीपिका। यः—जो मननशील व्यक्ति (मुनि) सर्वत्र—सभी विषय में जैसा कि अपने देह के जीवनादि में भी अनभिस्नेहः—[अन्य व्यक्ति सम्बन्धी हानि वृद्धि अपने उपर आरोपित कर स्नेह या प्रेमरूप जो तामसवृत्ति विशेष (अज्ञानजनित वृत्तिविशेष) चित्त में उदित होता है उन्हें 'अभिस्नेह'

कहा जाता है। जो सम्पूर्णतया इस प्रकार के स्नेह से रहित है वह 'अनभिस्नेह' है (मधुसूदन)] ज्ञानी की इस प्रकार की अज्ञानवृत्ति नहीं रहती है-- परमात्मा में ही निरन्तर उनका स्नेह या प्रेम रहता है। इसलिये मिथ्या (झूठे) जागतिक विषयों में यहाँ तक की अपने जीवन का रक्षा के व्यापार में भी वे स्नेहरहित होते हैं क्योंकि वे जान गये हैं कि जागतिक सभी वस्तु कल्पना से उत्पन्न है, कल्पना में स्थित हैं तथा कल्पना में ही लय होती है, अतः ये सब (मिथ्या) भूठा हैं। एकमात्र परमात्मस्वरूप चैतन्य वस्तु ही सर्वत्र व्याप्त होकर सत् रूप में स्थित है—रस्सी में सर्प भ्रान्ति की सदृश उस अखंड अद्वय परमार्थ सद् वस्तु में हो--भ्रान्तिवश भिन्न भिन्न नाम रूपात्मक सभी जागतिक विषय प्रतीत हो रहें हैं। अतः उनको आत्मा से भिन्न किसी दूसरी वस्तु में प्रेम होना सम्भव नहीं है। स्नेह का मूल अज्ञान है। स्थितप्रज्ञ योगी को अज्ञान नहीं है इसलिये वे परमपदार्थ (ब्रह्म) में ही प्रेमवान् रहते हैं, अन्यत्र 'अनभिस्नेह' हैं। तत्तच्छुभं प्राप्य–उन उन सुख का हेतुभूत विषय समूह [उत्तम भोजन, स्रक् (माला), चन्दनादि] प्राप्त होकर न अभिनन्दति—अभिनन्दन नहीं करते हैं अर्थात् हर्षविशेष प्रकाश कर जिससे शुभ वस्तु की प्राप्ति हुई है उनको 'तुम धार्मिक हो, चिरंजीव बनो' इत्यादि रूप से प्रशंसा नहीं करते हैं अशुभं प्राप्य न द्वेष्टि—तथा अशुभ अर्थात् दुःख के हेतुभूत विषयसमूह (अपमान दण्ड से प्रहार इत्यादि) प्राप्त होकर द्वेष नहीं दिखाते अर्थात् अन्तःकरण में असूया (दोषदृष्टि) रखकर 'तुम पापीष्ठ हो, तुम्हारी मृत्यु होगी' यह कहकर अभिशाप नहीं देते हैं किन्तु केवल उदासीन की तरह शुभ तथा अशुभ का आना जाना देखते रहते हैं [योगी जानते हैं कि प्रारब्ध (पूर्वजन्मार्जित) पूण्य के कारण शुभ वस्तु तथा प्रारब्ध पाप के कारण अशुभ वस्तु उपस्थित होती हैं। या वस्तुतः इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है–ये सब मायिक (माया से उत्पन्न) हैं। आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ अकिंचितकर है, अतः आसक्ति के अयोग्य है। इसलिये शुभ वस्तु प्राप्त होने पर उन्हें हर्ष नहीं होता तथा अशुभ वस्तु प्राप्त होने से विषाद नहीं होता है कारण हर्ष-विषाद इत्यादि तामसी चित्तवृत्ति अज्ञान रूप भ्रान्ति से ही उत्पन्न होती है।

तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—जो मननशील संन्यासी इस प्रकार अनभिस्नेह हैं अर्थात् हर्ष-विषाद रहित हैं, उनके चित्त की चंचलता उत्पन्न कर सके ऐसी कोई वस्तु नहीं रहने के कारण उनकी विवेकपूर्ण प्रज्ञा परमात्मतत्त्व को ही विषय कर प्रतिष्ठित रहती है (स्थिरता प्राप्त करती है)। इस प्रकार का

व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं। [सभी विषय में अभिषंग का अभाव (अर्थात् स्नेह या आसक्ति का अभाव), शुभप्राप्ति में हर्ष का अभाव तथा अशुभप्राप्ति में विषाद का अभाव ये तीनों ही प्रज्ञा की स्थिरता के कारण हैं। (आनन्दगिरि)] मुमुक्षु व्यक्ति को भी वैसा ही होना चाहिये, यही कहने का अभिप्राय है। "स्थितप्रज्ञः किं प्रभाषेत" अर्जुन के इसप्रकार का दूसरे प्रश्न के उत्तर में स्थितप्रज्ञ किस प्रकार की भाषा व्यवहार (प्रयोग) करते हैं अर्थात् व्युत्थानावस्था में अपना लक्षण प्रकाश करते हैं उसे पूर्व श्लोक में (५६ श्लोक में) अन्वय मुख से तथा वर्त्तमान श्लोक में व्यतिरेक मुख से वर्णन कर श्री भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण को स्पष्ट निर्देश किया।

[दूसरे मुमुक्षु व्यक्ति को भी इस तरह अनभिस्नेह होना चाहिये, शुभ प्राप्त कर प्रशंसा तथा दुःख प्राप्त कर द्वेष नहीं करना चाहिये—यही कहने का अभिप्राय है। इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति निन्दा अथवा प्रशंसा वाक्य का प्रयोग नहीं करते—ऐसा व्यतिरेक मुख से (निषेध मुख से) स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहा गया (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—नअभिनन्दति न द्वेष्टि—अपना कलत्रादि (स्त्रीपुत्रादि) अज्ञव्यक्ति के सुख के हेतु होते हैं। अतः वे उनके शुभ विषय हैं। जो भ्रान्तिरूपा बुद्धिवृत्ति उनको कलत्रादि के गुण कथनादि में प्रवर्तित करती हैं उसको अभिनन्द कहा जाता है। वह बुद्धिवृत्ति भी तामस (तमोगुणमय) है क्योंकि वैसा गुणकीर्तनादि दूसरे किसी को (अर्थात् श्रोता को) सत् कार्य में प्ररोचित (प्रवर्तित) नहीं करते हैं अतः वे व्यर्थ ही हैं। इस तरह दूसरे व्यक्ति की विद्या का उत्कर्ष आदि अज्ञव्यक्ति के मन में असूया (दोषदर्शन) उत्पादन कर उनके दुःख का हेतु होते हैं। अतः दूसरे किसी की विद्या का उत्कर्षादि अज्ञव्यक्ति के निकट अशुभ हैं। जो भ्रान्तिरूपा बुद्धिवृत्ति उनको (अज्ञव्यक्ति को) उस विद्वान् व्यक्ति के निन्दादि कार्य में प्रवृत्त करती है वही द्वेष है। यह द्वेष भी तामस है, क्योंकि वह निन्दा दूसरे को निन्दित कर्म से निवृत्त कर नहीं सकने के कारण वह व्यर्थ ही होती है। अतः अभिनन्द (राग) तथा द्वेष दोनों ही भ्रान्तिरूप हैं अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न होते हैं (क्योंकि आत्मस्वरूप को न जानने के कारण अपना तथा पर रूप द्वैत कल्पना करने से ही (मैं—मेरा, तु—तेरा रूप द्वैत बुद्धि को आश्रय करने पर ही) अभिनन्द अथवा द्वेष होता है)। ये उभय ही तामस है। इन सब के द्वारा अपना या दूसरे का कोई उपकार नहीं होता। अतः वे दोनों ही व्यर्थ (निष्फल) हैं। इस प्रकार भ्रान्ति (अज्ञान) से उत्पन्न तामस

अनुवाद—रोगादि के कारण निराहारी (विषय भोग करने में असमर्थ देहाभिमान विशिष्ट) अज्ञ व्यक्तियों से विपयसमूह विशेषरूप से निवृत्त होने पर भी उनको विषयसमूह में रस (अनुराग अथवा तृष्णा) निवृत्त (शान्त) नहीं होता है। परन्तु परमात्मा के दर्शन (आत्म-साक्षात्कार) प्राप्त कर यति का विपयानुराग भी निवृत्त हो जाता है।

दीपिका। निराहारस्य देहिनः—रोगादि के कारण निराहारी अर्थात् विषय भोग से निवृत्त देही को (देहाभिमानविशिष्ट अज्ञ व्यक्ति को) अथवा विषयोपभोग से विमुख कष्टसाध्य तपस्या में निरत मूर्ख को भी विषयाः—शब्दादि विषयसमूह। [अथवा जिसके द्वारा शब्दादि विषय ग्रहण किया जाता है अर्थात् इन्द्रियों को भी विषय कहा जाता है, अतः विषय शब्द का अर्थ है इन्द्रियसमूह]। उन सब विनिवर्तन्ते—विशेषरूप से निवृत्त होते हैं रसवर्जं—किन्तु उनका रस छोड़कर अर्थात् विषय में जो अनुराग (आसक्ति) स्वतः ही रहती है उसको छोड़कर [शब्दादिविषय निवृत्त होने पर भी उन विषयों में तृष्णा या अनुराग पूर्ण रूप से रह जाता हैं, उसकी निवृत्ति नहीं होती है। (विषय के प्रति इस प्रकार का राग (आसक्ति) उपसंहृत न होने पर प्रज्ञालाभ सम्भव नहीं है क्योंकि राग ही उसका परिपन्थी (विघ्न) है—(आनन्दगिरि)]। [विषयप्रवण न होकर आत्यन्तिक क्लेशात्मक तपस्या में व्यवस्थित रहते हैं ऐसे विद्याहीन (अज्ञ) व्यक्ति को इन्द्रिय समूह विषयों से संहृत होने पर भी विषय के प्रति उनको राग (आसक्ति) रह जाती है। केवल तत्त्वज्ञान से ही उस राग तथा उसका सूक्ष्म संस्कार का उच्छेद हो सकता है—अन्यथा (दूसरा कोई उपाय) नहीं है (आनन्दगिरि)]

[रस शब्द रागार्थ में (आसक्ति अर्थ में) प्रसिद्ध है। जिस प्रकार रसिक, रसज्ञ इत्यादि स्थानों में रस शब्द रागार्थ में प्रयुक्त होता है]।

अस्य—परन्तु वे स्थितप्रज्ञ संन्यासी का भी रसः अपि—रस भी अर्थात् सूक्ष्म रूप से जिस विषयानुराग का संस्कार रहता है वह भी परं दृष्ट्वा—विषय से 'पर' (विलक्षण) परमार्थतत्त्व ब्रह्म को "मैं वही (ब्रह्म) हूँ" इस प्रकार दर्शन कर विनिवर्तन्ते—विशेषरूप से निवृत्त होता है अर्थात् उनको ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे सभी विषयों का विज्ञान निर्बीज हो जाता है, ['रसोऽपि' इस स्थान पर 'अपि' शब्द के द्वारा कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ का विषय के प्रति सब अनुराग निवृत्त तो होता ही है अधिकन्तु उनके विषय-समूह भी निवृत्त होते हैं। 'यावानर्थ उदपाने' (गीता २।४६) की व्याख्या में यह स्पष्ट किया गया है। स्थितप्रज्ञ का विषय के साथ विषयानुराग भी निवृत्त

होता है एवं यही मोहग्रस्त व्यक्ति से स्थितप्रज्ञ की विलक्षणता अर्थात् विशेष लक्षण है (मधुसूदन)]। भाष्ये रसोऽपि शब्द का अर्थ "सूक्ष्म रंजनरूप रस भी" कहा गया है। [इसका तात्पर्य यही है कि इन्द्रियों के विषयों का पारवश्य (अधीनता) आत्मानात्मविवेक तथा विषय का मिथ्यात्व इत्यादि के विचार से निवृत्त हो सकता है किन्तु उससे विषय के प्रति जो स्थूल अनुराग है उसका ही लोप हो जाता है। उसके बाद जब सम्यग्ज्ञान का उदय होकर "मैं (तथा सब कुछ) ब्रह्म हूँ" इस प्रकार की सर्वत्र आत्मबुद्धि प्रतिष्ठित होती है तब सूक्ष्मरंजनरूप रस भी (विषय के प्रति सूक्ष्म अनुराग भी) सम्यग् रूप से उपशान्त हो जाता है (आनन्दगिरि)] [सम्यग् ज्ञान होने से विषय में भेदज्ञान नहीं रहता है—सर्वत्र एक अखंड चिदात्मा का ही अनुभव होता है। इसलिये कहा गया है 'विषय-विज्ञान निर्बीज हो जाता है' क्योंकि परमात्मदर्शन से जो आनन्द (आत्मानन्द) का अनुभव होता है वह विषयानन्द से करोड़ों गुना अधिक है (तैत्ति० उ०)। आत्मा रस-स्वरूप है ('रसो वै सः'—तैत्ति० उ०)। अतः आत्मरस जिन्होंने अनुभव किया है उनको विषयविज्ञान (विषय समूह का भेदज्ञान) तथा विषयरस निर्बीज होगा अर्थात् वह पुनः अंकुर उत्पादन करने में समर्थ नहीं होगा, इसमें आश्चर्य क्या है ?] परमात्मा का सम्यग्दर्शन न होने से विषयानुराग के साथ विषय का उच्छेद नहीं हो सकता है। इसी कारण जिसके द्वारा विषयानुराग के साथ सभी विषय का उच्छेद हो, वह सम्यग्दर्शनात्मिका प्रज्ञा का स्थैर्य (स्थिरता) जिससे सम्पादित हो उसके लिये प्रत्येक मुमुक्षु को अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये, यही अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यदि कहो कि इन्द्रियसमूह के विषय में अप्रवृत्ति ही स्थितप्रज्ञ का लक्षण नहीं हो सकती क्योंकि तब जड़, आतुर तथा उपवासपरायण व्यक्तियों के साथ स्थितप्रज्ञ की कोई विशिष्टता (पार्थक्य) नहीं रहती है। इसके उत्तर में कह रहें हैं] निराहारस्य—इन्द्रिय समूह के विषयों का आहरण अथवा ग्रहण को आहार कहते हैं। अतः 'निराहारस्य' शब्द का अर्थ है जो इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण नहीं करते हैं उनका [उनका क्या विशेषण है ? वह कह रहे हैं–] देहिनः—विषय ग्रहण न करके भी जो देहाभिमानी हैं उसका भी अर्थात् देहेन्द्रियादि को आत्मा (मैं) कहकर अभिमान करने वाले अज्ञ पुरुष का भी विषयाः विनिवर्त्तन्ते—विषयसमूह प्रायः निवृत्त हो जाता है अर्थात् उनको विषयों का अनुभव नहीं रहता है। किन्तु रसवर्जं—रस शब्द का अर्थ है राग या अभिलाषा अतः

'रसवर्जं' शब्द का अर्थ है राग या अभिलाषा के विना अर्थात् विषयों का अनुभव नहीं रहने पर भी विषय के प्रति उनको अभिलाषा निवृत्त नहीं होती है। अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्त्तते—किन्तु उन स्थितप्रज्ञ का वह रस भी अर्थात् राग भी (विषयाभिलाषा भी) परं अर्थात् परमात्मा का दर्शन कर (साक्षात्कार कर) स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। तब विषय-समूह (अर्थात् विषयों का ग्रहण) प्रायशः निवृत्त होता है—भूख से पीड़ित व्यक्ति को शब्द स्पर्शादि के विषय में अपेक्षा रहती है अर्थात् उनको विषय के प्रति अभिलाषा को निवृत्ति नहीं होती है। [आत्मसाक्षात्कार के विना अर्थात् तत्त्वज्ञान के विना अज्ञान नष्ट नही होता है, अतः अज्ञानजनित विषयानुराग भी सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो सकता है]।

(२) शंकरानन्द—[इन्द्रियसमूह की विषयों से विमुखता ही प्रज्ञास्थैर्य का कारण है, यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि किसो कार्य का उद्देश्य करके सर्वेन्द्रिय निग्रह कर कोई पुरुष यदि अवस्थान करे तो उनमें इन्द्रिय-निग्रह तो होता है किन्तु साथ साथ प्रज्ञा की स्थिरता भी हुई है ऐसा नहीं दिखता है। इसके उत्तर में कहा जायगा—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उस व्यक्ति में प्रज्ञा की स्थिरता इसलिये नहीं दिखती है कि वह व्यक्ति रागी है (अर्थात् उनको विषय के प्रति अनुराग है) तथा राग (आसक्ति) रहने के कारण उनके लिये ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त करना सम्भव नही है–यह सूचित करने के लिये श्रीभगवान् कह रहे हैं–] निराहा-रस्य–विषय समूह जिनके द्वारा आहृत (संगृहीत) होते हैं वे उनका अर्थात् इन्द्रिय समूह का आहार है। इन्द्रिय समुह को नियमित (संयत) करने के लिये जो उन इन्द्रियसमूह से निर्गत हुये हैं [अर्थात् जिसके इन्द्रियसमूह को विषय के प्रति प्रवृत्ति रुद्ध है (रुक) गई है] वह 'निराहार' है अर्थात् वह इन्द्रिय-निग्रहवान् तपस्वी है उस देहिनः—देही का 'देह ही मैं हूँ' ऐसी जो बुद्धि रखते हैं वह देही हैं। उसका अर्थात् देहादि में आत्माभिमानी पुरुष का (जिसका इन्द्रियसमूह निगृहीत हुआ है अर्थात् जो निराहार हुआ है उसका) विषयाः—शब्दादि विषयसमूह विनिवर्तन्ते—विशेषरूप से निवृत्त हो जाता है। परन्तु रसवर्जं—राग (आसक्ति) के विना। 'रसो रागे गुणे द्रव्ये' अर्थात् रस शब्द राग, गुण तथा द्रव्य ये तीनों का वाचक है, ऐसा अभिधान में कहा गया है। अतः 'रसवर्जं' शब्द का अर्थ है—उनके राग (आसक्ति) की निवृत्ति नहीं होती हैं। राग अबोध (अज्ञानी) का लक्षण है अतः 'मैं तथा सभी वस्तु ब्रह्मस्वरूप ही है' इस प्रकार सब में तथा अपने में ब्रह्मात्रत्व-

ज्ञान तथा विषय के प्रति राग एक ही आधार में एक ही साथ नहीं रह सकता है। अतः रागी (विषयासक्त) पुरुष को बोध (तत्त्वज्ञान) के अभाव के कारण इन्द्रियसमूह रुद्ध रहने पर भी प्रज्ञा का स्थैर्य (स्थिरता) का प्रसंग नहीं आ सकता है [अर्थात् राग (विषयासक्ति) जब तक रहेगा तब तक प्रज्ञा का स्थैर्य होना असंभव है]। प्रश्न है तब राग की निवृत्ति तथा प्रज्ञा का स्थैर्य कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—अस्य—उन यति का परं दृष्ट्वा—मौन, इन्द्रियनिग्रह, तथा व्रत आदि द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर श्रवणादि द्वारा उत्पन्न ज्ञान के बल से अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर (अर्थात् 'मैं वही ब्रह्म हूँ') इस प्रकार से ब्रह्म का अपने आत्म-स्वरूप में साक्षात्कार होने पर रसः अपि निवर्तते—वह रस (राग) भी निवृत्त हो जाता है। विषय में भोग्यत्वभावना निवृत्त होने से ही राग की निवृत्ति होती है। विषय में भोग्यत्वभावना निवृत्ति सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से ही हो सकती है। सभी वस्तुओं में एक ब्रह्ममात्रत्व ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भोग्यत्व, भोक्तृत्व भेदरूप वन जब दग्ध हो जाता है तब वह ब्रह्ममात्रत्व-ज्ञान का आश्रित रहने से अर्थात् उसमें स्थिर रहने से भेदभाव के साथ राग भी (विषयानुराग भी) दग्ध हो जाता है। [अतः एकमात्र ब्रह्मज्ञान में निष्ठा द्वारा ही राग नष्ट हो सकता है, यही कहने का अभिप्राय है]। श्लोक में 'अपि' शब्द द्वारा सूचित किया जाता है कि इस अवस्था में (अर्थात् राग सम्पूर्ण रूप से नष्ट होने पर) [साथ साथ] उसकी प्रज्ञा की स्थिरता भी सिद्ध होती है (तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता)।

(३) नारायणी टीका—अत्यन्त कठिन व्रतधारी तपस्वी, उपवासी व्यक्ति अथवा अनेक दिनों से पीड़ित रहकर जो अन्नग्रहण नहीं करता है इन लोगों का इन्द्रियसमूह कूर्म (कछुआ) के अंगों की तरह विषयों से निवृत्त रहते हैं अर्थात् उनके इन्द्रियसमूह विषयग्रहण नहीं करते हैं। अतः पूर्वश्लोक में जो कहा गया कि विषयों से सकल इन्द्रियाँ कूर्म (कछुआ) के अंगों की तरह सिमट जाने पर प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, यह कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में अब कहा जा रहा है कि वह तपस्वी इत्यादि का इन्द्रिय-समूह दुर्बल होने के कारण विषयभोग नहीं कर सकता है किन्तु अन्तर में उनके विषयों पर रस (आसक्ति) रहता है अर्थात् विषयभोग की आकांक्षा उनमें निवृत्त नहीं होती है। जैसे कि कामासक्तवृद्ध इन्द्रियों की शिथिलता के कारण युवती स्त्री को भोग नहीं कर सकता है किन्तु स्त्री देह के प्रति उनका रस (भोग करने की आकांक्षा) मृत्यु तक रह जाता है। केवल विषय-

भोग से दूर रहने पर ही स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता है—विषय के प्रति रस भी (आसक्ति भी) पूर्ण रूप से नष्ट होना आवश्यक है। स्थितप्रज्ञ का वैसा ही होता है। यही स्थितप्रज्ञ की विशेषता है। विषयरस कैसे सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो सकता है ? अज्ञान से ही विषय में भेदबुद्धि तथा अनित्य असत् (मिथ्या) विषय के प्रति भोग्यत्व बुद्धि होती है। स्थितप्रज्ञ सर्वत्र एक परमात्मसत्ता का ही दर्शन करते हैं जैसे स्वर्णकार सभी अलंकारों में केवल स्वर्ण को ही देखते हैं। अतः स्थितप्रज्ञ की दृष्टि में विषयसमूह की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। द्वितीयतः आत्मा रसस्वरूप है (तै० उ०) तथा आत्मानन्द विषयसुख से करोड़ों गुना अधिक है। अतः परं दृष्ट्वा–(परमात्मा को साक्षात्कार कर) विष (जहर) के समान तुच्छ विषय के प्रति स्थित-प्रज्ञ का कोई रस या आसक्ति रहना असंभव है क्योंकि उनका मूल अविद्या-सहित विषयरस नष्ट हो जाता है।

[जो व्यक्ति की सम्यग्दर्शनरूप प्रज्ञा की स्थिरता सम्पादन करने की इच्छा है अर्थात् जो स्थितप्रज्ञ होना चाहते हैं उनका पहले इन्द्रियों को अपने वश में लाना होगा। (प्रश्न हो सकता है कि मन को अपने वश में लाने से ही तो प्रज्ञा का स्थैर्य सम्भव होता है, अतः इन्द्रियों को अपने वश में लाने की क्या आवश्यकता है ? (आनन्दगिरि)] इस प्रकार की शंका को दूर करने के लिए इन्द्रियसमूह को निग्रह कर वशीभूत नहीं करने से क्या दोष होता है वह कह रहे हैं—[बाहरी इन्द्रियों का निग्रह (संयम) तथा मन का निग्रह, ये उभय ही प्रज्ञा की स्थिरता सम्पादन का असाधारण कारण है। इन दोनों के अभाव से प्रज्ञा का नाश हो सकता है। इसलिए पहले बाह्य (बाहरी) इन्द्रियों का निग्रह नहीं करने से क्या दोष होता है वह श्री भगवान् कह रहे हैं—(मधुसूदन)]

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! प्रमाथीनि इन्द्रियाणि यततः अपि विपश्चितः पुरुषस्य मनः प्रसभं हरन्ति हि।

अनुवाद—हे कौन्तेय ! मेधावी (विवेकी) पुरुष बार बार (विषय में दोष दर्शन का) प्रयत्न करने पर भी प्रमथनशील इन्द्रियसमूह विवेक को अभिभूत कर विषय के प्रति बलपूर्वक उनके मन को हरण करता है।

दीपिका। हे कौन्तेय !—तुम्हारी माता कुन्ती का चित्त नानाप्रकार की विपद में निरन्तर मुझमें ही समाहित रहता था। अतः उनके चित्त को इन्द्रिय-

मुनि सुख दुःखादि की प्राप्ति में क्या करते हैं तथा ५७ श्लोक में व्यतिरेक मुख से अर्थात् वे क्या नहीं करते हैं, वही विशेषरूप से श्री भगवान् ने कहा। और सब स्पष्ट है।

[अब श्री भगवान् ६ श्लोकों में "किमासीत" अर्थात् स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कैसे आसन ग्रहण करते हैं इस तृतीय प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं—]

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अन्वय—अयं (योगी) कूर्मः अंगानि इव सर्वशः इन्द्रियार्थेभ्यः इन्द्रियाणि यदा च संहरते तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (भवति)।

अनुवाद—कच्छप (कछुआ) जिस तरह से अपने अंगों को संकुचित करता है उसी तरह (ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त योगी) जब सभी प्रकार की इन्द्रियों के ग्राह्य विषयों से (शब्द, स्पर्श, रूपादि से) स्वीय (अपना) इन्द्रिय समूह को प्रज्ञा के स्थैर्य के लिये अर्थात् समाधि के लिये उपसंहार करते हैं उस समय उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

दीपिका—अयं—इस ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त संन्यासी (व्युत्थितावस्था में) कूर्मः अंगानि इव—कच्छप (कछुआ) जैसे दूसरों के भय से अपने अंग-समूह को सभी तरफ से उपसंहार करता है (अपने में समेट लेता है) उसी प्रकार सर्वशः—चारों ओर से इन्द्रियार्थेभ्यः—इन्द्रियग्राह्य शब्दादि सभी विषयों से इन्द्रियाणि—इन्द्रिय समूह को यदा—जिस समय (माया के बन्धन के भय से) च—पुनः (फिर) समाधि प्राप्ति के लिए (मधुसूदन) [अथवा मोक्ष के लिए जो समाधि—प्रज्ञा की आवश्यकता है उसी का प्रार्थी होकर (आनन्दगिरि)] संहरते—उपसंहार करते हैं। [सम् सम्यक् प्रकार से अर्थात् अत्यन्त दृढ़रूप से; हरते—हरण करते हैं अर्थात् अपने वश में लाते हैं (आनन्दगिरि)] (तदा—) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—उस समय उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। विषयसंस्पर्शरहित होने के कारण विवेकजनित (विवेक से उत्पन्न) प्रज्ञा परमात्मा में स्थितिलाभ करती है तब वे ज्ञाननिष्ठ होते हैं। [ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त यति प्रारब्ध कर्म के कारण समाधि अवस्था से व्युत्थितावस्था में लौट आने पर इन्द्रियसमूह यदि विक्षिप्त हो तब उन सबको पुनः उपसंहृत (संयत) कर समाधि प्राप्ति के लिये उपवेशन करते हैं यही इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है। पूर्ववर्त्ती दो श्लोकों में कहा गया है कि व्युत्थितावस्था में स्थितप्रज्ञ की सभी तामसवृत्ति का अभाव होता है किन्तु

दूसरी वृत्तियाँ वर्त्तमान रहती हैं। और इस श्लोक में अब कहा जा रहा है कि जब पुनः समाधि-अवस्था प्राप्त होती हैं तब उनको सभी वृत्तियों का अभाव होता है—यही पहले दोनों श्लोक से इस श्लोक का विशेषत्व है (मधुसूदन)] स्थितप्रज्ञ को इन्द्रियसंयम तथा प्रत्याहार (विषयों से इन्द्रिय समूह का उपसंहार करना) स्वभावसिद्ध होते हैं। इसीलिये कूर्म (कच्छप) का उदाहरण दिया गया है। स्थितप्रज्ञ का इन्द्रियसमूह सदा ही अन्तर्मुख रहता है, इस प्रकार सरल स्वाभाविक प्रत्याहार स्थितप्रज्ञ का एक प्रधान लक्षण है। इसलिए आवश्यक होने पर इन्द्रियसमूह को प्रत्याहार कर वे अनायास आत्मसंस्थ हो जाते हैं। [इन्द्रियसमूह का सभी विषयों से वैमुख्यकरण ही (विमुखता) प्रज्ञा के स्थैर्य का हेतु है। अतः मुमुक्षु को भी प्रज्ञास्थैर्य के लिए उस प्रकार की विषय-विमुखता का अभ्यास करना पड़ेगा—यहाँ यही कहने का अभिप्राय है (आनन्दगिरि)]।

(१) श्रीधर—[स्थितप्रज्ञ का और लक्षण कहा जा रहा है—] यदा च अयं—जब ये योगी कूर्मः अंगानि इव—कूर्म जिस प्रकार कर (बाहें) चरणादि (पैरों) अंगसमूह स्वभाव से (आवश्यकतानुसार अपने में) आकर्षण कर लेता है उसी तरह इन्द्रियार्थेभ्यः—शब्दादि विषय समूह से इन्द्रियाणि संहरते—इन्द्रिय समूह को संहरण अर्थात् अनायास ही प्रत्याहार कर सकते हैं तब तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हुई है ऐसा समझना होगा।

(२) शंकरानन्द—[यद्यपि महत् वैराग्य, तीव्रमोक्षेच्छा तथा ब्राह्मपरायणता ये तीनों ज्ञाननिष्ठा की सिद्धि का कारण हैं तथापि इन्द्रिय-निग्रह के बिना वैराग्यादि तथा ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होते हैं। अतः साधक यति को प्रज्ञा की सिद्धि के लिये यत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजयप्राप्त करना होगा, अब यही कह रहे हैं—]

अयं—ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त हुये हैं ऐसे यति (संन्यासी) कूर्मः सर्वशः अंगानि इव—कछुआ दूसरे के भय से अपने अंगों को सर्वशः अर्थात् सभी प्रकार से (सम्यक् प्रकार से) उस उस समय (अर्थात् आवश्यकतानुसार) जैसे अपने में उपसंहार कर (समेट) लेता है उसी तरह इन्द्रियार्थेभ्यः—प्रत्येक इन्द्रिय से जो जो विषय का ग्रहण होता है उस उस विषय से अर्थात् सभी इन्द्रियग्राह्य विषयों से भय के कारण अर्थात् रागादिरूप दोष के द्वारा विषय में आसक्ति हो सकती है तथा उस आसक्ति के कारण समाधि में विघ्न उत्पन्न होगा इस प्रकार भय से इन्द्रियाणि—वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ

समूह बलपूर्वक विषय के प्रति हरण नहीं कर सकते थे। तुम जब मेरे ही शरणागत हो तब तुम्हारा इन्द्रियसमूह भी तुम्हारे मन को हरण कर विषय में लिप्त (लिपट) कर नहीं सकेगा। अतः तुम विषयबन्धन के भय से भयभीत न होकर अपना कर्त्तव्य युद्ध करो, यही सूचित करने के लिये भगवान् ने यहाँ 'कौन्तेय' कहकर सम्बोधन किया। **प्रमाथीनि इन्द्रियाणि**—इन्द्रिय समूह प्रमथनशील है अर्थात् अत्यन्त बलवान् होने के कारण वे विवेक को भी प्रमथित अर्थात् अभिभूत (वशीभूत) करने में समर्थ हैं। [प्रश्न होगा–विवेकी पुरुष विषय में दोष दर्शन करते हैं, इसलिये विषयों से उनका इन्द्रियसमूह स्वतः ही निवृत्त होंगे। जो प्रज्ञा का स्थैर्य साधन करने को इच्छुक हैं अर्थात् स्थितप्रज्ञ होने को इच्छुक है ऐसे विवेकी पुरुष को इन्द्रियनिग्रह करने की क्या आवश्यकता है ? (आनन्दगिरि)] इसके उत्तर में कह रहें हैं **यततः अपि विपश्चितः पुरुषस्य मनः प्रसभं हरन्ति हि**—जो बार बार विषयदोष-दर्शन रूप प्रयत्न करते रहते हैं अर्थात् विषय की अनित्यता, मिथ्यात्व (झूठापन), दुःखत्व इत्यादि दोष दर्शन बार बार करते रहते हैं उन प्रयत्नशील विवेकी (मेधावी) व्यक्ति का मन भी प्रमथनशील (अत्यन्त बलवान्) इन्द्रिय के समूह बल के द्वारा (प्रसभं) विषयाभिमुख करके उन विवेकी पुरुष को क्षुब्ध अर्थात् व्याकुल कर देते हैं अर्थात् व्याकुल कर केवल प्रकाश को ही (स्वयंप्रकाश आत्मा को ही) वह देखने वाले विवेकी पुरुष विवेकविज्ञानयुक्त मन को हरण करते हैं। [अथवा मन विवेक नामक विज्ञान द्वारा युक्त होने पर ही उसको प्रकाश करते हैं क्योंकि वैसा मन के द्वारा ही आत्मा का प्रकाश होता है। विवेकी व्यक्ति सब कुछ देखते रहने पर भी (जानते हुये भी) बलवान् इन्द्रिय समूह उनका विवेक नामक विज्ञान के द्वारा युक्त मन को (जिसको प्रकाश कहते हैं उसे) हरण करते हैं अर्थात् विकार प्राप्त करते है (विचलित करते हैं)। (आनन्दगिरि)]। आनन्दगिरि ने "हि" शब्द का अर्थ 'चूँकि' (जिस कारण) किये हैं। [अन्यान्य टीकाकारों के मतानुसार श्लोक में 'हि' शब्द प्रसिद्धि ज्ञापन करता है। जन समाज में यह प्रसिद्ध है कि बलवान् दस्युओं बलपूर्वक धनी तथा धनरक्षक व्यक्ति को पराभूत कर वे देखते रहने पर भी अर्थात् उनके चक्षुओं के सामने ही धन हरण करते हैं। ठीक उसी प्रकार इन्द्रिय समूह भी विषयों के संस्पर्श में लाकर विपश्चित् (विवेकी) पुरुष के विवेकयुक्त मन को हरण करते हैं। इन्द्रियों के अधिष्ठाता विवेकी स्वामी प्रत्यक्ष रूप से सब कुछ देखते रहने पर भी अर्थात् सब कुछ समझते हुये भी तथा उनका विवेक

(सदसद् विवेचना बुद्धि) उनके रक्षकरूप में कार्य करते रहने पर भी वे बलवान् इन्द्रिय समूह सभी विचार बुद्धि को अभिभव (परास्त) कर उनकी विवेकप्रज्ञा में प्रविष्ट मन को प्रज्ञा से विच्युत कर स्व स्व विषय में आविष्ट (आसक्त) कर देते हैं। यही इन्द्रिय के द्वारा मन को हरण करना है। (यहाँ धनी के साथ विपश्चित् की तथा धनरक्षी के साथ विवेक की उपमा दी गयी है) (मधुसूदन)]। इन्द्रियों को जय करना बहुत ही कठिन बात है। जब तक समाधि के द्वारा परमानन्दस्वरूप आत्मा का दर्शन लाभ कर स्थितप्रज्ञ न हो सके तब तक इसको वश में लाने का प्रयत्न करना होगा। केवल मेधावी होकर शास्त्रार्थ जानकर परोक्षज्ञानी—होकर सन्तुष्ट रहने से नहीं होगा—यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इन्द्रिय संयम के बिना स्थितप्रज्ञता सम्भव नहीं है, अतः साधन-अवस्था में इन्द्रिय संयम के लिये महान् प्रयत्न कर्त्तव्य है। यह अब इन दो श्लोकों में कह रहे हैं—] यततः—मोक्ष के लिये प्रयत्नशील विपश्चितः अपि—विवेकी पुरुष के भी मनः—मन को इन्द्रियाणि—इन्द्रियसमूह प्रसभं—बलपूर्वक हरन्ति—हरण कर लेता है क्योंकि इन्द्रिय समूह प्रमाथीनि—प्रमथनशील (क्षोभदायक) है [अर्थात् मन को विषय में निपतित (लिप्त)कर व्याकुल कर देता है]।

(२) शंकरानन्द—[पूर्व श्लोक में जो कहा गया है उससे सिद्ध होता है कि रागद्वेषादि की सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति के लिये तथा जिससे कि इन्द्रिय समूह को विषय के प्रति प्रवृत्ति न हो सके उसके लिये तथा विदेह मुक्ति के लिये मुमुक्षु को सभी वस्तुओं में ब्रह्ममात्रत्व ज्ञान सम्पादन करना चाहिये अर्थात् सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म ही विद्यमान है यह ज्ञान का साक्षात्कार लाभ करना होगा। विदेहकैवल्यसिद्धि के कारणभूत ब्रह्मज्ञान को सम्यक् सिद्धि के लिये समाधि में जो यति प्रवृत्त होना चाहते है उनको पहले इन्द्रिय-निग्रह करना अवश्य कर्त्तव्य हैं। इन्द्रियनिग्रह न होने पर महान् अनर्थ की सम्भावना रहती है, यह सूचित करने के लिये भगवान् कह रहें हैं–हि चूँकि (जिस कारण से) यततः—समाधि के द्वारा ज्ञान का अप्रतिबन्धत्व की सिद्धि के लिये [अर्थात् प्रयत्न शील यति का तत्त्वज्ञान जिससे किसी प्रकार प्रतिबन्ध (बाधा) प्राप्त न हो सके उसके लिये अर्थात् ज्ञान में स्थिति (ज्ञाननिष्ठा) की प्राप्ति के लिये] समाधि का अभ्यासकारी विपश्चितः अपि—विवेकी पुरुष का भी अर्थात् विषय मायिक, असत् तथा तुच्छ तथा विषय समूह में प्रवृत्ति बन्धन के कारण है ऐसा जो विशेषरूप से जानते हैं

(तथा जो समाधि द्वारा ज्ञान में स्थिति लाभ करने के लिये प्रयत्नशील है) उस मुमुक्षु पुरुष का भी मनः–'मनुते ब्रह्मानेनेति' अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्मको मनन (विचार) किया जाय उस मन को (सर्वत्र प्रकाशस्वरूप सत् ब्रह्म को दर्शन करने का साधन रूप विवेक युक्त मन को) इन्द्रियाणि प्रमाथीनि—प्रमथन करना अर्थात् विषय को दर्शन से ही व्याकुल करना ही जिसका शील अथवा स्वभाव है उस प्रमाथी (अर्थात् रागद्वेषयुक्त) इन्द्रिय समुह प्रसभं—बलपूर्वक अस्य—वह विवेकी पुरुष इन्द्रियों आदि का कार्य देखते रहने पर भी उनका मनः हरन्ति—उनका मन विवेकयुक्त होने पर भी उसको हरण कर लेता है, बलपूर्वक आकर्षण कर विषय में निक्षिप्त करता है अर्थात् स्वरूप से (आत्मस्थिति अथवा ब्राह्मीस्थिति से) च्युत करता है। अतः जो विद्वान् पुरुष इन्द्रियनिग्रह नहीं करते हैं उनको स्वरूप से भ्रष्ट होकर महान् अनर्थ प्राप्ति की सम्भावना रहती है।

(३) नारायणी टीका–५८वें श्लोक में कहा गया है कि जिनका इन्द्रिय समूह कूर्म (कछुआ) के अंगों की तरह अपने में वशीभूत रहते हैं उन्हीं की प्रज्ञा प्रतिष्ठित रहती है अर्थात् केवल मन को ही नहीं परन्तु इन्द्रिय समूह पर भी जिन्होंने विजय प्राप्त की है वे स्थितप्रज्ञ (ज्ञाननिष्ठ) हो सकते हैं। प्रश्न है जब मन ही इन्द्रिय समूह का राजा है तब मन वशीभूत रहने पर इन्द्रिय समूह स्वतः ही वशीभूत होंगे—इन्द्रिय समूह को पृथक् भाव से वशीभूत करने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है–यह सत्य है कि मन ही इन्द्रियों का राजा है किन्तु अनादिकाल से बहिर्मुखी मनने इन्द्रिय-समूह की सभी प्रकार की प्रवृत्ति का समर्थन करते हुये इन्द्रियों का दासत्व स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार से इन्द्रियाँ दीर्घदिन तक उत्तरोत्तर पुष्टि लाभ कर इतनी बलवती होती हैं कि विवेकयुक्त मन को भी प्रमथन (क्षुब्ध) कर यह प्रमाथी—इन्द्रिय समूह विवेकज्ञान को अभिभूत (पराजित) कर पुरुष को विषयाभिमुख करके व्याकुल कर देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि, अति सावधान होकर बार बार विचार के द्वारा विषय का दोष दर्शन करते रहने पर भी तथा जगत का मिथ्यात्व (झूठापन) तथा आत्मा के नित्यत्व एवं आनन्दस्वरूपत्व वेदान्त वाक्यादि के द्वारा निश्चय करने के लिये बहुत प्रयत्न करने पर भी (यततः अपि) तथा आत्मानन्द की पिपासा (प्यास) तीव्र होने पर भी विषयों के साथ इन्द्रिय समूह का जब ही संयोग होता है तभी विपश्चित् का भी (मेधावी विवेकी पुरुष का भी) मन आत्माकी चिन्ता को भूल जाता है। दस्यु, जैसे अति सावधान गृहस्थ के बहुत यत्न से

रक्षित धन उनके सामने हो (अर्थात् दस्यु का सकल कार्य देखते हुये भी) बलपूर्वक हरण कर लेता है, उसी तरह वह प्रमाथी (अत्यन्त बलवान्) इन्द्रिय समूह सावधान पुरुष का भी विवेकसम्पन्न मद्रूप धन को बलपूर्वक (प्रसभं) विषयासक्त कर विवेकी के गृह से (अपने स्वरूप की स्थिति से) हरण कर लेते हैं (विच्युत करते हैं)। अतः स्थितप्रज्ञ होने के लिये सर्व शक्ति के द्वारा इन्द्रियों की जय करने के लिये प्रत्येक विवेकी पुरुष को प्रयत्न करना चाहिये, यही श्लोक का तात्पर्य है।

[अगर ऐसा ही हो अर्थात् इन्द्रियसमूह यदि मन को बलपूर्वक विपथ में चालित करें तो उसका प्रतिकार क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—]

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अन्वय—तानि सर्वाणि संयम्य मत्परः (सन्) युक्तः आसीत। हि यस्य इन्द्रियाणि वशे (सन्ति) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

अनुवाद—उन सब इन्द्रियों को वशीभूत कर मत्पर होकर (अर्थात् सभी जीवों की अन्तरात्मा) 'मैं' (वासुदेव) ही पर अर्थात् परम वस्तु हूँ (वासुदेव से मैं भिन्न नहीं हूँ, इस भावना को अवलम्बन कर) युक्त अर्थात् समाहित (समाधिस्थ) रहना चाहिये। चूँकि इस प्रकार से जिनके (जिन समाधिस्थ संन्यासी के) अभ्यास के द्वारा इन्द्रियसमूह वशीभूत होते हैं उन्हीं की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है अर्थात् परमात्मा में उन्हीं की बुद्धि स्थितिलाभ करती हैं।

दीपिका—तानि सर्वाणि संयम्य—उन इन्द्रियों को (अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के साधनस्वरूप उन इन्द्रियों को) संयत कर अर्थात् नियमित या वशीभूत कर [इन्द्रियाँ जब प्रमथनशील हैं तब उन्हें कैसे वश में किया जाय ? इसके उत्तर में कह रहे हैं (मधुसूदन)—मत्परः (सन्)—मैं अर्थात् सभी जीवों के अन्तरात्मा वासुदेव ही पर अर्थात् परम (उत्कृष्ट या उपादेय वस्तु) जिनके हैं वही मत्पर है अर्थात् मेरे एकान्त भक्त (मधुसूदन)। मत्पर होकर अर्थात् 'मैं उन वासुदेव से भिन्न नहीं हूँ' इस भावना को निरन्तर अवलम्बन कर युक्तः—समाहित होकर [संयतचित्त होकर (मधुसूदन)] आसीत्—रहना चाहिये [अर्थात् व्यापारविहीन होकर रहना चाहिये (मधुसूदन)] [लोकसमाज में ऐसा देखा जाता है कि

वलवान् राजा का आश्रय कर दुर्वृत्तों को निगृहीत किया जाता है। ये व्यक्ति राजा के आश्रय है ऐसा सोचकर दुर्वृत्तों स्वयं ही (स्वेच्छा से) उनके वशीभूत रहते हैं। उसी प्रकार सभी के अन्तर्यामी (नियामक) भगवान् का आश्रय लेकर उस भगवान् के प्रभाव (कृपा) से ही ये दुष्ट इन्द्रियाँ निगृहीत होती हैं तथा 'ये भगवदाश्रित हैं' ऐसा सोचकर इन्द्रियाँ भक्त के वशीभूत रहती हैं। यही 'मत्पर' शब्द का तात्पर्य है। (मधुसूदन)]

[अव इन्द्रियसमूह वशीभूत होने से क्या फल होता है उसे कहा जा रहा है—]

हि—चूँकि यस्य इन्द्रियाणि वशे (सन्ति)—जिस समाहित संन्यासी के इन्द्रियाअभ्यास के द्वारा [अर्थात् 'परमात्मा से मैं भिन्न नहीं हूँ' इस प्रकार भावना का निरन्तर दीर्घकाल सत्कार (श्रद्धा) पूर्वक अभ्यास के द्वारा तथा विषयों में दोषदृष्टि के अभ्यास के द्वारा (आनन्दगिरि)] वशीभूत हो जाती है तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—उन्हीं की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है अर्थात् परमात्मविषय में उन्हीं की प्रज्ञा स्थितिलाभ करती है। यही 'किमासीत' है—वे किस प्रकार आसन ग्रहण करते हैं इस तृतीय प्रश्न का उत्तर है। अतः मुमुक्षु को भी इस प्रकार से इन्द्रियसमूह को वशीभूत कर भगवत्पर तथा युक्त होकर (भगवान् में मन को समाहित रखकर) आसन ग्रहण करना चाहिये (अवस्थान करना चाहिये), यह सूचित किया गया।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[चूँकि ऐसा होता है इसलिये] युक्तः—योगी तानि इन्द्रियाणि संयम्य—वे सव इन्द्रियों को संयत कर मत्परः—मुझे चित्त समर्पण कर आसीत्—अवस्थान करेंगे। यस्य वशे इन्द्रियाणि—इन्द्रिय समूह जिनके वशवर्ती (वशीभूत) हैं [तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित रहती है]। इसके द्वारा स्थितप्रज्ञ 'कथम् आसीत' (कैसा अवस्थान करते हैं) इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ इन्द्रियसमूह को वशीभूत कर अवस्थान करते हैं।

(२) शंकरानन्द—[पूर्वश्लोक में जैसा कहा गया है उसी प्रकार से जो इन्द्रियों का संयम करने में समर्थ हैं वे ही स्थितप्रज्ञ हो सकते हैं, यह अव कहा जा रहा है—]

तानि इन्द्रियाणि संयम्य—विषयसमूह में वार वार दोषदर्शन कर तथा विषयसमूह संसार में वन्धन का कारण है ऐसा सोचकर विषयों से भय रखकर रागद्वेष से विमुक्त होकर इन्द्रियों को संयत कर अर्थात् विषयों के प्रति उनकी (इन्द्रियों की) प्रवृत्ति को रोक कर (उन्हें अपने अपने स्थान में

स्थापित कर) युक्तः—ब्रह्मविद्या में नियुक्त होकर अर्थात् योग द्वारा (परमात्मा के साथ एकत्वबुद्धि द्वारा) युक्त होकर (समाहित चित्त होकर अर्थात् चित्तवृत्ति को ब्रह्माकारा कर) मत्परः—'मैं ही पर अर्थात् परमात्मा हूँ' इस प्रकार परम ब्रह्म में अहंधी ('मैं' बुद्धि) जिनकी है वही 'मत्पर' है। ऐसा होकर अर्थात् 'ये सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सभी को तथा अपने को ब्रह्मरूप में देखकर आसीत—प्रत्यग्दृष्टि अवलम्बन कर (सर्वत्र शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को ही दर्शन कर) स्थित रहना चाहिये क्योंकि वशे ही यस्य इन्द्रियाणि—नित्य निरन्तर ऐसा दर्शन करने से जो यति के इन्द्रियसमूह विषयग्रहण करने का अवकाश न पाकर नीराग (रागरहित) होकर वशीभूत होते हैं तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—उनकी (ऐसे यति की) ही प्रज्ञा प्रतिष्ठिता होती है अर्थात् निश्चला होती है तथा उन्हीं को मोक्ष की सिद्धि होती है—दूसरे किसी की नहीं होती है—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—चूँकि इन्द्रिय समूह प्रमाथी हैं (अत्यन्त बलवान् एवं दुःखदायक हैं) तथा दुर्वृत्तों के सदृश विवेकी के मन को हरण करते हैं, इसलिये इन्द्रिय पर विजय प्राप्ति के विना स्थितप्रज्ञ होने की कोई सम्भावना नहीं है, ऐसा पूर्वश्लोक में कहा गया है। अब इन्द्रियों पर विजय-प्राप्त करने का क्या उपाय है ? वह कहा जा रहा है—(१) इन्द्रियसमूह वार बार पूर्वाभ्यास तथा संस्कार के कारण विषयों को ओर धावित होने पर भी उन सब को प्रत्याहार कर (बल के द्वारा खींच कर) विवेकयुक्त मन में निविष्ट करना पड़ेगा—अर्थात् जिन जिन विषयों के प्रति वे धावित होंगे उन उन विषयों की अनित्यता, मिथ्यात्व, दुःखत्व इत्यादि दोषदर्शन कर निरन्तर उन सब को विषयों से निवृत्त रखना होगा। यही इन्द्रियसंयम—है। किन्तु विषय रस से अधिक आनन्द का संधान (खोज) न मिलने पर मन तथा इन्द्रिय कभी विषयत्याग नहीं कर सकते हैं। अतः (२) मत्पर हो। सर्वात्मा वासुदेव ही एकमात्र सत्य तथा नित्यानन्द स्वरूप हैं अतः उससे पर (श्रेष्ठ) और कोई भी नहीं है—यही मेरी प्रियतम आत्मा यथार्थ हैं—यही परम शक्ति का आधार है ऐसा निश्चय कर अर्थात् परमात्मस्वरूप मेरे ही एकान्त भक्त होकर जो (३) युक्त आसीत—मन को मुझमें समाहित कर मेरे साथ निरन्तर युक्त रहते हैं अर्थात् विषय की चिन्ता आदि से तथा विषयभोग से निवृत्त होकर मेरे ही (परमात्मा का ही) निरन्तर ध्यान में मग्न रहते हैं उन्हीं की इन्द्रियों का विषयों के प्रति धावित होने का (दौड़ने का) अवकाश न मिलने पर दीर्घकाल अभ्यास के द्वारा वे वशीभूत (संयत)

होती हैं। ऐसा जिनका इन्द्रियसमूह वशीभूत रहता है उन्हीं की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, दूसरे की नहीं।

[पूर्वश्लोक में इन्द्रिय समूह को वशीभूत कर समाहित अर्थात् संहतमनाः होने का उपदेश दिया गया है। प्रश्न होगा इन्द्रियसमूह को वशीभूत करने से ही तो बाहरी उद्योग न रहने के कारण कृतकृत्य होना सम्भव है; अतः मन को संयत या निग्रह नहीं करने से स्थितप्रज्ञ होने में किस प्रकार का अनर्थ या विघ्न हो सकता है? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि जो व्यक्ति बाह्य (बाहरी) इन्द्रियों को निगृहीत कर चुका है उनके भी यदि मन का निग्रह (समाहित अवस्था) न रहे तब अभीतक वह विवेकविज्ञानविहीन होने के कारण उस पुरुष को अनन्त अनर्थ प्राप्ति की सम्भावना रहती है क्योंकि सभी अनर्थों का मूल है मन, चूँकि मन द्वारा ही विषयों का अभिध्यान होता है। यही अब दो श्लोकों में कहा जा रहा है—]

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

अन्वय—विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु संगः उपजायते, संगात् कामः संजायते, कामात् क्रोधः अभिजायते, क्रोधात् संमोहः भवति, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

अनुवाद—विषयसमूह की उपादेयता (अनुकूलता) के सम्बन्ध में चिन्ता करते रहने पर उन सब विषयों पर आसक्ति या प्रीति की उत्पत्ति होती है। आसक्ति से काम उत्पन्न होता है तथा काम प्रतिहत होने से (बाधा प्राप्त होने से) क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोध से (कार्य तथा अकार्य विषयों में) सन्मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है। सन्मोह से स्मृतिविभ्रम अर्थात् स्मृतिभ्रंश होता है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि नाश से विनाश प्राप्त होता है।

दीपिका। विषयान् ध्यायतः—शब्दादि विषयों की [जिस व्यक्ति ने बाह्य (बाहरी) इन्द्रियों का निग्रह किया है वह भी यदि (मधुसूदन)] चिन्ता करते रहे अर्थात् मन में बार बार विशेष विशेष शब्दादि विषयों की आलोचना (चर्चा) करते रहे तब उस पुंसः—पुरुष का तेषु—उन सब विषयों में

संगः—आसक्ति या प्रीति [अर्थात् यह मेरा सुख का कारण है इस प्रकार शोभनाध्यासरूप प्रीतिविशेष (मधुसूदन)] उपजायते—उत्पन्न होता है [सभी अनर्थों का मूल है विषयों का ध्यान क्योंकि उस ध्यान के साथ युक्त होने पर ही काम क्रोध इत्यादि उत्पन्न होते हैं। विषयों का अभिध्यान न रहने पर विषयों का संग अर्थात् प्रीति (आसक्ति या रमणीयत्व-बुद्धि) हो नहीं सकती है, अतः अनर्थों की भी उत्पत्ति हो नहीं सकती है। इसलिये भाष्य-कार ने कहा--पराभविष्यतः (महान् अनर्थ प्राप्त करने में उन्मुख विवेक-विज्ञानहीन पुरुष का) सर्वानर्थमूलम् (सभी अनर्थो का मूल है) इदम् (यह विषयों का अभिध्यान)। विषयध्यान से नाना प्रकार के अनर्थों की सृष्टि होती है वह सभी प्रत्यक्षरूप से अनुभव कर सकते हैं। यह समझाने के लिये यहाँ 'इदम्' शब्द का प्रयोग भाष्यकार ने किया। (आनन्दगिरि)]

संगात्—विषयों के प्रति प्रीति से कामः संजायते—कामना की उत्पत्ति होती है अर्थात् "ये सब मेरा हो" इस प्रकार काम (तृष्णा विशेष) की उत्पत्ति होती है। ['संग' शब्द के द्वारा साधारण आसक्ति तथा 'काम' शब्द के द्वारा उद्रिक्त आसक्ति अर्थात् जो आसक्ति (तृष्णाविशेष) प्रकट हुई है—उसे समझाया जा रहा है। (आनन्दगिरि)] कामात्—वह कामना यदि किसी कारण से प्रतिहत (बाधाप्राप्त) हो तब जिसके द्वारा वह काम प्रतिहत होता है उनके प्रति क्रोधः अभिजायते—क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधात्—क्रोध से सम्मोहः भवति—सम्यक् प्रकार से मोह [कार्य तथा अकार्य विषय में अविवेक (विचारशून्यता)] उत्पन्न होता है अर्थात् कौन उचित है तथा कौन अनुचित है उसकी विवेचना करने की शक्ति का अभाव होता है क्योंकि क्रोधित व्यक्ति ही इस प्रकार मोह प्राप्त होकर गुरु के प्रति भी आक्रोश किया करते हैं।

सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः—सम्मोह से स्मृतिविभ्रम होता है। शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के द्वारा आहित (पुञ्जीभूत) संस्कार समूह का फलस्वरूप कार्याकार्यविषय में अथवा आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो स्मृति उत्पन्न होती है उसका विभ्रम (भ्रंश या विच्युति) होता है अर्थात् शास्त्र तथा आचार्य से हित तथा अहित कार्य के सम्बन्ध में तथा आत्मज्ञान के सम्बन्ध में जो उपदेश प्राप्त होता है वह स्मृति में नहीं रहता है (उसका स्मरण नहीं होता है)। आत्मा की स्मृति शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से उत्पन्न हुये संस्कार से जाग्रत होती है। वे संस्कार रहते हुये भी स्मृति की अनु-त्पत्ति को (स्मरण करने में असामर्थ्य को) स्मृति—विभ्रम कहते हैं।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः—स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश होता है। अन्तःकरण में कार्याकार्य के विषय में विवेक की योग्यता का [अर्थात् कौन कार्य (कर्त्तव्य) है तथा कौन अकार्य (अकर्तव्य) है उसे पृथक् कर विचार करने की योग्यता का] अभाव को ही बुद्धि का नाश कहते हैं। [मनुष्य का परम पुरुषार्थ है आत्मज्ञान लाभ करना। शास्त्र तथा गुरुवाक्य से आत्मज्ञान सम्बन्धी व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि प्राप्त होती है किन्तु स्मृतिभ्रंश होने से "मैं तथा ब्रह्म एक ही हूँ" इस प्रकार ब्रह्मैकात्म्याकारा चित्तवृत्ति अविच्छिन्न नहीं रह सकती। इसलिये विपरीत भावना की (द्वैत भावना की) वृद्धि से तथा विक्षेपरूप प्रतिबन्धक रहने के कारण ऐकात्म्याकारा चित्तवृत्ति (अर्थात् समाधिज प्रज्ञा) उत्पन्न हो नहीं सकती अथवा उत्पन्न होने पर भी वह फल के अयोग्य होने के कारण वैसी चित्तवृत्ति का लय हो जाता है। इसी को बुद्धिनाश कहते हैं। (मधुसूदन)] बुद्धिनाशात् प्रणश्यति—बुद्धिनाश से विनाश प्राप्त होता है (सभी प्रकार से पुरुषार्थ के अयोग्य होता है)। पुरुषार्थ के लिये अयोग्यता ही महाविनाश है। लोकसमाज में (मनुष्यसमाज में) ऐसे पुरुष को मृत कहा जाता है (मधुसूदन)। पुरुष तब तक ही पुरुष शब्द का वाच्य होता है, जब तक कि उसके अन्तःकरण कार्य तथा अकार्य विषय में विवेक करने में योग्य (समर्थ) रहता है अर्थात् क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये या इस विषय में विवेकपूर्ण विचार करने की क्षमता अन्तःकरण में रहती है। अन्तकरण की विवेकयोग्यता न रहने पर पुरुष नष्ट ही हो जाता है अर्थात् जो परमार्थदर्शन के लिये मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है वह निष्फल हो जाता है। इसी कारण अन्तःकरण शब्दवाच्य बुद्धि के नाश से ही पुरुष पुरुषार्थ के (परमात्मा के साथ की एकता साधनरूप योग लाभ करने में) अयोग्य होता है।

[चूँकि इस प्रकार मन का निग्रह या संयम नहीं रहने से बाह्य (बाहरी) इन्द्रियाँ निगृहीत रहने पर भी उस व्यक्ति को इस प्रकार अत्यन्त अनर्थ की प्राप्ति होती है, इसलिये अतिशय प्रयत्न के द्वारा मन को निगृहीत करना उचित है यही कहने का अभिप्राय है। इसलिये ६१ श्लोक में इन्द्रियसमूह को संयत करने के बाद समाहितान्तःकरण होना होगा अर्थात् अन्तःकरण को आत्मा में निश्चल करना पड़ेगा, यह जो कहा गया है, वह युक्तियुक्ति ही है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[बाहरी इन्द्रियों के संयम के अभाव से

क्या दोष है वह पूर्व श्लोक में बताकर अब मन के संयम के अभाव से क्या दोष होता है वह दो श्लोकों में वर्णन कर रहे हैं—]

ध्यायतः—गुण बुद्धि से [अर्थात् यह शोभनीय (रम्य) है, यह भोग्य है—इस प्रकार विषयों में गुण आरोपित कर] विषयों का ध्यान जो करता है उस **पुंसः**—पुरुष की **तेषु**—विषय समूह में **संगः उपजायते**—आसक्ति उत्पन्न होती है। **संगात् कामः संजायते**—उस आसक्ति से उस विषय समूह में अधिक काम (तृष्णा) उत्पन्न होता है। **कामात् क्रोधः अभिजायते**—किसी कारण वश काम प्रतिहत (बाधा प्राप्त) होने से क्रोध उत्पन्न होता है। ६३ श्लोक—**क्रोधात् संमोहः भवति**—क्रोध से संमोह उपस्थित होता है अर्थात् कार्याकार्य विषय में विवेक का अभाव होता है। **संमोहात् स्मृतिविभ्रमः**—संमोह से स्मृति का नाश होता है। क्या करना उचित है तथा क्या नहीं करना उचित है इस विषय में विवेक का अभाव होता है। इससे शास्त्र तथा आचार्य द्वारा उपदिष्ट विषयों की स्मृति का विभ्रम होता है। अर्थात् शास्त्र तथा आचार्यों ने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य विषय में जो उपदेश दिये हैं उसकी स्मृति विचलित हो जाती है (उसे स्मरण नहीं होता है)। **स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः**—स्मृतिभ्रंश होने से बुद्धि का (चेतना का) नाश होता है अर्थात् वृक्षादि की सदृश बुद्धि का (चेतना का) अभिभव (पराभव) देखा जाता है। **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**—बुद्धिनाश होने से मनुष्य प्रनष्ट होता है अर्थात मृत के तुल्य हो जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—इन्द्रिय समूह यदि विषय में अन्तःकरण को निपातित करे तब विद्वान् को क्या अनर्थ होगा—ऐसा यदि प्रश्न करो तब कहा जायगा कि विषय का ध्यान ही सभी अनर्थों का बीज है तथा उससे अनर्थ की हेतुपरम्परा प्राप्त होती है और उस परम्परा से ही परमात्मा तथा जीवात्मा का एकत्वविज्ञान नष्ट होता है तथा उस विज्ञान नष्ट होने से जन्म मृत्यु की तरङ्गमाला युक्त संसार समुद्र में पतित होकर विद्वान् भी स्वयं नष्ट हो जाता है। इस प्रकार विद्वान् व्यक्ति का भी बहिर्मुखत्व जन्म आदि दुःखरूप प्रवाह में निरन्तर (सदा) पतन का कारण होता है। मुक्ति उनको नहीं मिलती है क्योंकि उनमें मुक्ति के कारण का (हेतु का) अभाव है। मन रागद्वेषप्रयुक्त होकर विषय में प्रविष्ट होने से विद्वान् व्यक्ति को विषय में अभिध्यान ही (अर्थात् सदा विषय का चिन्तन ही) होता रहता है अतः उनके लिये ब्रह्मध्यान सम्भव नहीं है। इस-

लिये श्रीभगवान् सभी अनर्थों के मूल जो विषय का ध्यान है उसका कार्य (परिणाम) क्या है वह अब दो श्लोकों में प्रतिपादन कर रहे हैं—]

विषयान्—शब्दादि विषय समूह में ध्यायतः—यह रम्य (लोभनीय) है, यह अरम्य (अशोभनीय) है, ऐसी जो चिन्ता करते हैं अथवा यह भोग करने के योग्य है ऐसी जो चिन्ता करते हैं उन पुंसः—पुरुष की तेषु—उस रम्यत्वाकार में अथवा भोग्यत्वाकार में संगः—प्रीति अर्थात् पूर्व संस्कार के कारण आसक्ति जायते—(उसी समय) उत्पन्न होती है। संगात्—प्रीति अथवा आसक्ति से उस विषय में कामः—इस विषय के द्वारा मुझे यह प्राप्त करना है ऐसा काम अर्थात् भोगेच्छा का वेग संजायते—सम्यक् (पूर्णरूपसे) उत्पन्न होता है। उस भोगेच्छा के वेग के द्वारा ग्रस्त होकर (वशीभूत होकर) वह पुरुष कलंजादि अशुचि पदार्थ को अथवा यदि स्त्रीलम्पट हो तब भगिनी आदि को भोग्यत्व बुद्धि से भोग करने के लिए व्याकुल होता है, यही 'संजायते' शब्द का अभिप्राय है। कामात् क्रोधः अभिजायते—काम आदि यदि किसी प्रतिबन्ध के द्वारा प्रतिहत होता है तो क्रोध उत्पन्न होता है। पराधीन (अर्थात् संस्कार के अधीन) होकर जीव जिस बुद्धि के द्वारा दूसरे का उपकार करने के लिए उद्यत होता है उस परोपकार करने के हेतुभूत बुद्धि विशेष को (बुद्धिवृत्तिविशेष को) क्रोध कहा जाता है।

६३ श्लोक—क्रोधात् संमोहः भवति—क्रोध से सम्यक् प्रकार से मोह (कार्याकार्य विषय में विवेकशून्यता) उत्पन्न होता है। क्रोध द्वारा आविष्ट (अभिभूत) होकर पुरुष मोह के कारण महान् पुरुष का भी अपकार करते हैं; गुरु को भी धिक्कार देते हैं। संमोहात् स्मृतिविभ्रमः (भवति)—उपर कहे गये लक्षणयुक्त संमोह से स्मृति का विभ्रम होता है। वेदान्त श्रवण से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा "मैं ब्रह्म ही हूँ" इस प्रकार बारम्बार अभ्यास के द्वारा स्वीय अनुभव के संस्कार से बुद्धिवृत्ति का ब्रह्माकारतारूप परिणाम होता है। इस प्रकार ब्रह्माकार बुद्धिवृत्तिविशेष को स्मृति कहा जाता है। वह स्मृति विभ्रम (भ्रंश) अर्थात् स्मृति के हेतुभूत वेदान्तवाक्य इत्यादि विद्यमान रहने पर भी स्मृति के अनुदय को (अर्थात् 'ब्रह्मास्मि' ऐसी स्मृति उत्पन्न न होने को) स्मृतिविभ्रम कहा जाता है।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः—ब्रह्मस्वरूप अपनी आत्मा के विषय में स्मृति का नाश होने से बुद्धि अर्थात् ब्रह्ममयीवृत्ति का नाश होता है। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति—जैसे सामने उपविष्ट पुरुष में 'यह व्यक्ति मेरा पुत्र है" ऐसी यदि स्मृति हो तब 'यह मेरा पुत्र है' ऐसी पुत्राकारा बुद्धि उत्पन्न होती

है परन्तु जो पुरुष भ्रान्त हैं उनकी वैसी स्मृति असंभव होने के कारण पुत्राकारा बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। वैसे ही ब्रह्म अपरोक्ष होने पर भी (साक्षात् रूप से प्रकाशित रहने पर भी) विषय रूप व्यामोह द्वारा जिनका चित्त आक्रान्त हुआ है ऐसे विद्वान् की आत्मविषयक स्मृति का अभाव होने के कारण दृश्याकारा बुद्धिवृत्ति परित्याग कर "ये सब और मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ" ऐसा जगत् में तथा अपने में सर्वत्र ब्रह्माकारत्व को विषय करने में समर्थ अखंडात्मिका चिन्मयी वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है किन्तु भोक्ताभोग्य के आकार को विषय करनेवाली बुद्धिवृत्ति के द्वारा अपने स्वरूप से च्युत होकर वह विद्वान् स्वयं भी प्रनष्ट हो जाता है (सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं) अर्थात् संस्काररूप कारागार में पतित होकर कभी मुक्तिप्राप्त नहीं होता है। जैसे विषपानकारी को अमरत्व लाभ करना असंभव है वैसे ही असद् मार्ग में प्रविष्ट पुरुष को सद्गति लाभ करना संभव नहीं है। अतः विषयों को किसी भी प्रकार से अवकाश न देकर सभी इन्द्रियों को निग्रह कर जो योगी समाधि का अभ्यास करता है उन्हीं को सम्यक् ज्ञान तथा उसका फल (मोक्ष) लाभ होता है (दूसरे को नहीं) यही इन दो श्लोकों से सिद्ध (प्रतिपन्न) हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—इन्द्रियसमूह को संयम की आवश्यकता पूर्ववर्ती दो श्लोकों में सिद्ध कर अब मन के संयम की आवश्यकता क्यों है ? यह कह रहे हैं। मन आत्मा का ध्यान त्यागकर जब विषयों का ध्यान करता है (विषय का भोग्यत्व तथा रमणीयत्व चिन्तन करता है) तब उन विषयों के प्रति संग (आसक्ति) होती है। आसक्ति प्रबल होने से काम (प्रबल भोगेच्छा) उत्पन्न होता है तथा काम तृप्ति के पथ में जो कुछ प्रतिबन्धक (प्रतिकूल) है उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध तमोगुण का कार्य है, अतः उस क्रोधरूपी तमोगुण के वशीभूत होने से संमोह अर्थात् कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में (अविवेक पूर्ण मोह अर्थात् बुद्धि की विकलता या विचारहीनता) उत्पन्न होता है। इस अवस्था में जो नहीं करना चाहिये (जैसे गुरु के प्रति आक्रोश इत्यादि) ऐसे सब गर्हित कर्म भी पुरुष करता है। यह संमोह उपस्थित होने से गुरु तथा शास्त्र से जो कुछ धर्म, नीति, आत्मा का स्वरूप, जगत् तथा परमात्मा के तत्त्व इत्यादि को उस पुरुष ने पहले सुना था, उसके मन में उन सबों की स्मृति का विभ्रम (विभ्रंश) अर्थात् ऐसा (विशेषरूप से) भ्रम उपस्थित होता है कि उन शास्त्रीय स्मृतियों का पुनरुद्धार करना उस अवस्था में असम्भव होता है। जब कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विषयों की स्मृति अथवा जिस आत्मा में

मन को समाहित कर मन को संयत करना होगा उस आत्मस्वरूप का भ्रंश होता है (आत्मा से विशेषरूप से अर्थात् पूर्णरूप से च्युत होकर ध्येय विषय में निमग्न होता है) तब बुद्धि का (विवेकबुद्धि का) अथवा आत्मतत्त्व सम्बन्ध में जो व्यवसायित्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि गुरु तथा शास्त्र की कृपा से प्राप्त हुई थी उसका नाश (तिरोधान) होता है। इस प्रकार बुद्धिनाश होने से इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का जो परम पुरुषार्थ (मोक्ष) है उसे लाभ करना कभी सम्भव नहीं है। जो हतभाग्य (दुर्भाग्य) पुरुष विषय भोग में निमग्न रहता है वह मृत्यु के बाद फिर संसार कूप में ही पतित होता है। इस प्रकार से उसका दुर्लभ मनुष्य जीवन (प्रकृष्टरूप से) नष्ट हो जाता है। अतः जिससे मन विषय का ध्यान न कर सके तथा जिससे मन सदा ही आत्मध्यान में लीन रहे उसके लिए अतिशय प्रयत्न करना मुमुक्षु का अवश्य कर्त्तव्य है क्योंकि मन में विषयों का ध्यान रहने पर परम्परा क्रम से सभी अनर्थ उपस्थित होते हैं।

[मन को विषयों का अभिध्यान अर्थात् विषय के प्रति रागद्वेष ही सभी अनर्थों का मूल है—यह पूर्व दो श्लोकों में बताकर अब मोक्ष का कारण (साधन) क्या है वह बता रहे हैं—]

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति । ६४॥

अन्वय—रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् विधेयात्मा तु प्रसादम् अधिगच्छति ।

अनुवाद—(पक्षान्तर में) राग तथा द्वेष से सम्पूर्णरूप से मुक्त तथा आत्मवशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करने पर भी (विषय उपभोग करने से भी) जिनका चित्त इच्छा के अनुसार वशीभूत रहे ऐसे पुरुष परमात्मसाक्षात्कार की योग्यतारूप प्रसन्नता (स्वच्छता) प्राप्ति कर सकते हैं।

दीपिका—इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन के रागद्वेष से उत्पन्न होती है। यह स्वाभाविक है। फिर भी जो मुमुक्षु है वे यदि विधेयात्मा—इच्छा के अनुसार आत्मा (अन्तःकरण) को विधेय (वशीभूत) कर सके अर्थात् वशीकृतान्तःकरण हो तब रागद्वेषवियुक्तैः—राग तथा द्वेष से सम्पूर्णरूप से मुक्त एवं आत्मवश्यैः—आत्मा अर्थात् अपने (अथवा मन के) द्वारा वशीभूत इन्द्रियैः—चक्षुः प्रभृति इन्द्रियों के द्वारा विषयान्—देह धारण के लिए आवश्यक अर्थात् अवर्जनीय आहारपानादिविषयकसमूह [अथवा प्रारब्धवश अवश्य भोक्तव्य

शब्दादि विषयसमूह] चरन्—उपलब्धि कर (भोग कर) प्रसादम्—प्रसन्नता तथा स्वास्थ्य [चित्त के स्वास्थ्य (अत्यन्त निर्मलता) अर्थात् परमात्मा साक्षात्कार की योग्यतारूप स्वच्छता (मधुसूदन)] अधिगच्छति—लाभ करते हैं। [इन्द्रियसमूह रागद्वेष के द्वारा प्रयुक्त (चालित) होने से दोष का हेतु होता है किन्तु इन्द्रियसमूह की प्रवृत्ति मन के अधिन रहती है। अतः मन वशीभूत रहकर यदि राग तथा द्वेष विहीन होता है तब इन्द्रियसमूह भी रागद्वेषविहीन हो जाता है। ऐसी रागद्वेषविहीन इन्द्रियों के द्वारा जीवन धारण करने के लिए जो अवर्जनीय (जिसको परित्याग किया नहीं जा सकता है) उन विषयों का ग्रहण या भोग विधेयात्मा के लिए (संयतचित्त पुरुष के लिए) कोई भी दोष का हेतु नहीं होता है अर्थात् ऐसे भोग के द्वारा उनकी चित्त-शुद्धि की हानि (विघ्न) नहीं होती है (मधुसूदन)]। इन्द्रियों की रागद्वेष-हीनता तथा अन्तःकरण की स्वच्छता परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता सम्पादन करती हैं। इसलिए श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है—"तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमीशम्" (श्वे० उ०) अर्थात् उस अक्रतु (विषयभोगसंकल्परहित) आत्मा का अपने से अभिन्नरूप से जो साक्षात्कार करते हैं वे शोकरहित होते हैं; इन्द्रियरूप धातुयें प्रसन्न होने से उनको साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है।

[अब शंका हो सकती है कि यदि विषयसमूह का स्मरण करना ही अनर्थ का कारण हो तब उनका उपभोग तो और भी अधिक अनर्थ का हेतु होगा। अतः जो व्यक्ति जीवन धारण के लिए भी विषय भोग करते हैं वे क्यों नहीं अनर्थ प्राप्त करेंगे ? भगवान् ने इस श्लोक में उस शंका का समाधान किया। (आनन्दगिरि)] [राग-द्वेष-हीन तथा आत्मवशवर्ती (अर्थात् अपने अधीन) इन्द्रियसमूह के द्वारा स्थितप्रज्ञ व्यक्ति विषयसमूह ग्रहण करते हैं। यही "किं व्रजेत" अर्थात् कैसे विषय ग्रहण करते हैं इस चतुर्थ प्रश्न का उत्तर है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यदि कहो कि विषयप्रवणस्वभाव युक्त (अर्थात् विषयों की ओर धावित होना ही जिनका स्वभाव है, वे) इन्द्रियों का निरोध करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है अतः जिन दोषों के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती दो श्लोकों में कहा गया है उनका परिहार करना एक प्रकार से असम्भव ही है। ऐसी अवस्था में स्थितप्रज्ञ होना कैसे सम्भव है ? ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—]

रागद्वेषवियुक्तैः—रागद्वेष से रहित तथा विगतदर्प (जिनका घमंड

चूर हो गया है ऐसी) आत्मवश्यैः—आत्मा के (अर्थात् मन के या अन्तः-करण के) वशीभूत इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा विषयान्—(शास्त्र अविरुद्ध अन्नपान आदि) विषयों का चरन्—ग्रहण (उपभोग) करके भी विधेयात्मा—विधेय (वशवर्ती) आत्मा (मन) जिनका है वे अर्थात् विजितान्तःकरण व्यक्ति प्रसादम् अधिगच्छति—शान्ति प्राप्त करते हैं। इसके द्वारा अर्जुन के चौथे प्रश्न का ('कथं व्रजेत' कैसे चलता है अर्थात् कैसे भोग करता है, इस प्रश्न का) उत्तर दिया गया। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति स्वाधीन (अपनी वशीभूत) इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) शंकरानन्द—[यदि इन्द्रियाँ विषयों को न ग्रहण करें तब विद्वान् व्यक्ति कैसे शरीरयात्रा का निर्वाह करेंगे ? ऐसी आशंका के उत्तर में श्री भगवान् शरीरयात्रा का उपाय तथा सदसद् आदि अभ्यासकारी पुरुषों के चित्त का प्रसाद प्रतिपादन कर रहे हैं—]

रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः—विषयों में इष्टत्व तथा अनिष्टत्व की बुद्धि रखना ही राग तथा द्वेष का बीज है। विषयों में दोषदर्शन के द्वारा उस इष्टानिष्टत्व बुद्धि को त्याग करने से इन्द्रियाँ राग तथा द्वेष से मुक्त हो जाती है। यदि किसी व्यक्ति के मन में ऐसी बुद्धि रहे कि ये समस्त विषय असत् (पारमार्थिक सत्ताहीन) तुच्छ है तथा बन्धन का कारण है तब इन्द्रियों में विषयों के प्रति राग या द्वेष (अर्थात् उन मिथ्या तथा मायिक वस्तुओं के प्रति इष्टानिष्टत्व बुद्धि) नहीं रह सकता है। इस प्रकार राग तथा द्वेष से वियुक्त (विशेष भाव से मुक्त) आत्मवश्यैः—इन्द्रियाँ रागद्वेष से वियुक्त होने पर वे आत्मा के (अपने) वशीभूत रहते हैं अर्थात् विषयों से संकोच एवं विषयों के प्रति व्याकोच (विस्तार)—इन दोनों व्यापारों में ही वश में रहनेवाली इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं। इसप्रकार रागद्वेषहीन, आत्मवशीभूत प्रसन्न इन्द्रियों के द्वारा विषयान्—अन्नरसादि अनिषिद्ध विषयों को एवं उनमें भी केवल प्राणरक्षा के लिए पर्याप्त विषयों को चरन्—भोग करते हुए विधेयात्मा—विधेय अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि एवं समाधि के द्वारा रागद्वेष-रहित एवं शुद्ध होने के कारण स्वाधीन (अपने वशीभूत) है आत्मा (मन) जिसका उसको विधेयात्मा कहा जाता है। ऐसे विधेयात्मा होकर ब्रह्मवित् यति प्रसादम् अधिगच्छति—प्रसाद अर्थात् चित्त का स्वास्थ्य (चित्त की अत्यन्त निर्मलता) प्राप्त करता है। [जिससे परब्रह्म तथा परमानन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर जीवन कृतार्थ हो सके]। "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"। [आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि (अन्तः-

करण की शुद्धि), सत्त्वशुद्धि से ध्रुवा स्मृति होती है]। ऐसे श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है कि इन्द्रियशुद्धि से चित्तशुद्धि होती है। [जिसके द्वारा विषयों का आहरण किया जाता है उसे आहार कहा जाता है। इस अर्थ में इन्द्रियाँ भी आहार है। अतः उनकी शुद्धि=इन्द्रियशुद्धि]

(३) नारायणी टीका—पूर्व के कई श्लोकों में इन्द्रिय तथा मन को संयत एवं वशीभूत नहीं करने से स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकते हैं, यह कहा गया है। इन्द्रियों का संयम पहले करना चाहिये, नहीं तो बलपूर्वक कभी भी बलवान् इन्द्रियसमूह मन को हरण कर विषयासक्त कर देंगे। फिर यदि इन्द्रियसंयम ही अभ्यस्त हो किन्तु मन असंयत या असमाहित रहे तथा विषय के प्रति भोग्यत्वबुद्धि रहे तब परम्पराक्रम से कैसे महान् अनर्थ होता है वह पूर्ववर्त्ती दो श्लोकों में कहा गया है। जब मन तथा इन्द्रिय उभय ही अभ्यास के द्वारा पूर्णरूप से वशीभूत होते हैं तब किसी भी अवस्था में योगी रहे [अर्थात् जीवन यात्रा के लिए विषय भोग करें अथवा समाधिस्थ रहें उभय अवस्था में ही] उनके चित्त की प्रसन्नता तथा स्वास्थ्य (स्वच्छता, निर्मलता) एक ही प्रकार से रहती है। अतः मोक्षलाभ के लिए सभी अवस्थाओं में उन पुरुषों की योग्यता रहती है। ऐसा स्थितप्रज्ञ विषयभोग करने के समय ६१ श्लोक में उक्त 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इस साधना के अभ्यास में सिद्ध होकर विधेयात्मा होते हैं अर्थात् आत्मा या मन विधि के (नियम के अर्थात् पुरुष जैसे मन को नियमित करने के इच्छुक होते हैं वैसे) वशीभूत रहता है। मन को इस अवस्था की प्राप्ति आत्मा में निरंतर युक्त रहने से ही होना सम्भव है। ऐसे निरंतर अभ्यास के द्वारा मन ब्रह्मस्वरूप हो जाता है तथा सर्वत्र एकत्वानुभव होने के कारण द्वैतबुद्धि नहीं रहने से रागद्वेषशून्य—हो जाता है। इन्द्रियसमूह भी तब आत्मवश्य—(मन या पुरुष के वशीभूत) होते हैं [६१ श्लोक देखो]। ऐसे रागद्वेषहीन तथा इच्छानुसार सभी प्रकार से वशीभूत मन तथा इन्द्रियों के द्वारा जो पुरुष विषयसमूह भोग करते हैं वह प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करते हैं [उनके चित्त का प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता स्वच्छता तथा निर्मलता की कोई हानि नहीं होती है क्योंकि वैसे भोग के समय उनका मन विधेय रहता है (आत्मा में ही लीन रहकर वशीभूत रहता है)]। अतः ६२-६३ श्लोकों में कहे गये काम आदि की उत्पत्ति नहीं होती है एवं इन्द्रियाँ भी आत्मवश्य ही रहती है (अर्थात् आत्मा की प्रेरणा से ही विषयों में विचरण करती हुई आत्मा के ही वशीभूत होकर आत्माभिमुखी रहती हैं)। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति

किस प्रकार कभी लीला में तथा कभी नित्य में रहता है इसे निर्देश कर भगवान् ने अर्जुन के चौथे प्रश्न का ('व्रजेत किम्' इस प्रश्न का) उत्तर दिया।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि संयत चित्त व्यक्ति प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। प्रसाद होने से क्या होता है यह अब कहा जा रहा है—]

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्वय—प्रसादे अस्य सर्वदुःखानां हानिः उपजायते, हि प्रसन्नचेतसः बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते ।

अनुवाद—चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त करने से उस यति के सभी दुःखों का उच्छेद हो जाता है चूँकि उस व्यक्ति का चित्त प्रसन्न या स्वच्छ होता है। इसलिए उसकी बुद्धि (अद्वैतपरमार्थतत्त्व में) अतिशीघ्र ही स्थिरता प्राप्त कर लेती है (निश्चल होती है)।

दीपिका। प्रसादे—चित्त की स्वच्छतारूप प्रसाद होने से अस्य—उस यति के सर्वदुःखानां—अज्ञानजनित आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक सभी प्रकार के दुःखों की हानिः—विनाश उपजायते—हो जाता है हि—चूँकि प्रसन्नचेतसः बुद्धिः—प्रसन्नचित्त व्यक्ति की अर्थात् स्वस्थान्तःकरण व्यक्ति की बुद्धि [ब्रह्म तथा आत्मा दोनों अभिन्न है—यह बुद्धि (मधुसूदन)] आशु—शीघ्र ही पर्यवतिष्ठते—पर्यवसित रहती है (परि—सभी ओर से अवस्थित—स्थिर रहती है) चूँकि उसमें असम्भावना तथा विपरीत भावना प्रभृति प्रतिबन्धक नहीं रहते हैं। इस कारण उसकी बुद्धि आकाश के सदृश सभी ओर से आत्मस्वरूप में अवस्थान करती है अर्थात् निश्चल रहती है। चूँकि प्रसन्नचित्त तथा स्थिरबुद्धि व्यक्ति इस प्रकार से कृत-कृत्यता प्राप्त करते हैं उस कारण रागद्वेषविवर्जित इन्द्रियों के द्वारा शास्त्र के अविरुद्ध परन्तु अवर्जनीय (जिसके अभाव में जीवन धारण करना सम्भव नहीं है ऐसे) विषयों को युक्त होकर अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा के साथ युक्त रहकर [अथवा विषयों के वशीभूत न होकर परमात्मा में चित्त को समाहित रखकर (आनन्दगिरि)] सेवन करेंगे, यही वाक्य का तात्पर्य है। [प्रसन्नता होने से बुद्धि की पर्यवस्थान अर्थात् सभी ओर से स्थिरता या निश्चलता होती है। बुद्धि में स्थिरता होने से ज्ञान उत्पन्न होकर विरोधी अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान रूप कारण की निवृत्ति होने से अज्ञान के कार्यस्वरूप सभी

प्रकार के दुःखों की हानि (नाश) हो जाती है—यही क्रम है। तब भी प्रसाद का अव्यवहित बाद ही (प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता का उदय के साथ साथ ही) सभी दुःख की हानि होती है ऐसा श्लोक में जो कहा गया है उसका कारण यह है कि चित्त की ताकि प्रसन्नता (स्वच्छता) हो इस ओर साधक का अधिक ध्यान रहना चाहिए क्योंकि यह प्रसाद या प्रसन्नता (चित्त की स्वच्छता) साधक की परम सम्पद् है (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[प्रसाद की प्राप्ति से क्या लाभ होता है, वही अब कह रहे हैं—] प्रसादे (सति)—प्रसाद (चित्त की अतिशय निर्मलता) प्राप्त होने से अस्य—इन विद्वान् पुरुष का सर्वदुःखानां हानिः उपजायते—सभी दुःखो का नाश होता है उसके बाद प्रसन्नचेतसः—इस प्रकार से जिनका अन्तःकरण प्रसन्न हुआ है उनकी बुद्धिः—अर्थात् प्रज्ञा आशु—शीघ्र ही पर्यवतिष्ठते—प्रतिष्ठित होती है [प्र—प्रकृष्ट रूप से अर्थात् पूर्णतया स्थित अर्थात् निश्चल रहती है]

(२) शंकरानन्द–[जो विद्वान् नित्य समाधिनिष्ठा के द्वारा इन्द्रियों तथा मन की शुद्धि सम्पादन करते हैं अर्थात् समाधिनिष्ठा के द्वारा जिनका इन्द्रिय तथा मन अत्यन्त निर्मल हो गया है उस विद्वान् को वैसी शुद्धि से क्या फल होता है यह कहा जा रहा है—] प्रसादे—इन्द्रियों की शुद्धि होने पर (प्रसाद प्राप्त होने पर) अस्य—इस विद्वान् का सर्वदुःखानां—सभी दुःखों का यहाँ दुःख शब्द के द्वारा दुःख के हेतुभूत अनेक प्रकार के विक्षेप को लक्ष्य कर कहा गया है। अतः सर्वदुःखानां शब्द का अर्थ है—सभी विक्षेपों का हानिः—सम्पूर्णरूप से निवृत्ति उपजायते—होती है। उससे ही आशु—शीघ्र प्रसन्नचेतसः—निर्मल-अन्तःकरण विशिष्ट विद्वान् की बुद्धिः—सर्वत्र ब्रह्मदर्शिनी प्रज्ञा पर्यवतिष्ठते—प्रतिष्ठित रहती है (निश्चल रहती है)

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि प्रसाद की प्राप्ति होने से ही ब्राह्मीस्थिति या मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है एवं सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। चूँकि प्रसन्नचित्त व्यक्ति की (स्वच्छ शुद्धान्तः करण विशिष्ट योगी की) असम्भावना, विपरीत भावना इत्यादि किसी भी प्रकार का विक्षेप न रहने के कारण अतिशीघ्र—'ब्रह्म तथा आत्मा अभिन्न है' ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि परि अर्थात् चारों ओर से आकाश के सदृश आत्मस्वरूप में ही निश्चलरूप से स्थित रहती है (पर्यवतिष्ठते)। चित्त का अप्रसाद अर्थात् अस्वच्छता या अशुद्धि ही अज्ञान का प्रधान लक्षण है। अज्ञान से ही अर्थात् आत्मस्वरूप को न जानने के कारण मिथ्या (झूठा)

कल्पित विषयादि में सत्यत्व बुद्धि तथा भोग्यत्वबुद्धि उत्पन्न होती है एवं अज्ञान के प्रभाव से ही विषय के पीछे जीव जन्म जन्मान्तर दौड़ते रहते हैं तथा सर्व प्रकार से दुःख भोग करते हैं। चित्त के प्रसाद (स्वच्छता) से 'तत्त्वमसि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्य का तात्पर्य मुमुक्षु अवधारण करने में समर्थ होता है तथा उनकी बुद्धि आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में संशयरहित होकर (दृढ़ निश्चय होकर) आत्मा में ही सभी प्रकार से निश्चल होकर स्थिति लाभ करती है। यही स्थितप्रज्ञ की अवस्था है। इस अवस्थामें आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। उससे अज्ञान नष्ट होता है तथा साथ साथ अज्ञान के कारण सभी दुःखों का आत्यन्तिक नाश होता है एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है—इसी को ही मोक्ष कहते हैं। चित्त प्रसाद का फल मोक्ष है, यही इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है। अतः मुमुक्षु को इस प्रसाद की प्राप्ति के लिये सभी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए।

[पूर्वश्लोक में जो प्रसन्नता की बात कही गई है उसकी स्तुति हो रही है अर्थात् वह व्यतिरेकमुख से दृढ़ कर रहे हैं। (यदि चित्त असंयत होने से प्रसन्नता की प्राप्ति नहीं होती है तब क्या दोष होता है वह दिखाकर उस विषय को दृढ़ कर रहे हैं)]

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अन्वय—अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति, अयुक्तस्य भावना च न, अभावयतः च शान्तिः न, अशान्तस्य सुखं कुतः ।

अनुवाद—अयुक्त अर्थात् असंयत व्यक्ति की आत्मविषयिणी बुद्धि [अर्थात् जिससे आत्मा के स्वरूप को स्थिररूप से अवधारण कर सके (समझ सके) ऐसी बुद्धि] नहीं हो सकती है। असंयत (अयुक्त) व्यक्ति को भावना (आत्मज्ञान में अभिनिवेश अर्थात् निरवच्छिन्न रूप से आत्मचिन्ता) नहीं हो सकती है। जिनकी भावना (आत्मा में अभिनिवेश) नहीं है, उनको शान्ति नहीं मिल सकती है। जिनको शान्ति नहीं मिलती है अर्थात् जो अशान्त है, उनको सुख कहाँ मिलेगा ?

दीपिका। अयुक्तस्य-जिनका अन्तःकरण असमाहित अर्थात् असंयत है उनकी बुद्धिः—आत्मस्वरूप के विषय में बुद्धि अर्थात् श्रवण मननादि (वेदान्त विचारादि) से उत्पन्न जो बुद्धि है वैसी आत्मविषया बुद्धि नास्ति—उत्पन्न नहीं हो सकती है अयुक्तस्य—उस आत्मस्वरूप के विषय में बुद्धि उत्पन्न

नहीं होने के कारण असंयतचित्त व्यक्ति की भावना च न—आत्मज्ञान में अभिनिवेश (निरवच्छिन्न आत्मचिन्तन) भी नहीं हो सकता है [आत्म-साक्षात्कार के लिये निदिध्यासन (समाधि) अभ्यास का फल यह होता है कि आत्मभिन्न दूसरे प्रत्यय (वृत्ति) के द्वारा वाधा प्राप्त न होकर निरवच्छिन्न रूप से सजातीय प्रत्यय प्रवाह (अर्थात् केवल आत्माकारा वृत्ति का प्रवाह) चलता रहता है। उसको (निदिध्यासनात्मिका) भावना कहा जाता है (मधुसूदन)] (असमाहित चित्त की) वह भावना अर्थात् आत्मज्ञाना-भिनिवेश नहीं हो सकता है क्योंकि विक्षिप्त बुद्धि में समाधिज प्रज्ञा (आत्मज्ञान) उत्पन्न नहीं हो सकता है। और आत्मज्ञान लाभ नहीं होने से उसमें अभिनिवेश कैसे होगा ? [भावना के द्वारा आत्मसाक्षात्कार यदि नहीं भी हो तो उसमें हानि क्या है ? इसके उत्तर में कह रहें हैं-] अभावयतः च—और जिनको भावना नहीं है अर्थात् जिस व्यक्ति का आत्मज्ञान में अभिनिवेश (निरन्तर आत्मस्वरूप का चिन्तन) नहीं है उसको शान्तिः न—शान्ति नहीं मिलती है [अर्थात् वेदान्त वाक्य के विचार से उत्पन्न ब्रह्म तथा आत्मा की एकता या अभिन्नता के साक्षात्कार के द्वारा अविद्या तथा अविद्या के कार्य का (संसार प्रवाह का) उपशम होने से जो शान्ति मिलती है वैसी शान्ति लाभ नहीं होता है]।

अशान्तस्य—उस अशान्त व्यक्ति के द्वारा अर्थात् जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के द्वारा शान्ति लाभ नहीं करते हैं उनका कुतः सुखम्—मोक्षा-नन्दरूप सुख कैसे हो सकता है ? अर्थात् वह व्यक्ति मोक्षानन्द प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इन्द्रियसमूह के विषय भोग की तृष्णा की निवृत्ति होने से ही प्रकृत सुख प्राप्त होता है। विषयभोग की तृष्णा प्रकृत रूप से दुःख का ही हेतु है क्योंकि तृष्णा रहने से लेशमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है, यही तात्पर्य है। [यहाँ सुख शब्द का अर्थ—समाधि में चित्त ब्रह्मध्यान में निस्तरङ्ग महोदधि (समुद्र) की तरह शान्त होने से विषय निरपेक्ष आत्मा-नन्द स्वतः ही प्रकट होता है। वही यथार्थ सुख या आनन्द है]। [यहाँ जो कहाँ गया है वह अनुभवसिद्ध है यह सूचित करने के लिये श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है। (आनन्दगिरि)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इन्द्रियनिग्रह ही स्थितप्रज्ञता का साधन है, यही व्यतिरेकमुख से प्रतिपन्न कर रहे हैं—] अयुक्तस्य—जिन व्यक्ति को इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं हैं ऐसे व्यक्ति की बुद्धिः नास्ति—बुद्धि नहीं है अर्थात् शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के द्वारा आत्मविषया बुद्धि (प्रज्ञा)

उत्पन्न नहीं होती हैं। अतः उनकी प्रज्ञा की प्रतिष्ठा की बात उठ नहीं सकती। इसलिये कह रहे हैं—न च अयुक्तस्य भावना—अयुक्त व्यक्ति की भावना (ध्यान) नहीं हो सकती है। भावना (ध्यान) द्वारा ही बुद्धि आत्मा में प्रतिष्ठित होती है। चूँकि अयुक्त व्यक्ति को वैसा नहीं होता है इसलिये न च अभावयतः शान्तिः—इसलिये उस भावना से रहित व्यक्ति को अर्थात् आत्मा का ध्यान करनेवाले को शान्ति अर्थात् आत्मा में चित्त की उपरति (स्थिरता) नहीं प्राप्त होती है। अशान्तस्य कुतः सुखम्—और अशान्त व्यक्ति को सुख अर्थात् मोक्षानन्द कैसे मिल सकता है?

(२) शंकरानन्द—[नित्य-अनित्यविवेक एवं वैराग्य तथा तीव्र मोक्षेच्छा द्वारा सभी विषयों को त्यागकर जो मोक्षकामी यतिलोग वेदान्त वाक्यादि श्रवण करते हैं उन लोगों को जब तक सम्यग् ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होता है। फिर सम्यग्ज्ञान समाधि के बिना नहीं होता है, समाधि भी इन्द्रियनिग्रह के बिना नहीं हो सकती है तथा इन्द्रिय निग्रह भी रागद्वेष आदि के सम्पूर्ण रूप से त्याग के बिना नहीं हो सकता है। श्रीभगवान् ६०–६१ श्लोक में 'यततो ह्यपि कौन्तेय' इत्यादि के द्वारा रागद्वेष का परित्याग, इन्द्रिय निग्रह तथा समाधि के अनुष्ठान प्रतिपादन कर ६२-६५ श्लोकों में बहिर्मुख ज्ञानीयों को ज्ञाननाशादिरूप अनर्थ प्राप्त होता है यह प्रतिपादन कर इस श्लोक में जो अनेक प्रकार से वेदान्त श्रवण किया है तथा श्रवण कराये हैं तथा केवल पठन-पाठनमात्र से जो अपने को कृतार्थ मानते हैं फिर जो आलस्य तथा दुर्बुद्धि के कारण ध्यानादि में प्रवृत्त नहीं होते हैं वैसे मुमुक्षु के लिये समाधि आवश्यक कर्त्तव्य है यह सूचित करने के लिये वह यदि समाधि का अभ्यास नहीं करते हैं तब उनको किस प्रकार अनर्थ प्राप्ति होती है, वह अब कह रहे हैं—]

अयुक्तस्य—सैकड़ों बार वेदान्त श्रवण कर के भी जो तीव्र मोक्षेच्छा द्वारा प्रेरित होकर शान्त, दान्त, उपरत तथा तितिक्षु होकर अप्रतिबद्ध (अविच्छिन्न) ज्ञान की सिद्धि के लिये समाधि का अभ्यास नहीं करते हैं, इस प्रकार अयुक्त अर्थात् असमाहितचित्त वाले पुरुष की बुद्धिः नास्ति—बुद्धि नहीं रहती है (प्रज्ञा उत्पन्न नहीं होती है) अर्थात् केवल चित्त के प्रसाद के द्वारा (चित्त की अत्यन्त निर्मलता के द्वारा) जो सर्वत्र ब्रह्मदर्शन-रूप प्रत्यग् दृष्टि प्राप्त होती है वह उन्हें नहीं मिलती है। अनेकबार वेदान्तादि श्रवण करने के बाद भी श्रवणरूप ज्ञान केवल पद तथा वाक्यार्थ को ही विषय करता है किन्तु वह प्रतिपाद्य वस्तु को (ब्रह्म को) विषय नहीं करता है और

यदि सूक्ष्मबुद्धि रहने के कारण कभी वस्तु विषयक (ब्रह्मविषयक) ज्ञान भी उत्पन्न हो तो भी वह स्थिर नहीं रहता है। यही 'नास्ति बुद्धिः' पद के द्वारा कहने का अभिप्राय है। अयुक्तस्य भावना न—(समाधि अवश्य कर्त्तव्य है यह सूचित करने के लिये 'अयुक्त' शब्द की पुनरुक्ति की गई है, कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है, इस न्याय के द्वारा अयुक्त अर्थात् जो अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान समाधि से उत्पन्न होता है उस अपरोक्षज्ञानरहित पुरुष की भावना भी नहीं रहती है। देह में जैसा 'मैं देह हूँ' ऐसा अभिनिवेश होता है उसी तरह 'इदम्' (दृश्य) से जो कुछ भी समझाया जा रहा है वह भी "मैं हीं हूँ" ऐसा अपने आत्मरूप में साक्षात्कृत (प्रत्यक्षीकृत) ब्रह्म में आत्मत्व के अभिनिवेश करने को ('मैं तथा सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसे अभिनिवेश को) भावना—कहा जाता है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य लाभ कर ब्रह्म में जो अहंबुद्धि व्यवस्थित (स्थिर) रहती है उस प्रकार की अहंबुद्धिलक्षणविशिष्टभावना अयुक्त व्यक्ति को (समाधिज अपरोक्षज्ञान रहित व्यक्ति को) सम्भव नहीं होती है। (भावनारूप कारण का अभाव होने से उसके कार्य की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं होती है, यही अब कह रहे हैं—) अभावयतः च—जैसा कि देह 'मैं' हूँ वैसा 'ब्रह्म मैं ही हूँ— मैं ब्रह्म भिन्न कुछ नहीं हूँ' इस तरह अपनी आत्मा को ब्रह्मस्वरूप मानकर जो भावना नहीं करते हैं अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा में जो स्वयं स्थितिलाभ नहीं करते हैं वैसे यतियों (संन्यासियों) को शान्तिः न—शान्ति नहीं मिलती है अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति अनात्म देहादि में तादात्म्य बुद्धि (आत्मबुद्धि) रखते हैं तथा देहादि के कार्य में आत्मा का सम्बन्ध देखते हैं अर्थात् उन सब अनात्म वस्तु का (देहेन्द्रियादि का) कार्य अपने में आरोपित कर सदा अशान्ति भोग करते हैं [किन्तु जो आत्मा को ब्रह्मरूप में साक्षात्कार किये हैं वे वैसा देहादि के कार्य में आत्मा के सम्बन्ध को नहीं देखते हैं। अतः देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण प्रभृति की अशान्ति उनको स्पर्श नहीं कर सकती है]। अतः जो अपने को तथा सब वस्तु को ब्रह्मरूप में भावना करने में असमर्थ हैं उनको शान्ति की (उपशान्ति की) सम्भावना कहाँ है ? और अशान्तस्य कुतः सुखम् ?—जो अनात्म में आत्मा को तथा द्वैत (अर्थात् आत्मा भिन्न दूसरी वस्तु) देखते हैं उन पुरुष को सुख अर्थात् नित्य निरन्तर ब्राह्मसुख (ब्रह्मानन्द) कहाँ है ? 'ये सब तथा मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ' इस प्रकार सभी वस्तु तथा अपने को जो यति ब्रह्मरूप में देखते हैं वे ही ब्रह्मानन्दरस अनुभव करते हैं; उसके विपरीत दर्शनकारी (अज्ञलोग) ब्रह्मानन्द कहाँ से प्राप्त होंगे ? यही

कहने का अभिप्राय है। अथवा अभावयतः—जो कुछ सुना गया है, जो कुछ देखा गया है, जो कुछ स्पर्श किया गया है, जो कुछ मनन किया गया तथा जो कुछ ज्ञात हुआ है, वे सब तथा मैं चिद्रूप ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार सर्वत्र चिन्मात्रत्व को अखंड चिदात्मिका वृत्ति के द्वारा नित्य निरन्तर जो विद्वान् भावना कर नहीं सकते हैं (दर्शन नहीं कर सकते हैं) उनको शान्तिः न—शान्ति प्राप्त नहीं होती है अर्थात् चिदानन्द-एकरस-ब्रह्मरूप में अवस्थान-रूप विदेहमुक्ति प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार अशान्तस्य—विदेहमुक्ति को जो प्राप्त नहीं होते हैं उनको सुखं—विदेह कैवल्यरूप सुख कुतः—कहाँ ? जो ब्रह्मभाव प्राप्त नहीं होते हैं उनको कैसे ब्रह्मसुख की प्राप्ति हो सकती है ? यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—६१ श्लोक में इन्द्रियसमूह को संयत कर भगवत्परायण होकर (भगवान् में चित्तसमाहित कर) अवस्थान करने के लिये कहा गया है। मनुष्य का मन सुषुप्ति तथा निर्विकल्प समाधि-अवस्था के अतिरिक्त किसी भी अवस्था में एक क्षण के लिये भी व्यापाररहित नहीं रहता है। अतः मन किसी न किसी वस्तु के साथ युक्त रहता ही है। जिन लोगों को भगवान् के प्रति अनुराग नहीं है वे विषयों से युक्त रहते हैं और जिनलोगों को गुरु तथा शास्त्रकृपा के द्वारा (श्रवण मननादि द्वारा) भगवान् ही (परमात्मा अथवा ब्रह्म ही) एकमात्र नित्य सत्य वस्तु है, और सब मिथ्या है तथा 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा परोक्षज्ञान निश्चित हुआ है वे इन्द्रिय तथा मन को वशीभूत कर भगवान् में (अर्थात् आत्मा में) निरन्तर युक्त रहते हैं। ऐसी अवस्था में इन्द्रियसमूह विषयसमूह में विचरण करते रहने पर भी विषय के प्रति काम (वासना) उत्पन्न नहीं होता है, अतः चित्त को प्रसाद (प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता) प्राप्त होता है। चित्त स्वच्छ या शुद्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा बुद्धि (आत्मविषया बुद्धि) आत्मस्वरूप में स्थितिलाभ करती है, यही पूर्ववर्ती कई श्लोकों में अर्थात् ६१, ६४, ६५ श्लोकों में कहा गया है। मन यदि आत्मा से युक्त न होकर विषय से युक्त रहता है तब किस प्रकार अनर्थपरम्परा क्रम से प्राप्त होती हैं वह भी ६२–६३ श्लोकों में कहा गया है। वर्त्तमान श्लोक में (६६ श्लोक में) अयुक्त व्यक्ति को और भी किस प्रकार की हानि उपस्थित होती है वह स्पष्ट रूप से कह रहे हैं। अयुक्त व्यक्ति को—(आत्मविषय में जिनका चित्त समाहित नहीं रहता है अर्थात् विषयों में आसक्ति रहने के कारण जिनका चित्त विषय में ही निरन्तर युक्त रहता है उनका) बुद्धिः—(आत्मविषया प्रज्ञा अर्थात् वेदान्तवाक्य श्रवण

मननादि से आत्मा के सम्बन्ध में प्रकृष्ट ज्ञान) तथा भावना—(निरन्तर आत्मचिन्तन) नहीं रह सकती हैं क्योंकि जिनके विषय की भावना प्रबल है उनको ईश्वर की भावना नहीं हो सकती है। उनलोगों को विषय की बुद्धि तथा विषय की भावना तो रहती है किन्तु वह बुद्धि तथा भावना जीवन को नाश करनेवाली है क्योंकि वह जन्ममृत्यु के अन्धकार कूप में पतित करती है इसलिये वह बुद्धि तथा भावना पारमार्थिक दृष्टि में नास्ति—(नहीं है) कहना ही युक्तियुक्त है। सर्व कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम रूप से अनुष्ठान करने से भगवान् के साथ बुद्धि युक्त होती है अथवा श्रवण मनन के द्वारा आत्मा के नित्यत्व, ब्रह्मत्व तथा सत्यत्व एवं जगत् का मिथ्यात्त्व निश्चय कर दीर्घकाल निदिध्यासन अभ्यास करने पर बुद्धि आत्मा से युक्त होती है। तब बुद्धि की ब्रह्माकारावृत्ति का प्रवाह तथा भावना (निरन्तर आत्मानुसंधान) चलते रहते हैं। इस प्रकार की बुद्धि या भावना के विना मनुष्यजीवन का परम कल्याण (मोक्ष अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द प्राप्ति) कभी नहीं हो सकती है। अतः जो दुर्भाग्य व्यक्ति इन्द्रिय तथा मन को वशीभूत न कर स्वयं अयुक्त रहता है अतः जिसकी बुद्धि तथा भावना मिथ्या विषयों को अवलम्बन कर निरन्तर व्यापृत (लिप्त) रहती है उसको विषय के उपराम से तथा आत्मसाक्षात्कार से जो परम शान्ति मिलती है वह शान्ति कैसे प्राप्त होगी ? और जिसको शान्ति नहीं है उसको सुख अर्थात् आत्मानन्द के अनुभव से जो परम सुख मिलता है वह कैसे मिलेगा ? अर्थात् उसको परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्ष किसी प्रकार से नहीं मिल सकता है।

[जो अयुक्त या असंयतचित्त (विक्षिप्त चित्त) है उनको (अद्वैत-ब्रह्माकारा) बुद्धि नहीं रहने का क्या कारण है वही कह रहे हैं—]

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

अन्वय—हि चरताम् इन्द्रियाणां मनः यत् अनुविधीयते तत् वायुः अम्भसि नावम् इव अस्य प्रज्ञां हरति।

अनुवाद—चूँकि मन (अन्तःकरण) अवशीकृत इन्द्रियों में (अर्थात् जिन जिन विषयों में प्रवर्तमान इन्द्रियों में) यदि किसी भी एक इन्द्रिय का अनुगामी होता है तब जल में वायु जिस प्रकार नाव को गन्तव्य पथ से विचलित कर उन्मार्ग में प्रवर्तित करती है—उसी प्रकार मन साधक की आत्मविषया प्रज्ञा को आत्मा से हरण कर लेता है अर्थात् आत्मस्वरूप से विच्छिन्न कर साधक को विषय में नियुक्त करता है।

दीपिका। हि–चूँकि चरताम् इन्द्रियाणां मनः यत् अनुविधीयते— अपने अपने विषय में प्रवृत्त (अवशीकृत) इन्द्रियों में मन जिसका अनुधावन करता है अर्थात् इन्द्रिय समूह जिस जिस विषय में प्रवृत्त होते हैं मन यदि उन इन्द्रियों में किसी के पीछे पीछे (अनु) धावित होकर उस उस विषय में प्रवर्त्तित होता है ['विधीयते' यहाँ कर्मकर्तृवाच्य में लट का प्रयोग किया गया है।] तत्—उस मन अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियसमूह के शब्दादि विषयों का परस्पर विभाग कर किसी भी एक विषय को ग्रहण कर उस विषय में प्रवृत्त मन [मधुसूदन 'तत्' शब्द का अर्थ 'मन द्वारा अनुगत वह इन्द्रिय' ऐसा किये हैं] वायुः अम्भसि नावम् इव—जैसे वायु जल में गमनशील नाव को गन्तव्य मार्ग से लौटाकर उन्मार्ग में प्रवर्त्तित करती है अस्य प्रज्ञां हरति— उसी प्रकार साधक की आत्मविषयिणी प्रज्ञा को हरण कर (अर्थात् आत्म-स्थिति से भ्रष्ट कर) मन उस प्रज्ञा को विषयविषयिणी (विषयों में लिप्त) करता है। [जल में ही वायु नाव को स्थानच्युत कर सकती है, स्थल में नहीं। इसलिये "अम्भसि" शब्द का प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार यदि साधक की विषय में आसक्ति के कारण चंचलता रहे तब ही इन्द्रियानुगामी मन उसकी प्रज्ञा को हरण कर सकता है किन्तु विषय-वैराग्य दृढ़ रहने पर वह सम्भव नहीं होता है। यहाँ विषयानुरक्ति के कारण मन की चंचलता जल के साथ तथा विषयवैराग्यपूर्वक मन की स्थिरता को स्थल के साथ उपमा दी जा सकती है। (मधुसूदन)]

[श्लोक के—'यत्' तथा 'तत्' शब्द का इस तरह अर्थ भी हो सकता है। इन्द्रियाणां मनः यत् अनुविधीयते—इन्द्रियों में यदि एक को भी लक्ष्य कर मन प्रवृत्त होता है तत्—वह इन्द्रिय एक होने से भी मन के द्वारा अनुगत होने के कारण अस्य—मन की अर्थात् अन्तःकरण की प्रज्ञां हरति– आत्मविषया प्रज्ञा को हरण कर लेता है क्योंकि मन उस इन्द्रिय के विषय में आविष्ट (लिप्त) रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक इन्द्रिय ही जब प्रज्ञा को स्थानच्युत कर देने में समर्थ है तब सभी इन्द्रियाँ यदि समवेत हो तब वे मन को स्थान भ्रष्ट करेगी, इसमें कहना क्या है ? (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अयुक्त को बुद्धि क्यों नहीं होती है उसका कारण अब बता रहें हैं—] इन्द्रियाणां—अवशीकृत अर्थात् स्वतंत्रता से विषयों में विचरणशील इन्द्रियों में यत्—किसी भी एक इन्द्रिय का मनः–मन अनुविधीयते—अनुगमन करता है अर्थात् मन वश में न होने के कारण उस इन्द्रिय के साथ जाता है तत्—वह इन्द्रिय ही अस्य—उस मन की अथवा

उस पुरुष की प्रज्ञा—बुद्धि को हरति—हरण करती है अर्थात् विषय में निपतित कर विक्षिप्त कर देती है। एक स्वेच्छाचारी इन्द्रिय ही जब ऐसा कर सकती है तब बहुत सी इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारी होने से उनकी प्रज्ञा को हर लेंगी इसमें तो कहना ही क्या है ? प्रमत्त (असावधान) कर्णधार की नाव को वायु जिस प्रकार समुद्र में इधर उधर घूमाती है उसी प्रकार मन वशीभूत नहीं रहने से इन्द्रियाँ पुरुष की प्रज्ञा को हर लेती है अर्थात् विषय में आकृष्ट कर विक्षिप्त कर देती हैं।

(२) शंकरानन्द—जैसे मेधावी व्यक्ति के द्वारा अध्ययन किया हुआ मीमांसादि शास्त्रजनित ज्ञान मेधा द्वारा स्थिर रहता है उसी तरह सूक्ष्म बुद्धि को श्रवणादि से उत्पन्न ज्ञान भी समाधि के अभाव से नष्ट नहीं होगा ऐसा यदि कहे ? उत्तर में कहा जायगा ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि (यज्ञादि कार्य सम्बन्धी) इष्टकाचयणादि अति स्थूल ज्ञान भी जब बारम्बार चिन्तन नहीं करने से या नहीं करवाने से (अर्थात् पुनः पुनः अभ्यास के विना) बुद्धि में स्पष्ट प्रकाशित नहीं रहता है तब अति सूक्ष्म, अतीन्द्रिय (इन्द्रियों का अविषय) आत्मज्ञान जब तक परिपक्व नहीं होता है अर्थात् वह ज्ञान अप्रचूर (सीमित) रहता है तथा मन असंस्कृत (अशुद्ध) होने के कारण वह आरूढ़ (प्रतिष्ठित) नहीं होता है [अर्थात् जबतक ज्ञान का प्रतिपक्ष अज्ञान विनष्ट नहीं होता है]अर्थात् तबतक वह आत्मज्ञान जो समाधि के अभ्यास के विना नहीं भासता है [सिद्ध (परिपक्व) नहीं हो सकता है] इसमें कहने का क्या है ? इसलिये उस आत्मज्ञान को निष्ठा की सिद्धि के लिये मुमुक्षु को समाधि कर्त्तव्य है, यह सूचित करने के लिये बाह्य (बाहरी) विषयों में प्रवृत्त व्यक्ति के ज्ञान का नाश किस प्रकार होता है वह दृष्टान्त के साथ कह रहे हैं—]

हि—चूँ कि इन्द्रियाणां—श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा रागादि कर्मेन्द्रिय समूह के चरतां—अपने अपने विषयों में चलने पर यत् मनः—लोकवासना (मान प्रतिष्ठा के लिये वासना), शास्त्रवासना, विषयवासना (धन, पूजादि की कामना) तथा कर्मवासनाविशिष्ट जो मन अनुविधीयते—उनके पश्चात् पश्चात् चलता रहता है अर्थात् जो मन उन लोकवासना, विषयवासना प्रभृति अनेक प्रकार की वासनाविशिष्ट विद्वान् के इच्छानुरूप प्रवर्त्तित (प्रवृत्त) होता है तत्—वह मन अम्भसि वायुः नावम् इव—जल में वायु नाव को जिस प्रकार इधर उधर प्रचलित कर गन्तव्य स्थान से भ्रष्ट करता है उसी प्रकार उस वासनाविशिष्ट मन अस्य—अपनी वासना के अनुरूप प्रवृत्त विद्वान् की

प्रज्ञां हरति—प्रज्ञा को अर्थात् आत्मानात्मविवेक बुद्धि को हरति—हरण कर लेता है अर्थात् सम्यक् रूप से गन्तव्य स्थान से भ्रष्ट कर देता है। यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे नदी के दूसरे पार जाने वाली नौका को प्रतिकूल वायु वशीभूत कर महावर्त्त में उस नाव को निपतित करती है (गिरा देती है) अथवा उस नाव को जल के द्वारा पूर्ण कर डूबो देती है अथवा महापाषाण में आघात कर (भग्न) कर डूबो देती है अथवा तटहीन या संकटपूर्ण स्थान में ले जाती है अर्थात् इस तरह से जैसे सभी प्रकार से अनर्थ करती है उसी तरह अनादि अविद्यारूप उच्च नीच वासनाओं के द्वारा आकृष्ट मन विद्वान् व्यक्ति की प्रज्ञा को भी (विवेकबुद्धि को भी) विषय में या कर्म में या योग में या उपासना में या लौकिक व्यवहार में अथवा दूसरी किसी वस्तु में निपतित कर (वायु जैसे नाव को नष्ट कर देती है) उसी प्रकार से नष्ट कर देता है।

(२) नारायणी टीका–पूर्व श्लोक में 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' (अयुक्त का अर्थात् जिन पुरुष का चित्त असमाहित या असंयत है उसको बुद्धि नहीं है) कहा गया। इस प्रकार कहने का उद्देश्य यह है कि ऐसे पुरुष की इन्द्रियाँ जिस जिस विषय में विचरण करती हैं बुद्धि (तथा मन भी) इन्द्रियों के अनुगत होकर उस उस विषय के प्रति धावित होती है। अतः अनेकों बार शास्त्र पढ़कर, सत्संग कर तथा नाना प्रकार विचार कर जिस प्रज्ञा आत्मा के विषय में प्रज्ञा (आत्मानात्मविवेक बुद्धि) उत्पन्न हुई थी उसको वह मन (अथवा इन्द्रियाँ) हरण कर (विचलित कर) विषयसमुद्र के अतल जल में डूबो देता है। जैसे वायु असावधान कर्णधार की नौका को जल के ऊपर इधर उधर घूमा कर अन्त में गंभीर जल में डूबो देती है, इसी प्रकार असंयतचित्त पुरुष को उसका मन तथा बुद्धि विषय में डूबा कर उसकी प्रज्ञा को नष्ट कर आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष से वंचित करते हैं क्योंकि ऐसे पुरुष को श्रेयोलाभ करने की बुद्धि का अभाव रहता है। इसलिये कहा गया है नास्ति बुद्धिः–इत्यादि कोई भी इन्द्रिय विषय के प्रति धावित होने से असंयत मन भी उसके पीछे पीछे चलता रहता है तथा मन उन विषयों में मग्न होकर साथ साथ बुद्धि को भी विषयासक्त कर नष्ट कर देता है। संयतचित्त की बुद्धि ही विषय में दोष-दर्शन कराकर मन को विषयों से प्रत्यावृत्त (निवृत्त) कर भगवान् में आसक्त कर देती है। किन्तु बुद्धि भी जब मन के साथ विषय-रस में डूब जाती है तब फिर विवेकविचार किस प्रकार रह सकता है ? यही बुद्धि का नाश है (गीता २।६३ देखो)।

['यततो ह्यपि' इस श्लोक के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अनेक प्रकार की उपपत्ति (युक्ति) से उसके अभिप्राय को सिद्ध कर अब उपसंहार कर रहे हैं। पूर्व श्लोक में इन्द्रियों की प्रवृत्ति होने से क्या दोष होता है वह उपपादित किया गया है अर्थात् इन्द्रियों की विषयों के प्रति प्रवृत्ति होने से तथा मन उसके अनुसार चलने से आत्मविषया प्रज्ञा नष्ट होती है यह कहा गया है। अब इन्द्रियाँ यदि संयत रहें अर्थात् विषयों से निवृत्त हों तब क्या होता है यह कह रहे हैं—]

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अन्वय—हे महाबाहो ! तस्मात् यस्य सर्वशः इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

अनुवाद—अतः हे महाबाहो जिनकी इन्द्रियाँ विषयों से सभी प्रकार से निगृहीत हुई हैं उन्हीं की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, यह समझना पड़ेगा।

दीपिका—हे महाबाहो—हे शक्तिशाली अर्जुन ! तुम जब सभी शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ हो तब तुम इन्द्रियरूप शत्रु को भी वशीभूत करने का सामर्थ्य रखते हो, अतः स्थितप्रज्ञ होने की योग्यता भी तुम्हारी है, यह समझाने के लिये "महाबाहो" कहकर भगवान् ने सम्बोधन किया। तस्मात्—चूँकि इन्द्रियसमूह की प्रवृत्ति में दोष सिद्ध हुआ है इसलिये [अर्थात् इन्द्रियसमूह के अनुवर्त्ती होकर असंयत मन विषय में प्रवृत्त होने से प्रज्ञा को हरण कर लेता है इसलिये (आनन्दगिरि)] यस्य—जिनके (जिन यति का) सर्वशः—सभी प्रकार से इन्द्रियाणि—मानसादि भेद से इन्द्रिय समूह अर्थात् अन्तकरण (मन) तथा चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् ये सब इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थेभ्यः—इन्द्रिय का अर्थ अर्थात् शब्दादि विषयों से निगृहीतानि—निगृहीत हुआ है। तस्य—उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—प्रज्ञा प्रतिष्ठित हुई है, ऐसा समझना पड़ेगा।

["तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" इस स्थान में 'तस्य' शब्द के द्वारा सिद्ध व्यक्ति तथा साधक व्यक्ति उभय को समझाया जा रहा है। इन्द्रियसंयम स्थितप्रज्ञ सिद्ध व्यक्ति का लक्षण है। फिर प्रज्ञालाभ करने में (परमात्मा के साक्षात्कार करने में मुमुक्षु व्यक्ति का) इन्द्रिय संयम ही प्रज्ञा लाभ करने का साधन होता है (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इन्द्रियसमूह का संयम ही स्थितप्रज्ञत्व का साधन है तथा लक्षण है यह पहले कहा गया है। अब उसका उपसंहार कर रहे हैं—]

(२) शंकरानन्द—राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि दोष के द्वारा ही इन्द्रियों में प्रवृत्ति होती है तथा वैसी प्रवृत्ति से समाधि का अभाव होता है तथा समाधि का अभाव होने से ज्ञान का अभाव होता है, फिर ज्ञान का अभाव होने से अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म में अहंभाव का अभाव होता है। तथा उस ब्रह्मात्मैक्य भाव के अभाव से मुक्ति का अभाव होता है और मुक्ति का अभाव होने से सुख का (परमानन्द के) अभाव भी अवश्य ही होता है अर्थात् राग द्वेष आदि के द्वारा वशीभूत होकर इन्द्रिय निग्रह न कर ज्ञानी पुरुष भी यदि बाहर के विषयों में प्रवृत्त होता है तब इस प्रकार अनर्थों की (परम्परा क्रम से) प्राप्ति होती है। इसलिये इन्द्रियसमूह को राग आदि से वियुक्त कर तथा उन सब को सम्यक् रूप से निग्रह कर मुमुक्षु यति को विदेह मुक्ति के लिये समाधि का अभ्यास अवश्य कर्त्तव्य है, यही सूचित करने के लिये अब कह रहे हैं—

हे महाबाहो–हे शक्तिशालिन्! राग द्वेष आदि शत्रु को संहार करने में जो समर्थ हैं वे ही इस विदेह मुक्ति के अधिकारी हैं, अन्य कोई नहीं, यह सूचित करने के लिये इस प्रकार सम्बोधन किया गया है। तस्मात्—उस कारण से यस्य—जिन मोक्षार्थी यति का इन्द्रियार्थेभ्यः—श्रोत्रादि इन्द्रिय समूह का शब्दादि विषयों से इन्द्रियाणि—सभी इन्द्रियाँ सर्वशः—सभी प्रकार से निगृहीतानि—तीव्र वैराग्य द्वारा निगृहीत होती हैं तस्य—उन धन्य पुरुष की प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—समाधि सिद्ध होकर प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है अर्थात् विदेह बुद्धि (देह से मैं 'पृथक् हूँ' इस प्रकार की बुद्धि) तथा विदेह बुद्धि से जो सुख उत्पन्न होता है वह उनके सम्मुख उपस्थित होता है (अर्थात् उनको प्राप्त होता है)।

हे महाबाहो !—हे शक्तिशालिन, शत्रु को निग्रह करने में तुम समर्थ हो अतः इन्द्रियनिग्रह कर स्थितप्रज्ञता लाभ करने में भी तुम अवश्य समर्थ होओगे, यह समझाने के लिये भगवान् ने यहाँ अर्जुन को 'महाबाहो' कह कर सम्बोधन किया। तस्मात्—अतः यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि—जिनको इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से निगृहीत (रूकी) हुई हैं। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित होती है। यह साधन दृष्टि से अर्थ है। और स्थितप्रज्ञ की लक्षणदृष्टि से उपसंहार में

यह अर्थ करना चाहिये कि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है ऐसा समझना चाहिये । [सिद्ध पुरुष का जो लक्षण है मुमुक्षु का वही साधन है, इसलिये दो प्रकार का अर्थ करना उचित है] ।

(३) नारायणी टीका—इन्द्रियसमूह विषयों में विचरण करने से मन को भी वशीभूत कर विषयासक्त कर देते हैं । मन विषयासक्त होने से अशुद्ध बुद्धि भी मन को अनुसरण कर विचारहीन होती है तथा विषय में दोषदर्शन न कर विषयरस आस्वादन करती रहती है । यही बुद्धि का नाश है । पूर्व दो श्लोकों में यह कह कर श्रीभगवान् कह रहे हैं कि इन्द्रियों का असंयम या विषयासक्ति ही जब इस प्रकार के अनर्थ का कारण है तब जो शक्तिशाली साधक इन्द्रियसमूह को सभी प्रकार से (सर्वशः) विषयों से (इन्द्रियार्थेभ्यः) निगृहीत (दमन) कर इन्द्रियसमूह को मन के साथ आत्माभिमुख कर आत्मा में ही स्थित रहने में समर्थ होते हैं उन्हीं की प्रज्ञा (आत्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञान) प्रतिष्ठित होती है । मुमुक्षु का यही साधन है, क्योंकि स्थित-प्रज्ञ का यही लक्षण है । कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियनिग्रह के ऊपर ही स्थितप्रज्ञता निर्भर करती है । २।६० श्लोक में 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः' यह कह कर इन्द्रियसंयम की बात आरम्भ कर वर्त्तमान श्लोक में उस संयम का क्या फल होता है वह स्पष्टकर उपसंहार किया । इन्द्रियनिग्रह कैसे होता है ? गीता में दूसरे स्थान में (३।३३–३४ श्लोकों में) भगवान् कहेंगे कि सब प्राणी ही (ज्ञानवान् पुरुष भी) अपनी अपनी प्रकृति के (अर्थात् पूर्व जन्म में अर्जित धर्माधर्म संस्कार जो वर्त्तमान जन्म के आदि में ही स्वभावरूप में प्रकट हुये हैं उसके) अनुसार चेष्टा (कार्य) करते हैं तथा किसी भी प्रकार निग्रह (शासन) उसका अन्यथा नहीं कर सकता है । अतः प्रश्न होगा यदि प्रकृति के अनुसार ही सभी प्राणी अवश होकर कार्य करने में बाध्य होते हैं (गीता १८।५९–६०) तब इन्द्रिय निग्रह, यम, नियम इत्यादि का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता है ? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहेंगे कि इन्द्रियसमूह का अपने अपने विषय के प्रति इष्ट बुद्धि से राग तथा अनिष्ट बुद्धि से द्वेष रहता है । प्रत्येक पुरुष को अपनी अपनी प्रकृति रागद्वेषपूर्वक ही उसको कार्य में नियुक्त करती है किन्तु शास्त्र इन्द्रियों का विषय (शब्द स्पर्शादि सभी विषय) मिथ्या, अनित्य, दुःखमय तथा संसारकूप में पतन का कारण है यह बार बार युक्ति तथा विचार के द्वारा प्रतिपन्न (प्रमाणित) करता है । अतः सत्संग तथा गुरुकृपा के द्वारा जो भाग्यवान् पुरुष शास्त्रार्थ विचार कर विषयों का उक्त दोष दर्शन कर ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र नित्य-

सत्य-वस्तु है, इसका स्वरूप ही परमानन्द है, अतः संसार दुःख से छूटकारा पाने के लिये तथा परमानन्द प्राप्ति करने के लिये एकमात्र आत्मा में ही स्थिति विना दूसरा कोई उपाय नहीं है, ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि अवलम्बन कर असत् (मिथ्या) इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेष रहित होते हैं वे ही इन्द्रिय-संयम या इन्द्रिय निग्रह करने में समर्थ होते हैं। विषयों का मिथ्यात्व निश्चय होने पर उनमें इन्द्रियसमूह विचरण करने से स्थितप्रज्ञ की किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती है यह ६४ श्लोक में पहले ही कहा गया है। इन्द्रिय तथा विषय के संयोग से यदि रागद्वेष उत्पन्न हो तब यह ही मोक्ष के लिये परिपन्थी (प्रतिबन्धक) होता है (३।३४)। अतः इन्द्रियसमूह का बाहर में विचरण रुद्ध (रोक) कर पूर्णरूप से निश्चेष्ट कर रखने से ही इन्द्रियसमूह (सर्वशः निगृहीतानि) सभी प्रकार से निगृहीत होगा यह कहने का अभिप्राय नहीं है। इन्द्रियसमूह चाहे बाहर विचरण करे अथवा चाहे अन्दर मन के साथ (आत्मा में) समाहित रहे उसमें स्थितप्रज्ञ की अपने स्वरूप में स्थिति का किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं होता है यदि इन्द्रियसमूह (अतः उन सब के प्रेरक मन भी) विषय के प्रति राग तथा द्वेष रहित रहें हैं। अतः गीता के अन्यान्य स्थानपर जो कुछ कहा गया उसके साथ सामंजस्य रखकर (जिससे विरोध न हो ऐसा विचार कर) इन्द्रियनिग्रह शब्द का इस प्रकार का अर्थ करना युक्तियुक्त है—

(क) इन्द्रियसमूह को राग-द्वेष-रहित होना पड़ेगा। यदि मन विधेयात्मा (अपने वशीभूत) न हो तब इन्द्रियसमूह आत्मवश्य (मन के वशीभूत नहीं हो सकता है)। अतः इन्द्रियसमूह का अपने अपने विषय के प्रति जो स्वाभाविक रागद्वेष है (गीता ३।३४) उससे मुक्त नहीं हो सकते हैं। (ख) इन्द्रियसमूह को मन के द्वारा नियमित (निगृहीत) करना पड़ेगा (३।७–'मनसा नियम्य') किन्तु मन (चित्त) यदि भगवत्परायण होकर भगवान् में नित्ययुक्त न रहे तब इन्द्रियसंयम करना संभव नहीं है (गीता २।६१–तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः)। असंयत चित्त (अर्थात् असमाहित मन) के द्वारा इन्द्रिय वशीभूत या निगृहीत नहीं होती है क्योंकि वैसा मन स्वयं ही इन्द्रियों की विषयाभिमुखी गति का अनुसरण कर इन्द्रियों के वशीभूत रहता है (गीता २।६७)। (ग) मन अर्थात्, अन्तःकरण कभी वशीभूत नहीं होगा जब तक कि उसको विषय में वैराग्य उपस्थित न हो। वैराग्य तब तक नहीं होगा जब तक कि विषय का दोषदर्शन कर सभी विषय ही दुःखस्वरूप है यह निश्चय न हो तथा साथ-साथ आत्मा ही एकमात्र

सत्यवस्तु है तथा परमानन्दस्वरूप है इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि न हो। ऐसा दृढ़ निश्चय होने से ही विषय के प्रति वि (विगत) राग अर्थात् विरक्ति तथा आत्मा के प्रति वि (विशेष) राग (आसक्ति या प्रीति) होती है। यही प्रकृत वैराग्य है। ऐसा वैराग्य होने से अन्तःकरण स्वतः ही आत्मा में युक्त (समाहित) रहता है तथा इन्द्रियसमूह बाह्य (बाहर का) कार्य करते रहने पर भी राग-द्वेष-रहित होकर मन के वशीभूत रहता है तथा विषयों में विचरण करने से भी विषयों के प्रति सभी प्रकार से आसक्तिरहित रहता है। अतः श्लोक का अर्थ ऐसा करना होगा इन्द्रियार्थेभ्यः—इन्द्रिय के विषय से अर्थात् जो जो इन्द्रिय जिस जिस अर्थ अर्थात् विषय में विचरण करती है उस उस विषय के प्रति आसक्ति—से इन्द्रियाणि निगृहीतानि—समाहित शुद्धान्तःकरण के द्वारा उन सब इन्द्रिय को निग्रह करने से अर्थात् विषय के प्रति इन्द्रिय के स्वाभाविक जो रागद्वेष रहते हैं उस रागद्वेष से इन्द्रिय-समूह को जो विमुक्त कर सके उन महापुरुष को प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान) प्रतिष्ठित हुई है अर्थात् वे स्थितप्रज्ञ या ज्ञाननिष्ठ हुये हैं, ऐसा समझना पड़ेगा क्योंकि अन्तःकरण आत्मा में ही निरन्तर स्थितिलाभ करने से तथा सर्वत्र एकत्वानुभव (एक अखंडाद्वय आत्मा का सर्वत्र दर्शन) होने से ही ऐसे वशीभूत अन्तःकरण के द्वारा इन्द्रियसमूह को विषयों से निग्रह (संयत) करना संभव होता है। द्वैतदर्शन जब तक रहेगा तब तक राग-द्वेष-रहित होना संभव नहीं है। फिर पहले जैसा कहा गया है विषयों के प्रति राग-द्वेष-रहित न होकर केवल इन्द्रियों का विषयग्रहण से अथवा उनको विषयों में विचरण से बलपूर्वक निवृत्त करने से भी वैसे इन्द्रिय निग्रह के द्वारा प्रज्ञा की स्थिति नहीं होती है क्योंकि श्रीभगवान् बाद में कहेंगे 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।' (गीता ३।६) अर्थात् जो मनुष्य हस्त पद (हाँथ पैर) इत्यादि कर्मेन्द्रियों को निश्चेष्ट कर इन्द्रिय के भोग्य विषय समूह की मन में चिन्ता करता रहता है उस विमूढात्मा को मिथ्याचारी अर्थात् कपटी तथा पापाचारी कहा जाता है।

[स्थितप्रज्ञ का इन्द्रिय संयम स्वतः सिद्ध है यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। जो कुछ लौकिक तथा वैदिक व्यवहार है वे सभी अविद्या का कार्य हैं। अतः विवेकविज्ञान सम्पन्न होकर जो स्थितप्रज्ञ हुये हैं उनकी अविद्या की निवृत्ति हो जाती है और इसलिये सभी व्यवहारों की भी निवृत्ति होती है]। [अभिप्राय यह है कि आत्मवित् स्थितप्रज्ञ को ही सभी कर्म के परित्याग में

अधिकार है किन्तु उसके विपरीत अज्ञ को कर्म में अधिकार रहता है (आनन्दगिरि)]। अविद्या के साथ विद्या का विरोध रहने के कारण प्रज्ञा प्रतिष्ठित होने से अविद्यारूप सभी कर्म तथा व्यवहार की निवृत्ति हो जाती है, यह स्पष्ट करने के लिये अब कह रहे हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

अन्वय—सर्वभूतानां या निशा तस्यां संयमी जागर्ति, यस्यां भूतानि जाग्रति पश्यतः मुनेः सा निशा ।

अनुवाद—सभी प्राणियों के लिए जिसे रात्रि कहते हैं उसमें जितेन्द्रिय व्यक्ति जागरित रहते हैं। सभी प्राणी जब जाग्रत रहते हैं आत्मतत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञ के लिए वही रात्रि है।

दीपिका—सर्वभूतानां या निशा—तमः स्वभाव के लिए अर्थात् अविद्याग्रस्त होने से सभी प्राणियों को पदार्थ समूह का विवेक (सत्यत्त्व मिथ्यात्त्व विचार) करने को सामर्थ्य नहीं रहती है अतः स्थितप्रज्ञ का जो विषय है वह परमार्थ आत्मतत्त्व उनलोगों के पास प्रकाशित न होने के कारण यह उनलोगों की रात्रि ही है [रात्रि की तरह अन्धकार से आच्छन्न (आवृत अर्थात् अविज्ञात) रहता है]।

[रात्रि में अन्धकार जैसे वस्तुसमूह को आच्छन्न कर उनका प्रकृत स्वरूप जानने नहीं देता है उसी प्रकार अज्ञानरूप अन्धकार जागतिक वस्तुओं में जो एक परमात्मा ही यथार्थ तत्त्वरूप में विद्यमान है उसका स्वरूप प्रकाशित होने नहीं देता है। वह परमात्मतत्त्व अविद्याच्छन्न प्राणी को बुद्धि के बाहर रहने के कारण रात्रि की सदृश (तरह) अन्धकारमय रहता है]।

जैसे दूसरे के लिए जो दिन है वही रात्रिचर पेचक (उल्लू) इत्यादि के लिए (तमः स्वभाव सम्पन्न प्राणी के लिए) रात्रि होती है, उसी प्रकार निशाचर स्थानीय अज्ञ व्यक्ति के लिए परमार्थ-तत्त्व भी निशा है अर्थात् निशा की तरह होती है क्योंकि अज्ञान के कारण अनात्मबुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों की दृष्टि में (अर्थात् अनात्म देहेन्द्रियादि में जो लोग आत्मबुद्धि करते हैं वैसे लोगों की दृष्टि में) परमार्थ आत्मतत्त्व आवृत रहने के कारण उनके ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है।

तस्यां संयमी जागर्ति—जो ब्रह्मज्ञान या परमार्थ आत्मतत्त्व का ज्ञान सभी अज्ञ व्यक्तियों के निकट निशा या रात्रि के सदृश है उसमें अर्थात् उस

परमार्थ ज्ञान में अज्ञानरूप निद्रा से प्रबुद्ध जितेन्द्रिय योगी (ज्ञानी पुरुष) जाग्रत रहते हैं अर्थात् उनलोगों का ज्ञानरूप सूर्य उदय होने के कारण अविद्या द्वारा कल्पित जगत् उनलोगों के निकट प्रतीत न होकर सर्वत्र सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही प्रकाशित रहती है। यस्यां—जिस द्वैतदर्शन रूप रात्रि में अर्थात् जो अविद्या ग्राह्य तथा ग्राहक के भेदज्ञान के कारण है उस अविद्यारूप रात्रि में भूतानि जाग्रति–अविद्यामोहित प्राणी रात्रि में स्वप्नदर्शी व्यक्तियों की तरह जाग्रत रहता है अर्थात् स्वप्नकाल में जैसे जीव निद्रित रहने पर भी अविद्या विलास में अपने को ही विभिन्न प्रकार से नाम, रूप, तथा क्रिया में विभाजित कर जाग्रतदशा की तरह व्यवहार करता है, उसी तरह सभी जीव मोहनिद्रा में अभिभूत होकर एक अखंडाद्वय परमात्मा को ग्राह्य तथा ग्राहक के रूप में कल्पना कर जाग्रत काल के सभी व्यवहारों को निष्पन्न किया करते हैं। इस अवस्था में अविद्याजनित भेद बुद्धिरूप निद्रा में निद्रित रहने पर भी अज्ञ व्यक्ति अपने को ऐसा सोचते हैं कि मैं जाग्रत ही हूँ।

पश्यतः मुनेः—परमार्थ तत्त्वदर्शी यतियों के निकट अर्थात् जो आत्मतत्त्व को अपरोक्षरूप से साक्षात्कार किये हैं उन स्थितप्रज्ञ मुनि के निकट सा निशा—जीवों के उस अविद्याकल्पित मिथ्या जाग्रदवस्था का जगत् रात्रि ही है अर्थात् अविद्याकल्पित नामरूपक्रियात्मक व्यावहारिक जगत् उनके निकट रात्रि की तरह अप्रकाशित रहता है क्योंकि ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या नष्ट होने से एकमात्र परमात्म सत्ता को ही वे निरन्तर दर्शन करते हैं। [अभिप्राय यह है कि परमार्थ तत्त्व को जिन्होंने अनुभव (साक्षात्कार) किया है अतः जिनकी अविद्या नष्ट हुई है ऐसे संन्यासी के लिए द्वैतावस्था ही निशा है (आनन्दगिरि)] अविद्यावस्था में ही क्रिया, कारक (कर्ता, कर्म, करण इत्यादि) तथा कर्मफलों के भेद की प्रतीति होती है अतः अविद्यावस्था में स्थित प्राणियों के लिए ही कर्म समूह विहित होते हैं, विद्यावस्था में वैसा भेद न रहने के कारण कर्म का विधान नहीं हो सकता है। सूर्य के उदय होने से रात्रि का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी तरह विद्या (तत्त्वज्ञान) उत्पन्न होने से अविद्या विनाश को प्राप्त होती है। विद्या के उदय के पहले अविद्या ही प्रमाणरूप में गृहीत होने से (अर्थात् कल्पना से उत्पन्न मिथ्या जागतिक वस्तु को सत्य मान लेने से) वह अविद्या ही नानाप्रकार के कर्ता, कर्म, क्रिया तथा फलादिरूप में परिणत होकर सभी प्रकार के कर्मों का हेतु बन जाती है। अविद्या अप्रमाण रूप में गृहीत होने से फिर कर्म का हेतु नहीं बन सकती है अर्थात् अविद्या-कल्पित जगत् मिथ्या (झूठा) है—ऐसा प्रतीत होने से मिथ्या

(झूठा) वस्तु की प्राप्ति के लिए किसी की कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। वैदिक कर्म के सम्बन्ध में वेद ही प्रमाण है। वेद ने मेरे कर्त्तव्यरूप से इस कर्म को निर्देश किया है इस प्रकार बुद्धि होने पर ही अज्ञानी कर्ता कर्म में प्रवृत्त होता है। फिर ये सब ही अविद्यामात्र है तथा निशा की तरह परमार्थ वस्तु के आवरक हैं—इस प्रकार ज्ञान होने से फिर कोई कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। अतः क्रिया, कारक, फलरूप में जो कुछ भेद व्यवहार हैं वे सब ही रात्रि की तरह अविद्यामात्र ही हैं। एकमात्र आत्मा ही सत्यवस्तु है, इस प्रकार का ज्ञान जिनका हुआ है उनके सर्वप्रकार कर्म-संन्यास में ही अधिकार है—प्रवृत्ति मार्ग में उनको कोई भी आवश्यकता (अतः अधिकार) नहीं रह सकती है। 'तद्बुद्धय तदात्मानः' (गीता ५।१७) इत्यादि के द्वारा भगवान् दिखा रहे हैं कि इस प्रकार आत्मज्ञ व्यक्ति को ज्ञाननिष्ठा में ही अधिकार रहता है। प्रश्न हो सकता है, सभी प्रमाण जब अविद्यामात्र है तब तत्त्वज्ञान लाभ करने को जो इच्छुक हैं उनके निकट प्रवर्त्तक कोई भी प्रमाण न रहने के कारण आत्मज्ञान में ही उनकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि आत्म-ज्ञान का विषय है अपनी आत्मा। आत्मा सबका अपना ही स्वरूप है। इसलिए अपनी आत्मा में (अपने स्वरूप के ज्ञान के विषय में) प्रवर्त्तकरूप में किसी भी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है क्योंकि स्वयं आत्मा ही आत्म-ज्ञान होने के कारण वह स्वतःसिद्ध है। सभी प्रमाण के प्रमाणत्व आत्मा में ही अन्त (शेष) होता है [अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा की स्वीकृति के विना किसी प्रमाण का प्रमाणत्व सिद्ध नहीं होता है। द्वितीयतः, सभी प्रमाण का उद्देश्य है यथार्थ वस्तु निरूपण करना। किन्तु आत्मा ही एकमात्र यथार्थ (नित्य तथा सत्य) वस्तु है उसके अतिरिक्त और सभी मिथ्या है, ऐसे तत्त्वज्ञान के उदय होने के साथ साथ आत्मा में ही सभी प्रमाण के प्रमाणत्व शेष हो जाता है]। अतः आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से फिर प्रमाण तथा प्रमेय का व्यवहार होगा, ऐसा नहीं हो सकता है। वेदान्तशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आत्मस्वरूप के ज्ञान को जिस आत्मा के सम्बन्ध में प्रमाण रूप से कहा जाता है वह आत्मा के ऊपर जो कल्पित प्रमाणत्व आरोपित होता है उसे निवृत्त कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है [अज्ञानरूप त्रिपुटी (द्रष्टा, दृश्य, दर्शन इत्यादि) उन्होंने आत्मतत्त्व को आवरण कर रखा है। वेदान्तशास्त्रादि उस आवरण के स्वरूप को स्पष्ट कर एवं उस आवरण को नष्ट करने के उपाय को निर्देश कर देते हैं। वस्तुतः आत्मतत्त्व स्वयंप्रकाश है, उसे प्रकाशित करने के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है]। तत्त्वज्ञान का उदय होने से वेदान्तशास्त्र

भी अप्रमाण हो जाता है जैसा कि स्वप्न से जाग्रत होने पर स्वप्नकालीन प्रमाण अप्रमाण हो जाता है। जागतिक व्यवहार में भी ऐसा देखा गया है कि वस्तु लाभ होने पर उस वस्तु सम्बन्धी प्रमाण को कोई भी प्रवृत्ति नहीं रह सकती है। इस प्रकार आत्मज्ञान का उदय होने से अविद्या के अन्तर्गत सभी प्रकार के प्रवर्त्तक प्रमाण (अर्थात् जो प्रमाणसमूह कर्म करने में प्रवृत्ति उत्पन्न करते थे वे सब) अप्रमाण हो जाते हैं। अतः आत्मवित् यति को कर्म में अधिकार नहीं है, यही सिद्ध हुआ।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—या—जो अर्थात् वेदान्तवाक्य से उत्पन्न "मैं ही ब्रह्म हूँ" ऐसी साक्षात्काररूपा प्रज्ञा वह सर्वभूतानाम्—सभी अज्ञ प्राणियों के निकट निशा—निशा की तरह है क्योंकि अज्ञानी के निकट वैसी प्रज्ञा अप्रकाशित रहती है। जैसे कि निशा में (अन्धकारयुक्त रात्रि में) कोई कुछ देख नहीं सकता है उसी तरह आत्मसाक्षात्काररूपा प्रज्ञा को भी अज्ञानी व्यक्ति दर्शन (अनुभव) नहीं कर सकता है, (इसलिए), यह प्रज्ञा निशा की तरह अप्रकाशमान है। तस्यां—सब अज्ञानी व्यक्ति के निकट जो ब्रह्मविद्या निशा के सदृश हैं, उसमें संयमी–जिसने इन्द्रियों का संयम किया हुआ है ऐसे स्थितप्रज्ञ जागर्ति—अज्ञान निद्रा से प्रबुद्ध (जाग्रत) होकर सावधान रहता है, फिर यस्यां—जो द्वैतदर्शनरूप अविद्या निद्रा में भूतानि जाग्रति—सब प्राणी जाग्रत रहते हैं। [स्वप्नकाल में जैसे प्राणी निद्रित रहने पर भी जाग्रत दशा की तरह व्यवहार करता है तथा अपने को जाग्रत ही सोचता है, यद्यपि जिन सब विषयों को लेकर उस समय व्यवहार चलता रहता है उन सबका कोई भी अस्तित्व नहीं है क्योंकि वे सभी कल्पित तथा मिथ्या है] अतः पश्यतः—आत्मतत्त्व को अपरोक्ष रूप से जो साक्षात्कार किए हैं ऐसे मुनेः—स्थितप्रज्ञ का सा निशा—वह रात्रि की तरह है अर्थात् वैसी कल्पित तथा मिथ्या द्वैतवस्तु का दर्शन उनकी दृष्टि से रात्रि की तरह है [उनकी दृष्टि से द्वैतवस्तु का प्रकाश (दर्शन) नहीं होता है]। जब तक प्राणी जाग्रत न हो तब तक उसका स्वप्नदर्शन रहता है उसी प्रकार जीव का भ्रम भी तब तक रहता है जब तक कि तत्त्वज्ञान न हो। तत्त्वज्ञान होने से फिर अज्ञान (भ्रम) के निमित्त जो व्यवहार पहले होता था वह पुनः नहीं हो सकता है।

इसलिए वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने कहा है—'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते। शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्याप्रतिस्तथा'॥ (स० वार्तिक १६६) अर्थात् कारकव्यवहार (भ्रमवश कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि व्यवहार) रहने पर शुद्ध वस्तु का दर्शन (अर्थात् आत्मदर्शन) नहीं हो सकता है। और

शुद्ध वस्तु का दर्शन होने से अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने से कारकव्यवहार अर्थात् कर्तृत्वादिरूप भ्रमजन्य व्यवहार नहीं देखा जाता है।

काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः।
या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत् स्वयं हरिः॥ (वार्तिक १।४।३१३)

अर्थात् यह संसार अज्ञ तथा आत्मज्ञ व्यक्ति के निकट काक तथा उल्लू (पेचक) की निशा की तरह है अर्थात् जिस तरह काक (कौआ) दिन के आलोक में देख सकता है किन्तु उल्लू तब देख नहीं सकता है फिर उल्लू रात्रि के अन्धकार में देख सकता है किन्तु कौआ तब देख नहीं सकता है, उसी प्रकार आत्मज्ञ तथा अनात्मज्ञ व्यक्ति के व्यवहार में भी भेद होता है। भगवान् ने स्वयं ही 'जो सभी प्राणियों की निशा है' इत्यादि कहकर गीता के श्लोक में इसको स्पष्ट किया है। [हार, वलय तथा कंगन में बुद्धिमान् पुरुष जैसे सोना को ही देखते हैं उसी तरह जिनको आत्मवस्तु के स्वरूप का अनुभव हुआ है वे सर्वत्र अखंडाद्वय आत्मतत्त्व का ही दर्शन करते हैं, उससे अतिरिक्त जगत् की पृथक् कोई भी सत्ता उनकी दृष्टि में नहीं रहती है किन्तु अज्ञानी पुरुष उल्लूकी तरह अविद्या के अन्धकार में आच्छन्न होकर मिथ्या जगत् में सत्यत्वबुद्धि रखकर दिवालोक रूप परमार्थ सत्यवस्तु को देख नहीं सकते हैं, यही कहने का अभिप्राय है] जिनको विपरीत दर्शन होता है उनको आत्मवस्तु का दर्शन नहीं होता है क्योंकि विपरीत दर्शन वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति ज्ञान से ही होता है। और जिनको वस्तु का (आत्मस्वरूप का) दर्शन हुआ है उनको विपरीत दर्शन नहीं होता है क्योंकि उस अदर्शन वस्तु का स्वरूप-दर्शन के द्वारा बाध होता है। श्रुति में भी कहा गया है 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येत् यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (बृह० उ० ४।३।३१) अर्थात् जिस अवस्था में आत्मा से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु प्रतीत होती है तब अज्ञानवश भेद व्यवहार होता है, यद्यपि परमार्थतः कोई भेद नहीं है। उस समय एक दूसरे को पृथक् रूप से दर्शन करता हैं अर्थात् यह मुझसे भिन्न है, वह मुझसे भिन्न है, इस प्रकार का व्यवहार हुआ करता है। किन्तु जिस अवस्था में ज्ञानी व्यक्ति को सब कुछ आत्मरूप में ही अनुभव होता है तब कौन किसको देखेगा क्योंकि उस समय द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, अपना, पराया सब एक हो जाता है। भेददर्शन अविद्या का विलासमात्र है। इसलिये तत्त्वदर्शी व्यक्ति का अविद्याकल्पित क्रिया कारकादि व्यवहार नहीं हो सकता है। अतः तत्त्वज्ञानी स्थितप्रज्ञ का इन्द्रिय-संयम स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अच्छा, यदि कहो कि इस संसार में प्रसुप्त की तरह दर्शनादि व्यापारशून्य सर्व प्रकार से निगृहीतेन्द्रिय मनुष्य तो दिखाई नहीं पड़ता है। अतः स्थितप्रज्ञ के ये सब लक्षण असम्भव प्रतीत होते हैं ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहें हैं—]

या सर्वभूतानां निशा—सभी भूतों की (प्राणियों की) जो निशा रात्रि है अर्थात् साधारण लोगों के लिये आत्मनिष्ठा निशा की तरह होने के कारण आत्मनिष्ठा उनके लिये निशा है। जिन लोगों की मति या बुद्धि अज्ञानरूप अंधकार के द्वारा आवृत है उन लोगों को उस आत्मनिष्ठा में दर्शनादि व्यापार नहीं रहता है (अर्थात् आत्मस्वरूप का दर्शन तथा आत्मा में स्थितिरूप अवस्था प्राप्त नहीं होती है, अतः जिस प्रकार सब प्राणी रात्रि में निद्रित रहते हैं, उसी प्रकार आत्मनिष्ठा के व्यापार में वे निद्रित रहते हैं)। **तस्यां संयमी जागर्ति**—किन्तु उस आत्मनिष्ठा में संयमी अर्थात् जिनकी सभी इन्द्रियाँ निगृहीत हुयी हैं ऐसा पुरुष जाग्रत रहता है [अर्थात् आत्म-भिन्न दूसरे किसी विषय में उनकी प्रवृत्ति नहीं रहती है]। **यस्यां भूतानि जाग्रति**—जिस विषयनिष्ठा में (अज्ञ) प्राणी जाग्रत अर्थात् प्रबुद्ध रहते हैं (व्यापार युक्त रहते हैं) **सा पश्यतः मुनेः निशा**—उस विषयनिष्ठा आत्म-तत्त्व दर्शनकारी मुनि की निशा (रात्रि) है अर्थात् रात्रि में जैसे कोई दर्शनादि व्यापार (क्रिया) नहीं होता है उसी प्रकार विषय में उनका दर्शनादि व्यापार नहीं रहता है [क्योंकि वह मुनि सदा ही आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्मानन्द, आत्मज्योतिःरूप में अवस्थान करते हैं]। इसलिये कहा गया—जैसे दिन में न देख सकने वाले उल्लू आदि की (पेचकादि की) रात्रि में ही देखने की क्रिया होती है किन्तु दिन में नहीं, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ व्यक्ति की भी चक्षु आँख उन्मीलन (खुली) रहने पर भी उनकी दृष्टि ब्रह्म में ही रहती है, विषय में नहीं। अतः स्थितप्रज्ञ के ये लक्षण (अर्थात् जो सब लक्षण पहले कहा गया है वे सब) असम्भावित नहीं है।

(२) **शंकरानन्द**—[अनेक सैकड़ो-हजारों जन्म में अनुष्ठित पुण्यकर्म के परिपाक से श्रुति, आचार्य तथा ईश्वर का अधिक प्रसाद प्राप्त होकर जिनको समाधि के द्वारा 'सभी दृश्य पदार्थ तथा मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ' ऐसा अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान अप्रतिबद्धरूप से (अविच्छिन्न रूप से) रहता है उस अज्ञाननिद्रा से जाग्रत स्थितप्रज्ञ महात्मा का ही 'मैं' 'मेरा' इत्यादि लौकिक तथा वैदिक व्यवहार स्वप्न व्यवहार की तरह सम्पूर्णरूप से निवृत्त होता है। निद्रा नष्ट होने से जैसे उसका कार्य (स्वप्न दृश्य इत्यादि) निवृत्त हो जाता है

उसी तरह तत्त्वज्ञान का उदय होने से अविद्या की (अज्ञान का) तथा उसके कार्य की भी सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति हो जाती है अतः जैसे जाग्रत पुरुष जागरण में रमण करता है उसी तरह ब्रह्मवित् जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्म में ही रमण करते हैं, अन्यत्र नहीं। अब यही प्रतिपादन कर रहे हैं—]सर्वभूतानाम्—पूर्वकर्मफल की अनुभूति के लिये (अर्थात् प्राचीन कर्मफल भोग करने के लिये) जो पुनः पुनः भूत अर्थात् होते हैं (जन्मग्रहण करते हैं) उसे भूत या प्राणी कहा जाता है। उन सब भूत की अर्थात् स्थितप्रज्ञ से भिन्न सभी प्राणियों। या निशा—जो रात्रि है अर्थात् 'तेजः परस्यां देवतानाम्' (परदेवता के तेज) इत्यादि रूप में श्रुति में जिस परदेवता के विषय में कहा गया है वह सब प्रमाणों के अविषय निर्विशेष, सत्तामात्ररूप परदेवता (परमात्मा) है किन्तु वह स्वयं अज्ञानी प्राणियों के निकट निशा रात्रि के समान रहता है। निशा शब्द का अर्थ है 'नितरां शेरते प्राणिनो यत्र सा निशा' (जहाँ प्राणी एकदम अर्थात् पूर्णरूप से सोये हुये रहते हैं उसे निशा कहा जाता है)। अन्धकार रात्रि सर्वव्यापक होने के कारण उसमें दृष्टि का प्रवेश हो नहीं सकता है तथा सभी पदार्थों को अन्धकार से आच्छादित कर, स्वरूप बनाकर (अन्धकार रूप में परिणत कर, उस रात्रि मनुष्यादि भूतवर्गों के व्यवहार का विषय नहीं होता है वैसा ही यह पर देवता भी सर्वव्यापकत्वादि धर्मों से प्राणियों के व्यवहार का विषय नहीं होती है इसलिये इन्हें (इन परमात्मा को) अज्ञानी पुरुष की निशा कहा जाता है। तस्यां—(निशायाम्) नि (नितरां) शं (सुखरूपत्वात्) निशा अर्थात् अत्यन्त सुख-स्वरूप अवस्था को निशा कहा जाता है। उस निशा में अर्थात् अत्यन्त सुख स्वरूप परदेवता में (आनन्दघन परब्रह्म में) संयमी—अविद्यारूप निद्रा से जाग्रत वह संयमी अर्थात् बाहर को प्रवृत्तियों से सभी इन्द्रियों को निवृत्त किये हैं ऐसे ब्रह्मवित् जागर्ति—जागे हुये रहते हैं वे अर्थात् उस एकमात्र परब्रह्म में ही आराम करते हैं, वहीं क्रीड़ा करते हैं, वहीं आनन्द करते हैं। ब्रह्मवित् से भिन्न अन्य सभी तो सोये हुये रहते हैं; यानी वेदान्तादि श्रवण किये हैं ऐसे पुरुष भी निद्रित व्यक्ति की तरह उस परब्रह्म का स्वरूप कुछ भी नहीं जानते हैं। यस्यां जाग्रति भूतानि—जिस द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि भेदभाव युक्त अविद्या में प्राणी जाग्रत रहता है अर्थात् मैं, मेरा, यही इष्ट है, यह अनिष्ट है, यह कार्य है, यह अकार्य है ऐसा व्यवहार करता है सा—उस उस द्वैतभूमिरूप अविद्या पश्यतः मुनेः निशा—द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी को प्रत्यग् दृष्टि से देखने वाले ब्रह्मनिष्ठ मुनि की निशा है। निशा में (रात्रि में)

प्राणी जैसा व्यवहार नहीं करते हैं वैसे ब्रह्मनिष्ठ मुनि अविद्यारूप रात्रि में 'मैं, मेरा' इत्यादि व्यवहार नहीं करते हैं। मैं तथा मेरा इत्यादि प्रत्यय (चित्त-वृत्ति) का हेतु हैं अनादि अविद्या से उत्पन्न वासना समूह। वे वासनायें जब सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं तब द्वैत भाव उक्त ब्रह्ममयी बुद्धि में प्रवेश नहीं कर सकता है। अतः ज्ञानदशा में 'मैं मेरा' इस प्रकार प्राकृत (लौकिक) व्यवहार ही जब मुनि नहीं करते हैं तब उक्त लक्षणविशिष्ट विद्वान् को वैदिक व्यवहार किस प्रकार से सिद्ध हो सकते हैं ?

अथवा या सर्वभूतानां निशा—'अधीहि भगवो ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम्' (छा० उ०) (हे भगवन् श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये) ऐसी श्रुति प्रसिद्ध जो ब्रह्मविद्या है वह सर्वभूत को अर्थात् सभी प्राणियों की निशा है। सूर्य के समान स्वयं चिदाकार से प्रकाशरूप होने पर भी सुदृष्टि (ज्ञानदृष्टि) रहित प्राणियों के लिए वह निशा के समान है। अतः उस (ब्रह्मविद्या को) निशा कहा जाता है। **तस्यां संयमी जागर्ति**—जिस तरह प्रसिद्ध रात्रि अपनी अन्धकाररूप शक्ति के द्वारा नामरूपात्मक भेद को दूर हटाकर, सभी वस्तुओं को अन्धकारमय बनाकर आप ही सर्वत्र व्यापक होती है। (फैल जाती है), उसी तरह वह ब्रह्मविद्या अपनी चित् शक्ति के द्वारा (ज्ञानशक्ति के द्वारा) नामरूपात्मक भेद को दूर हटाकर सभी दृश्य वस्तु को चिन्मात्र कर स्वयं एक ही रूप में सर्वत्र व्यापक होकर विद्यमान रहती है। इस प्रकार रात्रि के समान ब्रह्मविद्या में, जिसमें अज्ञानी तथा अज्ञानी को जो जानते हैं वे सभी जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थारूप स्वप्न देखते हुए सोये हुए रहते हैं [जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति यह तीनों अवस्थायें कल्पित होने के कारण स्वप्न ही हैं। (त्रयः स्वप्नाः—ऐतरेयः उपनिषत्)] किन्तु संयमी अर्थात् बहिः प्रवृत्तिशून्य, ब्रह्मवित्, स्थितप्रज्ञ ही एकमात्र उस ब्रह्मविद्या में जागे हुये रहते हैं (जागता है) अर्थात् आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन, आत्मज्योतिः, आत्मानन्द होकर सदा अवस्थान करते हैं। **यस्यां भूतानि जाग्रति**—जिस अविद्या में सभी प्राणी जागते हैं अर्थात् तुम, मैं, यह, वह ऐसा व्यवहार करते हैं **सा**—द्वैतावस्थारूप अविद्या तो **पश्यतः मुनेः**—जो द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी को मिथ्या देखते हैं (अर्थात् मिथ्या जान गये हैं) उस ब्रह्मवित् पुरुष को **निशा**—रात्रि है। जिस तरह अज्ञानी प्राणियों की ब्रह्मविद्या रात्रि है उसी तरह ब्रह्मविद् की अविद्या रात्रि है अर्थात् जिस तरह अज्ञानी ब्रह्मविद्या के द्वारा 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने को आनन्दैकरस तथा परिपूर्ण जानने को समर्थ नहीं होता है, उसी तरह उस

ब्रह्मवित् अविद्या के द्वारा 'मैं इस तरह हूँ' 'मेरा यह है' इत्यादि रूप से देह-इन्द्रियादि को विषय करने में समर्थ नहीं होते हैं। इसलिए उस ज्ञानी पुरुष को लौकिक तथा वैदिक कर्म में अधिकार नहीं रहता है क्योंकि उस कर्म के लिए ज्ञानी की योग्यता का अभाव होता है।

जिसे देह में तथा देहाश्रित वर्ण, जाति प्रभृति में अभिमान रहता है, फल की इच्छा रहता है, और यह मेरा कर्त्तव्य है, यह मेरा कर्त्तव्य नहीं है, ऐसी क्रियाओं में गुण तथा दोष का दर्शन विद्यमान रहता है उसी को कर्म में योग्यता रहती है किन्तु जिसमें उक्त लक्षण नहीं है उनकी कर्म में योग्यता (अधिकार) नहीं देखने में आती है क्योंकि नित्य निरन्तर समाधि निष्ठा के द्वारा परिपक्व विज्ञान के बल से अविद्या तथा अविद्या का आध्यासिक कार्य समूह को निर्मूल कर ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म में ही स्थित विद्वान् को पुनः शरीर के साथ तादात्म्यप्राप्ति तथा उसमें 'मैं, मेरा' इत्यादि अभिमान नहीं हो सकता है। ऐसा अभिमान असम्भव होने के कारण देहादि में आरोपित वर्ण जाति आदि का अभिमान भी सिद्ध नहीं होता है तथा उसके फल स्वरूप सभी वस्तुओं में मिथ्यात्व दर्शनकारी पुरुष को किसी प्रकार फल की आकांक्षा नहीं रहती है। इसी कारण उनके लिये क्रिया में गुण तथा दोष का दर्शन करना सम्भव नहीं होता है। अतः विद्वान् का कर्म में अधिकार किसी प्रकार से ही उपयुक्त हो नहीं सकता है क्योंकि सभी वस्तुओं में मिथ्यात्व-दर्शन तथा वस्तु के प्रति प्रवृत्ति यह दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक ही अधिकरण में (एक ही व्यक्ति में) उभय का रहना सम्भव नहीं हो सकता है। वस्तु के सत्यत्व में निश्चय बुद्धि रहने से ही उस वस्तु की प्राप्ति के लिये कर्म में प्रवृत्ति होती है और सभी वस्तुभ्रम के हेतु (अज्ञान से) कल्पित हुये हैं (किन्तु उनकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है) ऐसी निश्चय बुद्धि के द्वारा वस्तुओं का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। इसलिए वे परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनों को एक ही अधिकरण में रहना सम्भव नहीं है। अब शंका होगी कर्ता, करण तथा कार्य सभी मिथ्या है ऐसा जानकर भी विद्वान् यदि कर्म करता है तब हानि क्या है ? क्योंकि मिथ्यात्व बुद्धिपूर्वक कर्म अनुष्ठित होने से वह बन्धन का कारण नहीं होता है ? इसका उत्तर यह है कि विद्वान् की कर्म में प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है क्योंकि मिथ्यात्व ज्ञान का प्रवृत्ति से विरोध है। यह जल नहीं है किन्तु मरुभूमि है इस प्रकार मरीचिका जल में मिथ्यात्व निश्चय जो किये हैं वैसा पुरुष यदि तृष्णार्त्त भी हों (प्यासा

भी हों) तब भी जब उनकी जल पानादि के लिए प्रवृत्ति देखने में नहीं आती तब अविद्या से आरोपित सम्पूर्ण जगत् दृश्य को जो मिथ्या जानते हैं तथा उन सब मिथ्या वस्तु का अधिष्ठानभूत ब्रह्म को सर्वत्र देखते हैं वैसे पुरुष की किसी कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, इसमें तो कहना ही क्या है ? अतः अविद्याग्रस्त पुरुष को ही (अज्ञानी पुरुष को ही) कर्म में अधिकार है—विद्वान् को नहीं है। विद्या के साथ अविद्या तथा अविद्या के कार्य का विरोध रहने के कारण आलोक में अंधकार तथा अन्धकार के कार्य जैसे नहीं रह सकते हैं, उसी तरह विद्वान् ब्रह्मज्ञानी में अविद्या तथा अविद्या का कार्य नहीं रह सकते हैं। विधि, विधान, विधेय तथा विधाता सभी अविद्या का कार्य होने के कारण मिथ्या है, ऐसा जो जान गये हैं (ऐसा निश्चय ज्ञान जिनको हुआ है) उस ब्रह्मविद् के लिए सदा अपने आत्मस्वरूप में चुपचाप अवस्थान करने से भिन्न और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रह सकता है, यही सिद्ध हुआ।

(४) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक की टीका में कहा गया है कि अन्तःकरण आत्मा में युक्त (रत) नहीं रहने से कोई इन्द्रिय समूह को निग्रह (वशीभूत) कर विषय के प्रति रागद्वेषरहित नहीं कर सकता है। जिनकी आत्मरति हुई है वे सर्वत्र एक ब्रह्म अथवा आत्मसत्ता को ही देखते हैं—नामरूप तथा क्रियात्मक भिन्न-भिन्न विषय को नहीं देखते हैं। अज्ञानी पुरुष द्वैतप्रपंच में जाग्रत रहते हैं (व्यवहार करते हैं) किन्तु तत्त्वज्ञानी के लिए वह निशा की तरह है। निशा (रात्रि) के अन्धकार में जैसे विभिन्न नाम रूप तथा क्रिया की प्रतीति नहीं होती है—सब एक हो जाता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानी को (स्थितप्रज्ञ को) सब विभिन्नरूप एक ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं। फिर ज्ञानी जिस एकत्वज्ञान में जाग्रत रहते हैं वह ज्ञान अज्ञानी व्यक्ति के निकट निशा की तरह है अर्थात् वे अज्ञानरूप अन्धकार में आच्छन्न रहने के कारण उनके निकट आत्मस्वरूप का ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अप्रकाशित रहता है। स्थितप्रज्ञ की दृष्टि में दृश्यवस्तु या विषयसमूह की सत्ता नहीं है। अतः उनके लिए कर्त्तव्य कुछ नहीं रह जाता है। जो वस्तु नहीं है (असत् है) उस मिथ्या वस्तु की प्राप्ति के लिये (राग) अथवा परिहार करने से द्वेष नहीं रह सकता है तथा उसी प्रकार से विषय के प्रति मन तथा इन्द्रिय की कोई प्रवृत्ति हो नहीं सकती है। अतः स्थितप्रज्ञ के इन्द्रिय तथा मन का निग्रह स्वतः ही हुआ करता है। यदि प्रकृति के (स्वभाव के) कारण इन्द्रियसमूह विषय में विचरण भी करे तो भी ग्राह्य, ग्राहक तथा ग्रहण में एकमात्र ब्रह्मदृष्टि

रहने के कारण उनकी प्रज्ञा की स्थिति को कोई हानि नहीं होती है। द्रष्टृ-स्वरूप में (आत्मा में) स्थित होकर 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते' (गीता ३।२८) अर्थात् इन्द्रियरूप गुण (माया का कार्य) विषयरूप गुण में (माया के कार्य में) व्यापृत है, अतः दोनों ही प्रतीति मात्र (मिथ्या) है ऐसा सोचकर किसी कर्म में उनकी आसक्ति नहीं रहती है। अज्ञानी व्यक्ति की दृष्टि उसके विपरीत है। अतः वह 'फले सक्तो निबध्यते' (५।१२) अर्थात् अयुक्त (असमाहित) भेदबुद्धिसम्पन्न अज्ञानी विषय को सत्य मानता है, कर्म में कर्तृत्वाभिमान रखता है, कर्मफल में आसक्त रहता है, इसीलिए वह संसार में ही बद्ध रहता है (लिपट जाता हैं) पूर्वश्लोक के तथा इस श्लोक के यही तात्पर्यार्थ है।

[सर्ववासना त्यागी तत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञ संन्यासी ही मोक्षप्राप्त करते हैं, कामकामी (विषयभोगासक्त) असंन्यासी कभी मोक्षलाभ नहीं कर सकते हैं, इस अभिप्राय को दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन करने की इच्छा कर श्री भगवान् अब कह रहे हैं—]

[शंका हो सकती है कि असंन्यासी अगर विद्वान् हों तब वे भी विद्या का फल मोक्षलाभ कर सकते हैं। अतः विद्वान् व्यक्ति को संन्यास लेना पड़ेगा ऐसे नियम की क्या आवश्यकता हो सकती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जो ज्ञानवान् व्यक्ति विवेकवैराग्यादिविशिष्ट होकर सभी एषणा (वासना) से उत्थित होकर (मुक्त होकर) गुरुमुख से वेदान्तवाक्य श्रवण कर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर मुख्य संन्यासी हुये हैं उन्हीं की मोक्षप्राप्ति सम्भव है। विषयतृष्णा के द्वारा अभिभूत अन्य कोई पुरुष मोक्षलाभ नहीं कर सकता है, यह दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन करने की इच्छा कर "रागद्वेष-वियुक्तैस्तु" इत्यादि श्लोक में पहले जो कहा गया है (गीता २।६४) उसी का अर्थ अब दृष्टान्त के द्वारा फिर से प्रतिपादन कर रहे हैं—(आनन्दगिरि)]।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

अन्वय—आपः यद्वत् आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रं प्रविशन्ति तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति सः शान्तिम् आप्नोति, न कामकामी।

अनुवाद—आपूर्यमाण अर्थात् चारों तरफ से परिपूर्ण होकर भी अचल रूप से अवस्थित समुद्र के अन्दर जैसे (नद नदी का) जलसमह

प्रवेश करता है उसी तरह सभी कामनायें जिनके अन्दर प्रवेश करती हैं (किन्तु जो कामना के द्वारा विक्षुब्ध न होकर समुद्र की तरह अविचलित रहते हैं) वे ही शान्तिलाभ करते हैं; कामासक्त व्यक्ति कभी शान्तिलाभ नहीं कर सकते हैं।

दीपिका। आपः—[सभी और (दिशा से)] प्रवाहित जलराशि यद्वत्—जिस तरह आपूर्यमाणम्—चारों ओर से परिपूर्ण अचलप्रतिष्ठं—जो अचलरूप से अवस्थान करता है अर्थात् हानि या वृद्धिरूप विकार को प्राप्त न होकर (कमी या ज्यादा न होकर) एक ही रूप में सदा स्थित रहता है ऐसा समुद्रं—समुद्र में प्रविशन्ति—प्रवेश करता है अर्थात् प्रवेश कर उसमें विलीन हो जाता है। तद्वत्—उस प्रकार सर्वे कामाः—विषय समूह सभी ओर से (प्रारब्धवश) सम्मुख उपस्थित होने पर भी विषय के प्रति कामनायें (विशेष विशेष इच्छायें) यं—जो तत्त्वज्ञ पुरुषों में [जो समुद्र की तरह निर्विकार रूप से स्थित रहते हैं उस प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्तियों में मधुसूदन)] प्रविशन्ति—(समुद्र में प्रविष्ट जलराशि की तरह) प्रवेश करती हैं (अर्थात् उसको किसी भी प्रकार विकृत न कर उनके अविचलित समुद्र के समान स्थिर समाधिनिष्ठ अन्तःकरण में प्रवेश कर विलीन हो जाती हैं)। जिस तत्त्वज्ञ पुरुष को कामनायें (इच्छायें) अपने वशीभूत (अधीन) करने में समर्थ नहीं होती हैं किन्तु वे स्वयं जिनको आत्मा में लय हो जाते हैं सः—उस (महासमुद्र स्थानीय) स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ही शान्तिम्—सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप शान्ति अर्थात् जन्म-मृत्यु के प्रवाहरूप संसार से मोक्ष या मुक्ति [लौकिक तथा अलौकिक सभी प्रकार के कर्मरूप विक्षेप की निवृत्ति तथा सभी कर्मों की मूल अविद्या होने पर भी कुम्भकार के चक्र की अनर्थक भ्रमण क्रिया की तरह उस अविद्या के कार्य का जो अनुवृत्ति (कुछ क्षण के लिये फलभोग) चलता रहता है उसकी भी निवृत्ति (मधुसूदन)] आप्नोति—ज्ञान बल से प्राप्त होते हैं। ['योऽकाम' इत्यादि श्रुति वचन के अनुसार जो विषयविमुख तथा निष्काम हैं वे ही मोक्षप्राप्त कर सकते हैं; काम-कामुक (अर्थात् विषय-कामी) पुरुष (उस मोक्ष को कभी प्राप्त नहीं कर सकते हैं, यही कहने का अभिप्राय है (आनन्दगिरि)]। कामकामी—काम शब्द का अर्थ है जिसे प्राप्त करने की इच्छा होती है अर्थात् कामना के विषयीभूत विषय। उस काम्य विषयों की प्राप्ति के लिये काम (इच्छा) करना ही जिनका स्वभाव है उसे "कामकामी" कहा जाता हैं। इस तरह कामकामी अज्ञ व्यक्ति न—

उस शान्ति अर्थात् मोक्षप्राप्ति नहीं कर सकते हैं। [क्योंकि वह कामकामी पुरुष कामना तथा उसे पूर्ण करने के लिए (उसकी पूर्ति के लिये) जिन लौकिक तथा अलौकिक कर्मों की आवश्यकता होती है उसके द्वारा निरन्तर विक्षिप्त होकर महान् क्लेश सागर में निमग्न रहता है (मधुसूदन)]। प्रश्न हो सकता है—तत्त्वज्ञानी को काम किस तरह सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति इच्छापूर्वक किसी विषय को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि उनकी अविद्या नष्ट होने के कारण भोक्तृत्वादि अभिमान भी निवृत्त हो जाता है। कुम्भकार का चक्र घटादि द्रव्य प्रस्तुत हो जाने पर भी वह जैसे कुछ क्षण अनर्थक हो घुमता रहता है उसी तरह अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी कुछ समय तक अविद्या का कार्य अदृष्टवश चलता रहता है तथा उसी के कारण काम अर्थात् शब्दादि विषयों का भोग उनके निकट अपने ही से उपस्थित होता है किन्तु सैकड़ों नद नदी का जलराशि महासमुद्र में प्रवेश कर भी जैसे उसकी (समुद्र की) किसी प्रकार कमी या वृद्धि सम्पादन कर उसे विकृत (विचलित) नहीं कर सकती हैं उसी तरह उस विषयसमूह तत्त्वज्ञानी के चित्त में प्रवेश कर भी किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं अर्थात् पद्मपत्र की तरह ज्ञानी का चित्त कामरूप जल के द्वारा कभी संस्पृष्ट नहीं हो सकता है। यही तत्त्वज्ञानी की परमा शान्ति है। जब तक देह में प्राण रहता है तब तक जीवन्मुक्त पुरुष यह शान्ति परमानन्द भोग करते हैं तथा देहपात के पश्चात् परमात्मा के साथ एकता प्राप्त होकर विदेह कैवल्य प्राप्त होते हैं।

[इसके द्वारा यही सूचित हुआ कि (बाह्य संन्यास ग्रहण न कर के भी) ज्ञानी को ज्ञान के फलस्वरूप विद्वत् संन्यास होता है तथा उन्हीं को सर्व विक्षेप की निवृत्तिरूप जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। दैवाधीनता हेतु (प्रारब्ध कर्म या अदृष्टवश) उनको विषयभोग होने पर भी उनके लिये निर्विकार रहना सम्भव है, अन्य अज्ञ व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[विषय में जब स्थितप्रज्ञ को दृष्टि नहीं रहती है तब वे कैसे विषय को भोग करते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] आपूर्यमाणम्—जैसे विभिन्न नदनदी के द्वारा आपूर्यमाण (परिपूर्ण) होकर भी अचलप्रतिष्ठम् समुद्रम्—अनतिक्रान्तमर्याद समुद्र में अर्थात जिस समुद्र की मर्यादा (जलस्थिति की सीमा) अतिक्रान्त नहीं होती है उस समुद्र में यद्वत् आपः—फिर दूसरे जल भी जैसे प्रविशन्ति—प्रवेश करता है [अर्थात् वह

जल समुद्र में ही मिलकर समुद्र के साथ एकता प्राप्त करते हैं किन्तु उसमें समुद्र की वृद्धि या क्षय (अर्थात् परिणाम या विकार) उत्पन्न नहीं होता है] तद्वत्—उस प्रकार सर्वे कामाः—विषय समूह (जिसे कामना किया जाता है उसे अर्थात् भोग्यविषय को काम कहा जाता है)। यं—भोग के द्वारा अविक्रियमाण अन्तर्दृष्टिसम्पन्न जिन मुनि में प्रविशन्ति—प्रारब्ध कर्म के द्वारा अक्षिप्त होकर प्रवेश करता है [अर्थात् समुद्र में जैसे नदियाँ प्रवेश करने से भी समुद्र की प्रतिष्ठा (स्थिति) अचला ही (स्थिर) रहती है तथा वह नदियाँ समुद्रभाव को प्राप्त होती हैं उसी तरह परिपूर्ण ब्रह्म में स्थित ज्ञानियों में कामसमूह अर्थात् भोग्यविषय समूह प्रवेश करने से भी ज्ञानी को ब्राह्मीस्थिति में किसी प्रकार विकार उत्पन्न न कर वे सब भी (वे भोग्यविषय समूह भी) ब्रह्मभाव को ही प्राप्त होते हैं] सः—इस प्रकार अचल रूप से ब्रह्मस्वरूप में स्थित यति शान्तिम्—कैवल्य (मुक्ति) अर्थात् कैवल्यरूप परमा शान्ति प्राप्नोति—प्राप्त करते हैं। न तु कामकामी—भोगकामनाशील (विषयभोग चाहने के स्वभाव वाले) पुरुष वह कैवल्य (मुक्ति) रूप शान्ति प्राप्त नहीं करते हैं।

(२) शंकरानन्द—[जिस तरह कन्या ऋतुमती होकर माता, पिता, भ्राता आदि स्वजन को छोड़ केवल पति की ही आश्रित होकर केवल उसको (पति को) अवलम्बन कर उसमें रमण करती है, उसी में सन्तुष्ट रहती है, उसी में आनन्द तथा हर्ष का अनुभव करती है अन्य किसी की बात नहीं सुनती है, अन्य को नहीं देखती है, अन्य को स्मरण नहीं करती है, अन्य को स्पर्श नहीं करती है, स्वयं पतिव्रता होकर पति में स्थित रहती है उसी तरह जिस ब्रह्मवित् यति की प्रज्ञा समाधि के द्वारा परिपक्व होकर देह, प्राण तथा इन्द्रियों को दूर से ही परित्याग कर (अर्थात् उनसे आत्मा को पृथक् कर) सच्चिदानन्दैकरस एक परब्रह्म को ही आश्रित होकर उसी को अवलम्बन कर उसी में रमण करती है, क्रीड़ा करती है, आनन्द करती है, सन्तुष्ट रहती है तथा हर्षित रहती है, तथा पतिव्रता की तरह आत्मातिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सुनती है, नहीं देखती है, मनन नहीं करती है, नहीं जानती है तथा सदा ब्रह्मस्वरूप में अवस्थान करती है, उस प्रज्ञाविशिष्ट लोग ही जीवन्मुक्ति का सुख तथा विदेहकैवल्यसुख प्राप्त होते हैं, यह सूचित करने के लिए वैसे लक्षण विशिष्ट यति (संन्यासी) ही विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं, अन्य कोई मुक्ति प्राप्त नहीं करते हैं, यह निर्धारण करने के लिए श्री भगवान् भिक्षादि व्यापार में भी स्थितप्रज्ञ संन्यासी की वृत्ति बाहर के विषयों को अवलम्बन नहीं करती है, यही प्रति-

पादन कर रहे हैं--] आपूर्यमाणम्—गंगा, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, सिन्धु प्रभृति महानद तथा नदियों का दश शत सहस्र संख्यक अतिविस्तृत मुखों से आये हुए आकाशचुम्बी (अति उन्नत) अपरिमित प्रवाहों के द्वारा आपूर्यमाण होकर अर्थात् चारों ओर से परिपूर्ण होकर (भरे जाने पर) भी अचलप्रतिष्ठं—(जो समुद्र) स्वयं अचलप्रतिष्ठ अर्थात् चलनवर्जित (वृद्धिक्षय रहित) प्रतिष्ठा (जलस्थिति को मर्यादा या सीमा) जिसका है उस [अचल (चलनवर्जित) शब्द का अर्थ यह है कि पहले जैसा था उस अवस्था को बाद में भी अतिक्रम (त्याग) न कर एक ही अवस्था में रहना अर्थात् वृद्धि तथा क्षयशून्य रहना। प्रवाहों का प्रवेश करने के पहले जलस्थिति की जैसी मर्यादा (सीमा) थी प्रवाहों का प्रवेश होने के पश्चात् भी उस सत्ता की कोई विशेषता (भेद) न होकर एकरूप से रहना, उसे 'अचलप्रतिष्ठम्' कहा जाता है]। इस तरह सदा एक ही रूप से विद्यमान समुद्रम् आपः—समुद्र में आपः अर्थात् गंगा सिन्धु प्रभृति महानदनदी समूह का विभिन्न मुखों से आये हुए जलराशि यद्वद् प्रविशन्ति—जिस तरह प्रवेश करते हैं, अर्थात् अनेक प्रकार के वर्ण, रस, गन्ध आदि गुणयुक्त जल जिस तरह प्रवेश करते हैं अपना श्वेत, नील, लाल, पीत (पीला) आदि रूप विशेष को, मधुर, अम्ल, कड़ुवा, कसैले आदि रस को, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि गन्धविशेष को, लघुत्व (हल्का) गुरुत्वादि (भारी आदि) गुण विशेष को, एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दश, एक सौ कृच्छ्र के (कृच्छ्र चान्द्रायणादि के) समान पुण्यविशेष को तथा उस उस नाम विशेषों को त्याग कर जैसे वे समुद्रभाव को ही प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् समुद्र को प्राप्त होकर उस समुद्र के सम्बन्ध की (संसर्ग की) महिमा से नामरूप और गुणविशेषों से जैसे वे समुद्र से भिन्न (पृथक्) नहीं रहते, उसी तरह सर्वे कामाः—काम समूह जिसमें प्रवेश करते हैं। जिसकी कामना किया जाता है उसे काम कहा जाता है। नामभेद के द्वारा, रूप भेद के द्वारा, रस भेद के द्वारा, गन्ध भेद के द्वारा, पाक भेद के द्वारा, पृथक् कर भिन्न भिन्न रूप से जिनका ग्रहण किया जाता है उसे काम कहा जाता है अर्थात् जो सब भोग्यपदार्थ (जैसे दाल, पुए (हलवा), रस—अन्न आदि तथा उनके अतिरिक्त अन्य भी भोग्य विशेष—उन सबको काम (काम्य अर्थात् भोग्यपदार्थ) कहा जाता है। वे सब काम जिनके भीतर प्रवेश करते हैं। नामरूप रस गन्ध पाक संस्कार आदि के द्वारा विशिष्ट विचित्र अनेक प्रकार के भोग्य विशेषों के द्वारा सभी ओर से अनिच्छापूर्वक (अर्थात् प्रारब्ध से प्राप्त हुए भोग्यविशेषों से) आपूर्यमाणं—परिपूर्ण होकर भी अर्थात्

मुझे ग्रहण करो, मुझे ग्रहण करो, इस प्रकार भोग्य विषयसमूह सभी ओर से आपतित होकर व्याकुल करते रहने पर भी जो अचलप्रतिष्ठं—निर्विकल्प, विपरीत भाव से शून्य, यहाँ तक कि व्युत्थान अवस्था में भी सत् की (ब्रह्म की) आकारता को प्राप्त कर सदात्मरूप से ही निश्चल होकर जो स्थित हुये हैं, अर्थात् अखंडाकार वृत्ति के द्वारा जिनकी प्रतिष्ठा (स्थिति) है वे अचल प्रतिष्ठ हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रारब्ध के कारण उनमें काम प्रवेश करने पर भी उस अवस्था में भी वाह्य विषयों के सम्बन्ध में विकल्प न कर समाधि-निष्ठा के द्वारा जिनका अन्तःकरण किसी प्रकार का परिणाम या विकारप्राप्त नहीं होता है वे ही 'अचल प्रतिष्ठ' हैं। उस अचल प्रतिष्ठ ब्रह्मवित् यति में ही सभी काम प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को प्राप्त कर सभी विषयों में चिद्भाव को प्राप्त कर. अध्यात्म दृष्टि से (परमात्मा में) विलीन होकर स्वकीय नामविशेष को, रूपविशेष को, पाकविशेष को, संस्कार विशेष को तथा रुचिविशेष को त्याग कर जैसे समुद्र में प्रविष्ट महानदियों के जल समुद्र-भाव को प्राप्त होते हैं उसी तरह वे विषयसमूह स्वयं ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाते हैं। यही 'यं प्रविशन्ति' पद का तात्पर्य है। सः—जो इस प्रकार लक्षणविशिष्ट ब्रह्मविद् यति हैं, वे ही शान्तिम्—अविद्या प्रपंचोपशमलक्षणा विदेहमुक्तिरूपा शान्ति को आप्नोति—प्राप्त करते हैं। न तु—कामकामी—कामकामी किन्तु उस प्रकार शान्ति नहीं प्राप्त करते हैं कामसमूह की (विषयसमूह की) जो कामना करते हैं वे कामकामी हैं। वह विषयी पुरुष स्वयं कैवल्य के कारण-स्वरूप ब्रह्मनिष्ठारूप स्वधर्म को परित्याग कर अनात्म वस्तु में (देहेन्द्रियादि में) आत्मभाव प्राप्त कर भोक्ता होकर शुक्ति में रजत को तरह, मरु में जल की तरह, अद्वैत ब्रह्म में अविद्यमान द्वैत की कल्पना कर 'मैं भोक्ता हूँ' 'यह भोग्य है' इत्यादि मिथ्या अभिसन्धि के द्वारा बाहरी विषयों की वासना के कारण असद् वस्तु में अहं (मैं) तथा ममता के (मेरा) अभिनिवेश के द्वारा बद्ध होकर यह रम्य है, यह इष्ट है इत्यादि भेदबुद्धि से नामरूपादि विशेष विशेष विभागों के द्वारा पदार्थों का ग्रहण करता है। इसी कारण कामकामी (अर्थात् भेददर्शी) शान्ति प्राप्त नहीं करते हैं अर्थात् देहादि में तादात्म्य प्राप्त कर जिस असत् वस्तु में अभिनिवेश कर अद्वितीय ब्रह्म में भेद दर्शन करते हैं वही व्यक्ति कामकामी (द्वैतदर्शी) हैं, अतः ऐसा कामकामी मुक्ति (अर्थात् परमा शान्ति) प्राप्त नहीं करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। श्रुति ने भी ऐसा कहा है—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरम् कुरुते अथ तस्य भयं भवति तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० उ०) अर्थात् जो भी इस आत्मा में अति

अल्प (थोड़ा सा) भी भेद स्वीकार करता है तब उसको भय होता है; यदि विद्वान् पुरुष भी नहीं माने (अर्थात् भेददशन करे) तब उसको भी भय होगा। देह के साथ तादात्म्याध्यास के विना भेददर्शन तथा कामना सिद्ध नहीं होती है और अविद्या के विना देहतादात्म्य का भी सम्भव नहीं है। चूँकि अविद्यावान् पुरुष को मुक्ति नहीं मिलती है यह सर्ववादिसम्मत है अतः जो विदेहकैवल्य प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वैसे यति को कभी तथा कहीं भी देहतादात्म्य को प्राप्त होकर भेददृष्टि रखना उचित नहीं है। पूर्व और इस श्लोक में आहारादि में भी स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् यति ब्रह्मत्वस्वरूप के द्वारा ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं, अनात्म देहेन्द्रियादि में कभी स्थित नहीं होते हैं, इस प्रकार कहकर श्री भगवान् ने स्थितप्रज्ञ "किमासीत" अर्थात् कैसे उपवेश करते हैं (कैसे बैठते हैं अर्थात् स्थित रहते हैं) इस प्रश्न का उत्तर दिया।

(३) नारायणी टीका--स्थितप्रज्ञ की सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रहने के कारण काम समूह भी उनके आत्मस्वरूप हो जाते हैं। अतः समुद्र में सैकड़ों नदियों का जल प्रवेश करने से भी जिस प्रकार समुद्र अचलप्रतिष्ठ रहता है अर्थात् अचल रूप से अवस्थान करता है (समुद्र की वेला में (सीमा में) जैसे किसी प्रकार की वृद्धि या हानि नहीं होती है), उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुप के निकट प्रारब्ध के कारण शब्दादि भोग्य विषय समूह (कामाः) उपस्थित होने पर भी चूँकि उन सब विषयों में उनकी आत्मत्वबुद्धि (एकमात्र अद्वय आत्मा ही भोक्ता, भोग्य तथा भोग रूपमें प्रतीत हो रही है ऐसी बुद्धि) दृढ़ रहती है। इसलिये उन सब विषयों के द्वारा उनको किसी प्रकार का विकार (हानि या वृद्धि) उपस्थित नहीं हो सकता है वे सदा ही आत्मानन्द में निमग्न रहकर अविचलित समुद्र की तरह स्थिर रहते हैं। इसलिये वे जीवित अवस्था में ही परम शान्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् जीवन्मुक्त होते हैं। और जो लोग कामकामी हैं अर्थात् काम के (विषय के) चाहने वाले हैं अर्थात् विषयासक्त हैं वे लोग सदा ही आशा एवं अतृप्त वासना के द्वारा अशान्त तथा विक्षिप्त रहते हैं। अतः सर्वदुःखनिवृत्तिरूप परमशान्ति अथवा मोक्ष वे किसी प्रकार से प्राप्त नहीं करते हैं। विषय किसी का बन्धन नहीं करता है। विषय के (काम के) प्रति जो कामी (आसक्त) है उसी को विषय बन्धन करने में समर्थ होता है। विषयों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अज्ञान के कारण ही (आत्मस्वरूप को न जानने के कारण ही) वे दिखाई पड़ते हैं क्योंकि वे सभी ब्रह्मस्वरूप आत्मा में कल्पित होकर प्रतीत होते हैं। मन कल्पना रहित होने से अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध होने से कोई कभी विषय का

दर्शन नहीं करता है। अतः जब तक विषय में सतत्त्वबुद्धि तथा विषय के प्रति काम (आसक्ति) रहेगी तब तक अज्ञान भी रहेगा तथा तब तक तत्त्वज्ञान से वंचित होकर अशान्तिमय, दुःखमय संसार चक्र में भ्रमण करना होगा–यही 'न कामकामी' शब्द का तात्पर्य है।

पूर्व श्लोक में जो कहा गया है वही तत्त्व है (अर्थात् कामनाशून्य स्थितप्रज्ञ संन्यासी ही शान्ति प्राप्त करते हैं)। इसलिये अब कहा जा रहा है [गृहस्थ भी मन के द्वारा सभी अभिमान को त्याग कर कूटस्थ ब्रह्मात्मा की सर्वत्र भावना कर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर सकते हैं ऐसी आशंका का परिहार करने के लिये कहा जा रहा है–चूँकि स्थितप्रज्ञ संन्यासी ही निर्वाणरूप शान्ति प्राप्त करने को समर्थ हैं इसलिये शब्दादि विषयासक्त कामकामी पुरुष को मुक्ति नहीं मिलती है, यह पूर्ववर्ती श्लोक के व्यतिरेक मुख से कहकर अब अन्वय मुख से क्या क्या लक्षणविशिष्ट होकर स्थितप्रज्ञ संन्यासी मोक्षरूप शान्ति प्राप्त करते हैं वह कह रहे हैं। (आनन्दगिरि)]

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

अन्वय—यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निस्पृहः निर्ममः निरहंकारः (सन्) चरति सः शान्तिम् अधिगच्छति।

अनुवाद—जो सभी वासनाओं के परित्यागपूर्वक स्पृहा, ममता, अहंभाव शून्य होकर (प्रारब्ध के कारण केवल जीवन धारण के लिए अनुकूल चेष्टा करके) विचरण करते हैं वे ही शान्ति (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

दीपिका—यः पुमान् सर्वान् कामान्—जो संन्यासी पुरुष सम्पूर्ण रूप से सभी काम अर्थात् विषय [गृह, क्षेत्र, कलत्रादि बाह्य विषय तथा मनोराज्यरूप वासना मात्र स्वरूप (वासनात्मक) आभ्यन्तरीय विषयसमूह को रास्ते में चलने के समय तृणस्पर्श की तरह तुच्छ तथा अनावश्यक जानकर (मधुसूदन)] विहाय—परित्याग कर (उपेक्षा कर) निस्पृहः—शरीर के जीवन के लिये अर्थात् प्राणधारण के लिये भी स्पृहारहित है (अर्थात् 'शरीर जीवित रहे' ऐसी स्पृहा भी जिनकी निवृत्त हुई है) ऐसे यति निर्ममः—प्रारब्ध के कारण जीवन रक्षा के लिये आवश्यक पदार्थ के संग्रह में भी जिनका ममत्व बोध अर्थात् 'यह मेरा है' (इस पर मेरा अधिकार है) ऐसा बोध (अभिनिवेश) जिनका नहीं है वह योगी निरहंकारः—विद्या, तपस्या, वैराग्यादि गुणसम्पन्न होकर भी, जिनकी आत्मसम्भावना (अर्थात् मैं विद्वान्,

हूँ, मैं तपस्वी हूँ इस प्रकार का अभिमान) नहीं है वे निरहंकार हैं इस तरह निस्पृह निर्मम तथा निरहंकार होकर चरति—केवल जीवनमात्र के लिये ही चेष्टा करते हुये विचरण करते हैं अर्थात् जो प्रारब्ध वश केवल प्राणधारण के लिये अनुकूल व्यापार (कार्य)मात्र सम्पादन कर अर्थात् चेष्टामात्र कर पर्यटन करते हैं [अथवा प्रारब्ध कर्म के कारण विषय भोग करते हैं अथवा यादृच्छिक रूप से (बिना उद्देश्य से) जहाँ तहाँ घूमते हैं (गमन करते हैं) (मधुसूदन)] स शान्तिम् अधिगच्छति–वे निस्पृह निर्मम तथा निरहंकार स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् संन्यासी शान्तिम्—सभी प्रकार संसार दुःख के उपराम रूप निर्वाण नामक शान्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् अविद्या की तथा अविद्या के कार्य की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा सम्पादन कर परम शान्ति रूप ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करते हैं। [स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का व्रजन या विषयग्रहण इसी प्रकार का होता है यह कहकर, 'कथं व्रजेत' ? यह चतुर्थ प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में भगवान् ने समाप्त किया। (मधुसूदन)। सर्वकाम परित्याग आदि जो सब विशेषण श्लोक में कहा गया है वह मोक्षकामी संन्यासी के लिये यत्नसाध्य है। साधन के फलस्वरूप जब वे सब सम्पत्ति प्राप्त होती हैं तब कैवल्य प्राप्त होता है (आनन्दगिरि)। स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् के वे सब लक्षण स्वतःसिद्ध हैं।

१) श्रीधर—[चूँकि इस प्रकार अर्थात् कामनाविहीन ब्रह्मवित् संन्यासी ही विदेहमुक्ति के द्वारा शान्ति प्राप्त करते हैं इसलिये—] कामान् विहाय—प्राप्त विषय समूह को त्याग कर [अर्थात् प्रारब्ध के कारण स्वतः प्राप्त भोग्यविषयों की उपेक्षा कर] तथा निस्पृहः—जो प्राप्त नहीं हुये हैं उन सब विषयों में स्पृहाशून्य होकर [कैसी अवस्था प्राप्त होने से निस्पृह हो सकते हैं वह कहा जा रहा है—चूँकि वह] निरहंकारः—अहंकारशून्य अतः वह निर्ममः—भोग के साधनरूप वस्तुओं में निर्मम (ममत्वशून्य) है। इस प्रकार निरहंकार तथा निर्मम होने के बाद अन्तर्दृष्टि होकर अर्थात् आत्मा में दृष्टि रखकर (आत्मा में ही स्थित रहकर) यः चरति—जो प्रारब्ध के कारण आगत (आये हुए) भोग समूह का उपभोग करता है अथवा जहाँ कहीं भी भ्रमण करता है सः शान्तिम् अधिगच्छति—वही शान्ति [परम शान्ति] प्राप्त करता है।

(२) शंकरानन्द—[ध्यायतो विषयान् पुंसः (गीता २।६२–६९) इत्यादि दोनों श्लोकों में विषय के श्रवण या दर्शन के विना ही केवल विषयों के ध्यानमात्र से ही कामादि अनर्थ का आविर्भाव होता है एवं उससे विद्वान् व्यक्ति का भी नाश (आत्मध्यान से च्युति) हो जाता है, इस प्रकार जब

श्रीभगवान् ने पहले ही प्रतिपादन किया तब ब्रह्मनिष्ठा को परित्याग कर (छोड़कर) बाह्यवृत्तियों को आश्रय कर विषय समूह को इन्द्रियों से ग्रहण कर तथा भोग कर एवं यथेच्छ विहार कर कामकामी पुरुष नाश प्राप्त होंगे इसमें और कहना क्या है ? इसलिये विदेह कैवल्यलाभ करने को इच्छुक ब्रह्मवित् संन्यासी को सभी प्रकार से विषयग्रहण त्याग कर सब इन्द्रियों के निग्रह पूर्वक सदा आत्मनिष्ठा से स्थित होना चाहिये क्योंकि इस प्रकार जो स्थित रहते है वे ही विदेहमुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा अब इस श्लोक में प्रतिपादन करते हैं—] यः पुमान्—पुमर्थ को (पुरुषार्थ को) अर्थात् अति दुर्लभ मोक्ष को महान् प्रयत्न से जो सम्पादन करते हैं वह ब्रह्मवित् ही पुमान् अर्थात् पुरुष शब्दवाच्य हैं। इस प्रकार ब्रह्मवित् संन्यासी स्वयं निरहंकारः— 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार बोध के द्वारा ब्रह्म में ही जिनका आत्मत्वाभिनिवेश निरूढ़ (दृढ़) होकर देह से जिनका अहंकार अर्थात् देहादि में अहमात्मिका बुद्धि ('मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि) जिनकी निर्गत हुई है (नष्ट हो चुकी है) उनको निरहंकार कहा जाता है अर्थात् नित्य निरन्तर ब्रह्म में निष्ठा (स्थिति) लाभ कर जिन्होंने अनात्मदेहादि में तादात्म्यबुद्धिरूप ('देह मैं हूँ' इत्यादि अभिनिवेशरूप) अविद्याग्रन्थि का मूल के साथ उच्छेद कर दिया है वे निरहंकार हैं। चूँकि वे निरहंकार हैं अतः निर्ममः—देह, देह के धर्म, देह के कर्म, देह की अवस्था आदि से जिनका ममतारूप बन्धन [देह मेरा हैं, देहादि के धर्म मेरा है, देहादि के कर्म मेरा है, इस प्रकार ममतारूप बुद्धि ही बन्धन, वह बन्धन] नष्ट हो चुका है वे निर्मम हैं। ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करने पर शरीर में अहंभाव का अभाव होने से शरीर के धर्म आदि में विद्वान् की ममता का अभाव स्वाभाविक रूप से ही होता है। अतः विद्वान् पुरुष ही निर्मम होते हैं, यही तात्पर्य है। चूँकि वे निर्मम है अतः वे निस्पृहः—विषयों से जिनकी स्पृहा निर्गत हुई है अर्थात् विषयों से जिनकी सुख की आशा रूप स्पृहा निकल गयी है वे निस्पृह है। ब्रह्म में आत्मभाव होने से तथा देह आदि अनात्म वस्तु निरस्त होने के कारण [अर्थात् 'देहादि वस्तु मिथ्या है, वे 'मैं नहीं हूँ', इस प्रकार निश्चय होने के कारण] देहादि का उद्देश्य कर सुख की आशा (स्पृहा) करना उस प्रकार निरहंकार तथा निर्मम पुरुष के लियें असम्भव है क्योंकि अपना निरन्तर ब्रह्मानन्दरूप अमृत रस के द्वारा ही जो तृप्त हैं ऐसे विद्वान् को विषय सुख की अपेक्षा का अभाव स्वाभाविक है। इसलिये सर्वान् कामान्—सभी काम को अर्थात् ब्रह्मशब्द-वाच्य विषय समूह को [आत्मा से बाह्य अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त सभी

विषय को] विहाय—त्याग कर अर्थात् शुक्ति में भ्रान्ति के कारण जो रजत देखा जाता है वह जिस तरह कल्पित तथा मिथ्या है अतः उन सबकी किसी प्रकार आवश्यकता नहीं रह सकती है यह निश्चय कर इन्द्रिय समूह के द्वारा उन सबको ग्रहण न कर 'ये सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपने में तथा सभी वस्तुओं में एकमात्र ब्रह्म का ही दर्शन कर चरति—जो विचरण करते हैं अर्थात् 'कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन्' (काम के पिछे निष्काम होकर चलता हुआ) इस प्रकार श्रुति में जो कहा गया है उसके अनुसार पृथ्वी में सर्वत्र असंग तथा उदासीन होकर जो परमहंस पर्यटन करते हैं सः शान्तिम् अधिगच्छति—वही शान्ति अर्थात् आत्यन्तिक संसारोपरामरूप विदेहमुक्ति को अधिगत (प्राप्त) होते हैं। इससे विपरीत लक्षणयुक्त अज्ञानी वह शान्ति (विदेहमुक्ति) प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं। जो सभी का ब्रह्मरूप में दर्शन करते हैं तथा सदा जो ब्रह्मानन्दभोग करते हैं वैसे ब्रह्मवित् पुरुष सर्वत्र विचरण करते हैं—एक स्थान में नहीं ठहरते, यह कहकर स्थितप्रज्ञ 'कथं व्रजेत' (कैसे विचरण करते हैं) अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर दिया गया।

(३) नारायणी टीका—कामकामी शान्ति प्राप्त नहीं करते हैं, यह पूर्वश्लोक में कहा गया है। कामना अथवा वासना (लोकवासना, चित्तवासना, देहवासना इत्यादि) सम्पूर्णरूप से नष्ट नहीं होने से कोई परम शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है क्योंकि कामना रहने पर कोई निस्पृह नहीं हो सकता है। फिर निर्मम ('मेरा' 'मेरा' त्याग अर्थात् सर्वत्र ममत्वत्याग) नहीं होने से कोई निस्पृह नहीं हो सकता है। पुनः 'मैं' रहते हुये कभी 'मेरा' बुद्धि नष्ट नहीं हो सकती है। अतः अहंकाररहित नहीं होने से कोई निर्मम नहीं हो सकता है भगवान् का आश्रय नहीं लेने से तथा उनकी इच्छा के (जो कि जीव के प्रारब्ध रूप में परिणत होकर संसार चक्र चला रहा है उसकी इच्छा के) निकट अपनी सत्ता को बलिदान नहीं करने से तथा भगवान् के (अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा के) साथ एकात्मता अनुभव कर उनके 'अहं' को अपना 'अहं' रूप में दृढ़ निश्चय नहीं करने से कभी निरहंकार होना सम्भव नहीं है। स्थितप्रज्ञ को अपने में तथा विश्वप्रपंच में एक अखंडात्मा का दर्शन होता रहता है। अतः जो इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि के द्वारा निरहंकार होता है तथा यथाक्रम से निर्मम, निस्पृह तथा सभी प्रकार कामना रहित होकर केवल प्रारब्ध से उपस्थित हुये भोगों को उपभोग कर पर्यटन करता है वह स्थितप्रज्ञ ही प्रकृत शान्ति के (मोक्ष के) अधिकारी हैं दूसरा कोई नहीं।

चरति—एक स्थान में रहने से रागद्वेष तथा ममत्व और अहंकार

उत्पन्न होकर परमशान्ति के पथ में बाधा उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिये मुक्ति-कामी पुरुष को याद्दच्छिक रूप से (विना उद्देश्य से) भ्रमण करने का विधान है (आनन्दगिरि)। स्थितप्रज्ञ संन्यासी केवल प्रारब्ध कर्म के कारण विषयभोग करते हैं—अपनी कोई इच्छा की पूर्ति के लिये ऐसा नहीं करते हैं। हस्तपद आदि के द्वारा कोई कर्म करने से उसमें कोई दोष नहीं होता है क्योंकि जब तक प्रारब्ध कर्म के वेग के कारण शरीर रहता है तब तक कोई सब कर्म को सम्पूर्णरूप से त्याग नहीं कर सकता है। कामना ही बन्धन का कारण है। यह कामना (तथा उससे उत्पन्न राग तथा द्वेष) सम्पूर्णरूप से त्याग कर किसी भी तरह स्थितप्रज्ञ संन्यासी विचरण करे क्योंकि उसमें शान्ति या मोक्षलाभ (मोक्षप्राप्ति) के लिये कोई अन्तराय (विघ्न) उपस्थित नहीं हो सकता है।

[भाष्यकार के मतानुसार निस्पृहः—शरीर में जीवन रक्षा करने के लिये जिनको स्पृहा नहीं है वह निस्पृह हैं और निर्ममः—शरीर में जीवनमात्र रक्षा करने के लिये लब्ध वस्तु के उपर भी जिनको ममत्वबोध नहीं है वह निर्मम हैं। किन्तु 'चरति' शब्द की व्याख्या में कहे हैं 'जीवनमात्रचेष्टाशेषः पर्यटति'। अब शंका होगी जो निस्पृह तथा निर्मम हैं उनके लिये जीवन-धारण के लिये कोई चेष्टा अथवा दूसरी कोई चेष्टा सम्भव है क्या ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि निस्पृह तथा निर्मम व्यक्ति को इच्छा करके किसी प्रकार चेष्टा करना सम्भव नहीं है। यहाँ भाष्यकार जो कह रहे हैं उसका अभिप्राय इस प्रकार है—चरति—प्रारब्ध कर्म के कारण (शरीर यात्रा के लिये किसी प्रकार कामना या संकल्प न रखकर) केवल जीवनधारण के लिये उनकी जो चेष्टा अवशिष्ट रहती है उसी चेष्टामात्र सम्पादन कर अर्थात् प्रारब्ध के द्वारा उपनीत (आये हुये) वस्तु के द्वारा केवल प्राणधारण के अनुकूल व्यापारमात्र सम्पादन कर प्रारब्ध के द्वारा ही चालित होकर देश विदेश में पर्यटन करते रहते हैं। अतः भाष्यकार की व्याख्या में कोई विरोध नहीं है]।

[अभी तक अर्थात् ५५ श्लोक से लेकर ७१ श्लोक तक चार प्रश्नों के उत्तर के प्रसंग में स्थितप्रज्ञ व्यक्तियों के सभी लक्षणों को श्रीभगवान् ने विस्तृत रूप से कहा। सभी कामों का संन्यास (त्याग) कर ज्ञाननिष्ठा प्राप्त ब्रह्मवित् पुरुष स्थितप्रज्ञ हो सकता है, यही संक्षेप में तथा विस्तारपूर्वक कहा गया गया है। अतः जिससे मुमुक्षु अधिकारी पुरुष की ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्ति हो इसके लिये ज्ञाननिष्ठा की अब स्तुति की जा रही है—]

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः, एनां प्राप्य न विमुह्यति, अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति ।

अनुवाद—हे पार्थ ! यही ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् सभी कर्म का संन्यास-पूर्वक ब्रह्म में अवस्थानरूप स्थिति है। यह ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने पर संन्यासी फिर मोहप्राप्त नहीं होते हैं । जीवन के शेष समय तक (अन्तिम समय तक) इसमें यदि स्थित रह सके तो जीव ब्रह्मप्राप्तिरूप निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करते हैं ।

दीपिका । हे पार्थ !—हे अर्जुन ! तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती) सभी अवस्थाओं में तथा सभी कर्मों में मुझ में ही स्थित रहती है। अतः तुम भी उनके सदृश ज्ञानाभ्यास के द्वारा ब्रह्मस्वरूप मुझ में ही स्थितिलाभ कर सकोगे—इस प्रकार आश्वासन देने के लिए श्रीभगवान् ने यहाँ पार्थ कहकर सम्बोधन किया। एषा ब्राह्मी स्थितिः—यही अर्थात् स्थितप्रज्ञ के लक्षण को निर्देश करने के प्रसंग में जो कहा गया वही ब्राह्मीस्थिति है अर्थात् सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहना ही ब्राह्मीस्थिति है । [गृहस्थ तथा संन्यासी दोनों ही यदि मुक्ति के भागी हों (अर्थात् मोक्षलाभ के अधिकारी हों) तो कष्ट करके सभी प्रकार से संन्यास (विषयत्याग) की क्या आवश्यकता रह सकती है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि जो संन्यासी नहीं हैं (अर्थात् जो गृहस्थ हैं) उन लोगों को ज्ञाननिष्ठा के पथ में अनेक अन्तराय (बाधा) रहने के कारण मुमुक्षु को ज्ञाननिष्ठा के द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिये संन्यास (सर्व कर्म त्यागरूप संन्यास) अपरिहार्य (अर्थात् अवश्य कर्त्तव्य) है । इसलिए भाष्य में ब्राह्मीस्थिति पद का अर्थ 'सर्व कर्म संन्यास (त्याग) पूर्वक ब्रह्म में स्थिति' ऐसा किया गया है। (आनन्दगिरि)] [जन्मान्तर को सुकृति के फलस्वरूप तथा इस जन्म के साधन की परिपक्वताके कारण जिनका कर्म तथा कर्म के फल में वैराग्य उत्पन्न होकर कर्म तथा कर्म के फल की अभिलाषा (इच्छा) परित्यक्त हुआ है तथा वेदान्तवाक्य के श्रवणादि से आत्मज्ञान का उदय हुआ है उस आत्मज्ञान में अर्थात् ब्रह्म में जो निष्ठा या निरन्तर स्थिति (अवस्थिति) उसे ब्राह्मीस्थिति कहा जाता है (मधुसूदन)] । न एनां प्राप्य विमुह्यति—यह स्थिति प्राप्त होकर कोई भी संसाररूप मोह प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि अज्ञान से ही संसारमोह की सृष्टि होती है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान नष्ट होने से स्थितप्रज्ञ की दृष्टि में उस

अज्ञान का कार्य (अर्थात् जन्ममृत्युरूप संसारप्रवाह) नष्ट हो जाते हैं। [ज्ञान के द्वारा अज्ञान बाधित होने से अज्ञान को पुनः उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि अज्ञान अनादि है (कल्पित तथा मिथ्या है)। जिसका आदि नहीं है उसकी फिर से उत्पत्ति कैसे होगी ? (मधुसूदन)] अतः ब्राह्मीस्थिति अथवा ज्ञाननिष्ठा होने से मोह का कोई कारण ही नहीं रह सकता है। [संन्यासी लोगों के विमोह का अभाव होने से भी गृहस्थ की धनहानि इत्यादि के कारण प्रायशः विमोह प्राप्त होता है अर्थात् उनलोगों का चित्त मोहप्राप्त होकर परमार्थ—विवेकरहित होता है। इसलिये भाष्य में ब्राह्मीस्थिति का अर्थ 'संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा' कहा गया है। (आनन्दगिरि)] अन्तकालेऽपि–अन्तकाल में भी (जीवन के शेष समय में भी) अस्यां स्थित्वा—इस ब्राह्मीस्थिति में निश्चलरूप से अवस्थान कर अर्थात् अन्तिम समय में भी यदि किसी को ब्रह्मनिष्ठारूप यह स्थिति उत्पन्न होती है तब भी वह संन्यासी ब्रह्मनिर्वाणं—परम ब्रह्म के साथ एकता प्राप्तिरूप जो निर्वाण अर्थात् परम-शान्ति या मोक्ष वह ऋच्छति—प्राप्त करते हैं। [इसलिए जो व्यक्ति ब्रह्म-चर्याश्रम से संन्यास ग्रहण कर सारा जीवन इस ब्राह्मीस्थिति में अवस्थान करते हैं वह अवश्य ही ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होंगे इसमें कोई संशय नहीं रह सकता। "अन्तकालेऽपि" इसमें 'अपि' शब्द के द्वारा ऐसा अर्थ ही प्रकाशित हो रहा है। (मधुसूदन)]

[ज्ञानं तत् साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम्। तत्फलं ज्ञाननिष्ठेवेत्य-ध्यायेऽस्मिन् प्रकीर्तिता॥ अर्थात् ज्ञान तथा ज्ञान का साधन कर्म तथा उसका फल सत्त्वशुद्धि तथा सत्त्वशुद्धि का फल ज्ञाननिष्ठा ही इस अध्याय में कहा गया है। (मधुसूदन)]

[ब्रह्मनिर्वाणं—निर्गतं वानं गमनं यस्मिन् प्राप्ये ब्रह्मणि तन्निर्वाणम्। तथा च श्रुतिः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति गतिमन्तरेण प्राणरूपोपाधिप्रविलयमात्रात् प्राप्नोति (तत् ब्रह्मनिर्वाणं) घटाकाशस्य महाकाशप्राप्तिवत् (नीलकंठ) अर्थात् जिस ब्रह्म को प्राप्त करने पर वान अर्थात् गति (गमन) नहीं रहती है उसे ब्रह्मनिर्वाण कहा जाता है। श्रुति ने कहा है—जो ब्रह्म का साक्षात्कार किये हैं उनके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं तथा ब्रह्म होकर ब्रह्म में ही लय हो जाता है अर्थात् मरण के पश्चात् अन्यत्र गति न होकर प्राणरूप उपाधि का लय होने से साथ साथ घटाकाश जैसे महाकाश में मिल जाता है उसी तरह वे ब्रह्म के साथ जीव एक हो जाते हैं। ब्राह्मीस्थिति से इस प्रकार ब्रह्मनिर्वाण होता है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पहले कई श्लोकों में ज्ञाननिष्ठा की जो बात कही गयी है उस ज्ञाननिष्ठा की प्रशंसा कर अध्याय का उपसंहार किया जा रहा है]

हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः—इस प्रकार की यह ब्रह्मज्ञान की स्थिति (निष्ठा) है। एनां प्राप्य न विमुह्यति—परमेश्वर की आराधना के द्वारा विशुद्ध—अन्तःकरण होकर जो पुरुष इस ब्रह्मज्ञान निष्ठा को प्राप्त होते हैं वे फिर विमोह प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् फिर संसाररूप मोह को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि अस्याम् अन्तकाले अपि स्थित्वा—मृत्यु के समय भी क्षण-मात्र के लिये भी इस ब्रह्मनिष्ठा में अवस्थान करने से ब्रह्मनिर्वाणं—ब्रह्म में निर्वाण अर्थात् लय (अर्थात् ब्रह्म के साथ एक आकार होकर ब्रह्मस्वरूपता) ऋच्छति—प्राप्त होते हैं। अतः बाल्यकाल से लेकर ही जो ब्रह्मनिष्ठा में अविस्थत रहता है वह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होगा (ब्रह्मलीन हो जायेगा) इस विषय में कहने को और क्या है ?

शोकपंकनिमग्नं यः सांख्ययोगोपदेशतः।
उज्जहारार्जुनं भक्तं स कृष्णः शरणं मम ॥

अर्थात् शोकरूप कर्दम में निमग्न भक्त अर्जुन को जिसने सांख्य तथा योग का उपदेश देकर उद्धार किया वे (भक्तवत्सल परम कृपालु) कृष्ण ही मेरा एकमात्र शरण (आश्रय) हैं।

(२) शंकरानन्द—मुमुक्षु यति को श्रवण से उत्पन्न ज्ञान अर्थात् गुरुमुख से 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य श्रवण कर जो ज्ञानप्राप्ति होती है वह ज्ञान [प्रपञ्च की (विषयों के) वासनाओं के द्वारा काम, क्रोध आदि के द्वारा तथा अहं–मम आदि अभिमान विशेषों से प्रतिबन्धक होकर अर्थात् वाधा प्राप्त होने के कारण विदेह मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं होता है, ऐसा निश्चय कर परम कृपालु भगवान् 'समाधावचला बुद्धिः' (गीता २।५३) इस श्लोक से ब्रह्मनिष्ठा का प्रस्ताव कर निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा सभी कामनाओं को जो त्याग कर सकते हैं तथा शरीरयात्रादि में भी ब्रह्मस्वरूप आत्मा के द्वारा ब्रह्म में ही स्थित रहकर जो विद्वान् 'अहं ममादि' बन्धन से मुक्त हुये हैं वे ही विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं, ऐसा प्रतिपादन कर अब ब्रह्मनिष्ठा के प्रसंग का उपसंहार कर कह रहे हैं कि मुमुक्षु को ब्रह्मनिष्ठा का सम्पादन करना पड़ेगा क्योंकि इसके द्वारा ही विदेहमुक्ति प्राप्त होती है—अन्य किसी प्रकार से नहीं] हे पार्थ !—'स्वस्वरूपं प्रकाश्य मुमुक्षुं संसारमृत्योः पातीति यः (परमात्मा) तमेवार्थयते वांछतीति पार्थः' (अर्थात् जो अपना स्वरूप प्रकाश

कर मुमुक्षु की संसाररूप मृत्यु से रक्षा करते हैं वे प अर्थात् परमात्मा हैं)। इस परमात्मा को जो प्राप्त करने के इच्छुक है, वह पार्थ (मुमुक्षु) है। अतः पार्थ !—हे मुमुक्षु अर्जुन ! तुम मेरी ये बातें सुनो तथा सुनकर उसके अनुसार आचरण करो। [इसे कहना ही यहाँ 'पार्थ' शब्द के द्वारा सम्बोधन करने का अभिप्राय है]। एषा—मेरे द्वारा मुमुक्षु के लिये प्रतिपादिता ब्राह्मीस्थितिः—ब्रह्म प्राप्ति का नियत (नियमित अथवा अवश्यम्भावी) कारण होने से यही ब्राह्मी (ब्रह्मप्रापिका) स्थिति (निष्ठा) है (इस प्रकार जो निष्ठा है जिसके द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है वह मुमुक्षु व्यक्तियों के लिये मैं (परमात्मारूपी श्रीकृष्ण) ही प्रतिपादित कर रहा हूँ)। एनां प्राप्य-(विदेहकैवल्यप्रार्थी ब्रह्मवित् मुमुक्षु) इस ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा अनुष्ठान (सम्पादन) कर न विमुह्यति—विमोह के योग्य नहीं होता है अर्थात् मोह प्राप्त नहीं होता है। सभी प्राणियों का 'अहम्' (मैं) इस तरह का विशिष्ट मोह शरीर में रहता है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को उस विमोहरूप देह की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् इस ब्राह्मीस्थिति में रहकर ब्रह्मविद् पुरुष पुनः देही (देहाभिमानी) नहीं होता है। ऐसाकि पूर्व आयु में (पिछले जन्म में) साधनसम्पन्न होकर पूर्वजन्म में संन्यास तथा श्रवणादि पुण्य कर्मों के परिपाक के कारण विद्वान् इस जन्म में प्रारब्ध विशेष के बल से कुछ समय के लिये संसार में आकर अन्तकाले अपि—अन्तिम अवस्था में भी अस्यां—इस ज्ञाननिष्ठा में स्थित्वा—स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाणं—निर्वाण को अर्थात् निष्क्रिय नित्य तथा आनन्दैकरसस्वरूप ब्रह्म अर्थात् विदेह मुक्ति को ऋच्छति—प्राप्त होता है। क्योंकि—

विज्ञाय चरमावस्थां देवताभ्यो नृपोत्तमः।
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्मुहूर्त्ते मुक्तिमाप्तवान् ॥

[राजाओं में उत्तम खट्वांग नामक राजर्षि देवताओं से अन्तिम अवस्था को जानकर मुहूर्त्त में मुक्ति प्राप्त किये थे] ऐसा प्रसिद्ध है। चूँकि ऐसा है अतः कैवल्यप्रार्थी यतिओं को भी बाह्य (बाहरी) विषयों में प्रवृत्ति परित्याग कर ब्रह्मनिष्ठा में सदा स्थित रहना चाहिये, यही सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका-पूर्ववर्ती कई श्लोकों में स्थितप्रज्ञ के लक्षण को कहकर एकमात्र ज्ञाननिष्ठा (ब्रह्मनिष्ठा या ब्राह्मीस्थिति) के द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है, यह प्रतिपादन कर अब ब्रह्मनिष्ठा का उपसंहार कर रहें हैं। 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' अर्थात जिस ब्रह्मनिष्ठा के विषय में अब तक कहा गया है उस ब्रह्मनिष्ठा या ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होने से फिर विमोह अर्थात् अज्ञान के

कारण संसाररूप विशेष मोह प्राप्त नहीं होता है (न विमुह्यति) क्योंकि ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान पूर्णरूप से निवृत्त होने पर अज्ञान तथा अज्ञान का कार्य संसारप्रपञ्च भी निवृत्त होता है। (क) देहात्माभिमान, (ख) मैं, तुम, मेरा, तुम्हारा इत्यादि भेदबुद्धि तथा (ग) उसके कारण राग द्वेष, (घ) विषय में सत्यत्वबुद्धि, (ङ) विषयवासना, (च) उस वासना को पूर्ण करने के लिये कर्म, (छ) कर्म में कर्तृत्वाभिमान, (ज) कर्मफल की आसक्ति में आसक्ति तथा (झ) उसके कारण पुनर्जन्म इत्यादि सभी अज्ञान कार्य है—ये सभी विशिष्ट विशिष्ट मोह है। ब्रह्मनिष्ठ की दृष्टि में आत्मा भिन्न और किसीं का अस्तित्व न रहने के कारण अज्ञान के कार्य समूह के द्वारा मोह प्राप्त होना उनके लिये सम्भव नहीं है। इस ब्राह्मीस्थिति में यदि अन्तिम समय में अर्थात् अन्तिम आयु में कोई भी स्थित रहने को समर्थ होते हैं तब भी वे ब्रह्मनिर्वाण (ब्रह्मरूप मोक्ष) प्राप्त होते हैं फिर यदि बाल्यकाल से ही ऐसी ब्राह्मीस्थिति रहे तब तो मोक्षप्राप्ति सुनिश्चिता है इस विषय में संशय क्या रह सकता है ? कोई कोई टीकाकारों ने 'अन्तकाले' शब्द का अर्थ 'मृत्यु के समय में' ऐसा किया है किन्तु वह युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो भावना जीवित अवस्था में दीर्घकाल तक अभ्यस्त नही हुयी है वैसी कोई भावना मृत्यु के समय में उपस्थित नहीं हो सकती है। मृत्यु के समय में प्राणीमात्र ही स्वतन्त्र रूप से कोई चिन्ता नहीं कर सकता है–जो संस्कार दीर्घकाल तक अभ्यास के फल से परिपक्व हुआ है उस संस्कार के अनुसार ही मुमुर्षु मृत्यु के समय में अवश होकर भावना करते रहता है तथा जिस भावना को लेकर वह देहत्याग करता है। उसके अनुसार उसकी मृत्यु के पश्चात् गति होती है। जागतिक किसी भोग की चिन्ता करते हुये यदि मरे तो (देहत्याग करे तो) इसी लोक में फिर जन्मग्रहण करता है—उस समय वैकुंठ लोक का यदि चिन्तन रहे तो वैकुण्ठ लोक में उसकी गति होगी और पाप कर्मों के विषय में चिन्तन रहे तो नरक में गमन होता है। भगवान् ने अपने मुख से ये बातें बाद में भी कहा है—'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः, (गीता ८।५–६)। अर्थात् जो मरणकाल में (मृत्यु के समय) मुझे (सर्वव्यापी परमेश्वर को) स्मरण कर शरीर का त्याग करता है उसे अवश्य ही मेरा भाव अर्थात् विष्णु का परमस्वरूप (ब्रह्मभाव) प्राप्त होता हैं अर्थात् वह ब्रह्म ही हो जाता है। अन्त में अर्थात् प्राणवियोगकाल में जो जो भाव (अर्थात् ब्रह्म,

देवताविशेष, अथवा मनुष्यादि के विशेष कोई भाव) चिन्तन कर शरीर त्याग करते हैं मृत्यु के बाद उसी भाव के अनुसार उसका जन्म होता है। किन्तु मृत्युकाल में भाव विशेष का स्मरण कैसे होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—'सदा तद्भावभावितः, अर्थात् जिन जिन देवता आदि का भाव भावित हुआ है अर्थात् निरन्तर चिन्तन के द्वारा अभ्यस्त हुआ है मृत्यु-काल में उसी भाव का स्मरण हो सकता है—नये किसी भाव का (अन्य कोई भाव का) स्मरण मृत्युकाल में असम्भव है। इसलिये वर्तमान श्लोक में अर्थात् २।७२ श्लोक में कहा गया 'स्थित्वा अस्याम् अन्तकालेऽपि' [इस ब्राह्मीस्थिति में (ब्रह्मनिष्ठा में) अन्तिम समय में स्थित रहने पर भी] मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। किसी भी भाव में स्थितिलाभ दीर्घकाल तक अभ्यास के फलस्वरूप ही होता है। अतः 'स्थित्वा' इस शब्द के द्वारा मृत्यु के समय में आकस्मिक स्मरण को नहीं समझाया जा रहा है। जीवन के अन्तिम काल में भी यदि कोई तीव्र अभ्यास के द्वारा ब्रह्मनिष्ठा में निरन्तर स्थित रहने में समर्थ हो तब भी वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है। अतः मनुष्य को यत्न के द्वारा जिससे कि ब्राह्मीस्थिति प्राप्त हो उसके लिये सदा अर्थात् निरन्तर अभ्यास करना कर्तव्य है—यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

गीता का द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण गीता में जिस जिस विषय पर कहा गया है उसका सूत्रस्वरूप है। अर्जुन की तरह शोक-मोह से जगत् के सभी मनुष्य जर्जरित है। आत्मज्ञान के बिना इस अज्ञानरूप शोक मोह से उद्धार लाभ करना असम्भव है, इसे गीता के प्रथम अध्याय के उपसंहार में स्पष्ट किया गया है। इसलिये भगवान् ने द्वितीय अध्याय के शुरू में आत्मा का स्वरूप निर्णय करके उसका मुख्य साधन जो कर्मयोग है वह निर्दिष्ट किया क्योंकि बारम्बार अर्जुन को श्रीभगवान् नाना प्रकार की युक्तियों के द्वारा स्वधर्मपालन करने को (युद्ध करने को) प्रवृत्त करा रहे हैं। निष्काम कर्म के बिना चित्तशुद्धि नहीं होती है तथा चित्तशुद्धि के बिना ज्ञानलाभ नहीं होता है। ज्ञान अभ्यस्त तथा परिपक्व होने से ही ज्ञाननिष्ठा (ब्राह्मीस्थिति) होती है तथा ब्राह्मीस्थिति होने से ही विदेहकैवल्य (ब्रह्मनिर्वाण) प्राप्ति होती है—इस प्रकार यथाक्रम द्वितीय अध्याय के सूत्ररूप में भगवान् ने जो कहा, वही गीता के परवर्ती अध्यायों में विस्तृत रूप से स्पष्टीकृत किया गया है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

पहले फर्मे से ही शीर्षस्थ शीर्षक 'सांख्ययोग' रहेगा 'कर्मयोग' नहीं। पाठक कृपया सुधार लें।

सम्पादक

सम्मति

गीता हमारी आत्मा की मुक्ति का महागीत ही नहीं, हमारी कर्मसंहिता भी है। इस बृहद् ज्ञानकोष पर अनेक साधक और चिन्तकों ने अनेक दृष्टियों से प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत व्याख्या का विशेष महत्त्व होना स्वाभाविक है। उसमें विद्वान् और साधक व्याख्याकार ने प्रत्येक अध्याय पर जैसी व्याख्या प्रस्तुत करने का संकल्प और अनुष्ठान किया है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।

विश्वास है हिन्दी के जिज्ञासुओं को प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर में, जो मूल बंगला से लिया गया है, गीता का सन्देश ग्रहण करने में सुविधा होगी।
तिथि १०-३-६९-

महादेवी वर्मा एम. ए.
डि० लिट्०, पद्मभूषण,
उपकुलपति—प्रयाग महिला विद्यापीठ
(महिला विश्वविद्यालय)
१०६/१५३, हीवेट रोड,
इलाहाबाद।



